विषय-सूची

दूसरा भाग

चित्र सूची

पहला भाग

दूसरा भाग

निवेदन

स्वतन्त्र भारत के शासन-विधान में यह बात स्वीकृत कर ली गई है, कि हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है, और अधिक से अधिक पन्द्रह सालों में भारत की संघ सरकार अपने प्रायः सभी कार्य हिन्दी में करने लगेगी। भारतीय संघ के अन्तर्गत अनेक राज्य हिन्दी को अपनी राज-भाषा स्वीकार कर चुके हैं। अनेक विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम द्वारा दी जाने लगी है। अब हिन्दी को वह गौरव-पूर्ण व उच्च स्थान प्राप्त हो गया है, जिसके लिए देश के राष्ट्रसेवक पिछली आधी सदी से यत्न कर रहे थे।

इस दशा में हिन्दी के लेखकों व प्रकाशकों पर विशेष उत्तरदायित्व आ गया है। अब यह आवश्यक हो गया है, कि इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, रसायन, भौतिक विज्ञान आदि सभी आधुनिक विषयों पर उच्च से उच्च ज्ञान हिन्दी में उपलब्ध हो। हिन्दी का साहित्य-भण्डार विविध वैज्ञानिक व आधुनिक विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों से इतना अधिक परिपूर्ण हो जाय, कि किसी को यह कहने का अवसर न रहे, कि साहित्य की कमी के कारण हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने व सरकारी कार्यों के लिए प्रयोग करने में रुकावट होती है।

हमारा प्रयत्न यह है, कि विविध विषयों पर उच्च कोटि की पुस्तकें हिन्दी में तैयार कराके उन्हें प्रकाशित करें। 'यूरोप का आधुनिक इतिहास' इसी मार्ग पर हमारा पहला कदम है। हमें आशा है, कि यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की एक भारी कमी को पूर्ण करेगा।

सरस्वती सदन
नैनीताल

प्रारम्भिक शब्द

संसार के आधुनिक इतिहास में यूरोप का महत्त्व बहुत अधिक है। सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, कला-कौशल, व्यापार, व्यवसाय आदि सभी क्षेत्रों में यूरोप इस समय संसार का शिरोमणि है। संसार की शान्ति यूरोप की राजनीति पर आश्रित है। यूरोप से जो नई लहर शुरू होती है, यूरोप में जो घटना घटती है, उसका प्रभाव सारे संसार पर पड़ता है।

यूरोप का यह महत्त्व सदा से नहीं चला आ रहा। न ही यूरोप सदैव इतना उन्नत रहा है। आज से लगभग डेढ़ सदी पूर्व यूरोप की प्रायः वही दशा थी, जो भारत, चीन, ईरान आदि अन्य देशों की थी। सर्वत्र एकतन्त्र, स्वेच्छाचारी राजा राज्य करते थे। लोकतन्त्र शासन का कहीं नाम भी न था। कल-कारखानों का विकास नहीं हुआ था। कारीगर अपने घर पर बैठकर मोटे, भद्दे औजारों से कार्य करते थे। रेल, मोटर, हवाई जहाज, तार, रेडियो आदि का नाम भी कोई नहीं जानता था। यूरोप में जो यह असाधारण उन्नति हुई है, वह पिछली डेढ़ सदी की कृति है। यूरोप का यह डेढ़ सदी का इतिहास सचमुच बड़ा अद्भुत व आश्चर्यजनक है। इस थोड़े से काल में यूरोप उन्नति की दौड़ में किस प्रकार इतना आगे बढ़ गया, इसकी कहानी बड़ी मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है। इसी आश्चर्य जनक उन्नति की कहानी को सरल व स्पष्ट रूप से लिखने का प्रयत्न मैंने इस इतिहास में किया है।

भारत में यूरोप के इतिहास को पढ़ने का रिवाज बहुत कम है। ब्रिटेन के शासन-काल में यहाँ स्कूलों और कालिजों में इँगलैंड का

प्रारम्भिक शब्द

संसार के आधुनिक इतिहास में यूरोप का महत्त्व बहुत अधिक है। सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, कला-कौशल, व्यापार, व्यवसाय आदि सभी क्षेत्रों में यूरोप इस समय संसार का शिरोमणि है। संसार की शान्ति यूरोप की राजनीति पर आश्रित है। यूरोप से जो नई लहर शुरू होती है, यूरोप में जो घटना घटती है, उसका प्रभाव सारे संसार पर पड़ता है।

यूरोप का यह महत्त्व सदा से नहीं चला आ रहा। न ही यूरोप सदैव इतना उन्नत रहा है। आज से लगभग डेढ़ सदी पूर्व यूरोप की प्रायः वही दशा थी, जो भारत, चीन, ईरान आदि अन्य देशों की थी। सर्वत्र एकतन्त्र, स्वेच्छाचारी राजा राज्य करते थे। लोकतन्त्र शासन का कहीं नाम भी न था। कल-कारखानों का विकास नहीं हुआ था। कारीगर अपने घर पर बैठकर मोटे, भद्दे औजारों से कार्य करते थे। रेल, मोटर, हवाई जहाज, तार, रेडियो आदि का नाम भी कोई नहीं जानता था। यूरोप में जो यह असाधारण उन्नति हुई है, वह पिछली डेढ़ सदी की कृति है। यूरोप का यह डेढ़ सदी का इतिहास सचमुच बड़ा अद्‌भुत व आश्चर्यजनक है। इस थोड़े से काल में यूरोप उन्नति की दौड़ में किस प्रकार इतना आगे बढ़ गया, इसकी कहानी बड़ी मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है। इसी आश्चर्य जनक उन्नति की कहानी को सरल व स्पष्ट रूप से लिखने का प्रयत्न मैंने इस इतिहास में किया है।

भारत में यूरोप के इतिहास को पढ़ने का रिवाज बहुत कम है। ब्रिटेन के शासन-काल में यहाँ स्कूलों और कालिजों में इँगलैंड का

इतिहास पढ़ाया जाता था। अपने देश के इतिहास की अ
इँगलैंड के इतिहास को अधिक महत्त्व दिया जाता था। यह हम
का दुर्भाग्य था। हम ब्रिटेन के साम्राज्य के अधीन थे, अतः यदि
लोग हमें अपने देश का इतिहास पढ़ा कर अपनी उत्कृष्टता का
हमारे दिमागों पर जमाने का प्रयत्न करते, तो इसमें आश्चर्य
था ? यह ठीक है, कि केवल अपने देश के इतिहास को जानने
नहीं चल सकता। हमें दूसरे देशों का भी इतिहास पढ़ना
आजकल प्रवृत्ति यह है, कि संसार के इतिहास को समग्र रू
जाय। संसार एक है, मनुष्य जाति एक है, एक देश का दूसरे
साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है, कि मानवीय उन्नति
को भी समग्र रूप से ही पढ़ना उचित है। अपने देश का इ
विस्तार के साथ पृथक् रूप से पढ़ना ही चाहिए। पर अपने
इतिहास के साथ साथ संसार के इतिहास को भी समग्र रूप से
आवश्यक है। यूरोप और अमेरिका के उन्नत देशों में आज
ढंग बरता जाता है। वहाँ स्कूलों तक में इतिहास के कोर्स का
इसी दृष्टि से किया जाता है। पर भारत में स्वतन्त्रता प्राप्त
के बाद भी अभी कालिजों तक में 'इँगलैंड का इतिहास' प
रहा है। यूरोप व समग्र संसार के इतिहास को पढ़ने की प्रवृ
इस देश में बहुत कम है।

इसमें सन्देह नहीं, कि इँगलैंड के इतिहास में अनेक
अंश हैं। विशेषतया, पार्लियामेंट द्वारा शासन का विकास और
साम्राज्य का विस्तार—ये दो बातें ऐसी हैं, जो इँगलैंड के इति
विशेषताएँ हैं, और जिनके सम्बन्ध में यथोचित जानकारी
इतिहास-प्रेमी के लिए आवश्यक है। पर इँगलैंड के इतिहास
बहुत सी घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका दूसरे देशों के लिए को
उपयोग नहीं है। मेरी सम्मति में, आजकल भारत के स्कू

कालिजों में जो स्थान इँगलैण्ड के इतिहास को प्राप्त है, वह यूरोप के इतिहास को मिलना चाहिए। इँगलैण्ड के इतिहास की मुख्य घटनाएँ, पार्लियामेंट द्वारा शासन का विकास और ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार—यूरोप के इतिहास में आ ही जाती हैं। यूरोप का इतिहास पढ़ने से फ्रांस, जर्मनी, रशिया आदि अन्य देशों के इतिहास की भी उन बहुत सी घटनाओं का बोध होता है, जिन्हें जाने बिना संसार की वर्तमान प्रगति का परिचय नहीं हो सकता। मुझे आशा है, हमारे देश के शिक्षा-विज्ञ इस तरफ ध्यान देंगे, और यूरोप के आधुनिक इतिहास को पढ़ने की ओर हिन्दी पाठकों की रुचि अधिकाधिक बढ़ेगी। भारत में अब स्वराज्य स्थापित हो गया है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ हमारे देश में सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक क्षेत्रों में भी स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति बढ़ रही है। नये विचार प्रवेश कर रहे हैं, और पुरानी रूढ़ियों व विश्वासों के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया व क्रान्ति की प्रवृत्ति प्रबल हो रही है। ऐसे समय में यूरोप के आधुनिक इतिहास का अनुशीलन और भी अधिक उपयोगी है। यूरोप में ये प्रवृत्तियाँ हमसे पहले आ चुकी हैं, और उसका अनुभव हमारे लिए मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है।

यद्यपि यह पुस्तक यूरोप का आधुनिक इतिहास है, पर इसमें अन्य देशों का वृत्तान्त भी संक्षेप से आ गया है। जापान, चीन, ईरान, टर्की, अमेरिका आदि अन्य देशों के आधुनिक इतिहास की बहुत सी ज्ञातव्य बातों का समावेश प्रसंगवश इस पुस्तक में हुआ है। इससे इस पुस्तक की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। मुझे आशा है, कि इस इतिहास से हिन्दी-प्रेमियों को सन्तोष होगा।

सत्यकेतु विद्यालंकार

अपने प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय पिता

श्री आशाराम

और

अपनी पूजनीया स्वर्गीया माता

श्रीमती रामरक्खी देवी

की

पुण्य स्मृति में

उनतालीसवाँ अध्याय

महायुद्ध के कारण

(१) आधारभूत कारण

गत महायुद्ध के कारणों को भलीभाँति समझने के लिये आधुनिक यूरोपियन इतिहास का विशद ज्ञान आवश्यक है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने यूरोप की राजनीतिक संस्थाओं में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का प्रारम्भ किया था। राज्यक्रान्ति से राष्ट्रीयता और लोकसत्तावाद की जो नई प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई थीं, वे निरन्तर अपनी सफलता के लिये संघर्ष कर रही थीं। पुराने जमाने को एक दम बदल सकना सम्भव नहीं था। राजाओं के अधिकार और एकतन्त्र शासन की जो संस्थायें सदियों से यूरोप में चली आती थीं, उन्हें एक दम उखाड़ सकना कठिन था। उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीयता और लोकसत्तावाद की नई प्रवृत्तियाँ निरन्तर संघर्ष करती रहीं और धीरे धीरे सफलता की ओर कदम बढ़ाती गईं। १८४८ के बाद यूरोप के प्रायः सभी देशों में शासन विधानों की स्थापना की जाने लगी और जनता को शासन में महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हुए। इसी प्रकार इटली और जर्मनी के राष्ट्रीय संगठन से राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की भारी विजय हुई। पर इन सब के बावजूद भी राष्ट्रीयता और लोकसत्तावाद की नई प्रवृत्तियाँ उन्नीसवीं सदी में केवल आंशिक रूप से ही सफल हो सकी थीं। यूरोप के

उनतालीसवाँ अध्याय

महायुद्ध के कारण

(१) आधारभूत कारण

गत महायुद्ध के कारणों को भलीभाँति समझने के लिये आधुनिक यूरोपियन इतिहास का विशद ज्ञान आवश्यक है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने यूरोप की राजनीतिक संस्थाओं में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का प्रारम्भ किया था। राज्यक्रान्ति से राष्ट्रीयता और लोकसत्तावाद की जो नई प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई थीं, वे निरन्तर अपनी सफलता के लिये संघर्ष कर रही थीं। पुराने जमाने को एक दम बदल सकना सम्भव नहीं था। राजाओं के अधिकार और एकतन्त्र शासन की जो संस्थायें सदियों से यूरोप में चली आती थीं, उन्हें एक दम उखाड़ सकना कठिन था। उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीयता और लोकसत्तावाद की नई प्रवृत्तियाँ निरन्तर संघर्ष करती रहीं और धीरे धीरे सफलता की ओर कदम बढ़ाती गईं। १८४८ के बाद यूरोप के प्रायः सभी देशों में शासन विधानों की स्थापना की जाने लगी और जनता को शासन में महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हुए। इसी प्रकार इटली और जर्मनी के राष्ट्रीय संगठन से राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की भारी विजय हुई। पर इन सब के बावजूद भी राष्ट्रीयता और लोकसत्तावाद की नई प्रवृत्तियाँ उन्नीसवीं सदी में केवल आंशिक रूप से ही सफल हो सकी थीं। यूरोप के

अधिक देश अब तक भी ऐसे थे, जहाँ वंशक्रमानुगत राजा शासन में मनमानी कर सकते थे। जर्मनी, आस्ट्रिया, रूमानिया, रशिया आदि विविध देशों का शासन बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भी पुराने जमाने के शासनों से अधिक उन्नत न था। इसी तरह अभी बहुत से राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की उपेक्षा कर किया गया था। पोल, चेक, स्लाव आदि जातियाँ अपने राष्ट्रीय राज्यों के लिये छटपटा रही थीं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से उत्पन्न हुई राष्ट्रीयता और लोकसत्तावाद की नई प्रवृत्तियाँ किसी घोर संघर्ष और उद्योग के बिना पुराने जमाने को परास्त नहीं कर सकती थीं। गत यूरोपीय महायुद्ध पुरानी और नई प्रवृत्तियों का एक घोर संघर्ष था। उसमें नई प्रवृत्तियों ने पुराने जमाने को भारी पराजय दी थी। यही कराण है, कि इस महायुद्ध के बाद रशिया, आस्ट्रिया, जर्मनी आदि विविध राज्यों से वंशक्रमानुगत एकतन्त्र राजाओं का अन्त हो गया, सर्वत्र लोकसत्तावाद की विजय दुन्दभी बज उठी। इसी प्रकार राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को कुचल कर बने हुए विविध राज्यों का अन्त हो राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ। आस्ट्रिया-हंगरी का साम्राज्य समाप्त होगया। जर्मनी की अधीनता से विविध जातियाँ स्वतन्त्र हो गई। पोलेन्ड, चेकोस्लोवेकिया, युगोस्लाविया आदि नवीन राज्यों का निर्माण हुआ। इटली, फ्रांस, रूमानिया, बल्गेरिया आदि की राजनीतिक सीमाओं में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

अटारहवीं सदी के अन्त तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में यूरोप में व्यावसायिक क्रान्ति का भी सूत्रपात हुआ था। नये नये वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक आविष्कारों के कारण मनुष्य प्रकृति पर निरन्तर विजय प्राप्त करता जाता था। प्रकृति रूपी गौ को दोहने के लिये उसे नये नये साधन प्राप्त होते जाते थे। व्यावसायिक क्रान्ति पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। इससे यूरोप के राजनीतिक व सामाजिक जीवन पर जो महत्त्वपूर्ण प्रभाव हुए थे, उनमें से दो का यहाँ निर्देश करना

जरूरी है। पहला, पुराने सामाजिक श्रेणि भेद का अन्त और दूसरा आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रारम्भ। व्यावसायिक क्रान्ति से पूर्व कुलीन जमींदार और अर्ध-स्वतन्त्र किसान—ये दो श्रेणियाँ समाज में मुख्य होती थीं। कुलीन जमींदारों के हाथ में राजनीतिक शक्ति होती थी और किसान पददलित दशा में समाज की आर्थिक आवश्यकताओं को जुटाने में व्यस्त रहते थे। उन्हें राजनीतिक उलट फेर से कोई वास्ता न रहता था। पर व्यावसायिक क्रान्ति से मध्यश्रेणी का विशेष रूप से विकास हुआ था। ये मध्यश्रेणी के लोग राजनीतिक मामलों में दिलचस्पी लेते थे और राज्य का सञ्चालन अपने लाभ के लिये करने का प्रयत्न करते थे। राज्यों के शासन पर व्यवसायियों और व्यापारियों का प्रभाव बढ़ता जाता था। साथ ही, नये स्थापित हुए बड़े बड़े कारखानों में आर्थिक उत्पत्ति इतनी अधिक मात्रा में हो रही थी, कि उसका अपने देश में खप सकना सम्भव नहीं था। कारखाने अपना कार्य तभी कर सकते थे, जब उनके माल के लिये विदेशों में बाजार सुरक्षित रहें। क्योंकि राज्यशक्ति मध्यश्रेणी और पूँजीपतियों (व्यापारियों और व्यवसायियों) के हाथ में थी, अतः प्रत्येक राज्य की यह निश्चित नीति होती जाती थी, कि अपने माल को खपाने के लिये दूसरे देशों में बाजार सुरक्षित रखे जावें। जिस देश में हमारा माल बिकता है, उसमें और कोई राज्य अपना माल न बेच सके। इसके लिये उस देश पर किसी न किसी प्रकार का प्रभुत्व स्थापित करना जरूरी था। व्यावसायिक क्रान्ति द्वारा उत्पन्न प्रवृत्तियों के कारण उन्नीसवीं सदी में यूरोप के अनेक राज्य इसी प्रकार के सुरक्षित बाजार प्राप्त करने के लिये उतावले हो रहे थे। इसी प्रवृत्ति का नाम आर्थिक साम्राज्यवाद है। इस प्रयत्न में विविध राज्यों का संघर्ष होना बिलकुल स्वाभाविक और आवश्यक था। गत यूरोपीय महायुद्ध में विविध यूरोपियन राज्यों के आर्थिक हित एक दूसरे के साथ संघर्ष कर रहे

थे। यह आर्थिक साम्राज्यवाद का एक स्वाभाविक और आवश्यक परिणाम था।

इन आधारभूत कारणों को और अधिक स्पष्ट करने के लिये प्रत्येक पर पृथक् रूप से प्रकाश डालना उपयोगी होगा—

राष्ट्रीयता—राष्ट्रीयता एक स्वाभाविक और उचित प्रवृत्ति है। जिन लोगों की जाति, भाषा, धर्म, रीति रिवाज, सभ्यता और ऐतिहासिक परम्परा एक हो, वे एक साथ मिलकर रहें और एक साथ मिलकर अपनी विशेषताओं की उन्नति करें, यह सर्वथा उचित है। राष्ट्रीयता की भावना मनुष्यजाति को उन्नत करने में बड़ी सहायक होती है। परन्तु अन्य सब अच्छी बातों के समान राष्ट्रीयता की भावना भी जब सीमा का उल्लंघन कर जाती है, तो मनुष्य जाति के लिये एक अभिशाप हो जाती है। मर्यादा को अतिक्रान्त करके विकृत राष्ट्रीयता मनुष्य को यह सिखाती है, कि संसार में हम सब से श्रेष्ठ हैं। हमारी सभ्यता, धर्म और भाषा विश्व में सब से उत्तम है। सारी दुनिया हमारे लिये है, और अपने हित के सम्पादन के लिये, अपनी स्वार्थ साधना के लिये अन्य सबके हित कुर्बान किये जा सकते हैं। हमें परमेश्वर ने यह महान् मिशन सुपुर्द किया है, कि असभ्य लोगों को सभ्यता का पाठ सिखावें, संसार में व्यवस्था और शान्ति कायम रखें—इस प्रकार के भ्रम उग्र राष्ट्रवादियों में सुगमता से उत्पन्न हो जाते हैं। गत यूरोपीय महायुद्ध से पूर्व यूरोप के अनेक शक्तिशाली राज्य इसी भ्रम में पड़े हुए थे। उग्र राष्ट्रीयता का भूत फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन आदि राज्यों के सिर पर सवार था। केवल शक्तिशाली राज्य ही नहीं, साधारण राज्य भी इस रोग से ग्रसित थे। 'बृहत्तर बल्गेरिया' 'बृहत्तर ग्रीस' और 'बृहत्तर सर्विया' ये शब्द एक ऐसी महत्त्वाकांक्षा को सूचित करते हैं, जो उग्र राष्ट्रीयता के रोग से उत्पन्न होती है। इसी तरह विशाल जर्मनी, विशाल फ्रांस आदि के स्वप्न इसी रोग से पीड़ित

होकर उत्पन्न हुए। हमें भी दुनिया में रहने की जगह चाहिये, यह भावना विकृत राष्ट्रीयता पैदा करती है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से राष्ट्रीयता की जिस प्रवृत्ति का जन्म हुआ था, वह बिलकुल स्वाभाविक और उचित थी। पर उन्नीसवीं सदी में उसका विकृत रूप निरन्तर सम्मुख आता जाता था। जहाँ एक तरफ यूरोप के अनेक राज्य मर्यादा का अतिक्रमण कर राष्ट्रीयता की भावना का दुरुपयोग कर रहे थे, वहां ऐसी जातियाँ भी विद्यमान थीं, जिनकी उचित राष्ट्रीय आकांक्षायें अभी तक पूर्ण नहीं हुई थीं। पोल, चेक और स्लाव लोग इनमें मुख्य हैं। इनकी राष्ट्रीय आकांक्षायें यूरोप में अशान्ति की अग्नि को निरन्तर सुलगाये रखती थीं। साथ ही, पुराने जमाने की विरासत में बीसवीं सदी ने कुछ ऐसी व्यवस्थायें भी प्राप्त की थीं, जो राष्ट्रीयता रूपी शरीर में व्रण के समान थीं। आल्सेस और लोरेन का जर्मनी के साथ होना और ट्रीएस्ट और फियूम का आस्ट्रिया के अधीन होना इसके उदाहरण हैं। राष्ट्रीयता की भावना यह मांग करती थी, कि "एक राष्ट्रीयता, एक राज्य" के सिद्धान्त के अनुसार यूरोप के राजनीतिक नकशे का निर्माण हो। पर महायुद्ध से पूर्व यूरोप का जो नकशा था, वह इस सिद्धान्त के अनेक अंशों में प्रतिकूल था। समय की प्रवृत्ति प्रेरित कर रही थी, कि उसमें परिवर्तन आवे। यूरोपीय महायुद्ध का एक बड़ा कारण यह प्रवृत्ति है, जो एक तरफ पददलित जातियों की उचित आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये और दूसरी तरफ उग्र राष्ट्रीयता के जहरीले दाँतों को तोड़ने के लिये कार्य कर रही थी।

साम्राज्यवाद—उग्र राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद को जन्म देती है। साथ ही, व्यावसायिक क्रान्ति के कारण उत्पन्न हुई आर्थिक आवश्यकतायें साम्राज्य विस्तार की प्रेरणा करती हैं। उन्नीसवीं सदी में ये दो बातें बड़ी तीव्रता के साथ यूरोप के विविध राज्यों को साम्राज्य निर्माण के लिये व्याकुल कर रही थीं। ग्रेट ब्रिटेन बड़ी तेजी के साथ

संसार के पाँचों महाद्वीपों में अपना पैर पसार रहा था। सारा उत्तरी एशिया रशिया के आधिपत्य में आ गया था। फ्रांस अफ्रीका और पूर्वी एशिया में अपना साम्राज्य फैला रहा था। हालैण्ड, बेल्जियम, पोर्तुगाल और डेन्मार्क—सब के अपने-अपने साम्राज्य थे, जिनका क्षेत्रफल अपनी अपेक्षा कई गुना था। बात यह है, कि व्यावसायिक क्रान्ति सब देशों में एक समय में शुरू नहीं हुई थी। व्यावसायिक और वैज्ञानिक दृष्टि से पश्चिमी यूरोप सबसे आगे था। इङ्गलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी व्यावसायिक उन्नति के अगुवा थे। पूर्वी यूरोप में व्यवसाय और विज्ञान की उन्नति बहुत देर में शुरू हुई। एशिया और अफ्रीका तो इस दौड़ में बहुत ही पीछे रह गये। परिणाम यह हुआ, कि उन्नति की दौड़ में पीछे रहे हुए इन देशों को अपना शिकार बनाने का सुवर्णीय अवसर पश्चिमी यूरोप के देशों को प्राप्त हो गया। उन्नीसवीं सदी में व्यावसायिक दृष्टि से उन्नत ये सब देश संसार के अन्य भागों को अपने प्रभुत्व में लाने के लिये बड़ी तेजी से प्रयत्न कर रहे थे। यह स्वाभाविक था कि उनमें परस्पर संघर्ष हो, विविध देशों पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिये उनमें प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो। साम्राज्यवाद की इस दौड़ में जर्मनी बहुत पीछे शामिल हुआ था। जब तक बिस्मार्क ने जर्मनी के विविध राज्यों को मिलाकर उनका एक राष्ट्रीय संगठन नहीं बना दिया, तब तक जर्मनी के लिये साम्राज्य प्रसार का स्वप्न ले सकना सम्भव नहीं हुआ। १८९० के लगभग जब जर्मनी साम्राज्यवाद की दौड़ में शामिल हुआ, तो उसने देखा कि अन्य देश बहुत आगे निकल चुके हैं। ब्रिटेन भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड तथा अन्य अनेकों द्वीपों पर कब्जा कर चुका है। व्यापार के सब महत्त्वपूर्ण मार्गों पर उसका अधिकार है। संसार के सब महत्त्वपूर्ण बाजार ब्रिटेन या अन्य यूरोपियन देशों के काबू में आ चुके हैं। प्रशान्त महासागर के क्षुद्र द्वीप, अफ्रीका के शेष बचे कुछ प्रदेश और चीन के तटवर्ती कुछ

प्रदेश ही इस समय जर्मनी को प्राप्त हो सके। पर जर्मनी इतने से कभी संतुष्ट नहीं हो सकता था। उग्र राष्ट्रीयता और व्यावसायिक उन्नति उसे प्रेरित कर रही थीं, कि अपने लिये संसार में कोई स्थान बनाओ। जर्मनी अपने आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्य के लिये छटपटा रहा था। यह स्वाभाविक था, कि साम्राज्यवाद के क्षेत्र में ब्रिटेन और जर्मनी एक दूसरे को स्पर्धा और विद्वेष की दृष्टि से देखने लगें। पूर्वी दुनिया में जाने का स्वेज का मार्ग ब्रिटेन के कब्जे में था, जर्मनी ने यत्न किया कि बर्लिन-बगदाद रेलवे का निर्माण कर सीधा पर्शिया की खाड़ी पर पहुंचा जाय। जर्मनी का माल संसार के बाजारों में सर्वत्र नजर आने लगा। जर्मन माल के मुकाबले में ब्रिटिश माल का बिकना मुश्किल हो गया। ब्रिटिश लोग जर्मनी के व्यापारिक मुकाबले से तंग आकर साम्राज्यान्तर्गत रियायती कर की योजना तैयार करने लगे। साम्राज्य के विविध देश विदेशों के मुकाबले में साम्राज्यान्तर्गत देशों के माल पर कम कर लगायें, यह इस योजना का अभिप्राय था। इससे भारत आदि देशों में जर्मन माल के मुकाबले में ब्रिटिश माल को सस्ते दामों पर बेचा जा सकता था। जर्मन लोग इस योजना को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे। साथ ही, जर्मनी जिस तेजी के साथ नौ सेना को तरक्की कर रहा था, ब्रिटेन उसे कभी सहन नहीं कर सकता था। जब तक जर्मनी का प्रयत्न स्थल सेना को बढ़ा कर यूरोप में सबसे अधिक शक्तिशाली बनना था, तब तक ब्रिटेन को उससे कोई विशेष चिन्ता नहीं थी। पर किसी अन्य देश की सामुद्रिक शक्ति ब्रिटेन को सह्य नहीं हो सकती थी। मतलब यह है, कि साम्राज्यवाद को दौड़ में ब्रिटेन और जर्मनी बीसवीं सदी के प्रारम्भ में एक दूसरे के प्रबल प्रतिस्पर्धी हो रहे थे। साम्राज्यवाद के कारण उत्पन्न हुआ यूरोपियन देशों का पारस्परिक संघर्ष और विशेषतया ब्रिटेन और जर्मनी की प्रतिस्पर्धा गत यूरोपियन महायुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

९१०००० सैनिक थे। इतनी बड़ी सेनाओं का खर्च यदि करोड़ों रुपया वार्षिक हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? इसी प्रकार नौसेना की वृद्धि के लिये सब देश एक दूसरे की होड़ कर रहे थे। बड़े बड़े जंगी जहाजों का निर्माण किया जा रहा था। विज्ञान की सहायता से युद्ध के उपकरण निरन्तर अधिक अधिक उन्नत और जटिल होते जाते थे। जिस राज्य के पास जितने घातक और भयंकर हथियार हों, उसे उतना ही महान् समझा जाता था। बड़प्पन की निशानी ही यह थी, कि किस के पास अधिक सैनिक शक्ति है। सैनिकवाद की इस प्रचण्डता के होते हुए यह कैसे सम्भव था, कि युद्ध न हो। युद्ध तो इस सैनिकवाद का एक आवश्यक परिणाम था।

यूरोप के न केवल राजनीतिज्ञ और साम्राज्यवादी नेता ही सेना की वृद्धि द्वारा युद्ध को अवश्यम्भावी बना रहे थे, अपितु कवि, दार्शनिक, साहित्यिक, लेखक व ऐतिहासिक भी सैनिकवाद के प्रसार में सहायता पहुँचा रहे थे। विचारक लोग प्रतिपादित करते थे, कि युद्ध एक स्वाभाविक और आवश्यक वस्तु है। प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र में हमें संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। निर्बलों को बलवान खाजाते हैं, मात्स्य न्याय प्रगतिका न्यायसंगत नियम है। वनस्पति, जीव, जन्तु—सर्वत्र यह नियम काम कर रहा है। फिर मनुष्य जाति ही इसका अपवाद कैसे हो सकती है। शक्तिशाली राष्ट्र को अधिकार है, कि वह निर्बल जातियों को नष्ट कर सके। उन्नति के लिये यह आवश्यक है। जीवन का अधिकार कोई पवित्र और अनुल्लंघनीय अधिकार नहीं है, क्योंकि प्रकृति 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। यदि मनुष्यजाति के पुराने इतिहास पर दृष्टिपात की जाय, तो युद्ध की उपयोगिता भली भांति समझ में आजायगी। युद्धों द्वारा ही साम्राज्यों की स्थापना होकर शान्ति और व्यवस्था का सूत्रपात हुआ, कमजोर जातियों का नाश होकर उत्कृष्ट सभ्यता का विकास हुआ। यदि

सैनिकवाद—उग्र राष्ट्रीयता और प्रचण्ड साम्राज्यवाद का स्वाभाविक परिणाम सैनिकवाद था। प्रत्येक देश सेना की उन्नति के लिये पागल हो रहा था। बाधित सैनिक शिक्षा ही नहीं, अपितु बाधित सैनिक सेवा की प्रथा प्रत्येक देश में प्रारम्भ की जा रही थी। कुछ निश्चित वर्षों के लिये प्रत्येक नागरिक के लिये यह आवश्यक था, कि वह सेना में भर्ती होकर सैनिक सेवा करे। इस प्रकार सम्पूर्ण जनता युद्ध के लिये शिक्षित की जा रही थी, जो आवश्यकता पड़ने पर किसी भी समय युद्ध के लिये काम आ सकती थी। बाधित सैनिक सेवा की प्रथा सब से पूर्व प्रशिया ने प्रारम्भ की थी। नैपोलियन का मुकाबला करने के लिये प्रशियन राजनीतिज्ञों ने इस प्रथा का प्रारम्भ किया था और यह उस समय बहुत उपयोगी सिद्ध हुई थी। प्रशिया के बाद धीरे धीरे अन्य यूरोपियन राज्य भी इसे ग्रहण करते गये। गत यूरोपीय महायुद्ध से पूर्व ब्रिटेन के अतिरिक्त अन्य सब महत्त्वपूर्ण यूरोपियन राज्य इस प्रथा को अपना चुके थे और इस प्रकार यूरोप की सम्पूर्ण जनता सैनिक के रूप में परिवर्तित हो चुकी थी। सेनाओं का खर्च बड़ी तेजी के साथ बढ़ाया जा रहा था। अनेक यूरोपियन राज्य अपनी वार्षिक आमदनी का ८५ प्रतिशत भाग युद्ध की तैयारी पर खर्च कर रहे थे। राज्य के अन्य विभागों के लिये केवल १५% रुपया शेष बचता था। सन् १८७३ में यूरोप के विविध देश सेना और युद्ध सामग्री के लिये कुल मिला कर ११५०००००००० रुपया खर्च करते थे, परन्तु १९१३ में यह संख्या बढ़ कर ५९८२०००००० हो गई थी। इतनी धनराशि प्रति वर्ष युद्ध की तैयारी के लिये खर्च की जा रही थी। सब लोग विश्वास करते थे, कि युद्ध अवश्यम्भावी है, और उस के लिये हरदम तैयार रहने में ही वे अपना कल्याण समझते थे। स्थिर सेना की संख्या भी लगातार बढ़ रही थी। सन् १९१३ में जर्मनी की स्थिर सेना ८७०००० थी। फ्रांस की सेना में

६१०००० सैनिक थे। इतनी बड़ी सेनाओं का खर्च यदि करोड़ो रुपया वार्षिक हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इसी प्रकार नौसेना की वृद्धि के लिये सब देश एक· दूसरे की होड़ कर रहे थे। बड़े बड़े जंगी जहाजों का निर्माण किया जा रहा था। विज्ञान की सहायता से युद्ध के उपकरण निरन्तर अधिक अधिक उन्नत और जटिल होते जाते थे। जिस राज्य के पास जितने घातक और भयंकर हथियार हों, उसे उतना ही महान् समझा जाता था। बड़प्पन की निशानी ही यह थी, कि किस के पास अधिक सैनिक शक्ति है। सैनिकवाद की इस प्रचण्डता के होते हुए यह कैसे सम्भव था, कि युद्ध न हो। युद्ध तो इस सैनिकवाद का एक आवश्यक परिणाम था।

यूरोप के न केवल राजनीतिज्ञ और साम्राज्यवादी नेता ही सेना की वृद्धि द्वारा युद्ध को अवश्यम्भावी बना रहे थे, अपितु कवि, दार्शनिक, साहित्यिक, लेखक व ऐतिहासिक भी सैनिकवाद के प्रसार में सहायता पहुँचा रहे थे। विचारक लोग प्रतिपादित करते थे, कि युद्ध एक स्वाभाविक और आवश्यक वस्तु है। प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र में हमें संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। निर्बलों को बलवान खाजाते हैं, मात्स्य न्याय प्रगतिका न्यायसंगत नियम है। वनस्पति, जीव, जन्तु—सर्वत्र यह नियम काम कर रहा है। फिर मनुष्य जाति ही इसका अपवाद कैसे हो सकती है। शक्तिशाली राष्ट्र को अधिकार है, कि वह निर्बल जातियों को नष्ट कर सके। उन्नति के लिये यह आवश्यक है। जीवन का अधिकार कोई पवित्र और अनुल्लंघनीय अधिकार नहीं है, क्योंकि प्रकृति 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। यदि मनुष्यजाति के पुराने इतिहास पर दृष्टिपात की जाय, तो युद्ध की उपयोगिता भली भांति समझ में आजायगी। युद्धों द्वारा ही साम्राज्यों की स्थापना होकर शान्ति और व्यवस्था का सूत्रपात हुआ, कमजोर जातियों का नाश होकर उत्कृष्ट सभ्यता का विकास हुआ। यदि

युद्ध न होते, तो आज भी मनुष्य जाति छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त हुई होती। यदि पुराने समय में युद्ध ये सब उपकार कर चुका है, तो आज भी वह राष्ट्रीयता की तंग दीवारों का अन्त कर सार्वभौम शान्ति की स्थापना कर सकता है, विविध धर्मों, अवनत सभ्यताओं और अन्धविश्वासमूलक प्रथाओं का अन्त कर संसार में एक उत्कृष्ट सभ्यता का प्रादुर्भाव कर सकता है। जब संसार के विचारक इन विचारों का डंके की चोट के साथ प्रचार कर रहे हों, तो युद्ध होने में क्या देर हो सकती है। रूजवेल्ट का कहना था—"युद्ध में परास्त हो जाना भी सर्वथा युद्ध न करने की अपेक्षा अच्छा है।" तरुण जर्मन संघ का सिद्धान्त था, कि "मानवीय कार्यों में युद्ध सब से अधिक श्रेष्ठ और पवित्रतम कार्य है। हमारे लिये भी वह शुभ घड़ी अवश्य आयगी, जब युद्ध का शंख बजेगा और हथियारों की सुमधुर झंकार से आकाश गूंज उठेगा। जर्मन हृदयों में किस प्रकार युद्ध का आल्हाद हिलोरें मारता है। आओ, हम लोग उन बूढ़ी औरतों का मजाक करें, जो युद्ध को क्रूर और ग्लानिजनक बताती हैं। युद्ध तो अत्यन्त सुन्दर होता है।" [illegible] का कहना था—"वह समय दूर नहीं है, जब सम्पूर्ण पृथिवी पर जर्मनी का अखण्ड राज्य हो जायगा।" बर्नहार्डी ने लिखा था—"युद्ध एक माननीय आवश्यकता है।" ट्रीट्स्के प्रतिपादित करता था—"युद्ध दैवीय व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण भाग है।" "जिसकी लाठी, उसकी भैंस। दुनिया में ठीक क्या है, इसका फैसला युद्ध से होता है।" इस प्रकार के सिद्धान्त थे, जो गत शताब्दि के विचारक लोग सर्वत्र प्रतिपादित करते थे। अनेक सभा समितियां इसी उद्देश्य से स्थापित थीं, कि वे मनुष्यों को युद्ध की आवश्यकता समझावें और उन्हें युद्ध के लिये तैयार करने में सहायता दें। इस वातावरण में युद्ध होना आश्चर्य की बात नहीं, अपितु युद्ध का न होना आश्चर्य [illegible] होता।

उग्र राष्ट्रीयता ने मनुष्यों में एक विकृत देशभक्ति की भावना उत्पन्न कर दी थी। हमारी सभ्यता सब से उत्कृष्ट है, हमारा धर्म सबसे श्रेष्ठ है, हमारी भाषा, हमारी संस्कृति, हमारा खानपान, हमारी वेशभूषा, हमारे रीतिरिवाज संसार के लिये सर्वोत्तम हैं। परदेशी घृणा का पात्र है, हमसे तुच्छ है। इस पहाड़ या नदी से परे जो लोग रहते हैं, वे हमारे दुश्मन हैं, उन्हें जीवित रहने का भी अधिकार नहीं है— ये भावनायें उस समय सब लोगों में उत्पन्न हो गई थीं। प्रेस, प्लेटफार्म पुस्तकें, स्कूल, कालिज—सब में ये भावनायें ही प्रचारित की जाती थी। हमारा देश अगर ठीक मार्ग पर है, तब तो ठीक ही है, अगर गल्त रास्ते पर है, तो भी वही गल्त रास्ता ठीक है—यह गत शताब्दि की देशभक्ति थी! सारी दुनिया हमारे लिये है—हम ईश्वर के विशेष लाडले हैं—ये भाव उस समय सब देशों के लोग खुले तौर से कहते थे। जर्मनी के चाँसलर फॉन बेथमान-हालवेग का कथन था—"ईश्वर ने जर्मन जाति को संसार में एक विशेष स्थान प्रदान किया है, इतिहास में हमें कुछ विशेष कार्य करना है।" सम्राट् विलियम द्वितीय कहता था—"परमेश्वर ने हमें संसार को सभ्य बनाने का कार्य सुपुर्द किया है।" सेसिल रहोड्स ने लिखा था—"मेरा दावा है, कि अब तक इतिहास ने जितनी जातियाँ उत्पन्न की हैं, ब्रिटिश जाति उनमें सर्वश्रेष्ठ है।" चेम्बरलेन का दावा था कि "यह निश्चित है, कि एंग्लोसैक्सन जाति संसार के इतिहास में सब से महत्त्वपूर्ण शक्ति है।" जर्मन, इङ्गलिश, फ्रेञ्च, रशियन, स्लाव आदि यूरोप की सभी जातियाँ अपने अपने विषय में इन्हीं भावनाओं का प्रचार कर रही थीं। जब सब लोग समझते हो, कि संसार हमारे लिये है, हमें सारी दुनिया पर राज्य करना है, विश्व में अपनी सभ्यता और धर्म का प्रचार करना है, तो वे परस्पर टकराये बिना कैसे रह सकते हैं, वे युद्ध से कैसे बच सकते हैं।

समय बहुत दूर था, जब सच्चे अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हो सके। उग्र राष्ट्रीयता, प्रचण्ड देशभक्ति और साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियाँ इस स्वप्न को क्रियारूप में परिणत नहीं होने देती थीं। यही कारण है, कि सन् १९०७ में हेग का न्यायालय स्थापित हो जाने के बाद भी अनेक युद्ध हुए, और आखिर १९१४ में गत यूरोपीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ।

(२) संघर्ष का श्रीगणेश

यूरोप के शक्तिशाली राज्य दो जबर्दस्त गुटों में विभक्त हो गये थे। दोनों ओर से शक्तिसंचय का प्रयत्न जारी था। गुटबन्दी तीव्ररूप धारण करती जाती थी। सेना में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि की जारही थी। जंगी जहाजों और भयंकर हथियारों के निर्माण के लिये रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा था। विज्ञान की सहायता ले कर नये-नये हथियारों का आविष्कार हो रहा था। शस्त्र और सेना बढ़ाने के लिये दोनों गुटों में होड़ सी चल रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक तरफ फ्रांस और जर्मनी के हित परस्पर टकराते थे, दूसरी तरफ आस्ट्रिया और रशिया में घोर प्रतिद्वन्द्विता थी। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से ब्रिटिश साम्राज्य के राजनीतिज्ञों की नींद हराम हो रही थी। साम्राज्यवाद का भूत सब के सिरों पर सवार हो गया था। महत्त्वाकांक्षा और राज्य विस्तार की मदिरा पी कर यूरोप के विविध राज्य शक्ति प्रदर्शन के लिये उतावले हो रहे थे। इस दशा में युद्ध अवश्यम्भावी था। जब दोनों पक्ष युद्ध के लिये कृतनिश्चय और उद्यत हों, तो किसी छोटी सी बात पर भी उनमें संघर्ष शुरू हो सकता है। यही कारण है, कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अनेक बार ऐसी घटनायें उपस्थित हुईं, जब युद्ध के बादल आकाश में घिरने लगे, और हथियारों की झनकार से यूरोप गूंज उठा। इन घटनाओं का उल्लेख आवश्यक है।

त्वीं सदी में यूरोपियन राज्यों का पहला संघर्ष मोरक्को में हुआ। त्तरी अफ्रीका में अपना साम्राज्य फैला रहा था। अल्जीरिया यूनिस उसके अधीन हो चुके थे। अब उसकी आकांक्षा मोरक्को पने की थी। इङ्गलैंड और इटली को सन्धियों द्वारा संतुष्ट कर ह बहुत सुगम समझता था, कि मोरक्को को अपनी अधीनता में ाया जाय। मोरक्को के सुलतान के लिये फ्रांस जैसे शक्तिशाली का मुकाबला कर सकना सम्भव नहीं था। पर फ्रांस के प्रबल र्धी जर्मनी ने उसकी सहायता की। जर्मनी का परराष्ट्र विभाग इस समय बैरन फान हाल्स्टाइन के अधीन था। वह बड़ा नीति कुशल और चाणाक्ष था। उसकी प्रेरणा से कैसर विलियम द्वितीय ने सन १६०५ में मोरक्को की यात्रा की और वहाँ के सुलतान को स्वतन्त्र राजा के रूप में स्वीकृत किया। जर्मनी के हस्तक्षेप के कारण फ्रांस के लिये मोरक्को में मनमानी कर सकना असम्भव हो गया और इन दोनो राज्यों में विद्वेष निरन्तर प्रबल होता गया। मोरक्को के सम्बन्ध में जर्मनी और फ्रांस के सम्बन्ध इतने द्वेषपूर्ण हो गये, कि युद्ध की सम्भावना प्रतीत होने लगी। पर आखिर यह तय हुआ, कि मोरक्को के मामले पर विचार करने लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स बुलाई जाय और उसमें इस समस्या का निर्णय हो। सन् १६०६ में यह कान्फरेन्स हुई और इस विकट समस्या का हल किया गया।

दूसरी समस्या बाल्कन प्रायद्वीप में उपस्थित हुई। बीसवीं सदी के शुरू में बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्य जर्मनी व उसके मित्र आस्ट्रिया के प्रभाव में थे। टर्की का सुलतान कैसर विलियम का मित्र था। इस कारण तुर्की साम्राज्य के विस्तृत प्रदेश जर्मनी के प्रभाव में थे। रूमानिया का राजा चार्ल्स स्वयं होहन्सोलर्न वंश का था। वंश की एकता के कारण उसकी जर्मनी से मैत्री सर्वथा स्वाभाविक थी। सर्विया पूर्णतया आस्ट्रिया के प्रभाव में था। वहाँ की परराष्ट्रीय नीति

आस्ट्रिया के वैदेशिक विभाग द्वारा ही संञ्चालित होती थी। इस प्रकार बाल्कन प्रायद्वीप के प्रायः सभी राज्य जर्मन पक्ष के प्रभाव थे। बाल्कन प्रायद्वीप के सम्बन्ध में जर्मनी पूर्णतया निश्चिन्त था।

सन् १९०३ में सर्विया के राज्य अलेक्जण्डर की मृत्यु हो गई। अलेक्जण्डर आस्ट्रिया के राजा का परम मित्र था। सर्वियन देशभक्तों की भावनाओं को जरा भी परवाह न कर वह पूर्णतया आस्ट्रिया का पक्षपाती था। पर उसके उत्तराधिकारी राजा पीटर की यह दशा न थी। वह सर्वियन लोगों की राष्ट्रीय भावना के साथ सहानुभूति रखता था और इसीलिये उसका झुकाव आस्ट्रिया की तरफ न होकर रशिया की ओर था। सर्विया के निवासी सर्व जाति के हैं। सर्व जाति द्वारा आबाद अनेक प्रदेश उस समय आस्ट्रिया के अधीन थे। अतः सर्व लोगों में यह आन्दोलन चल रहा था, कि उन प्रदेशों को आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त कर एक शक्तिशाली सर्वियन राष्ट्र की स्थापना की जाय। इस प्रयत्न में उन्हें रशिया से सहायता प्राप्त हो सकती थी। इसके दो कारण हैं। पहला यह, कि सर्व लोग उसी जाति के हैं, जिसके रशियन लोग हैं। दूसरा यह, कि बाल्कन प्रायद्वीप के सम्बन्ध में आस्ट्रिया और रशिया के हित परस्पर टकराते थे। काला सागर और भूमध्यसागर को मिलानेवाले जलडमरूमध्य तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपना प्रभाव कायम करने के लिये रशिया विशेषतया इच्छुक था, इसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं। राजा पीटर भलीभांति अनुभव करता था, कि सर्विया का हित रशिया के साथ मैत्री करने में है। पीटर की इस प्रवृत्ति से जर्मनी और आस्ट्रिया बहुत चिन्तित हुए। यदि सर्विया रशिया के साथ सन्धि कर ले, तो इसमें जर्मनी और आस्ट्रिया दोनों का नुकसान था। इससे जर्मनी की पश्चिमी एशिया में साम्राज्य प्रसार की नीति में बाधा पड़ती थी। जर्मनी बालटिक सागर से पर्शिया की खाड़ी तक अपना अखण्ड
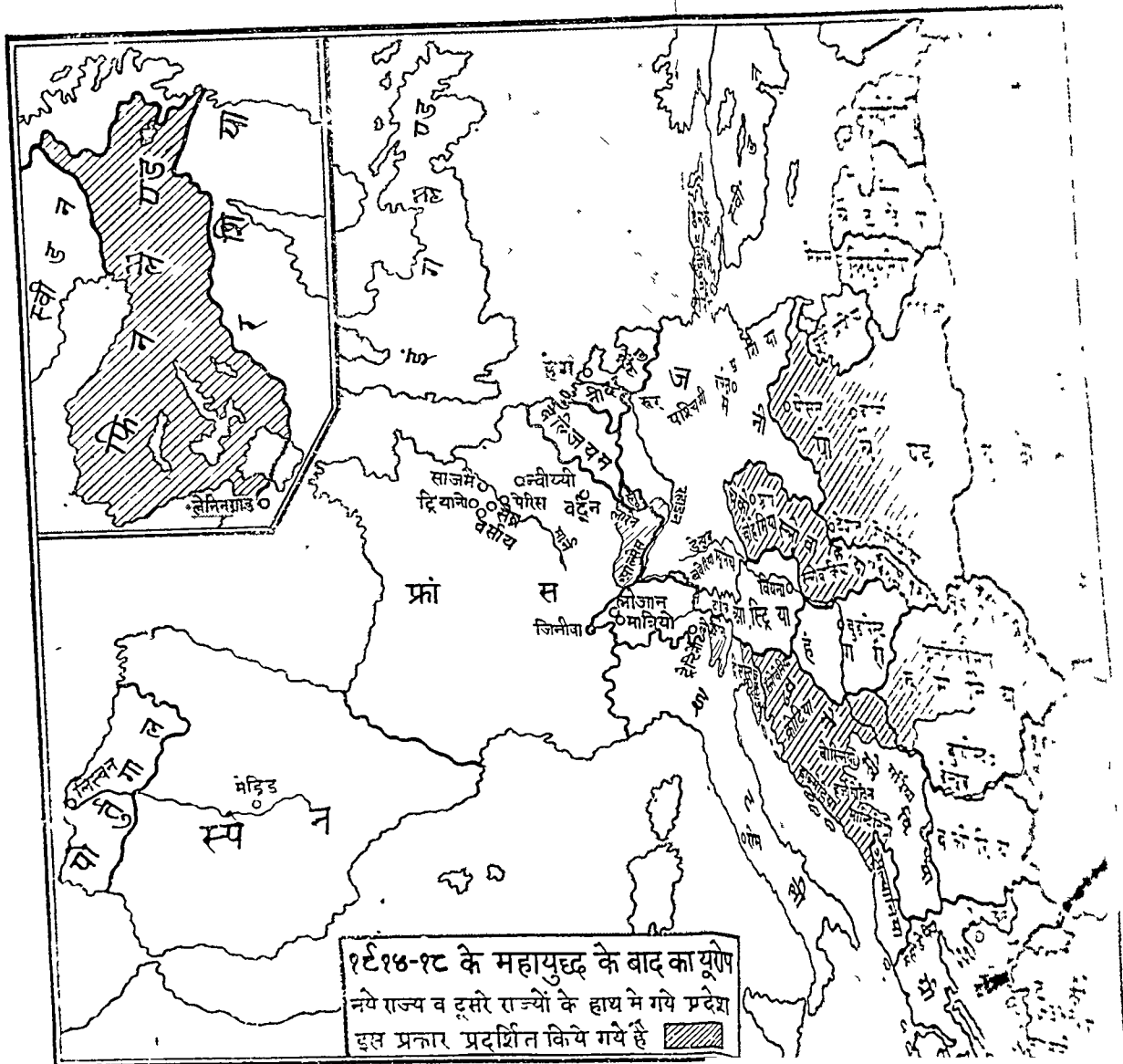
१९१४-१८ के महायुद्ध के बाद का यूरोप
नये राज्य व दूसरे राज्यों के हाथ में गये प्रदेश इस प्रकार प्रदर्शित किये गये हैं

प्रभाव स्थापित करने की धुन में था। एशिया पहुँचने का सीधा रास्ता भूमध्यसागर से स्वेज होकर लालसागर की तरफ जाता है। पर इस रास्ते पर पहले से ब्रिटेन का कब्जा था। इस रास्ते के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पड़ाव पर ब्रिटिश लोग अपना अधिकार कर चुके थे। इस दशा में जर्मनी के लिये यही सम्भव था, कि वह एशिया पहुँचने का कोई नवीन मार्ग निकाले। जर्मनी से आस्ट्रिया, आस्ट्रिया से बालकन प्रायद्वीप, फिर टर्की—यह एक नया रास्ता एशिया पहुँचने के लिये हो सकता था। जर्मनी की आँख इसी पर थी। टर्की का साम्राज्य उन दिनों बहुत विस्तृत था। एशिया माइनर और मैसोपोटामिया उस समय उसके अधीन थे। यदि बालकन प्रायद्वीप के विविध राज्य जर्मनी व उसके मित्र आस्ट्रिया के प्रभाव में रहें, तो वस्तुतः बाल्टिक सागर से पर्शिया की खाड़ी तक जर्मनी का अखण्ड प्रभुत्व स्थापित रहता था। आस्ट्रिया और टर्की उसके मित्र थे और सर्विया और रूमानिया पर उसका प्रभाव था। इसी आधार पर जर्मनी ने बर्लिन बगदाद रेलवे की स्कीम बनाई थी। सन् १८६८ में कैसर विलियम ने टर्की की यात्रा की थी और वहाँ सुलतान से मिलकर एशिया माइनर और मैसोपोटामिया में रेलवे बनाने का अधिकार प्राप्त किया था। जर्मनी का विचार था, कि बर्लिन से लेकर बगदाद तक सीधी रेलवे हो, जो जर्मनी के प्रभाव में रहे। जर्मनी की साम्राज्यवादी नीति के लिये यह रेलवे अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इसके तैयार हो जाने पर जर्मनी न केवल बालकन प्रायद्वीप और तुर्की साम्राज्य पर अपना कब्जा रख सकता था, अपितु एशिया में साम्राज्य विस्तार तथा व्यापार का द्वार भी उसके लिये खुल जाता था। यही कारण है, कि इङ्गलैण्ड, रशिया और फ्रांस इस स्कीम से बहुत चिन्तित थे। इङ्गलैण्ड को भय था, कि बर्लिन बगदाद रेलवे के तैयार हो जाने पर पर्शिया की खाड़ी पर जर्मनी का प्रभाव हो जायगा और यह होना ब्रिटेन के भारतीय

साम्राज्य के लिये अत्यन्त हानिकारक होगा। रशिया समझता था, कि उत्तरी पर्शिया की तरफ वह जिस प्रकार निश्चिन्तता से अपने पैर फैला रहा है, वह इस रेलवे से सम्भव न रहेगा। फ्रांस की दृष्टि सीरिया पर थी। उसका खयाल था, कि एशिया माइनर पर जर्मनी का प्रभाव हो जाने से सीरिया का क्षेत्र खतरे में पड़ जावेगा। इन तीन शक्तिशाली राज्यों के विरोध के कारण जर्मनी अपनी स्कीम को जल्दी से क्रिया में परिणत नहीं कर सका।

पर सर्बिया के राजा पीटर ने रशिया के साथ मैत्री कर जो प्रवृत्ति प्रदर्शित की थी, वह जर्मनी की इस सारी स्कीम पर ही कुठाराघात करती थी। यदि सर्बिया आस्ट्रिया के स्थान पर रशिया के प्रभाव में आ जाय, तो बर्लिन बगदाद रेलवे और 'बाल्टिक सागर से पर्शियन खाड़ी' तक के क्षेत्र पर अखण्ड प्रभाव का अर्थ ही कुछ न रहता था। इसी प्रकार सर्बिया के रशिया के साथ मिल जाने से आस्ट्रिया को भी सरासर नुकसान था। बालकन प्रायद्वीप को अपने प्रभाव में रखना आस्ट्रियन साम्राज्य की सुरक्षा के लिये आवश्यक था। सर्बियन राष्ट्रीयता के आन्दोलन से आस्ट्रियन साम्राज्य की सत्ता ही खतरे में पड़ जाती थी। इसलिये आस्ट्रिया और जर्मनी दोनों का हित इस बात में था, कि सर्बिया के सर्व आन्दोलन को एकदम कुचल दिया जाय। सन् १९०५ में रशिया जापान से बुरी तरह परास्त हुआ था। आन्तरिक राज्यक्रान्ति के कारण रशिया वैसे भी बहुत कमजोर हो रहा था। इस समय उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह सर्बिया की सहायता कर सके। अतः सर्बियन लोगों के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल देने का यह अत्यन्त उत्तम अवसर था। इस अवसर से लाभ उठा कर सन् १९०८ में आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जोगोविना के प्रदेशों को पूर्णतया अपने साम्राज्य में मिला लिया। इन दोनों प्रदेशों के निवासी सर्व जाति के हैं, और राष्ट्रीय दृष्टि से इन्हें सर्बिया के साथ होना चाहिये था। पर

पहले ये टर्की के अधीन थे। १८७८ की बर्लिन की सन्धि द्वारा इन पर आस्ट्रिया का अधिकार हुआ था। तब से इन पर आस्ट्रिया का शासन चला आता था। सर्वियन देशभक्त इस यत्न में थे, कि इन्हें अपने साथ मिलाकर शक्तिशाली सर्वियन राष्ट्र का निर्माण किया जावे। इस आकांक्षा में उन्हें रशियन सहायता की पूरी आशा थी। पर रशिया की निर्बलता से लाभ उठा कर सन् १९०८ में आस्ट्रिया ने इन प्रदेशों पर अपना कब्जा और भी मजबूत कर लिया। यह स्वाभाविक था, कि सर्विया इससे नाराज हो। बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रश्न पर आस्ट्रिया और सर्विया के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये। इस समय रशिया के परराष्ट्र सचिव श्रीयुत इस्वोल्स्की थे। उन्होंने इस परिस्थिति में सर्विया की सहायता करने के बजाय अपने लिये एक नया लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया। रशिया को बहुत समय से आकांक्षा थी, कि काला सागर में उसके जंगी जहाजों का अनवरत प्रवेश रहे। श्रीयुत इस्वोल्स्की ने आस्ट्रिया के सम्मुख यह विचार पेश किया, कि यदि तुम हमें इस आकांक्षा को पूर्ण करने में सहायता दो, तो हम बोस्निया और हर्जेगोविना के मामले सर्विया की सहायता नहीं करेंगे। सम्भवतः आस्ट्रिया इसके लिये तैयार हो भी जाता, पर फ्रांस और इङ्गलैण्ड ने इसका घोर विरोध किया और श्रीयुत इस्वोल्स्की का मनोरथ पूर्ण नहीं हो सका। इस दशा में रशिया के लिये एक ही मार्ग था, कि वह सर्विया का पक्ष लेकर अपनी पुरानी नीति का अनुसरण करे। पर जर्मनी ने बीच में पड़कर रशिया पर इसके लिये जोर दिया कि बोस्निया और हर्जेगोविना पर आस्ट्रिया का पूर्ण अधिकार स्थापित होने दे। इस समय रशिया की यह दशा न थी, कि वह युद्ध कर सके। आन्तरिक क्रान्ति और जापान से पराजय के कारण वह बहुत निर्बल हो गया था। इच्छा न होते हुए भी उसें झुकना पड़ा और सर्वियन देशभक्तों की आकांक्षाओं के खिलाफ ये दोनों प्रदेश पूर्णतया आस्ट्रिया के

अधीन हो गये। इस प्रकार १६०८ में जर्मनी और आस्ट्रिया का गुट रशिया के खिलाफ पूर्णतया सफल हुआ और बालकन प्रायद्वीप में उसका प्रभाव और भी बढ़ गया।

बालकन प्रायद्वीप का मामला अभी समाप्त ही हुआ था, कि मोरक्को पर फिर युद्ध के बादल मंडराने लगे। जर्मनी की प्रेरणा से १६०६ में मोरक्को की समस्या का हल करने के लिये जो अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स हुई थी, उसमें निम्न लिखित व्यवस्था की गई थी राजनीतिक दृष्टि से मोरक्को स्वतन्त्र रहे, परन्तु उसके आर्थिक विषयों का सञ्चालन एक बैंक के हाथ में रहे, जिस पर मोरक्कन सरकार की बजाय अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार रहे। मोरक्को में व्यापार की सब को स्वतन्त्रता हो और उसमें व्यवस्था और शान्ति स्थापित रखने के लिये विदेशी पुलीस रहे, जो प्रधानतया फ्रांस के अधीन हो। इस फैसले के अनुसार मोरक्को पर अपना अधिकार निरन्तर बढ़ाते रहने के लिये फ्रांस को अनेक अवसर थे। उनका उपयोग कर वह मोरक्को पर अपना शिकंजा निरन्तर अधिक अधिक मजबूत करता जाता था। शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के बहाने फ्रेञ्च पुलीस मोरक्को के विविध नगरों पर कब्जा करती जाती थी। सुलतान पूर्णतया फ्रांस के काबू में था। इस दशा में सन् १६११ में मोरक्को के कुछ देशभक्तों ने फेज में विद्रोह किया। विद्रोह को शान्त करने के निमित्त फ्रेञ्च पुलीस ने वहाँ अपना अधिकार जमा लिया। फ्रांस की इस गति विधि को जर्मनी बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देख रहा था। फेज पर फ्रेञ्च कब्जा हो जाने पर जर्मनी से नहीं रहा गया। उसने उद्घोषित किया, कि फेज पर कब्जा १६०६ के फैसले के खिलाफ है। जर्मनी के एक जंगी जहाज ने मोरक्को के बन्दरगाह अगदीर की तरफ प्रस्थान भी कर दिया। फ्रांस और जर्मनी दोनों हथियारों की झंकार से गूंज उठे। ऐसा प्रतीत होने लगा कि युद्ध अवश्यम्भावी है। इस विकट परिस्थिति में इङ्गलैण्ड

ने फ्रांस का साथ दिया। रशिया, फ्रांस और इंगलैण्ड का जो त्रिगुट बना था, वह पूर्णतया अपना काम कर रहा था। जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस की सहायता करने के लिये इङ्गलैण्ड पूर्णरूप से उद्यत था। ब्रिटिश सरकार की ओर से भाषण करते हुए श्रीयुत लायड जार्ज ने उद्घोषित किया कि "जिन मामलों के साथ ब्रिटेन का ताल्लुक है, यदि उनमें ब्रिटेन के हितों की उपेक्षा की गई, तो उसे हम किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकते। ऐसा करना ब्रिटेन का घोर अपमान है, ब्रिटेन की उपेक्षा कर यदि शान्ति स्थापित करने का उद्योग किया गया, तो हम उसे कभी भी सहन नहीं करेंगे।" श्रीयुत लायड जार्ज को इतने सख्त शब्दों में यह उद्घोषणा करने की आवश्यकता इसलिये हुई थी, क्योंकि जर्मनी मोरक्को के मामले में इङ्गलैण्ड की उपेक्षा करना चाहता था और फ्रांस से सीधे निवट लेने के प्रयत्न में था। पर इङ्गलैण्ड के हस्तक्षेप के कारण मोरक्को की समस्या अधिक नहीं बढ़ने पाई, मामला बीच में ही दब गया। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस मामले को लेकर जर्मनी में फ्रांस, इङ्गलैण्ड और रशिया के त्रिगुट के विरुद्ध भावना बहुत प्रबल हो गई। जर्मन लोग समझने लगे, कि इस त्रिगुट का निर्माण उनकी मातृभूमि के स्वयंसिद्ध अधिकारों को कुचलने के लिये ही हुआ है। इसी प्रकार फ्रांस में भी जर्मनी से बदला लेने की भावना पुनः अत्यन्त प्रबल हो गई। १८७१ के पराजय की स्मृति फ्रांस में सदा ताजी रहती थी और अब मोरक्को की इस घटना ने अग्नि में घृत की आहुति का काम दिया।

मोरक्को के प्रश्न पर यूरोप में युद्ध बाल बाल बचा था। पर कुछ ही समय बाद बालकन प्रायद्वीप में फिर युद्ध की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। ग्रीस, सर्विया, बल्गेरिया और मोन्टिनिग्रो—बालकन प्रायद्वीप के ये चार राज्य तुर्की साम्राज्य का अन्त करने के लिये उसके खिलाफ टूट पड़े। यह बालकन युद्ध किन परिस्थितियों में और किस प्रकार प्रारम्भ

हुआ, इसका वर्णन हम पहले विशदरूप से कर चुके हैं। उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। बालकन युद्ध द्वारा यूरोप से टर्की का प्रभुत्व उठ गया और बालकन प्रायद्वीप प्रायः स्वाधीन हो गया। पर इस युद्ध के सिलसिले में यूरोपियन राज्यों के दोनों गुटों को अपनी शक्ति आजमाने के लिये अनेक अवसर प्राप्त हुए और युद्ध की काली घटायें यूरोपियन आकाश में मडराने लगीं। तुर्की साम्राज्य से स्वतन्त्र हुए बालकन प्रदेशों पर किसका अधिकार हो और नये स्वतन्त्र हुए राज्य किसके प्रभाव में रहें—यह समस्या थी, जिसे हल कर सकना अत्यन्त कठिन कार्य था। एक तरफ रशिया बालकन प्रायद्वीप को अपने प्रभाव में लाने के लिये छटपटा रहा था। एशिया में वह जापान से बुरी तरह मार खा चुका था। अफगानिस्तान और पर्शिया में इङ्गलैण्ड ने उसकी प्रगति को रोक दिया था। सब तरफ से रुकावट पाकर रशिया को आगे बढ़ने के लिये एक ही दिशा नजर आती थी—वह बालकन प्रायद्वीप को अपने प्रभाव में लाकर कान्स्टेन्टिनोपल पर अपना कब्जा कायम करना चाहता था। कालासागर से भूमध्यसागर तक पहुँचने का मार्ग उसके अधिकार में आजाय—यह पुराणा सुखद स्वप्न रशिया के सम्मुख था। इङ्गलैण्ड अब उसका मित्र था, उधर से उसे कोई डर न था। अतः रशियन राजनीतिज्ञ इस दिशा में आगे बढ़ने के लिये अपना मार्ग अब साफ समझते थे। पर आस्ट्रिया और जर्मनी के रूप में दो नई बाधाएं इस मार्ग में खड़ी थीं। जर्मनी बर्लिन से बगदाद तक अपना प्रभुत्व अक्षुण्ण रखना चाहता था। आस्ट्रिया को सर्वियन लोगों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं से भय था। जिस प्रकार पीडमौन्ट के छोटे से राज्य को अपना केन्द्र बनाकर इटालियन देश भक्तों ने शक्तिशाली इटालियन राष्ट्र का संगठन किया था, उसी प्रकार सर्विया को केन्द्र बनाकर शक्तिशाली सर्व या स्लाव राष्ट्र की स्थापना की जा सकती है, इसे सर्व देशभक्त और आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ दोनों भलीभाँति सम-

भते थे। बालकन युद्ध के समय आस्ट्रिया और रशिया दोनों पैंतरे बद-लते हुए अनेक बार एक दूसरे के समीप आगये, पर उनकी तलवारें टकराने से बाल बाल बच गईं। बालकन युद्ध समाप्त हो गया, पर अपने पीछे विरोध और विद्वेष का कटु वातावरण छोड़ गया। सन्-१६१२-१३ के बालकन युद्ध को निमित्त बनाकर ही जो यूरोप के दोनों गुटों में लड़ाई नहीं छिड़ गई, उसमें कोई विशेप कारण नहीं है। दोनों गुट युद्ध के लिये बिलकुल तैयार थे—बारूद बिलकुल सूखा हुआ था, उसे केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी, जो सन् १६१४ में मिल गई।

(३) युद्ध का तात्कालिक कारण

२८ जून १६१४ के दिन आस्ट्रिया-हंगरी के युवराज आर्कड्यूक फ्रांसिस फर्डिनन्ड और उसकी पत्नी की बोस्निया में हत्या हुई। आस्ट्रिया के युवराज उस समय अपने विशाल साम्राज्य की यात्रा करते हुए सर्विया पधारे थे। सर्विया की सरकार ने पहले ही इस बात की चेता-वनी दे दी थी, कि देशभक्त सर्व क्रान्तिकारी अनेक प्रकार के षड्यन्त्रों में लगे हैं, और यदि कोई दुर्घटना होगई, तो सर्वियन सरकार उसकी जिम्मेदारी नहीं ले सकती। आखिर, सर्व षड्यन्त्रकारी अपने प्रयत्न में सफल हो गये और आस्ट्रियन युवराज की हत्या हो गई। आस्ट्रिया ने सर्विया की सरकार को इसके लिये उत्तरदायी ठहराया, और लगभग एक मास बाद सर्विया को बाकायदा यह नोटिस दिया, कि अड़तालीस घन्टे के अन्दर अन्दर उन सब कार्रवाइयों को रोक दे, जो आस्ट्रिया के विरुद्ध सर्विया में हो रही हैं। समाचार पत्र, स्कूल व सभा समितियाँ आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रचार बन्द कर दें, सरकार व सेना में जो ऐसे पदाधिकारी हैं, जो आस्ट्रिया के विरुद्ध हैं, व उस की सरकार को पसन्द नहीं हैं, उन सब को बर्खास्त करदे, और सर्वियन न्यायालयों में

आस्ट्रियन अफसरों को इस उद्देश्य से बैठने की अनुमति दे, कि आस्ट्रिया के विरुद्ध कार्य व प्रचार करने वाले लोगों को यथोचित दण्ड दिया जा सके। ये सब शर्तें सर्बिया के लिये अत्यन्त अपमानजनक थीं। पर फिर भी वहाँ की सरकार अन्तिम शर्त को छोड़कर बाकी सब बातों को मानने के लिये तैयार हो गई। उसकी तरफ से केवल यह संशोधन पेश किया गया, कि इस अन्तिम शर्त को हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख पेश कर दिया जाय। आस्ट्रिया इससे सहमत नहीं हुआ। वस्तुतः, आस्ट्रियन लोग इस समय युद्ध के लिये तुले हुए थे। वे समझते थे, कि आस्ट्रियन साम्राज्य के मार्ग में जो भी काँटे हैं, उन सब को दूर हटा देने का यह सुवर्णावसर है।

जुलाई, १९१४ का अन्तिम सप्ताह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का था। यह स्पष्ट था, कि आस्ट्रिया और सर्बिया के संघर्ष में रशिया तटस्थ नहीं रहेगा। रशिया यह कभी सहन नहीं करेगा, कि आस्ट्रिया सर्बिया को कुचल दे, और इस प्रकार शक्तिशाली स्लाव राज्य के निर्माण की सम्भावना सदा के लिये नष्ट हो जाय। दूसरी तरफ जर्मनी ने यह स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया, कि यदि रशिया ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया, तो वह हर तरह से आस्ट्रिया की सहायता करेगा। रशिया, फ्रांस और इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञों ने जर्मनी पर बहुत जोर दिया, कि आस्ट्रिया और सर्बिया के मामले को हेग के न्यायालय के सम्मुख उपस्थित किया जाय। उन्होंने यह भी कहा, कि आस्ट्रिया और सर्बिया को अपना मामला स्वयं निपटाने देना चाहिये, और बड़ी शक्तियों को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। पर जर्मनी युद्ध के लिये तुला हुआ था। वह भलीभाँति जानता था, कि अपनी सैनिक व साम्राज्य सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने का यह उत्तम अवसर है। रशिया और फ्रांस की सैनिक तैयारी अभी पूर्ण नहीं हुई है, और इङ्गलैण्ड की सैनिक शक्ति बिलकुल अगण्य है।

जर्मनी ने आस्ट्रिया की पीठ ठोकी, और २८ जुलाई के दिन आस्ट्रिया ने सर्विया के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी।

इसी समय रशिया ने भी लड़ाई की तैयारी शुरू कर दी। जर्मनी ने इस बहाने से कि रशिया युद्ध में शामिल होने के लिये कटिबद्ध है, एक अगस्त को उसके खिलाफ युद्ध उद्घोषित कर दिया। इसी दिन जर्मनी ने फ्रांस से भी यह प्रश्न किया, कि उसकी इस मामले में क्या नीति है? रशिया और फ्रांस में घनिष्ट मित्रता थी। इसी लिये जर्मनी फ्रांस के रुख के बारे में स्पष्ट निर्णय जानने के लिये उत्सुक था। फ्रांस ने यह उत्तर दिया, कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से जो कुछ जिस समय उचित होगा, वही किया जायगा। इस पर तीन अगस्त को जर्मनी ने उसके खिलाफ भी लड़ाई का ऐलान कर दिया। अपनी शक्ति का प्रयोग कर विरोधी राष्ट्रों को कुचल देने के लिये जर्मनी इतना उत्सुक था, कि बाकायदा युद्ध की घोषणा करने से एक दिन पहले ही, दो अगस्त को उसकी सेनाओं ने फ्रांस की सीमा की ओर कूच कर दिया और लुक्समबर्ग के छोटे से सीमावर्ती राज्य पर कब्जा कर लिया।

भूमध्यसागर में अनेक नई रियायतें उसे देने की प्रतिज्ञा की गई। इटली के राष्ट्रीय देशभक्तों ने समझा, कि मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेने से उन्हें अपने देश के भावी उत्कर्ष का बहुत उत्तम अवसर मिलता है। २३ मई, १९१५ को इटली ने केन्द्रीय राज्यों के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी। १४ अक्टूबर, १९१५ को बल्गेरिया केन्द्रीय राज्यों में सम्मिलत होगया। ९ मार्च, १९१६ को पोर्तुगाल मित्रराष्ट्रों के पक्ष में लड़ाई में शामिल हुआ, और २७ अगस्त १९१६ को रूमानिया ने आस्ट्रिया-हंगरी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। २७ जून, १९१७ को ग्रीस भी मित्र राष्ट्रों के पक्ष में शामिल होगया। इस प्रकार, यूरोप में केवल नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, होलैण्ड, स्विटजरलैण्ड और स्पेन ही ऐसे राज्य बचे, जो किसी तरफ से भी युद्ध में सम्मिलत नहीं हुए। थोड़े से देशों को छोड़ कर अन्यत्र सब जगह लड़ाई की अग्नि यूरोप में भड़क उठी थी।

(२) महायुद्ध की प्रगति

विशाल जर्मन सेना ने तीन ओर से फ्रांस पर हमला किया। बेल्जियम की ओर से, लुक्समबुर्ग से होकर शाम्पाञ् की ओर और मेट्ज से नान्सी की तरफ। बेल्जियम देर तक जर्मनी का मुकाबला नहीं कर सका। २० अगस्त, १९१४ को बेल्जियम की राजधानी ब्रुसल्स पर जर्मनी का कब्जा हो गया। लुक्समबुर्ग होकर जो सेना फ्रांस में बढ़ रही थी, उसका नेमूर के दुर्ग पर डटकर मुकाबला किया गया। पर शक्तिशाली जर्मनी ने शीघ्र ही इसे जीत लिया, और वायुवेग से बढ़ती हुई जर्मन सेनायें पेरिस के २५ मील तक पहुँच गई। फ्रांस की राजधानी पेरिस से हटा कर बोर्दियो ले जाई गई, और पेरिस की रक्षा के लिये मोरचा तैयार किया जाने लगा। पर मार्न के रणक्षेत्र में फ्रेंच सेनापति जाफ्र ने जर्मन सेनाओं का डट कर मुकाबला किया, और उन्हें

पीछे हटने के लिये विवश किया। मार्न की इस शानदार विजय से सेनापति जाफ़ की कीर्ति बहुत फैल गई। पेरिस को शत्रु के आक्रमण के भय से मुक्त कराने वाले इस वीर सेनापति को फ्रेञ्च लोग देवता की तरह पूजने लगे। जर्मन सेनापति, फान क्लुक इस बात के लिये विवश हुआ, कि अपनी सेनाओं को पीछे हटा कर सोआस्सों और रैंस के बीच में स्थापित कर ले। पेरिस पर कब्जा करने की आशा छोड़ कर जर्मन सेनाओं ने इस प्रदेश में अपना मोरचा डाला, और अपनी शक्ति को वेल्जियम को पूरी तरह परास्त करने में लगा दिया। १० अक्टूबर को एण्टवर्प पर उनका कब्जा हो गया, और आस्टएड के दक्षिण पश्चिम में स्थित एक छोटे से कोने के अतिरिक्त सारा वेल्जियम उनके अधिकार में चला गया। जर्मन सेना की यह योजना थी, कि एण्टवर्प से आगे बढ़ कर कैले के बन्दरगाह पर कब्जा करें। कैले इङ्गलैण्ड के बहुत समीप है, वहाँ से इङ्गलिश चैनल को पार कर इङ्गलैण्ड पर आक्रमण करना बहुत सुगम है। इसीलिये जर्मन सेनायें बड़ी तेजी से कैले पर कब्जा करने के लिये उत्सुक थीं। पर सेर नदी के तट पर फ्रेंच और इङ्गलिश सेनाओं ने उनका डट कर मुकावला किया, और इस नदी से उन्हें पार नहीं होने दिया। कैले जर्मनों के हाथ में नहीं जा सका, और इङ्गलैण्ड पर आक्रमण कर सकने का भय बहुत कुछ दूर हो गया।

वेल्जियम के साथ जर्मनों ने एक परास्त देश का सा बरताव किया। उससे अत्यधिक धनराशि हरजाने के रूप में वसूल की गई। कल कारखानों और आर्थिक साधनों पर अपना कब्जा करके उनका उपयोग जर्मन सेनाओं के लिये किया गया। जिस नागरिक ने जरा भी विरोध किया, उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया गया। अनेक नगरों को बुरी तरह विध्वंस भी किया गया। संसार के सभ्य देशों ने जर्मनी के वेल्जियम के साथ किये गये इस व्यवहार को बहुत बुरी दृष्टि से

भूमध्यसागर में अनेक नई रियायतें उसे देने की प्रतिज्ञा की गई। इटली के राष्ट्रीय देशभक्तों ने समझा, कि मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेने से उन्हें अपने देश के भावी उत्कर्ष का बहुत उत्तम अवसर मिलता है। २३ मई, १९१५ को इटली ने केन्द्रीय राज्यों के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी। १४ अक्टूबर, १९१५ को बल्गेरिया केन्द्रीय राज्यों में सम्मिलत होगया। ९ मार्च, १९१६ को पोर्तुगाल मित्रराष्ट्रों के पक्ष में लड़ाई में शामिल हुआ, और २७ अगस्त १९१६ को रूमानिया ने आस्ट्रिया-हंगरी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। २७ जून, १९१७ को ग्रीस भी मित्र राष्ट्रों के पक्ष में शामिल होगया। इस प्रकार, यूरोप में केवल नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, होलैण्ड, स्विटजरलैण्ड और स्पेन ही ऐसे राज्य बचे, जो किसी तरफ से भी युद्ध में सम्मिलत नहीं हुए। थोड़े से देशों को छोड़ कर अन्यत्र सब जगह लड़ाई की अग्नि यूरोप में भड़क उठी थी।

(२) महायुद्ध की प्रगति

विशाल जर्मन सेना ने तीन ओर से फ्रांस पर हमला किया। बेल्जियम की ओर से, लुक्समबुर्ग से होकर शाम्पाञ् की ओर और मेट्ज से नान्सी की तरफ। बेल्जियम देर तक जर्मनी का मुकाबला नहीं कर सका। २० अगस्त, १९१४ को बेल्जियम की राजधानी ब्रुसल्स पर जर्मनी का कब्जा हो गया। लुक्समबुर्ग होकर जो सेना फ्रांस में बढ़ रही थी, उसका नेमूर के दुर्ग पर डटकर मुकाबला किया गया। पर शक्तिशाली जर्मनी ने शीघ्र ही इसे जीत लिया, और वायुवेग से बढ़ती हुई जर्मन सेनायें पेरिस के २५ मील तक पहुँच गईं। फ्रांस की राजधानी पेरिस से हटा कर बोर्दियो ले जाई गई, और पेरिस की रक्षा के लिये [illegible] तैयार किया जाने लगा। पर मार्न के रणक्षेत्र में फ्रेंच सेना-[illegible] ने जर्मन सेनाओं का डट कर मुकाबला किया, और उन्हें

चालीसवां अध्याय

महायुद्ध का इतिवृत्त

(१) युद्ध का विस्तार

जर्मनी यह चाहता था, कि इससे पहले कि रशिया उस पर पूर्व की ओर से आक्रमण कर सके, फ्रांस को दबा दिया जाय। फ्रांस को परास्त करने के बाद उसके लिये यह सुगम था, कि अपनी सब शक्ति को पूर्व की ओर केन्द्रित करके रशिया के साथ लोहा ले। जर्मन सेनापतियों को यह पूरा विश्वास था, कि इस योजना की सफलता में कोई बाधा न आयगी। पेरिस तक पहुँचने के लिये सबसे सुगम मार्ग बेल्जियम होकर था। फ्रांस के युद्ध विशारदों ने अपनी उत्तरी सीमा पर विकट किलाबन्दी कर रखी थी। इस किलाबन्दी को तोड़ सकना जर्मनी के लिये आसान न था। इसी कारण उसने लुक्समबुर्ग और बेल्जियम के मार्ग से फ्रांस पर हमला करने का निश्चय किया। जर्मनी की ओर से बेल्जियम को यह नोटिस दिया गया, कि वह जर्मन सेनाओं को बेल्जियम होकर फ्रांस पर हमला करने की अनुमति दे। जर्मनी ने यह वायदा किया, कि बेल्जियम के लोगों को किसी प्रकार का नुकसान न पहुँचने पावेगा, और सेना के आने जाने से यदि देश को किसी तरह की क्षति पहुंची, तो उसके लिये उचित हरजाना भी दिया जायगा। बेल्जियम को यह साफ साफ कह दिया गया, कि यदि वह इस मांग को अस्वीकार करेगा, तो

उसके साथ शत्रु का सा व्यवहार किया जायगा। इस मांग को स्वीकार करने या न करने के लिये केवल बारह घण्टे का समय दिया गया। बेल्जियम जर्मनी और फ्रांस के झगड़े में सर्वथा उदासीन था। विविध सन्धियों द्वारा इङ्गलेण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि सभी मुख्य शक्तिशाली राज्यों ने उसे यह गारण्टी दी हुई थी, कि उसकी उदासीनता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा, और उसकी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता को अक्षुण्ण माना जायगा। जर्मनी के नोटिस का बेल्जियम ने वही उत्तर दिया, जो कि एक आत्माभिमानी स्वतन्त्र देश के लिये उचित था। उसने जर्मनी की मांग को अस्वीकार कर दिया।

सदियों से इङ्गलैण्ड की यह नीति थी, कि इङ्गलिश चैनल के पार दो एक ऐसे छोटे राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखे, जो कि यूरोप के शक्तिशाली विशाल राज्यों के साथ उसका सीधा सम्पर्क होने में बाधक रहें। बेल्जियम इसी प्रकार का एक राज्य था। बेल्जियम और हालैण्ड जैसे छोटे राज्य जर्मनी और आस्ट्रिया जैसे शक्तिशाली राज्यों को इङ्गलैण्ड से दूर रखते थे। इङ्गलैण्ड अपनी आत्मरक्षा के लिये यह आवश्यक समझता था, कि बेल्जियम पर जर्मनी का अधिकार न होने पावे। इसलिये उसने यह स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर दिया, कि यदि बेल्जियम पर आक्रमण किया गया, तो सब प्रकार से वह उसकी रक्षा करेगा। उसने जर्मनी को यह नोटिस दिया, कि बेल्जियम की उदासीनता के सम्बन्ध में अपनी नीति को बारह घण्टे के अन्दर अन्दर स्पष्ट रूप से प्रगट करे। इसका उत्तर जर्मनी के प्रधानमन्त्री ने यह दिया, कि सैनिक आवश्यकता से विवश होकर जर्मनी बेल्जियम के बीच से अपनी सेनाओं को ले जाना चाहता है। उसने इङ्गलेण्ड के जर्मनी-स्थित राजदूत से यह भी कहा, कि "केवल एक कागज के टुकड़े की खातिर" इङ्गलेण्ड को युद्ध में नहीं फँसना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को जर्मन लोग केवल एक 'कागज का टुकड़ा'

समझते हैं, इस बात ने संसार के लोकमत को बहुत उद्विग्न कर दिया, और सब इङ्गलिश लोग जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई के लिये तत्पर होगये। बेल्जियम में जर्मन सेनाओं के प्रविष्ट होते ही चार अगस्त, १९१४ के दिन इङ्गलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

बेल्जियम के ऊपर आक्रमण करने के कारण जर्मनी को अनेक नुकसान उठाने पड़े। यद्यपि बेल्जियम एक छोटा सा देश है, पर उसके निवासी बड़े वीर हैं। उसकी सैनिक शक्ति भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। जर्मनी को बेल्जियम में कड़ा मुकाबला करना पड़ा। यद्यपि अन्त में उसकी जीत हुई पर बेल्जियम के लोगों ने उन्हें तब तक रोके रखा, जब तक कि फ्रांस की विशाल सैनिक शक्ति पूर्णतया संगठित हो कर जर्मनी का मुकाबला करने के लिये मैदान में नहीं आ गई। बेल्जियम पर आक्रमण करने के कारण ही इङ्गलैण्ड और उसके विशाल साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति जर्मनी के खिलाफ सन्नद्ध हो गई। यह सम्भव है, कि इस हमले के न होने पर भी इङ्गलैण्ड फ्रांस और रशिया का पक्ष लेकर जर्मनी से लड़ाई करता। पर यह निश्चित है, कि उस दशा में इङ्गलैण्ड इतनी जल्दी युद्ध में न शामिल होता, और जर्मनी को फ्रांस और रशिया की शक्ति को कुचलने का अनुकूल अवसर हाथ [illegible]

के अन्दर अन्दर दो गुट एक दूसरे के साथ लड़ाई में उलझ गये। एक गुट का नेता जर्मनी था, और इसे 'केन्द्रीय राज्य' कहते हैं। दूसरा गुट 'मित्र राष्ट्र' के नाम से प्रसिद्ध है। २३ अगस्त को जापान मित्र राष्ट्रों के पक्ष में जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई में शामिल हो गया। इस प्रकार इस महायुद्ध का क्षेत्र केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा। इङ्गलैण्ड, फ्रांस, रशिया व जर्मनी के विशाल साम्राज्यों और उपनिवेशों के कारण युद्ध का क्षेत्र पहले भी विश्वव्यापी हो चुका था, पर जापान के सम्मिलित हो जाने के कारण प्रायः सम्पूर्ण यूरोप व एशिया युद्ध के क्षेत्र में आ गये। बाल्कन प्रायद्वीप में रशिया जिस प्रकार अपना प्रभाव बढ़ा रहा था, उससे टर्की बहुत चिन्तित था। टर्की का हित इसी में था, कि केन्द्रीय राज्यों के साथ मिल कर रशिया की शक्ति को क्षीण करने के इस अवसर से लाभ उठावे। परिणाम यह हुआ, कि ३ नवम्बर १९१४ को टर्की केन्द्रीय राज्यों में बाकायदा शामिल होगया।

इटली किस गुट में शामिल हो, यह प्रश्न बहुत महत्त्व का था। भूमध्य सागर में इटली की स्थिति बड़े महत्त्व की है। ८ एप्रिल, १९१५ को इटली ने आस्ट्रिया-हंगरी से यह माँग की, कि उसके अपने देश के जो हिस्से अभी तक भी आस्ट्रिया के कब्जे में हैं, उन्हें वापस लौटा दिया जाय। आस्ट्रिया इसके लिये तैयार होगया, और जर्मनी ने अपनी ओर से यह गारण्टी दी, कि युद्ध की समाप्ति पर इटली की सब माँगें अवश्य ही पूर्ण कर दी जावेंगी। पर मित्र राष्ट्रों की कूट नीति इटली को अपने साथ रखने के लिये तुली हुई थी। उन्होंने २६ एप्रिल को इटली के साथ एक गुप्त सन्धि की, जिसके अनुसार न केवल यह स्वीकार किया गया, कि आस्ट्रिया द्वारा हस्तगत किये गये सब इटालियन प्रदेश उसे वापस दिला दिये जावेंगे, अपितु ईगियन सागर में स्थित १२ द्वीप, एशिया माइनर व अफ्रीका के अनेक भूखण्ड तथा

भूमध्यसागर में अनेक नई रियायतें उसे देने की प्रतिज्ञा की गई। इटली के राष्ट्रीय देशभक्तों ने समझा, कि मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेने से उन्हें अपने देश के भावी उत्कर्ष का बहुत उत्तम अवसर मिलता है। २३ मई, १९१५ को इटली ने केन्द्रीय राज्यों के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी। १४ अक्टूबर, १९१५ को बल्गेरिया केन्द्रीय राज्यों में सम्मिलत होगया। ९ मार्च, १९१६ को पोर्तुगाल मित्रराष्ट्रों के पक्ष में लड़ाई में शामिल हुआ, और २७ अगस्त १९१६ को रूमानिया ने आस्ट्रिया-हंगरी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। २७ जून, १९१७ को ग्रीस भी मित्र राष्ट्रों के पक्ष में शामिल होगया। इस प्रकार, यूरोप में केवल नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हॉलैण्ड, स्विटजरलैण्ड और स्पेन ही ऐसे राज्य बचे, जो किसी तरफ से भी युद्ध में सम्मिलत नहीं हुए। थोड़े से देशों को छोड़ कर अन्यत्र सब जगह लड़ाई की अग्नि यूरोप में भड़क उठी थी।

(२) महायुद्ध की प्रगति

विशाल जर्मन सेना ने तीन ओर से फ्रांस पर हमला किया। बेल्जियम की ओर से, लुक्सम्बुर्ग से होकर शाम्पान् की ओर और मेट्ज से नान्सी की तरफ। बेल्जियम देर तक जर्मनी का मुकाबला नहीं कर सका। २० अगस्त, १९१४ को बेल्जियम की राजधानी ब्रुसल्स पर जर्मनी का कब्जा हो गया। लुक्सम्बुर्ग होकर जो सेना फ्रांस में बढ़ रही थी, उसका सेडान के दुर्ग पर डटकर मुकाबला किया गया। पर शक्तिशाली जर्मनी ने शीघ्र ही इसे जीत लिया, और वायुवेग से बढ़ती हुई जर्मन सेनायें पेरिस के २५ मील तक पहुंच गईं। फ्रांस की राजधानी पेरिस से हटा कर बोर्डो में ले जाई गई, और पेरिस की रक्षा के लिये जोरशोर से तैयार किया जाने लगा। पर मार्न के रणक्षेत्र में फ्रेंच सेनाओं ने जर्मन सेनाओं का डट कर मुकाबला किया, और उन्हें

पीछे हटने के लिये विवश किया। मार्न की इस शानदार विजय से सेनापति जाफ़ की कीर्ति बहुत फैल गई। पेरिस को शत्रु के आक्रमण के भय से मुक्त कराने वाले इस वीर सेनापति को फ्रेञ्च लोग देवता की तरह पूजने लगे। जर्मन सेनापति, फान क्लुक इस बात के लिये विवश हुआ, कि अपनी सेनाओं को पीछे हटा कर सोआस्सों और रैंस के बीच में स्थापित कर ले। पेरिस पर कब्जा करने की आशा छोड़ कर जर्मन सेनाओं ने इस प्रदेश में अपना मोरचा डाला, और अपनी शक्ति को बेल्जियम को पूरी तरह परास्त करने में लगा दिया। १० अक्टूबर को एएटवर्प पर उनका कब्जा हो गया, और आस्टएड के दक्षिण पश्चिम में स्थित एक छोटे से कोने के अतिरिक्त सारा बेल्जियम उनके अधिकार में चला गया। जर्मन सेना की यह योजना थी, कि एएटवर्प से आगे बढ़ कर कैले के बन्दरगाह पर कब्जा करें। कैले इङ्गलैएड के बहुत समीप है, वहाँ से इङ्गलिश चैनल को पार कर इङ्गलैएड पर आक्रमण करना बहुत सुगम है। इसीलिये जर्मन सेनायें बड़ी तेजी से कैले पर कब्जा करने के लिये उत्सुक थीं। पर सेर नदी के तट पर फ्रेंच और इङ्गलिश सेनाओं ने उनका डट कर मुकाबला किया, और इस नदी से उन्हें पार नहीं होने दिया। कैले जर्मनों के हाथ में नहीं जा सका, और इङ्गलैएड पर आक्रमण कर सकने का भय बहुत कुछ दूर हो गया।

बेल्जियम के साथ जर्मनों ने एक परास्त देश का सा बरताव किया। उससे अत्यधिक धनराशि हरजाने के रूप में वसूल की गई। कल कारखानों और आर्थिक साधनों पर अपना कब्जा करके उनका उपयोग जर्मन सेनाओं के लिये किया गया। जिस नागरिक ने जरा भी विरोध किया, उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया गया। अनेक नगरों को बुरी तरह विध्वंस भी किया गया। संसार के सभ्य देशों ने जर्मनी के बेल्जियम के साथ किये गये इस व्यवहार को बहुत बुरी दृष्टि से

देगा, विशेषतया इसलिये कि वह एक तटस्थ देश था, और उसकी तटस्थता की गारन्टी में जर्मनी स्वयं भी शामिल था।

जर्मनी की तीसरी सेना, जिसने सीधा फ्रांस पर आक्रमण किया था, शुरू शुरू में अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकी। कारण यह कि फ्रांस ने जर्मन सीमा पर जटिल किलाबन्दी की हुई थी। पर कुछ समय बाद इस किलाबन्दी को भेद कर जर्मन सेनाओं ने आगे बढ़ना शुरू किया, और वर्दून तथा सां दिए के बीच में पर्याप्त फ्रेञ्च प्रदेश पर अपना कब्जा कर लिया। इस प्रकार युद्ध के पहले तीन महीनों में जर्मनों को शानदार सफलता हुई। बेल्जियम और लुक्समबुर्ग के राज्य पूरी तरह उनके अधीन हो गये, और उत्तर पूर्वी फ्रांस का भी एक अच्छा बड़ा भूमिभाग उनके कब्जे में आगया। युद्ध की दृष्टि से ये प्रदेश बहुत महत्त्व के थे, कारण यह कि कोयले और लोहे की यहाँ बड़ी खानें थीं; और अनेक समृद्ध व्यावसायिक नगर यहाँ स्थापित थे।

इस प्रकार सां दिए से लेकर वर्दून, रैम और सेन नदी होती हुई, जो किलाबन्दी की लाइन इङ्गलिश चैनल तक जर्मन सेनाओं ने स्थापित की, वह युद्ध की समाप्ति तक प्रायः चार वर्ष तक स्थिर रही। इस लाइन पर घनघोर युद्ध होता रहा। लाखों आदमी यहाँ कुर्बान हुए। भयंकर से भयंकर शस्त्रों का यहाँ प्रयोग किया गया। जर्मनों ने जहरीली गैसों और रासायनिक अग्नि तक का इस्तेमाल किया। दोनों तरफ से हवाई जहाज इस लाइन पर बम्ब वर्षा करते रहे। पर न तो जर्मन सेनायें इस लाइन से कुछ बहुत अधिक आगे फ्रांस में बढ़ने में समर्थ हुईं, और न ही फ्रेञ्च और इङ्गलिश सेनायें जर्मनों को कुछ पीछे हटा सकीं। दोनों पक्षों की सेनाओं ने आमने सामने अपने मोर्चे बना लिये, और चार साल तक वहाँ विकट लड़ाई जारी रही।

इधर, लड़ाई शुरू होते ही रशियन सेनाओं ने बड़ी तेजी के साथ

उत्तर पूर्वी जर्मनी पर (जर्मनी के प्रदेश पूर्वी प्रशिया पर) आक्रमण किया। पूर्वी प्रशिया में वे काफी आगे बढ़ गये। पर शीघ्र ही सेनापति हिन्डनवर्ग ने उन्हें जर्मनी से बाहर खदेड़ दिया। रशियन सेनाओं का मुख्य आक्रमण आस्ट्रिया पर हुआ था। उसके गैलिसिया प्रदेश पर रशिया का कब्जा भी हो गया था। पर इसी बीच में जर्मन और आस्ट्रियन सेनाओं ने मिलकर पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। उस समय पोलैण्ड का बड़ा भाग रशियन साम्राज्य के अन्तर्गत था, वीएना की काँग्रेस (१८१४) के बाद वारसा की ग्राण्ड डची रशियन सम्राट् के सुपुर्द कर दी गई थी। अब आस्ट्रियन और जर्मन सेनाओं ने मिलकर वारसा पर हमला किया। वारसा के जर्मनों के हाथ में चले जाने से रशिया की स्थिति बहुत नाजुक हो जाती थी। अतः गैलिसिया से रशियन सेनायें हटा ली गईं, और रशिया की सारी शक्ति वारसा व पोलैण्ड की रक्षा के लिये लग गई। इसी सिलसिले में सन् १६१५ की सर्दियों में रशिया ने भरसक कोशिश की, कि कार्पेथियन पर्वतमाला को पार कर आस्ट्रिया-हंगरी पर आक्रमण करे, ताकि वारसा पर जर्मन सेनाओं का जोर कम हो। पर उसे सफलता नहीं हुई। इसी बीच में वारसा पर जर्मनी का कब्जा हो गया। अन्य भी बड़े बड़े पोलिश नगरों पर कब्जा कर जर्मन सेनायें आगे रशिया में बढ़ गईं, और कूरलैण्ड, लिवोनिया तथा एस्थोनिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। ये सब प्रदेश रशियन साम्राज्य के अंग थे। युद्ध के अन्त होने तक पोलैण्ड तथा इन रशियन प्रदेशों पर जर्मनी का अधिकार बना रहा।

महायुद्ध के प्रारम्भ होने के कुछ समय बाद ही जर्मनी अपने सब उपनिवेशों से हाथ धो बैठा। जापान ने युद्ध में शामिल होते ही प्रसिद्ध बन्दरगाह कियाउ चाउ (चीन में जर्मन उपनिवेश) पर कब्जा कर लिया। उत्तरी प्रशान्त महासागर में जो अन्य जर्मन प्रदेश थे, उन

पर भी जापान ने अधिकार कर लिया। दक्षिणी प्रशान्त महासागर के जर्मन प्रदेश आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने विजय कर लिये। अफ्रीका में जर्मनी के अनेक उपनिवेश थे। इनमें से जर्मन दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका पर दक्षिण अफ्रीकन यूनियन (ब्रिटिश) ने कब्जा कर लिया। अन्य जर्मन उपनिवेश टोगोलैण्ड, कैमेरन और जर्मन पूर्वी अफ्रीका धीरे धीरे इङ्गलिश व डच सेनाओं के अधिकार में आते गये। परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी का समुद्र पार का सब साम्राज्य उसके हाथ से निकल गया। स्थल में जर्मनी को अद्भुत सफलता हो रही थी, पर समुद्र में वह इङ्गलैण्ड का मुकाबला नहीं कर सकता था।

नवम्बर, १९१४ में टर्की जर्मनी के पक्ष में लड़ाई में शामिल हो गया। उसके सुलतान ने, जो मुसलिम संसार का खलीफा व धर्माध्यक्ष भी माना जाता था, सब मुसलमानों से अपील की, कि मित्रराष्ट्र इस्लामके शत्रु हैं, और उनके साथ युद्ध का करना धर्मयुद्ध (जिहाद) है, अतः प्रत्येक सच्चे मुसलमान का यह कर्तव्य है, कि वह मित्रराष्ट्रों के खिलाफ लड़ाई के लिये उठ खड़ा हो। जर्मनी को पूरी आशा थी, कि इस अपील के परिणामस्वरूप भारत, इजिप्ट आदि के सब मुसलमान अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर देंगे। पर उसकी यह आशा पूर्ण नहीं हुई। अब तक इजिप्ट पर टर्की का आधिपत्य माना जाता था, पर इस अवसर से लाभ उठाकर अंग्रेजों ने ईजिप्ट को तुर्की साम्राज्य से सर्वथा पृथक् कर लिया, और वहाँ एक पृथक् सुलतानका शासन स्थापित किया। इस सुलतान ने अंग्रेजों की संरक्षा स्वीकृत करली। टर्की के साम्राज्य में अरब भी शामिल था। अरब लोग धर्म की दृष्टि से तुर्कों से समता रखते हुए भी राष्ट्रीयता की दृष्टि से उनसे भिन्न थे। अंग्रेजों ने अरबों की राष्ट्रीय भावना को भड़का कर उन्हें तुर्कों के खिलाफ विद्रोह करने के लिये प्रेरित किया। मैसोपोटामिया और सीरिया पर आक्रमण करके अंग्रेजों ने युद्ध का एक नया क्षेत्र बना दिया और

जर्मनी तथा उसके साथियों को इस ओर भी मुकाबला करना पड़ा। इस क्षेत्र में मित्रराष्ट्र निरन्तर सफल होते गये। मार्च, १९१७ में बगदाद पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया और उसी साल दिसम्बर में ईसाइयों का पवित्र नगर जेरुसलम भी अंग्रेजों के अधिकार में आ गया।

१९१५ में अंग्रेजों ने यह भी कोशिश की थी, कि टर्की की राजधानी कान्स्टेन्टिनोपल पर आक्रमण किया जाय। उस साल आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड से बहुत सी फौजें मित्रराष्ट्रों की यूरोप में सहायता करने के लिये आ गई थीं। अंग्रेजों की योजना यह थी, कि डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य से होकर टर्की पर हमला करें, और कान्स्टेन्टिनोपल पर कब्जा कर लें। पर इस प्रयत्न में उन्हें बुरी तरह असफलता हुई। अंग्रेजों के लाखों आदमी इस लड़ाई में काम आये। तुर्कों को जर्मन सेनापतियों और हथियारों की बहुत सहायता पहुँच रही थी। गैलीपोली के प्रायद्वीप में एक छोटा सा भूखण्ड अंग्रेजों ने जीत लिया था। यहाँ पर मित्रराष्ट्रों की बड़ी सेना पहुँचा दी गई थी, और किलाबन्दी करके यह प्रयत्न किया जा रहा था, कि इसे आधार बना कर आगे टर्की पर हमला किया जाय। पर गैलीपोली में मित्रराष्ट्रों की सेना टिक नहीं सकी। उसे वापस लौटना पड़ा। इस वापसी के समय में तुर्कों ने उन पर खूब जोरदार हमले किये। निःसन्देह अंग्रेजी युद्ध नीति की यह भयंकर गलती थी, कि टर्की पर इस तरफ से आक्रमण करने का प्रयत्न किया गया।

मई, १९१५ में इटली मित्रराष्ट्रों के पक्ष में लड़ाई में शामिल हो गया। इस प्रकार, महायुद्ध के दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में स्थिति यह थी, कि जर्मनी आस्ट्रिया-हंगरी और टर्की—इन तीन राज्यों के खिलाफ रशिया, फ्रांस, इटली, ग्रेट ब्रिटेन (अपने सब उपनिवेशों व साम्राज्य के साथ), बेल्जियम, सर्बिया, जापान, मान्टनिग्रो और सन मरीनो—ये नौ राज्य लड़ाई में जुटे हुए थे। पर युद्ध अभी बहुत आगे फैलना

था। वे बहुत से देश जो लड़ाई के दूसरे साल के शुरू होने तक तटस्थ थे, धीरे धीरे इस महायुद्ध में प्रवेश करते गये।

समझा यह जाता था, कि जर्मनी की नौ सेना समुद्र में डटकर अँग्रेजी नौ सेना का मुकाबला करेगी। जर्मनी के पास बहुत से बड़े जंगी जहाज थे, और जर्मनी ने जल युद्ध की अच्छी तरह तैयारी की थी। पर जर्मन जंगी जहाज अपने बन्दरगाहों से बाहर ,नहीं निकले, और सामुद्रिक युद्ध का काम उन पनडुब्बियों के ऊपर छोड़ दिया गया, जिनका आविष्कार युद्ध काल में ही जर्मन इन्जीनियरों द्वारा किया गया था। ये पनडुब्बियाँ पानी की सतह के नीचे नीचे चलती थीं, और मित्रराष्ट्रों के जंगी जहाजों व सेना ले जाने वाले जहाजों पर पानी के नीचे से आक्रमण करके उन्हें डुबो देती थीं। इन पनडुब्बियों के कारण कुछ समय के लिये इङ्गलैण्ड का समुद्र पर आधिपत्य शिथिल होगया, और जर्मन नौ सेना का एक प्रकार का आतंक सा सर्वत्र छा गया। इङ्गलैण्ड के लिये यह तो सम्भव था, कि जर्मन जंगी व व्यापारी जहाजों को बन्दरगाहों से बाहर होने से रोक सके, पर ये पनडुब्बियाँ समुद्र के नीचे होकर बाहर चली जाती थीं, और अँग्रेजी जहाज इनका पता नहीं पा सकते थे। पहले समयों में जब कोई जंगी जहाज किसी जहाज को डुबाता था, तो डूबने वाले जहाज के यात्रियों व अन्य व्यक्तियों को डूबने से बचा लेता था, या बचने का अवसर देता था। पर ये पनडुब्बियाँ अचानक ही जहाजों पर हमला कर देती थीं, और किसी भी व्यक्ति को जान बचाने का अवसर नहीं मिलता था। सामुद्रिक युद्ध में यह बिलकुल नई परिस्थिति पैदा हो गई थी। इस दशा में इङ्गलैण्ड ने यह घोषणा की, कि हालैण्ड, नार्वे, स्वीडन आदि तटस्थ देशों के बन्दरगाहों पर जाने वाले जहाजों की तलाशी ली जावे, ताकि कोई युद्धोपयोगी सामान इन बन्दरगाहों से होकर जर्मनी न पहुँच सके। पनडुब्बियों के हमलों से परेशान हो कर अब

अँग्रेजों के सम्मुख यही रास्ता था, कि जर्मनी को कोई ऐसा माल न पहुँचने देवे, जो युद्ध के काम का हो। तटस्थ देशों के जहाजों की तलाशी के लिये कर्कलैएड का बन्दरगाह नियत किया गया। यह आर्कले टापू में है। फरवरी, १९१५ में जर्मनी ने यह यत्न किया, कि अपने देश के सारे अनाज पर सरकार का अधिकार हो जाय, ताकि सेनाओं को भोजन प्राप्त करने में कोई कठिनाई न हो। इस पर अँग्रेजों ने अनाज को भी युद्धोपयोगी सामान उद्घोषित कर दिया, क्योंकि सेनाओं के लिये जितना उपयोग हथियारों का है, उससे कहीं अधिक उपयोग भोजन का है। अब से कर्कलैएड में जहाजों की तलाशी के समय यह भी देखा जाने लगा, कि कहीं वे अनाज तो नहीं ले जा रहे हैं।

जर्मनी ने इसका बदला लेने के लिये यह उद्घोषणा की, कि ग्रेट ब्रिटेन के चारों ओर का समुद्र युद्ध क्षेत्र में अन्तर्गत माना जायगा, और उसमें जो भी जहाज आयगा, उसे डुबा दिया जायगा। तटस्थ देशों को यह चेतावनी दे दी गई, कि वे अपना कोई जहाज ग्रेट ब्रिटेन न भेजें, क्योंकि उसके चारों ओर का समुद्र पनडुब्बियों और बारूद की किश्तियों से भरपूर है। फरवरी, १९१५ में जर्मन पनडुब्बियों ने अपना काम बड़ी तीव्रता से प्रारम्भ कर दिया। जो भी जहाज ग्रेट ब्रिटेन आने का प्रयत्न करता था, उसे निर्दयता के साथ डुबा दिया जाता था। ७ मई, १९१५ को लुसिटानिया नाम का विशाल जहाज इङ्गलैएड आते हुए जर्मन पनडुब्बी का शिकार हुआ। यह जहाज अमेरिका से चला था। इसमें १२०० के लगभग यात्री थे, जिनमें १०० से कुछ अधिक अमेरिकन भी थे। ये सब यात्री जहाज के साथ ही समुद्र की सतह में समा गये। लुसिटानिया के यात्रियों में बहुत सी स्त्रियाँ और बच्चे भी थे। इसके डूबने के समाचार से अमेरिका में बहुत रोष फैला। अमेरिकन लोगों का कहना था, कि जहाज में कोई भी ऐसा सामान नहीं था, जो युद्ध के काम का हो। ऐसे जहाज को डुबाना

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सर्वथा विरुद्ध है। पर जर्मनी का यह कथन था, कि लुसिटानिया में बहुत से हथियार और बम्ब विद्यमान थे, और न्यू यार्क के समाचार पत्रों में यह विज्ञापन छपवा दिया गया था, कि कोई अमेरिकन यात्री इस जहाज पर यात्रा न करे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि लुसिटानिया के डुबाने से न केवल इङ्गलैण्ड और अमेरिका में, पर संसार के प्रायः सभी तटस्थ देशों में जर्मनी के विरुद्ध एक तीव्र रोष की भावना उत्पन्न हुई, और आगे चलकर अमेरिका और अन्य बहुत से देश मित्रराष्ट्रों के पक्ष में जो लड़ाई में शामिल हुए, उसमें यह घटना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण हुई।

जर्मन और आस्ट्रियन सेनायें गैलिसिया से रशियन सेनाओं को निकालने में सफल हुई थीं। इसके बाद उन्होंने सर्विया पर हमला किया। बल्गेरिया की सर्विया से पुरानी शत्रुता थी। सर्विया पर जर्मनों को हमला करते देखकर बल्गेरिया ने अनुभव किया, कि सर्विया का अन्त करने का यह अच्छा अवसर है। उसने जर्मनी के पक्ष में होकर सर्विया के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। दो तरफ से सर्विया पर हमला हुआ, और कुछ ही दिनों में उस पर शत्रुओं का अधिकार हो गया। महायुद्ध के अन्त तक सर्विया जर्मनी और बल्गेरिया के ही हाथ में रहा।

(३) महायुद्ध का दूसरा वर्ष

१६१५ के अन्त में इङ्गलिश सेनाओं ने यह प्रयत्न किया, कि पश्चिमी जर्मन लाइन पर हमला करके जर्मनों को पीछे हटा दें। सर जान फ्रेंच के सेनापतित्व में दस लाख के लगभग अंग्रेजी सैनिकों ने अर्रास के उत्तर-पूर्व में आक्रमण किया। यहां घनघोर लड़ाई हुई, और इतनी कोशिश के बाद भी इङ्गलिश सेनायें जर्मनों को केवल दो मील से तीन मील तक पीछे हटाने में समर्थ हुईं, और वह भी बीस

मील के लगभग क्षेत्र में। इस लड़ाई से यह भलीभाँति प्रगट हो गया, कि सां दिए से शुरू करके आस्टेण्ड तक जो किलाबन्दी की लाइन जर्मनी ने तैयार की हुई है, उसे तोड़ना या उसे पीछे धकेलना कितना कठिन है। बेल्जियम, लुक्समबुर्ग व उत्तर पूर्वी फ्रांस पर जर्मनी ने एक फौलादी शिकञ्जा डाला हुआ था, और उसे तोड़ना बहुत ही मुश्किल था।

अर्रास के इस युद्ध में कुछ पीछे हट कर जर्मन सेनाओं ने यह अनुभव किया, कि उन्हें भी पश्चिमी रण-क्षेत्र में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहिये। उन्होंने वर्दून के प्राचीन और मजबूत किले पर हमला करने का निश्चय किया। जर्मन युद्ध सामग्री का बड़ा भारी केन्द्र मेट्ज वर्दून से थोड़ी ही दूर पर है। जर्मन सेनापतियों ने अनुभव किया, कि मेट्ज को आधार बनाकर वर्दून पर हमला किया जा सकता है। जर्मनी के युवराज ने इस युद्ध का संचालन स्वयं अपने हाथों में लिया। वर्दून फ्रेंच किलाबन्दी का एक मुख्य केन्द्र था। उसे जीत कर जर्मन लोग यह आशा करते थे, कि फ्रेंच बचाव की लाइन टूट जायगी, और पेरिस की ओर आगे बढ़ना फिर सम्भव हो जायगा। २१ फरवरी, १९१६ को जर्मन सेनाओं का यह प्रबल आक्रमण प्रारम्भ हुआ। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा, कि फ्रेंच लोग जर्मन सेना के सामने न टिक सकेंगे। पर जनरल जाफ्र के नेतृत्त्व में फ्रेंच सेनाओं का पुनः संगठन किया गया, और वे जर्मन हमले को थामने में समर्थ हुईं। शुरू शुरू में वर्दून के समीप के जिन प्रदेशों पर जर्मन सेनाओं का कब्जा हो गया था, वहाँ से उन्हें पीछे धकेल दिया गया, और फ्रांस अपनी किलाबन्दी की लाइन को सुरक्षित रखने में समर्थ हुआ। मित्रराष्ट्रों के लिये यह परम सन्तोष की बात थी। फ्रांस का पराजय जर्मन सैनिक स्थिति को बहुत मजबूत कर देता। क्योंकि स्वयं युवराज ने जर्मन सेनाओं का नेतृत्त्व इस युद्ध में अपने हाथों में लिया हुआ

था, अतः इस आक्रमण की विफलता से जर्मन सैनिक शक्ति को बहुत कुछ नीचा देखना पड़ा। जुलाई, १६१६ तक फ्रांस की स्थिति इतनी मजबूत हो गई थी, कि जर्मन हमले की सफलता की सब सम्भावना दूर हो गई थी। पश्चिमी रणक्षेत्र में इसके बाद भी निरन्तर युद्ध जारी रहा। जुलाई से नवम्बर (१६१६) तक आमीन के पूर्व व उत्तर-पूर्व में घनघोर युद्ध हुए। ये सॉम के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं युद्धों में पहले पहल टैंको का प्रयोग हुआ। टैंक एक कवचधारी मोटर-गाड़ी का नाम है, जिसके चारो ओर मोटे लोहे की चादर लगी रहती है, और जिससे न केवल गोलियों की वर्षा की जा सकती है, अपितु तोप के गोले तक छोड़े जा सकते हैं। यह गाड़ी कांटेदार तारों, खाइयों और अन्य मोरचाबन्दी की परवाह न करती हुई, उसे तोड़ फोड़ कर आगे बढ़ सकती है। इसका आविष्कार अंग्रेजो ने किया था। इसमें सन्देह नहीं, कि पश्चिमी रणक्षेत्र में जर्मनों की मोरचाबन्दी को तोड़ने में इन टैंकों ने बड़ा काम किया, और जर्मन लोग जो फ्रांस में आगे बढ़ने से रुक गये, उसका बड़ा श्रेय इन नये हथियारों को भी दिया जाना चाहिये।

इसी समय इङ्गलैण्ड में बाधित सैनिक सेवा का सूत्रपात किया गया। महायुद्ध से पूर्व जर्मनी, रशिया और फ्रांस में बाधित सैनिक सेवा की प्रथा विद्यमान थी। इसके कारण लाखों सैनिक हर समय युद्ध के लिये तत्पर रहते थे। पर इङ्गलैण्ड में यह प्रथा न होने से उसकी सेना में सिपाहियों की संख्या एक लाख से भी कम थी। इसी कारण जर्मनी का सम्राट् इस इङ्गलिश सेना को एक तुच्छ और घृणायोग्य सेना कहा करता था। शुरू में इङ्गलैण्ड ने यह कोशिश की, कि लोगों को स्वेच्छापूर्वक सेना में भरती होने के लिये प्रेरित किया जाय। पर इसमें पर्याप्त सफलता न होने के कारण मई, १६१६ में बाधित सैनिक सेवा का कानून बनाया गया। इसके अनुसार १८ से ४१ वर्ष तक के

प्रत्येक पुरुष के लिये सेना में भरती होना आवश्यक कर दिया गया। बाद में सैनिक सेवा की उमर बढ़ाकर १८ से ५० तक कर दी गई। ५० से ५५ वर्ष की आयु के पुरुषों से भी आवश्यकतानुसार सैनिक सेवा ली जा सकने की व्यवस्था की गई। इस नये कानून से इङ्गलैण्ड में सैनिकों की संख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि हु ई। लाखों की संख्या में अंग्रेज सिपाही पश्चिमी रणक्षेत्र में भेजे जाने लगे।

जिस समय पश्चिमी रणक्षेत्र में वर्दून का युद्ध जारी था, पूर्व में इटालियन सेना ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया। पर वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुए। इसके विपरीत, आस्ट्रिया ने मई १९१६ में न केवल इटालियन सेनाओं को अपनी सीमा से बाहर खदेड़ने में सफलता प्राप्त की, अपितु इटली के भी अनेक प्रदेश विजय कर लिये। इसी समय रशिया ने एक बार फिर आस्ट्रिया पर आक्रमण करके गैली-सिया के विजय का प्रयत्न किया। अपने देश की रक्षा के लिये आस्ट्रिया को अपनी सेनायें उत्तर को ओर भेजनी पड़ीं, और इटली को अपने आक्रमणों को सफलता का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। इटली का युद्ध में शामिल होने का मुख्य उद्देश्य यह था, कि इटालि-यन भाषा बोलने वाले जो प्रदेश अभी तक आस्ट्रिया के अधीन थे, उन्हें जीत कर अपने साथ शामिल कर सके। ट्रीएस्त इनमें प्रमुख था। इटालियन सेनाओं ने ट्रीएस्त के मार्ग पर बढ़ना शुरू किया, और गोरिजिया पर अपना अधिकार कर लिया।

इस समय रशिया का गैलीसिया पर हमला जारी था। ऐसा प्रतीत होता था, कि आस्ट्रिया के विरुद्ध रशिया और इटली दोनों को अपूर्व सफलता मिल रही है। इससे उत्साहित होकर रूमानिया ने मित्रराष्ट्रों के पक्ष में जर्मनी, आस्ट्रिया और बल्गेरिया के विरुद्ध लड़ाई उद्घो-षित कर दी। रूमानिया का यह दावा था, कि ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश उसका है, और वह उसे प्राप्त होना चाहिये। उसने ट्रांसिलवेनिया

ा कर दिया। यद्यपि जर्मन सेनायें इस समय सॉम के युद्धों में
ई थीं, तो भी दो ऊँचे जर्मन सेनापति बड़ी फौजों के साथ
ा का मुकाबला करने के लिये भेजे गये। बात की बात में
ा का आगे बढ़ना रुक गया। दिसम्बर, १६१६ में
ा की राजधानी बुखारेस्ट पर जर्मनी का कब्जा हो गया और
दिनों में दो तिहाई से अधिक रूमानियन इलाका जर्मनी
धीनता में आ गया। रूमानिया बड़ा समृद्ध और उपजाऊ
है। विशेपतया, मट्टी का तेल और अनाज वहां बड़ी मात्रा में
। यह सब अब जर्मनी को प्राप्त हो गया।

क जनवरी, १६१६ तक महायुद्ध में ६० लाख के लगभग
मौत के घाट उतर चुके थे। इससे बहुत अधिक लोग या तो
हुए थे, और या कैद कर लिये गये थे। इस महायुद्ध की भयं-
का इससे भली भांति अनुमान किया जा सकता है। आकाश
युद्ध का प्रारम्भ भी १६१६ के अन्त तक हो गया था। पहले
जर्मन लोगों ने जेपलिनों का युद्ध के लिये प्रयोग किया। ये
एक प्रकार के बड़े और मजबूत गुब्बारे (बैलून) होते थे। पर
ी जेपलिनों का स्थान हवाई जहाजों ने ले लिया और पश्चिमी
ा में दोनों तरफ से इन वायुयानों का प्रयोग होने लगा।

(४) अमेरिका का महायुद्ध में प्रवेश

नडुब्बियों द्वारा सब प्रकार के जहाजों को डुबाने के कारण
के विरुद्ध अमेरिका में किस प्रकार रोप की भावना बढ़ रही
सका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अमेरिका युद्ध में सर्वथा
था। जब यूरोप में लड़ाई का प्रारम्भ हुआ, तो राष्ट्रपति विल्सन
ष्टरूप से यह घोषणा कर दी थी, कि अमेरिकन सरकार इस युद्ध
था तटस्थ रहेगी, और जनता को भी किसी पक्ष में नहीं होना

चाहिये। अमेरिका के नेताओं की दृष्टि में यह यूरोप के राज्यों का आपसी युद्ध था, और अटलाण्टिक महासागर के पार विद्यमान देशों का उससे कोई सम्बन्ध न था। पर ज्यों ज्यों युद्ध की अग्नि भड़कने लगी, यह स्पष्ट होने लगा कि अमेरिका अपनी तटस्थता की नीति पर स्थिर नहीं रह सकता। अमेरिका के निवासियों में ऐसे भी लोग थे, जो जर्मनी से आकर वहां बसे थे। इनकी सहानुभूति जर्मनी के साथ थी। अमेरिका से प्रकाशित होने वाले अनेक समाचार पत्र यह कहते हुए नहीं हिचकते थे, कि जो कुछ जर्मनी कर रहा है, वह सब उचित और न्यायसंगत है। पर बेल्जियम पर आक्रमण करने, वहां की जनता के साथ किये गये व्यवहार और रैंस (फ्रांस) के प्राचीन गिरिजाघर का ध्वंस करने के समाचारों ने अमेरिका की जनता में जर्मनी के विरुद्ध एक तीव्र रोष को उत्पन्न कर दिया था। अमेरिका के स्वातन्त्र्य संग्राम में फ्रांस के लोगों ने बड़ी सहायता पंहुचाई थी। इस कारण अमेरिकन जनता की फ्रांस के साथ बहुत अधिक सहानुभूति थी। क्योंकि अमेरिका के अधिकसंख्यक लोग इङ्गलैण्ड से आकर बसे थे, उनकी भाषा अंग्रेजी थी—अतः उनकी स्वाभाविक सहानुभूति भी इङ्गलैण्ड के साथ थी। लुसिटानिया जहाज के डुबाने से अमेरिका में जर्मनी के खिलाफ रोष बहुत बढ़ गया था। जनवरी, १६१८ में इङ्गलैण्ड ने यह प्रयत्न किया कि कोई भी माल समुद्री मार्ग से जर्मनी न पंहुचने पावे। इस पर जर्मनी ने यह घोषणा की, कि क्योंकि इङ्गलैण्ड की यह इच्छा है, कि जर्मनी भूखा मर जावे, उसका बाहरी देशों के साथ सब व्यापार समाप्त हो जावे, अतः जर्मनी भी इङ्गलैण्ड के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध समुद्री मार्ग से नहीं रहने देगा। इङ्गलैण्ड एक द्वीप है, उसे सब प्रकार का माल समुद्र के रास्ते से ही मंगाना पड़ता है—अतः जर्मनी ने यह घोषणा की, कि इस टापू के चारों तरफ का दूर दूर का समुद्र, रणक्षेत्र के अन्तर्गत माना जायगा,

और जो कोई भी जहाज इस समुद्र में प्रवेश करेगा, उसे पनडुब्बी द्वारा डुबा दिया जायगा। अमेरिका के लिये यह सुविधा दी गई, कि उसके जहाज एक छोटी सी सामुद्रिक गली से इङ्गलैण्ड आ जा सकें, पर यह आवश्यक है, कि उनमें कोई युद्धोपयोगी सामग्री न हो।

१ फरवरी, १९१७ को जर्मनी ने पनडुब्बियों द्वारा सामुद्रिक युद्ध को अत्यन्त बीभत्स रूप में प्रारम्भ किया। बहुत से व्यापारी जहाज बड़ी तेजी के साथ समुद्र की सतह में पहुँचाये जाने लगे। जर्मनी के इस कार्य से अमेरिका की जनता बहुत उद्विग्न हो गई, और बहुत से लोग राष्ट्रपति विल्सन पर यह आक्षेप करने लगे, कि वे अनावश्यक रूप से जर्मनी के कुकृत्यों को सहन कर रहे हैं। लोकमत की उपेक्षा राष्ट्रपति देर तक नहीं कर सके, और ३ फरवरी, १९१७ को अमेरिका और जर्मनी का राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिया गया। अमेरिकन राजदूत को जर्मनी से वापस लौटा लिया गया, और जर्मन राजदूत काउन्ट फान बर्नस्ट्राफ को जर्मनी वापस भेज दिया गया। अमेरिकन लोगों का यह खयाल था, कि जर्मन राजदूत का कार्यालय जर्मन जासूसी कार्रवाइयों का बड़ा केन्द्र है। उसके वापस चले जाने से जनता को बड़ा सन्तोष हुआ।

इस बीच में पनडुब्बियों द्वारा जहाजों के डुबाने की प्रक्रिया अधिक अधिक तीव्र होती गई, और जर्मनी के विरुद्ध अमेरिकन लोकमत भी उग्र रूप धारण करता गया। इसी बीच में एक पत्र पकड़ा गया, जो जर्मनी के विदेशमन्त्री ने मैक्सिको की सरकार को लिखा था। इस पत्र में यह प्रस्ताव किया गया था, कि यदि जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका में युद्ध छिड़ जाय, तो मैक्सिको को तुरन्त संयुक्त राज्य पर हमला कर देना चाहिए। इसके लिए टेक्साज, न्यूमैक्सिको और एरिजोना के राज्य मैक्सिको को इनाम के रूप में दिये जाने की बात कही गई थी।

अब यह स्पष्ट था, कि अमेरिका और जर्मनी में युद्ध अनिवार्य है। २ एप्रिल, १६१७ को राष्ट्रपति विल्सन ने कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया। इसमें राष्ट्रपति ने यह उद्घोषित किया, कि सब क्रियात्मक दृष्टियों से जर्मनी अमेरिका के साथ लड़ाई शुरू कर चुका है। हमारा लक्ष्य यह है, कि स्वार्थ और एकाधिकार की शक्तियों के विरुद्ध संसार में शान्ति, न्याय और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों की रक्षा व स्थापना के लिये लड़ाई में शामिल हों। संसार के स्वतन्त्रताप्रिय और लोकतन्त्रवाद के अनुयायी राज्यों का यह कर्त्तव्य है, कि इस समय वे आपस में मिलकर उन शक्तियों का मुकाबला करें, जिनके कारण जनता के अधिकारों को भारी खतरा पैदा हो गया है। विल्सन ने यह प्रस्ताव किया, कि अमेरिका जर्मनी के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों के साथ बाकायदा सम्मिलित हो जाय, और धन जन द्वारा उनकी पूरी तरह सहायता करे। राष्ट्रपति के प्रस्ताव को कांग्रेस ने बड़ी भारी बहुसंख्या के साथ स्वीकृत किया।

अमेरिका के युद्ध में शामिल होने के बाद अन्य भी बहुत से देशों ने उसका अनुगमन किया। क्यूबा और पनामा तुरन्त ही मित्रराष्ट्रों में सम्मिलित हो गये। कुछ दिनों बाद ग्रीस ने भी जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी। १६१७ के समाप्त होने से पहले ही सियाम, लाइबीरिया, चीन और ब्राजील ने भी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में होकर जर्मनी व अन्य केन्द्रीय राज्यों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। अब युद्ध केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा था। वह सच्चे अर्थों में विश्व-व्यापी महायुद्ध का रूप धारण कर चुका था। एक अरब चौंतीस करोड़ की आबादी वाले देश मित्रराष्ट्रों के पक्ष में थे। जर्मनी के पक्ष के देशों की आबादी केवल सोलह करोड़ थी। संसार की कुल आबादी का ८७ प्रतिशत इस महायुद्ध में शामिल था। इसमें से ६० प्रतिशत मित्रराष्ट्रों के पक्ष में थे, और केवल दस फीसदी के लगभग जर्मनी के साथ में थे।

जो देश इस महायुद्ध में शामिल नहीं हुए थे, उनकी कुल आबादी १६ करोड़ थी। हालैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन के लिये तटस्थ रहना इसलिये आवश्यक था, क्योंकि उनकी स्थिति जर्मनी के बहुत समीप थी। जर्मनी से लड़ाई छेड़ने का अभिप्राय अपने निश्चित विनाश के अतिरिक्त और कुछ न था। मैक्सिको, चाइल और कुछ अन्य अमेरिकन राज्य तथा स्पेन इस युद्ध में तटस्थ रहे। पर तटस्थता की नीति रखते हुए भी शायद ही कोई ऐसा देश हो, जिस पर इस विश्वव्यापी महायुद्ध का कोई प्रभाव न पड़ा हो। सब जगह आर्थिक संकट उपस्थित हुए। खुले व्यापार का होना सम्भव न रहा। कीमतें ऊँची उठने लगीं। टैक्सों का बढ़ाना आवश्यक हो गया और जनता को अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़े।

(५) महायुद्ध के आखरी दो वर्ष

सॉम के युद्धों के बाद जर्मन सेनापतियों ने यह उपयोगी समझा, कि पश्चिमी रणक्षेत्र की जर्मन लाइन को कुछ छोटा किया जाय। उन्हें यह कठिन प्रतीत होता था, कि सां दिए से आस्टएड तक विस्तृत मोरचाबन्दी को भलिभाँति संभाल कर सकें। इसलिए उन्होंने अपनी लाइन को दक्षिण में नोयों से अर्रास तक सीमित कर लिया। यह नई लाइन सौ मील के लगभग लम्बी थी, और इतिहास में हिन्डनवर्ग लाइन के नाम से प्रसिद्ध है। जर्मन लाइन के छोटे होने से एक हजार वर्ग मील के क्षेत्र पर मित्रराष्ट्रों का फिर से अधिकार हो गया। पर जर्मन सेनाओं ने पीछे हटते हुए इस प्रदेश को बुरी तरह उजाड़ दिया था।

जर्मनों के पीछे हटने से प्रोत्साहित हो कर मित्रराष्ट्रों ने दो बड़े आक्रमण हिन्डनवर्ग लाइन पर किये। पहला आक्रमण उत्तर की तरफ लेंस और सां क्वांतां पर कब्जा करने के उद्देश्य से था। दूसरा हमला

दक्षिण की तरफ लांत्रों के लिये किया गया था। पर इन दोनों में ही मित्रराष्ट्रों को सफलता नहीं हो सकी। हिन्डनवर्ग लाइन फौलाद की तरह से मजबूत थी। यद्यपि हजारों आदमी प्रति सप्ताह इस रणक्षेत्र में मारे जा रहे थे, पर न जर्मन आगे बढ़ सकते थे, और न ही उन्हें पीछे हटाया जा सकता था। युद्ध के अन्त तक इस रणक्षेत्र की प्रायः यही दशा रही।

मार्च, १६१७ में रशिया में राज्यक्रान्ति हो गई। रशिया में जार (सम्राट्) का एकच्छत्र शासन था। वहाँ की जनता अशिक्षित, गरीब और पिछड़ी हुई थी। महायुद्ध ने यह साबित कर दिया, कि रशिया की राजशक्ति बिलकुल खोखली है। जार के राज्यच्युत होने के बाद जो सरकार रशिया में कायम हुई, उसका अधिपति केरेन्स्की था। उसने एक बार फिर अपनी सैन्य शक्ति को संगठित कर गैलीसिया पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया। शुरू शुरू में इस प्रयत्न में उसे कुछ सफलता भी हुई। पर कुछ ही दिनों बाद उसका सब प्रयत्न विफल हो गया, और रशिया की सेनायें जर्मनी की शक्ति के सामने खड़ी नहीं रह सकीं।

केरेन्स्की की सरकार भी देर तक कायम नहीं रही। साम्यवाद का आन्दोलन रशिया के मजदूरों व किसानों में बड़ा जोर पकड़ रहा था। साम्यवादी (कम्यूनिष्ट) लोग समाज के संगठन में आमूल-चूल परिवर्तन करना चाहते थे। लेनिन और ट्रोटस्की के नेतृत्व में उन्होंने फिर क्रान्ति की, और ७ नवम्बर, १६१७ को केरेन्स्की का पतन हो गया। लेनिन की बोल्शेविक सरकार जर्मनी से युद्ध जारी रखना व्यर्थ समझती थी। उन्होंने यह निर्णय किया, कि जर्मनी के साथ पृथक् रूप से सन्धि कर ली जाय। दिसम्बर १६१७ में ब्रेस्ट-लिटोव्स्क नामक स्थान पर सन्धि परिषद् प्रारम्भ हुई। जर्मनी इस परिषद् में विजेता के रूप में शामिल हुआ। युक्रेनिया, फिनलैण्ड, पोलैण्ड, लिथु-

की सम्मिलित शक्ति के सम्मुख उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। धीरे धीरे मित्र सेनाओं ने जवाब में आक्रमण शुरू कर दिये। सितम्बर, १९१८ तक यह स्थिति आ गई थी, कि जर्मन सेनायें एक बार फिर हिन्डनवर्ग लाइन की अपन मजबूत मोरचाबन्दी पर पीछे हट जाने के लिये विवश हो गईं। पर मित्र सेनायें जर्मनों को हिन्डनवर्ग लाइन तक धकेल कर ही संतुष्ट नहीं हुईं, उन्होंने कुछ स्थानों पर इस विकट मोरचाबन्दी को तोड़ भी डाला।

न केवल पश्चिमी रणक्षेत्र में, अपितु दक्षिणी व अन्य रणक्षेत्रों में भी इस समय जर्मनी की घटती कला का प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि रशिया हथियार डाल चुका था, पर ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की सन्धि द्वारा जिन रशियन प्रदेशों पर जर्मनी का अधिकार हुआ था, उनमें अव्यवस्था और अराजकता व्याप रही थी। युक्रेनिया के लोग जर्मन शासन से बहुत असंतुष्ट थे। वे अपने देश में एक स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना के लिये उत्सुक थे, और मित्रराष्ट्र इस कार्य में उनकी पूरी तरह सहायता कर रहे थे। फिनलैण्ड में गृह कलह जारी था। रशिया की बोल्शेविक सरकार भी चैन से नहीं बैठी थी। उसके विरुद्ध अनेक विद्रोह हो रहे थे, और मित्रराष्ट्र बोल्शेविकों के विरुद्ध किये गये सब प्रयत्नों की सहायता करने के लिये सदा उद्यत थे।

जनरल फॉच ने अपनी शक्ति को केवल पश्चिमी रणक्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा। उसने बालकन प्रायद्वीप में एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया, जिसमें सर्वियन, ग्रीक, इङ्गलिश, फ्रेंच और अमेरिकन सब शामिल थे। इस समय सम्पूर्ण सर्विया जर्मनी व उसके साथियों के अधिकार में था। पर अब जर्मनी व आस्ट्रिया इस स्थिति में नहीं रह गये थे, कि बालकन प्रायद्वीप में अपनी सेनाओं को बड़ी संख्या में भेज सकें। अतः बालकन में केन्द्रीय राज्यों की तरफ से लड़ने की सब जिम्मेवारी बल्गेरिया के ऊपर आ गई। पर अकेले बल्गेरिया के

लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह मित्र राष्ट्रों की शक्तिशाली सेना का मुकाबला कर सके। २९ सितम्बर, १९१८ को उसने हथियार डाल दिये और सन्धि की प्रार्थना की। इस शर्त पर इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया गया, कि बल्गेरिया बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दे। बल्गेरिया की सेना छिन्न भिन्न कर दी गई और उसे यह स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ा, कि उसके प्रदेश, रेलवे व अन्य आर्थिक साधनों को आस्ट्रिया-हंगरी तथा टर्की के खिलाफ लड़ाई के लिये प्रयुक्त किया जा सकेगा।

बल्गेरिया के आत्मसमर्पण से टर्की अपने अन्य साथियों से अलग पड़ गया था। यह स्पष्ट था, कि वह अकेला शक्तिशाली मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध लड़ाई जारी नहीं रख सकेगा। इसी बीच में तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत अरब प्रदेशों में विद्रोह शुरू हो चुका था। फ्रांस और इङ्गलैण्ड के कूटनीतिज्ञ जहाँ अरबों को टर्की के विरुद्ध विद्रोह करके अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिये भड़का रहे थे, वहां इन देशों की सेनायें तुर्की सेनाओं को परास्त करके पीछे खदेड़ने में भी लगी थीं। मैसोपोटोमिया, सीरिया आदि पर मित्र सेनाओं का कब्जा हो गया था। इस दशा में ३१ अक्टूबर, १९१८ को टर्की ने भी आत्मसमर्पण कर दिया।

अब यह स्पष्ट था, कि जर्मनी देर तक रणक्षेत्र में नहीं रह सकेगा। उसकी जनता यह अनुभव करने लगी थी, कि जर्मन सरकार अपने प्रयत्नों में असफल हो रही है। संसार के इतने सारे राज्यों की सम्मिलित शक्ति का मुकाबला जर्मनी व आस्ट्रिया-हंगरी कब तक कर सकते थे? आस्ट्रिया-हंगरी की आन्तरिक दशा बड़ी निर्बल थी। इस पुराने साम्राज्य का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत केवल सम्राट् की केन्द्रीय शक्ति के आधार पर हुआ था। आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य में चेक, स्लोवाक, युगोस्लाव आदि कितनी ही जातियां निवास करती

थीं। वे सब इस प्रयत्न में लगी थीं, कि महायुद्ध से लाभ उठा कर अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करें। मित्रराष्ट्र उनके इस प्रयत्न से न केवल सहानुभूति रखते थे, पर उन्हें क्रियात्मक सहायता देने के लिये भी प्रयत्नशील थे। आस्ट्रिया-हंगरी में सर्वत्र विद्रोह की चिनगारियां प्रगट हो रही थीं। आस्ट्रियन सम्राट् की सब शक्ति इन विद्रोहों से निबटने में ही लगी हुई थी। जर्मनी की कोई ठोस सहायता कर सकना उसके लिये सम्भव नहीं रहा था। जर्मनी को अपनी पनडुब्बियों पर बड़ा भरोसा था। पर ये पनडुब्बियां इङ्गलैण्ड को घुटने टेक देने के लिये विवश नहीं कर सकीं। अमेरिकन जहाज जर्मनी के द्वारा डाली जाने वाली बारूद की खानों व अन्य हथियारों का मान मर्दन करते हुए खुले तौर पर अटलाण्टिक महासागर को पार कर रहे थे। पश्चिमी रणक्षेत्र में भी जर्मनी ने मार खाना शुरू कर दिया था।

इस दशा में आस्ट्रिया-हंगरी देर तक युद्ध में शामिल नहीं रह सका। ७ अक्टूबर, १९१८ को उसकी सरकार ने राष्ट्रपति विल्सन के पास एक आवेदनपत्र भेजा, जिसमें सन्धि के लिये प्रार्थना की गई थी। इसी समय, इटालियन सेनायें बड़ी तेजी के साथ आस्ट्रिया पर आक्रमण करने में लगी थीं। उन्होंने न केवल आस्ट्रियन सेनाओं को उत्तरी इटली के उन प्रदेशों से बाहर निकाल दिया, जहाँ वे लड़ाई के शुरू के दिनों में कब्जा कर चुकी थीं, अपितु ट्रेन्ट और ट्रीएस्त पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस दशा में आस्ट्रिया के लिये युद्ध को जारी रखना व्यर्थ था। ३ नवम्बर १९१८ के दिन उसने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। पर इस समय तक आस्ट्रिया-हंगरी का प्राचीन राज्य यूरोप के नक्शे से दूर हो चुका था। उसके अन्तर्गत जो विविध जातियाँ निवास करती थीं, उन्होंने अपने अपने स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण कर लिया था। चेको-स्लोवाकिया और यूगोस्लाविया नाम के दो नये राष्ट्र प्रगट हो गये थे, और हंगरी भी अपना पृथक् राज्य

बनाने के प्रयत्न में था। इस दशा में आस्ट्रिया-हंगरी के गौरवमय सम्राट् के लिये, जो पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य की परम्परा को अब तक सुरक्षित रखे हुए था, राजसिंहासन पर आरूढ़ रहना सर्वथा निरर्थक था। ११ नवम्बर को उसने राजगद्दी का परित्याग कर दिया।

(६) महायुद्ध का अन्त

अब जर्मनी के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह युद्ध को जारी रख सके। जर्मनी के सैनिक नेताओं को भी अब यह भलीभाँति समझ में आ गया था, कि युद्ध को जारी रखना सर्वथा व्यर्थ है। इसीलिये अक्टूबर, १९१८ में उनकी तरफ से राष्ट्रपति विल्सन के साथ सन्धि के लिये बातचीत शुरू कर दी गई। यह बातचीत स्विट्जरलैण्ड की सरकार की मार्फत शुरू की गई थी। विल्सन ने यह स्पष्ट रूप से जता दिया, कि सन्धि के लिये जर्मनी को बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण करना होगा। साथ ही, इस बात की भी व्यवस्था करनी होगी, कि जर्मनी फिर लड़ाई शुरू न कर सके। जर्मन सम्राट् और युवराज को अब भी यह आशा थी, कि वे अपनी सरकार की रक्षा कर सकेंगे। इसलिये उन्होंने मित्रराष्ट्रों को यह सूचित किया, कि वे जर्मनी की सरकार व अफसरों में भारी परिवर्तन करने के लिये उद्यत हैं। इसी लिये उन्होंने जनरल लुडनडार्फ को पदच्युत कर दिया। लुडनडार्फ जर्मन सेना का प्रमुख सेनापति था, और मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध बहुत सी लड़ाइयों का उसने संचालन किया था।

पर इस बीच में जनरल फॉच के नेतृत्व में मित्र सेनायें निरन्तर आगे बढ़ रही थीं। जर्मन सेनाओं के लिये उनका मुकाबला करना कठिन हो रहा था। इस दशा में ९ नवम्बर, १९१८ को जर्मन सम्राट् विलियम द्वितीय के राजसिंहासन परित्याग के समाचार से सारा संसार आश्चर्यचकित रह गया। वस्तुतः, अब जर्मन सम्राट् ने यह अनुभव

कर लिया था, कि जर्मनी की अवस्था उसके काबू से बाहर हो गई है, और राजगद्दी छोड़ देने में ही उसका और उसके देश का कल्याण के। इस प्रकार प्रशिया के प्राचीन होहेन्ट्सोलर्न राजवंश का अन्त हुआ। अगले दिन जर्मनी में राज्यक्रान्ति हो गई, और फ्रीडरिख एबट नाम के एक साम्यवादी नेता के नेतृत्व में नई जर्मन सरकार की संगठन हुआ। जर्मनी में राजसत्ता का अन्त हो गया।

इस बीच में जनरल फॉच के साथ सन्धि की बातचीत जारी थी। जर्मन सरकार के प्रतिनिधि ८ नवम्बर १९१८ को जनरल फॉच से आकर मिले। उसी दिन उन्हें सन्धि की शर्तें पेश कर दी गईं। इस सन्धि की मुख्य मुख्य शर्तें निम्न लिखित थी—(१) जर्मनीकी सेनाओं ने जिन जिन प्रदेशों पर अधिकार किया हुआ था, उन सब को दो सप्ताह के अन्दर अन्दर खाली कर दे। इन प्रदेशों में मुख्यतया बेल्जियम, लुक्समबुर्ग और उत्तर-पूर्वी फ्रांस सम्मिलत थे। साथ ही, आल्सेस—लारेन के प्रदेश भी दो सप्ताह के अन्दर अन्दर खाली कर दिये जावें। (२) जर्मन सेनायें र्‌हाइन नदी के पूर्वी तट पर चली जावें। र्‌हाइन नदी के पश्चिम में जर्मनी का जो प्रदेश है, उस पर मित्रराष्ट्रों का कब्जा हो जाय। (३) आस्ट्रिया-हंगरी, रूमानिया, टर्की और रशिया में जो कोई भी जर्मन सेनायें हों, उन्हें तुरन्त वहाँ से हटा लिया जाय। (४) जर्मनी के जो भी जंगी जहाज, पनडुब्बियाँ व अन्य युद्ध सामग्री हैं, वे सब मित्रराष्ट्रों के सुपुर्द कर दी जावें। (५) र्‌हाइन नदी के पश्चिम की ओर जो भी रेलवे, सड़कें व खानें आदि हैं, वे सब मित्रराष्ट्रों के अधिकार में दे दिये जावें। इन शर्तों को नई जर्मन सरकार ने तुरन्त स्वीकार कर लिया, और ११ नवम्बर, १९१८ को सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर हो गये।

इस प्रकार इस भयंकर विश्वव्यापी महायुद्ध का अन्त हुआ।

इकतालीसवाँ अध्याय

शान्ति की स्थापना

१. शान्ति सम्बन्धी समस्यायें

महायुद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व यूरोप में अनेक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें थीं, जिनके कारण विविध राज्यों में परस्पर असन्तोष और विरोध बना रहता था। बिस्मार्क के नेतृत्व में जब जर्मनी का उत्कर्ष हुआ, तो आल्सेस-लोरेन के प्रदेश पर उसने अपना अधिकार कर लिया था। फ्रांस समझता था, कि यह प्रदेश फ्रेंच राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, और वह उसे मिलना ही चाहिए। पोलैण्ड के देशभक्तों की यह आकांक्षा थी, कि उनका देश एक स्वतन्त्र पृथक् राष्ट्र के रूप में प्रगट हो। रशिया, आस्ट्रिया और जर्मनी ने पोलैण्ड का अंग-भंग कर उसे तीन टुकडों में बाँट दिया था। क्रोटिया, बोस्निया और स्लावोनिया के निवासी यह समझते थे, कि स्लाव लोगों का अपना पृथक् राज्य होना चाहिए, और आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के अन्तर्गत उनका रहना राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विपरीत है। चेक लोग भी यही समझते थे। इटली इस बात से असन्तुष्ट था, कि उसका अपना कुछ प्रदेश अभी तक भी आस्ट्रिया के पंजे से मुक्त नहीं हुआ है। वह इस बात के लिए उत्सुक था, कि इन प्रदेशों को, जैसे भी हो सके अपने राष्ट्र में सम्मिलित करे। बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्य अपनी राष्ट्रीय सीमाओं से असंतुष्ट थे। रूमानिया चाहता था, कि ट्रांसिलवेनिया और बुकोविना के प्रदेश उसे मिलने चाहिएँ। बलगेरिया और सर्विया में राष्ट्रीय सीमा के लिए विकट झगडा था। रशिया चाहता था, कि कान्स्टेन्टिनोपल

उसके प्रभाव में रहे, और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य से होकर भूमध्य-सागर तक पहुँच सकने में उसके मार्ग में कोई बाधा न हो।

अब महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप ये अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें और भी गम्भीर रूप धारण कर गई थीं। तुर्की साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने से यह प्रश्न उत्पन्न हो गया था, कि सीरिया, मैसोपोटामिया व अन्य अरब प्रदेशों की क्या व्यवस्था की जाय। सुदूर पूर्व में जापान की यह कोशिश थी, कि चीन में अपने प्रभाव का विस्तार करे। जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल होकर उसे इसके लिए अपूर्व अवसर मिल गया था। जर्मनी के लोग कहते थे, कि ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त होना चाहिए, और भारत तथा आयर्लैण्ड को स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। युद्ध की प्रगति के साथ-साथ संसार के विविध राष्ट्रों की सीमायें तथा स्थिति बड़ी तेजी के साथ परिवर्तित हो गई थीं। बेल्जियम, लुक्समबुर्ग, उत्तर-पूर्वी फ्रांस, मान्टिनिग्रो और रूमानिया पर जर्मनी व उसके साथियों का कब्जा हो गया था। अफ्रीका में स्थित जर्मनी के सब उपनिवेश ब्रिटेन या फ्रांस के हाथ में आ गये थे, और चीन तथा प्रशान्त महासागर के सब जर्मन प्रदेश जापान या आस्ट्रेलिया के अधिकार में थे। अब प्रश्न यह था, कि इन राज्यों या प्रदेशों के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जाय? महायुद्ध की समाप्ति पर शान्ति की स्थापना करते हुए दोनों पक्षों के राज्यों को यह निर्णय करना था, कि युद्ध के परिणाम-स्वरूप जो भारी उथल-पुथल हुई है, उसका क्या किया जाय।

पर इन सब समस्याओं से अधिक गम्भीर व महत्त्वपूर्ण समस्या यह थी, कि युद्धों का अन्त किस प्रकार किया जा सकता है। विज्ञान की उन्नति के कारण अनेक ऐसे अस्त्र-शस्त्र व युद्ध के साधन आविष्कृत हो गये थे, जिनसे अब युद्ध बहुत ही भयंकर व संहारक हो गया था। इस महायुद्ध में लाखों आदमी मृत्यु को प्राप्त हुए, करोड़ों घायल हुए, और अपार सम्पत्ति का विनाश हुआ। संसार के राजनीतिज्ञों के सामने

यह प्रश्न सबसे महत्त्व का था, कि क्या कोई ऐसा उपाय नहीं, जिससे युद्धों के अतिरिक्त अन्य उपायों से विविध राज्य आपस के झगड़ों का फैसला कर सकें। जैसे राज्यसंस्था के निर्माण से पूर्व मनुष्यों को आपस के झगड़ों को निवटाने के लिए आपस में लड़ने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था, वैसे ही अब राज्य भी आपस के झगड़े लड़ाई द्वारा ही निवटाते थे। पर क्या यह सम्भव नहीं, कि इस अन्तर्राष्ट्रीय 'मात्स्यन्याय' का अन्त कर विविध राज्य आपस में सहयोग के साथ रह सकें, और अपने हितों की रक्षा तथा आपस के झगड़ों का निर्णय करने के लिए एक विश्व राज्य संस्था का निर्माण कर सकें।

विज्ञान की उन्नति के कारण मनुष्य ने देश और काल पर जो अद्भुत विजय प्राप्त कर ली थी, उसके कारण राज्यों की आपस की दूरी व भिन्नता भी अब दूर होती जाती थी। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के साथ राष्ट्रीयता की जिस भावना का प्रादुर्भाव हुआ था, उन्नीसवीं सदी में वह यूरोप की सबसे प्रबल राजनीतिक शक्ति बन गई थी। पर अब रेल, तार, मोटर, व यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले जहाज और वायुयान आदि के आविष्कार के कारण तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकसित हो जाने से विविध राज्य एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। नैपोलियन के समय में अटलाण्टिक महासागर को पार करने में एक महीने से भी अधिक समय लगता था। पर अब १९१९ में यही दूरी छः दिन से भी कम समय में पार की जा सकती थी। लोगों को यह भी आशा थी, कि वायुयानों में कुछ और उन्नति हो जाने पर अटलाण्टिक को पार करना कुछ दिनों का नहीं, अपितु कुछ घंटों का ही काम रह जायगा। पुराने जमाने में महासागर राष्ट्रों को एक दूसरे से अलग करने में सहायक होते थे। उन्हें पार करके दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना एक अत्यन्त कठिन बात होती थी। पर अब महासागर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वृद्धि के लिए तथा आने-जाने के लिए राजपथ का काम करते

हैं। महायुद्ध से पहले पेरिस से कान्स्टेन्टिनोपल तक या पेरिस से मास्को तक नियमित रूप से रेलगाड़ियाँ चलती थीं, इनकी चाल ५० मील प्रति घंटा तक होती थी। पर वीएना की कांग्रेस (१८१४) के समय कोई ऐसा यान नहीं था, जो घोड़े की चाल की अपेक्षा तेजी से चल सकता हो। पर अब तार और टेलीफोन द्वारा संसार के किसी भी नगर से कुछ ही क्षणों में सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता था। किसी समाचार को पेरिस से न्यूयार्क या टोकियो पहुँचने में अब उतना भी समय नहीं लगता था, जितना कि लुई १८वें को पेरिस में ही अपने महल से किसी दूसरी जगह पर कोई सन्देश भेजने में लगाना आवश्यक था।

अब संसार के विविध राज्य एक दूसरे पर बहुत आश्रित हो गये थे। व्यवसाय और व्यापार की वृद्धि के कारण कुछ देशों में कपड़ा और लोहा अधिक मात्रा में उत्पन्न होने लगा था, क्योंकि उनके आर्थिक साधन इन व्यवसायों के अधिक अनुकूल थे। वे अनाज के लिए दूसरे देशों पर आश्रित रहते थे। शायद ही कोई देश अब बीसवीं सदी में ऐसा बच रहा था, जो अपनी सब आवश्यकतायें स्वयं उत्पन्न कर लेता हो, और जिसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आश्रित न रहना पड़ता हो। फिर, प्रेस के आविष्कार के कारण पुस्तकों का मुद्रण व प्रचार बहुत बढ़ गया था। शेक्सपियर (इँगलैंड), शिलर (जर्मनी) और वाल्टेयर (फ्रांस) आदि की पुस्तकों का संसार की प्रायः सभी भाषाओं में अनुवाद हो गया था, और लोग दूसरे देशों के विद्वानों के विचारों और साहित्य को पढ़कर एक दूसरे के अधिक समीप आने लग गये थे। एक प्रकार की 'विश्व संस्कृति' का विकास होने लगा था, और विविध राष्ट्रों के बीच में भाषा, धर्म व संस्कृति की भिन्नता के कारण जो खाई सी बनी रहती हैं, वे अब धीरे-धीरे पटने लग गई थीं।

इसलिए महायुद्ध की समाप्ति पर संसार के विविध राज्यों के सम्मुख एक बड़ा प्रश्न यह विद्यमान था, कि अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर कौन

से ऐसे कदम उठाये जा सकते हैं, जिनसे राष्ट्रीय स्वाधीनता को कायम रखते हुए भी विविध राज्य एक ऐसे संगठन के सूत्र में बंध जावें, जो उनके आपस के झगड़ों को शान्तिमय उपायों से निबटाता रह सके। 'राष्ट्रसंघ' के निर्माण का विचार इस समय बल पकड़ता जाता था।

फिर, वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण विविध देशों ने ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया था, जो न केवल वीभत्स रूप से संहारक थे, अपितु अत्यन्त मँहगे भी थे। अब वह जमाना नहीं रहा था, जब सैनिक लोग तीर-कमान या ढाल-तलवार या गोली-बन्दूक लेकर लड़ाई के मैदान में आ जावें। अब युद्ध के लिए टैंक, हजारों टन वजन के जंगी जहाज, रासायनिक गैस और हवाई जहाजों की आवश्यकता होती थी, जिनके निर्माण के लिए अरबों रुपया अपेक्षित था। राजकीय आमदनी का बहुत बड़ा भाग अब युद्धोपयोगी सामग्री के जुटाने में व्यय होने लगा था और संसार के सभ्य राज्य यह सोचने लगे थे, कि एक दूसरे के विनाश के लिए राष्ट्रीय सम्पत्ति को इस प्रकार पानी की तरह बहाना कहाँ तक उचित और न्याय-संगत है। इसके लिए, आपस के समझौते से हथियारों की वृद्धि को नियन्त्रित करना और सेनाओं को घटाने का प्रश्न भी बड़े महत्त्व का था।

सामयिक सन्धियों द्वारा सन् १९१८ के समाप्त होने से पूर्व यूरोप के सभी रणक्षेत्रों में लड़ाई बन्द हो गई थी। पर अभी शान्ति की स्थापना नहीं हुई थी। अब संसार के राजनीतिज्ञों के समुख यही कार्य था, कि वे जहाँ विविध राज्यों के आपस के विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करें, वहाँ साथ ही ऐसे भी कदम उठावें, जिनसे विश्व में शान्ति यदि शाश्वत रूप से नहीं, तो चिर रूप से तो अवश्य स्थापित रहे।

२. युद्ध के मध्य में शान्ति के प्रयत्न

दिसम्बर १९१६ में जब जर्मनी और उसके साथियों का पलड़ा भारी था, जब उन्होंने पोलैण्ड, सर्बिया और रूमानिया पर कब्जा किया हुआ था,

और ऐसा प्रतीत होता था, कि फ्रांस और उसके साथियों की पराजय अवश्यम्भावी है, तो जर्मनी की ओर से शान्ति का प्रयत्न किया गया। उसने प्रस्ताव किया, कि दोनों पक्षों के प्रतिनिधि किसी तटस्थ देश में एकत्र हों, और परस्पर समझौते की शर्तों को तय करें। पर मित्र राज्यों ने इस प्रस्ताव पर कोई ध्यान नहीं दिया। वे भली भाँति जानते थे, कि इस समय सन्धि की बात चलाना जर्मनी को मनमानी करने की खुली छुट्टी देना है। जर्मनी ने मित्र राज्यों के इस रुख का संसार के लोकमत को अपने पक्ष में करने के लिए पूरी तरह से उपयोग किया। जर्मन सम्राट् ने उद्घोषित किया, कि मित्र राज्य युद्ध के लिए और संसार भर पर अपना आधिपत्य कायम करने के लिए कटिबद्ध हैं, और वे शान्ति व समझौते की बात तक भी चलाने के लिए उद्यत नहीं। वे जर्मनी को कुचल देना चाहते हैं। अतः आत्मरक्षा के लिए सब प्रकार के उपायों का अवलम्बन करना जर्मनी के लिए अनिवार्य है। पनडुब्बियों और बारूद की सुरंगों द्वारा जहाजों को डुबा देने की जो प्रक्रिया जर्मनी ने शुरू की, उसके लिए उसके पास यही सब से बड़ी युक्ति थी।

इससे पूर्व कि मित्र राज्यों ने जर्मनी के सन्धि प्रस्ताव को अस्वीकृत किया, अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने १८ दिसम्बर, १९१६ को दोनों पक्षों की सरकारों के पास एक आवेदन पत्र भेजा, जिसमें उसने यह लिखा, कि ऐसा प्रतीत होता है, कि दोनों पक्ष शान्ति चाहते हैं, और इस बात पर भी सहमत हैं, कि छोटे राज्यों की रक्षा होनी चाहिए और संसार के विविध राज्यों को शान्ति की रक्षा के लिए एक प्रकार के विश्वसंघ में भी संगठित होना चाहिए। पर अभी तक किसी भी पक्ष ने यह स्पष्ट रूप से प्रगट नहीं किया, कि युद्ध में सम्मिलित होने के उनके उद्देश्य क्या हैं? अतः उचित यह है, कि पहले दोनों पक्ष अपनी नीति और उद्देश्यों को स्पष्ट कर दें, और फिर शान्ति-स्थापना के लिए सब के प्रतिनिधि एक सभा में एकत्र हों। जर्मनी इस प्रस्ताव से सहमत था, पर मित्रराज्य

इसके लिए भी उद्यत नहीं हुए। राष्ट्रपति विल्सन के आवेदन का उत्तर देते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया, कि शान्ति स्थापना के लिए निम्न-लिखित बातें आवश्यक हैं—(१) युद्ध में जर्मनी व उसके साथियों ने जिन प्रदेशों पर अधिकार किया है, उन सब को वे खाली कर दें। (२) युद्ध में जो धन और जन की हानि हुई है, उसके लिए जर्मनी हरजाना दे। (३) वर्तमान युद्ध से पहले भी जर्मनी व उसके साथियों ने जिन प्रदेशों पर उनकी जनता की सम्मति के विरुद्ध कब्जा किया हुआ था, उन सब को खाली कर दिया जाय। (४) राज्यों का पुनः निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को आधार माना जाय, और इसके अनुसार आल्सेस-लारेन के प्रदेश फ्रांस को और ट्रीएस्त का प्रदेश इटली को दिया जाय। आस्ट्रिया की अधीनता से स्लाव व चेक लोगों को मुक्त करके उनके पृथक् स्वतन्त्र राज्य कायम किये जाँय। पोलैण्ड की स्वतन्त्रता पुनः स्थापित की जाय, और टर्की के साम्राज्य का अन्त कर उसके आधीनस्थ प्रदेशों को स्वतन्त्र कर दिया जाय। साथ ही, जर्मनी के उपनिवेशों को उसकी अधीनता से मुक्त कर दिया जाय।

ज़र्मनी व उसके साथी इन शर्तों को कैसे स्वीकृत कर सकते थे? विशेषतया, उस समय में जब कि सैनिक दृष्टि से उन्हें निरन्तर सफलता प्राप्त होरही थी। उन्होंने घृणा के साथ मित्रराज्यों के प्रस्ताव को ठुकरा दिया, और राष्ट्रपति विलसन ने जिस प्रयत्न को प्रारम्भ किया था, वह सफल नहीं हो सका। मार्च, १९१७ में रशिया में राज्यक्रान्ति होजाने से जर्मनी की शक्ति और भी बढ़ गई। उत्तर व पूर्व में युद्ध बन्द हो जाने से जर्मनी अपनी सारी शक्ति को पश्चिम व दक्षिण के युद्ध क्षेत्रों में लगा देने में समर्थ हुआ और कुछ समय के लिए उस की शक्ति अजेय प्रतीत होने लगी। इस बीच में अमेरिका की सहानुभूति निरन्तर मित्र राज्यों के पक्ष में बढ़ती जाती थी। इस के कारणों पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

रशिया की राज्यक्रान्ति द्वारा एक प्रकार की नास्तिकता की लहर का भी प्रारम्भ हुआ था। वहाँ के बोल्शेविक (साम्यवादी या कम्यूनिस्ट) लोग समझते थे, कि क्रिश्चियन चर्च सदा राजाओं की स्वच्छन्द सत्ता और पूँजीपतियों का साथ देता रहा है। पुराने जमाने के साथ संघर्ष करते हुए उनका चर्च से भी विरोध हो गया और यूरोप के रोमन कैथोलिक चर्च के प्रमुख पोप ने यह अनुभव किया, कि ईसाई धर्म के ऊपर बोल्शेविक क्रान्ति द्वारा जो एक नई विपत्ति आई है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है, कि ईसाई धर्म का अनुसरण करने वाले विविध यूरोपियन राज्य आपस के इस युद्ध को बन्द करदें, और परस्पर मिलकर अपने झगड़ों को निपटा लें। उसने १ अगस्त, १९१७ को दोनों पक्षों के सम्मुख एक सन्धि-प्रस्ताव रखा, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सैनिक शक्ति की अपेक्षा नैतिक शक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाय। (२) सब मिलकर हथियारों को कम करने का निर्णय करें। (३) समुद्र के मार्ग सबके लिए स्वतन्त्र व खुले हों। (४) आपस के झगड़ों को निपटाने के लिए पंचायत की पद्धति का आश्रय लिया जाय। (५) कौन सा प्रदेश किस राज्य के अन्तर्गत हो, इसका फैसला वहाँ के निवासियों की सम्मति के आधार पर हो। (६) युद्ध के लिये किसी से कोई हर्जाना न लिया जाय। (७) युद्ध से पहले जो प्रदेश जिसके पास था, वह उसे फिर लौटा दिया जाय।

पोप के इस सन्धि-प्रस्ताव का उत्तर राष्ट्रपति विल्सन ने दिया। उसकी सम्मति में मित्रराज्यों और जर्मनी व उसके साथियों को एक दृष्टि से देखना युक्तिसंगत नहीं था। जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गेरिया और टर्की में लोकतन्त्र शासन नहीं थे। एकतन्त्र राजाओं के शासन होने से कारण जनता का उन देशों की सरकारों पर कोई प्रभाव नहीं था। शान्ति की बातचीत ऐसी सरकारों के साथ

चलाना व्यर्थ है, जिनका जनता के साथ किसी प्रकार का कोई सम्पर्क न हो ।

छः मास बाद राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिका की कांग्रेस के सम्मुख संसार में शान्ति स्थापना के लिए अपना कार्यक्रम पेश किया । इस के अन्दर कुल चौदह बातें थीं, जिनका संक्षेप के साथ यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है । (१) राज्य आपस की गुप्त सन्धियों और गुप्त समझौतों का अन्त कर दें । (२) राज्यों के बीच में व्यापार व अन्य आर्थिक सम्बन्धों में किसी प्रकार की बाधा न रहे । (३) समुद्र सब के लिए स्वतन्त्र वा खुले हुए रहें । (४) हथियारों में सब राज्य कमी करें । (५) उपनिवेशों का फैसला वहाँ के निवासियों के हितों को दृष्टि में रखकर किया जाय । (६) राष्ट्रीय जीवन की पुनः स्थापना के कार्य में रशिया की सहायता की जाय । (७) बेल्जियम की स्वतन्त्र सत्ता की पुनः स्थापना की जाय । (८) फ्रांस से जर्मन सेनायें हटा ली जाय और आल्सेस-लारेन के प्रदेश फ्रांस को मिल जावें । (९) इटली की राष्ट्रीय सीमाओं का पुनः निर्माण किया जाय । (१०) आस्ट्रिया हंगरी के सामाज्य के अधीनस्थ जातियों को स्वतन्त्र किया जाय । (११) बाल्कन राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता फिर स्थापित की जाय । (१२) तुर्की सामाज्य के अधीन सब तुर्क-भिन्न जातियों को स्वतन्त्र किया जाय और डार्डेनल्स का जलडमरूमध्य सब राज्यों के लिए खुला रख जाय । (१३) पोलैण्ड स्वतन्त्र व पृथक राज्य रहे । (१४) राज्यों एक सूत्र में संगठित करने के लिए एक राष्ट्रसंघ की स्थापना की जाय

राष्ट्रपति विल्सन द्वारा प्रतिपादित इन चौदह सिद्धान्तों के आधार यदि दोनों पक्षों के लोग शान्ति स्थापित करने को तैयार हो जा निःसन्देह यूरोप की बहुत सी समस्यायें सदा के लिए हल हो ज पर जर्मनी और उसके साथी इन सिद्धान्तों को मानने के लिये तै थे । इंगलैण्ड भी इन सिद्धान्तों को पूर्णतया मानने के लिये उद्यत

विल्सन की त्रिमूर्ति ही सब महत्त्वपूर्ण बातों का फैसला करने लगी। महायुद्ध की समाप्ति पर संसार के भाग्य का निबटारा पूरी तरह इन तीन महापुरुषों के हाथ में आ गया। सर्व साधारण जनता की तो बात ही क्या, मित्रराज्यों के राजनीतिज्ञ भी संसार की जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने में कोई आवाज नहीं रखते थे। यह त्रिमूर्ति गुप्तरूप से सब बातों का फैसला किया करती थी।

सन्धि-परिषद् के अधिवेशन खुले तौर पर होते थे। उनमें जनता व दर्शक आ सकते थे। परिषद् में मित्र राज्यों में से प्रत्येक के एक से पाँच तक प्रतिनिधि लिये गये थे। यह परिषद् साधारण वाद-विवाद के बाद 'त्रिमूर्ति' द्वारा किये गये निर्णयों पर 'तथास्तु' कह देने का कार्य किया करती थी।

सन्धि-परिषद् के अधिवेशन चार मास तक होते रहे। यद्यपि कहने को अब भी सब फैसलों का आधार राष्ट्रपति विल्सन द्वारा प्रतिपादित चौदह सिद्धान्त थे, पर वस्तुतः वे सिद्धान्त केवल आदर्श ही थे। क्रिया में उन्हें कोई स्थान नहीं दिया गया था। महायुद्ध में अनेक राज्य इसलिए शामिल हुए थे, क्योंकि फ्रांस और ब्रिटेन ने उन्हें गुप्त सन्धियों द्वारा यह आश्वासन दे दिया था, कि युद्ध की समाप्ति पर उनकी विविध राष्ट्रीय आकांक्षायें पूर्ण कर दी जावेंगी। इटली, रूमानिया, जापान आदि विविध देशों ने इसी प्रकार के गुप्त आश्वासनों के कारण मित्र पक्ष में शामिल होना स्वीकार किया था। अब ब्रिटेन और फ्रांस इसके लिए लाचार थे, कि उन आश्वासनों को पूरा किया जाय, चाहे वे विल्सन के चौदह सिद्धान्तों के विपरीत ही क्यों न हों। इसी प्रकार, राष्ट्रीय महात्त्वाकांक्षायें युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद बहुत उग्ररूप धारण कर गई थीं। ये महत्त्वाकांक्षायें तभी पूर्ण हो सकती थीं, जब परास्त देशों के अधिकारों व न्याय्य मांगों की सर्वथा उपेक्षा की जाय। परिणाम यह हुआ, कि फ्रांस और ब्रिटेन ने सन्धि परिषद् में खूब मन-

मानी की। क्लीमांशो और लायड जार्ज के सम्मुख विल्सन की एक न चली। अटलांटिक पार का यह राजनीतिज्ञ, जिसका सारा जीवन राजशास्त्र के अध्यापन में व्यतीत हुआ था, यूरोप की कूटनीति के सम्मुख सर्वथा शक्तिहीन हो गया, और क्लीमाशो की सारी ताकत इस बात में लग गई, कि बिस्मार्क ने १८७१ में फ्रांस को जो नीचा दिखाया था, उसका पूरी तरह बदला लिया जाय।

(४) वर्साय की सन्धि

चार महीने की मेहनत के बाद आखिर जर्मनी के साथ सन्धि का मसविदा तैयार हुआ, इसमें १००० धारायें थीं और ८०,००० के लगभग शब्द थे। ६ मई १९१९ को यह सन्धि परिषद् के सम्मुख पेश हुआ, और स्वीकृत हो गया। अगले दिन इसे जर्मन सरकार के पास भेज दिया गया, और उन्हें छः सप्ताह का समय दिया गया, जिस बीच में वे इस पर विचार कर सकें, और बातचीत के बाद स्वीकार कर सकें। जर्मन राजनीतिज्ञों ने गम्भीरता के साथ सन्धि के मसविदे पर विचार किया, और अपनी तरफ से ६०,००० शब्दों का एक आवेदनपत्र प्रस्तुत किया, जिसमें अनेक परिवर्तनों की सिफारिश की गई। मित्र राज्यों की प्रधान-समिति (जो वस्तुतः अब क्लीमाशो, लायड जार्ज और विल्सन की त्रिमूर्ति ही थी) ने अपने पहले मसविदे में कुछ मोटे-मोटे परिवर्तन स्वीकार किये, और जर्मन सरकार को यह सूचना दी, कि वे अधिक से अधिक २३ जून, १९१९ तक इस संशोधित मसविदे को अविकल रूप में स्वीकार कर लें। जर्मनी को अब यह अवसर नहीं दिया गया, कि सन्धि के मसविदे के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संशोधन या निवेदन प्रस्तुत कर सके। परास्त जर्मनी के सम्मुख अब अन्य कोई मार्ग न था। २८ जून, १९१९ के दिन जर्मनी के प्रतिनिधि वर्साय के राजप्रासाद के शीशमहल में एकत्र हुए, और उन्होंने सन्धि के मसविदे पर बिना किसी ननु

न्च के हस्ताक्षर कर दिये। १८७१ में वर्साय के इसी राजप्रासाद के इसी शीशमहल में शक्तिशाली जर्मन साम्राज्य की स्थापना की गई थी, और परास्त फ्रांस को जर्मनी द्वारा पेश की गई सन्धि को बिना किसी शर्त के स्वीकार कर लेना पड़ा था। आधी सदी अभी पूरी भी न होने पाई थी, कि क्लीमांशो ने फ्रांस के राष्ट्रीय अपमान का पूरी तरह से बदला ले लिया। फ्रांस का बूढ़ा शेर क्लीमांशो १८७१ में युवा था। उसने अपनी आँखों से फ्रांस की पराजय को देखा था। उसके हृदय में जर्मनी के प्रति विद्वेष की प्रचण्ड अग्नि धधक रही थी। अपनी वृद्धावस्था में जर्मनी को घुटने टेकने के लिए विवश करके क्लीमांशो ने अपने दिल की ज्वाला को अवश्य शान्त कर लिया, पर साथ ही उस विष-वृक्ष के बीज का भी आरोपण कर दिया, जो चौथाई सदी के लगभग समय में ही एक विशाल संहारक वृक्ष के रूप में परिवर्तित हो गया, और जिसके कटुफलों को क्लीमांशो के उत्तराधिकारियों को बुरी तरह से चखना पड़ा।

६ जुलाई को वर्साय की यह सन्धि जर्मनी की राष्ट्रीय सभा के सम्मुख पेश की गई। अब तक वहां प्रतापी कैसर विलियम के शासन का अन्त हो चुका था। रिपब्लिक स्थापित हो गई थी, और लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार शासन होने लग गया था। राष्ट्रीय सभा में २०८ वोट सन्धि के पक्ष में आये, और ११५ विरोध में। परास्त जर्मनी के लिए यही बुद्धिमत्ता थी, कि आँखें मींच कर वर्साय की सन्धि के कड़वे घूँट का चुपचाप पान कर ले। महान् राजनितिज्ञ बिस्मार्क और होहेन्ट्सोलर्न वंश के प्रतापी सम्राटों ने जर्मनी की जिस शक्ति का विकास किया था, वर्साय की सन्धि ने उस सब का अन्त कर दिया।

वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी के प्रदेश का १५ फीसदी उसके हाथ से निकल गया। इसमें से आल्सेस-लारेन के प्रदेश फ्रांस को दिये गये। यूपन, मल्मेडी और मोरेसनेट का कुछ अंश बेल्जियम को मिला।

मेमल का प्रदेश लिथुएनिया को दिया गया। पूर्वी साइलीसिया और पश्चिमी प्रशिया का अधिकांश भाग पोलैण्ड को प्राप्त हुआ। अपर साइलीसिया का कुछ भाग चेकोस्लोवाकिया को और दूसरा भाग पोलैण्ड को दिया गया, और उत्तरी श्लेशविग डेनमार्क को मिला। डान्सिग का प्रसिद्ध बन्दरगाह मित्र राज्यों द्वारा शासित रहे—यह व्यवस्था की गई। इतने प्रदेशों के कट छंट जाने से जर्मनी का अंग-भंग हो गया, और उसका १५ फी सदी प्रदेश, जिसमें जर्मनी की कुल आबादी का दसवाँ हिस्सा निवास करता था, उसके हाथ से निकल गया। चीन में जर्मनी के अधीन जो प्रदेश थे और प्रशान्त महासागर के जिन द्वीपों पर जर्मनी का अधिकार था, वे सब जापान को मिल गये। अफ्रीका में जो उपनिवेश जर्मनी ने कायम किये थे, उन्हें ब्रिटेन, फ्रांस और बेल्जियम ने आपस में बाँट लिया।

इसमें सन्देह नहीं, कि जर्मनी का यह अंग भंग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से बड़े महत्त्व का था। आल्सेस-लारेन के प्रदेश व्यावसायिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। ये प्रदेश फ्रांस और जर्मनी की सीमा पर स्थित हैं, और इनमें फ्रेंच और जर्मन दोनों भाषायें बोली जाती हैं। १८७१ से पूर्व ये फ्रांस के अंग थे। बिस्मार्क ने फ्रांस को परास्त कर इन्हें जर्मनी के साथ मिला लिया था। आल्सेस-लारेन के साथ ही सार के प्रदेश को भी जर्मनी से अलग कर लिया गया। उत्तरी फ्रांस में जर्मन सेनाओं ने जो फ्रेंच व्यवसायों का विध्वंस किया था, उसके प्रतिशोध के लिए सार का व्यवसाय-प्रधान प्रदेश राष्ट्रसंघ के संरक्षण में एक कमीशन के शासन में दे दिया गया। इस कमीशन में फ्रेंच लोगों की प्रधानता थी। यह व्यवस्था की गई थी, कि १५ साल के बाद लोकमत द्वारा यह निश्चय किया जाय, कि सार पर किसका कब्जा रहे। यदि सार की जनता जर्मनी के साथ रहने का निर्णय करे, तो फ्रांस ने वहाँ की कोयले की खानों के लिए जो खर्च किया हो, उसकी कीमत जर्मनी अदा

करे। इस प्रकार, जर्मनी का एक अच्छा खासा इलाका फ्रांस के हाथ में दे दिया गया था। उत्तर और पूर्व में जर्मनी के अनेक प्रदेश चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड के हाथ आये थे। चेकोस्लोवाकिया के रूप में चेक व स्लाव लोगों ने जो नया राष्ट्र बनाया था, उसमें जर्मन बोलने वाले जर्मन नसल के लोग काफी संख्या में थे। निःसन्देह, चेकोस्लावाकिया की यह बड़ी कमजोरी थी। जर्मन लोग अनुभव करते थे, कि चेकोस्लोवाकिया के ये जर्मन निवासी उनके राष्ट्र के अंग हैं। यही दशा पोलैण्ड में भी थी। राष्ट्रीय उत्कर्ष के जोश में पोलैण्ड ने अनेक ऐसे प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था, जिनके बहुसंख्यक निवासी जर्मन थे। साथ ही, समुद्र तक अप्रतिहत प्रवेश रखने के लिए पोलैण्ड ने डान्सिग के बन्दरगाह को एक 'स्वतन्त्र नगर' के रूप में परिवर्तित करा लिया था, और डान्सिग तक पहुँचने के लिए एक गलियारा (कॉरिडोर) जर्मनी के बीच से प्राप्त कर लिया था। इस गलियारे के कारण पूर्वी प्रशिया शेष जर्मनी से बिलकुल अलग पड़ गया था। राष्ट्रपति विल्सन ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था—उनका यह कितना भयंकर उपहास था! जर्मनी जैसा वीर व प्रतापी देश यह कैसे सहन कर सकता था, कि उसके अपने प्रदेश में से पोलैण्ड के लिए एक गलियारा दिया जाय, और इस प्रकार उसके शरीर को दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया जाय। पर विजयमद में मस्त मित्रराज्यों ने इस बात पर जरा भी ध्यान नहीं दिया, कि जर्मनी का इस प्रकार अंग-भंग कर वे भविष्य के लिए कितने खतरनाक काँटे बो रहे हैं। अफ्रीका में जर्मनी का जो साम्राज्य था, उसके निवासियों की संख्या सवा करोड़ से भी अधिक थी। उसका ४२ फी सदी ब्रिटेन को, ३३ फी सदी फ्रांस को और २५ फी सदी बेल्जियम को मिला। विल्सन के सिद्धान्तों के अनुसार इन उपनिवेशों का भाग्य-निर्णय वहाँ के निवासियों की सम्मति के अनुसार होना चाहिए था। पर जिन देशों में ये उपनिवेश बाँट दिये गये थे, उनका इन पर इसके

सिवा कोई अधिकार न था, कि वे विजेता थे। विल्सन के सिद्धान्तों का एक प्रकार से उपहास करने लिए व्यवस्था यह की गई थी, कि जर्मन उपनिवेशों पर जो कब्जा ब्रिटेन, फ्रांस और बेल्जियम को दिया गया है, वह वस्तुतः राष्ट्रसंघ का है, और ये देश राष्ट्रसंघ की ओर से उपनिवेशों का सुशासन और सुव्यवस्था मात्र करने के लिए नियत किये गये हैं।

वर्साय की सन्धि से जर्मनी का केवल अंग भंग ही नहीं किया गया, अपितु उसे बहुत बड़ी मात्रा में हरजाना देने के लिए भी विवश किया गया। यह माना गया, कि युद्ध के लिए सारी उत्तरदायिता जर्मनी की है, और युद्ध के कारण जो क्षति फ्रांस व अन्य मित्रराज्यों को हुई है, उसकी पूर्ति करना उसका कर्तव्य है। हरजाने की मात्रा एक खरब (दस हजार करोड) रुपया नियत की गई। इसमें से १५ अरब (१५०० करोड) रुपया मई, १६२१ तक जर्मनी प्रदान करदे, और बाद में एक अरब पचास करोड़ (१५० करोड) रुपया हर साल देता रहे। हरजाने की यह मात्रा कितनी अधिक थी, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। पर मित्रराज्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हुए। यद्यपि कोयले की खानों के सभी मुख्य-मुख्य प्रदेश, यथा सार और आल्सेस-लारेन, उसके हाथ से ले लिये गये थे, फिर भी यह व्यवस्था की गई, कि जर्मनी ७० लाख टन कोयला प्रतिवर्ष फ्रांस को दे, ८० लाख टन प्रतिवर्ष बेल्जियम को दे और इतना ही हर साल इटली को प्रदान करे। फ्रांस, इटली और बेल्जियम दस साल तक इस परिमाण में कोयला जर्मनी से प्राप्त करते रहे। बाद में कोयले की यह मात्रा घटाकर ६० लाख टन प्रतिवर्ष कर दी गई, और जर्मनी को यह भी सुविधा दी गई, कि वह कोयले की जगह पर उसकी कीमत दे सके। इतना ही नहीं, जर्मनी को अपने व्यापारी जहाजों का बडा हिस्सा मित्रराज्यों के सुपुर्द करना पडा। जो जहाज जर्मनी ने हरजाने के रूप में मित्रराज्यों को प्रदान किये, उनका बोझ बीस लाख टन से भी अधिक था। यह ध्यान में रखना चाहिए, कि

जर्मनी के पास जो भी जंगी जहाज, पनडुब्बियाँ व बारूदी सुरंगें थीं, उन सबको युद्ध बन्द करते हुए क्षणिक संधि के समय में ही मित्रराज्यों ने अपने अधिकार में कर लिया था। अब व्यापारी जहाजों के भी बड़े हिस्से पर कब्जा करके मित्रराज्यों ने जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति को बिलकुल खतम् कर दिया था। जर्मनी के उत्तर में कील कैनाल जर्मन नौसेना का बड़ा केन्द्र था। अब उसे सब राज्यों के लिए खुला कर दिया गया था, ताकि जर्मनी फिर वहाँ अपनी सामुद्रिक किलाबन्दी न कर सके।

वर्साय की सन्धि की कुछ अन्य महत्वपूर्ण शर्तें ये थीं—(१) मित्रराज्यों को यह स्वतन्त्रता हो, कि वे आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गेरिया, टर्की और रशिया के साथ पृथक् रूप से सन्धि कर सकें, जर्मनी को इन सन्धियों से कोई वास्ता न हो। (२) जर्मनी में बाधित सैनिक सेवा की पद्धति का अन्त किया जाय (३) जर्मनी की सेना में सैनिकों की संख्या एक लाख से अधिक न बढ़ने पावे। (४) अस्त्र-शस्त्र, हवाई जहाज और अन्य युद्धोपयोगी सामग्री को बनाने वाले जर्मन कारखाने मित्रराज्यों के नियन्त्रण में रहें, और जर्मनी एक निश्चित मात्रा से अधिक इस सामग्री का निर्माण न कर सके। (५) र्‌हाइन नदी के दक्षिणी तट पर तथा फ्रांस और जर्मनी की सीमा के प्रदेश में जो किलाबन्दी जर्मनी ने की थी, उस सबको नष्ट कर दिया जाय। (६) र्‌हाइन नदी के दक्षिण के प्रदेश पर तब तक मित्रराज्यों का कब्जा रहे, जब तक कि जर्मनी सन्धि की सब शर्तों का भलीभाँति पालन न कर ले और सब हरजाना पूरी तरह अदा न कर दे। (७) मित्रराज्यों को यह अधिकार हो, कि वे सम्राट् विलियम द्वितीय और उसके प्रमुख साथियों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने का मुकदमा चला सकें।

इसमें सन्देह नहीं, कि ये सब शर्तें जर्मनी के लिए बहुत ही अपमानजनक थीं। पर इन्हें आँख मींचकर स्वीकार करने के लिए जर्मन

लोग विवश थे। इसी लिए उनका यह कहना था, कि यह कोई ऐसी सन्धि नहीं है, जो दोनों पक्ष के लोग आपस में विचार विनिमय द्वारा करते हैं। यह सन्धि तो मित्रराज्यों के आदेश पर, उनके हुकुम पर आश्रित है, जिसे स्वीकार करने के सिवा अन्य कोई मार्ग है ही नहीं।

वर्साय की सन्धि द्वारा यह भी उद्योग किया गया, कि संसार में युद्धों का अन्त करने के लिए और इस व्यवस्था के लिए, कि विविध राज्य परस्पर सहयोग से कार्य करें, और आपस के झगड़ों का फैसला युद्ध के अतिरिक्त अन्य शान्तिमय उपायों से करने में समर्थ हों, एक राष्ट्रसंघ की स्थापना की जाय। साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन व अन्य अनेक संस्थाओं का भी निर्माण किया गया। इन पर हम आगे चलकर विस्तार से विचार करेंगे।

५. सां जर्मे की सन्धि

आस्ट्रिया के साथ जो सन्धि हुई, उस पर पेरिस के समीप सां जर्मे के प्राचीन राजमहल में हस्ताक्षर हुए थे। इसी लिए वह सां जर्मे की सन्धि कहाती है। यह सन्धि १० सितम्बर, १९१९ को हुई थी। इस सन्धि के अनुसार हंगरी, पौलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया के पृथक् स्वतन्त्र राज्यों की सत्ता को आस्ट्रिया ने स्वीकार किया। आस्ट्रिया-हंगरी के प्राचीन साम्राज्य में बहुत-सी विभिन्न जातियाँ निवास करती थीं। इनमें राष्ट्रीय भावना का भली भाँति विकास हो गया था, और युद्ध के अवसर पर इनके नेताओं ने यह अनुभव किया था, कि मित्र राज्यों की सहायता से वे अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना कर सकते हैं। अब इन विविध जातियों के पृथक् स्वतन्त्र राज्य कायम कर दिये गये, और वे आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त हो गये। आस्ट्रिया में भी प्राचीन हाप्सबुर्ग राजवंश का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हो गई। अब जो आस्ट्रिया बचा, उसका क्षेत्रफल आयर्लैण्ड से भी कम

था, उसकी आबादी केवल ७० लाख थी, और यह व्यवस्था की गई थी, कि उसकी सेना में तीस हजार से अधिक सैनिक न हो सकें।

आस्ट्रिया पर भी युद्ध की उत्तरदायिता का दोष लगा कर हरजाने की एक बड़ी मात्रा लाद दी गई। उसके भी जहाज जब्त कर लिये गये। आस्ट्रिया का अंग-भंग करके उसे एक छोटे से राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया, और साथ ही हरजाने का भारी बोझ भी उस पर लाद दिया गया। इस बोझ के कारण आस्ट्रिया की आर्थिक दशा बिलकुल खराब हो गई, और उसके लिए अपनी आर्थिक जिम्मेवारियों को अपनी आमदनी से पूरा कर सकना असम्भव हो गया। कई सालों तक वहाँ बिलकुल अव्यवस्था मची रही। बाद में राष्ट्र-संघ को विवश होकर आस्ट्रिया की आर्थिक दशा को सम्भालने के लिए सहायता प्रदान करना स्वीकार करना पड़ा।

६. न्वीय्यी की सन्धि

२७ नवम्बर, १९१९ को बल्गेरिया के साथ सन्धि की गई। यह सन्धि पेरिस के समीप न्वीय्यी में की गई थी। इसी लिए यह न्वीय्यी की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार बल्गेरिया ने डोबरुद्जा का प्रदेश रूमानिया को, थ्रेस का प्रदेश ग्रीस को और मैसीडोनिया का अधिकांश प्रदेश सर्बिया को देना स्वीकार किया। बीसवीं सदी के शुरू के बालकन प्रायद्वीप के युद्धों में बल्गेरिया ने जो कुछ भी प्राप्त किया था, वह सब अब उसके हाथ से निकल गया। अब कोई भी समुद्र-तट उसके हाथ में नहीं रह गया, और उसकी जन-संख्या केवल ४५ लाख रह गई। यह व्यवस्था की गई, कि उसकी सेना में बीस हजार से अधिक सैनिक न रहें। युद्ध के लिए बल्गेरिया को भी दोषी ठहराया गया, और ४५ लाख की आबादी के इस छोटे से देश पर डेढ़ अरब (१५० करोड़) के लगभग हरजाने की मात्रा लाद दी गई। यह हरजाना बल्गेरिया को

३७ सालों में अदा करना था। हरजाने की इस भारी मात्रा के अतिरिक्त अन्य भी अनेक आर्थिक दंड बल्गेरिया को दिये गये। न्वीय्यी की सन्धि ने बाल्कन प्रायद्वीप में निवास करने वाली विविध जातियों के साथ न्याय नहीं किया। इस प्रायद्वीप में अनेक जातियाँ निवास करती हैं। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार उनका विभाग करना और राष्ट्रीय सीमाओं को नियत कर सकना सुगम बात नहीं है। पर मैसिडोनिया के प्रदेश को बल्गेरिया से ले लेना एक ऐसी बात थी, जिससे बल्गेरिया की समस्या सुलझने के बजाय और भी उलझ जाती थी। यही कारण है, कि न्वीय्यी की सन्धि के बाद कई सालों तक बाल्कन प्रायद्वीप में गृह-कलह जारी रहा। अनेक क्रान्तिकारी नेताओं ने अपने दल एकत्र कर इस क्षेत्र में युद्ध की अग्नि को पुनः प्रज्वलित कर दिया।

७. सेव्र की सन्धि

१० अगस्त, १६२० को टर्की के साथ सन्धि हुई, जो सेव्र की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि द्वारा थ्रेस का प्रदेश और ईजियन सागर में विद्यमान सब द्वीप ग्रीस को प्राप्त हुए। स्मर्ना के प्रदेश पर भी ग्रीस का शासन स्थापित किया गया, पर इस शर्त के साथ कि पाँच साल बाद वहाँ लोकमत लिया जायगा, और यदि लोकमत द्वारा यह तय हो, कि वहाँ के निवासी ग्रीस के साथ ही रहना चाहते हैं, तो स्मर्ना का प्रदेश स्थिर रूप से ग्रीस को दे दिया जायगा। डोडेकनीज द्वीपसमूह, र्होड्स और अनातोलिया के प्रदेश इटली को दिये गये। मैसोपोटामिया और पैलेस्टाइन ब्रिटेन के शासन में दिये गये, और सीरिया पर फ्रांस का अधिकार स्थापित किया गया। आर्मीनिया और हज्जाज को स्वतन्त्र कर दिया गया। ईजिप्ट को ब्रिटेन के संरक्षण में दिया गया, और कुर्दिस्तान को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। साइप्रस ब्रिटिश साम्राज्य का एक उपनिवेश बना दिया गया। डार्डेनल्स

के जलडमरूमध्य को एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन के अधीन कर दिया गया, ताकि वह किसी एक राज्य के प्रभुत्व में न रहे।

इस प्रकार तुर्की साम्राज्य के सम्बन्ध में जो नई व्यवस्था हुई, उसके अनुसार चार लाख चालीस हजार वर्ग मील जमीन टर्की के हाथ से निकल गई। अब उसकी आबादी केवल ८० लाख रह गई, और एक करोड़ बीस लाख व्यक्ति उसकी आधिनता से मुक्त हो गये। यह व्यवस्था की गई, कि टर्की की सेना में सैनिकों की संख्या पचास हजार से अधिक न बढ़ने पावे। टर्की के पास जल सेना बिलकुल भी नहीं रहने दी गई, और उसे एक छोटे से शक्तिहीन राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

यूरोप के ईसाई लोग बहुत समय से इस बात के लिए उत्सुक थे, कि टर्की का यूरोप में प्रवेश न रहे। इस विधर्मी मुसलिम राज्य का यूरोप में रहना उन्हें बहुत खलता था। सेव्र की सन्धि द्वारा यूरोप में टर्की के प्रदेशों की प्रायः समाप्ति हो गई। अब वह प्रधानतया एक एशियाई राज्य ही रह गया।

महायुद्ध की समाप्ति पर विविध सन्धियों द्वारा यूरोप में जो नई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की गई, उसके अनुसार अनेक नये राज्यों का निर्माण हुआ। इनमें पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया पुराने आस्ट्रिया-हंगरी के भग्नावशेषों पर कायम हुए। इनके अतिरिक्त फिनलैण्ड, लिथुएनिया, एथोनिया और लेटविया—ये चार राज्य रशिया से पृथक् होकर स्वतन्त्ररूप से स्थापित किये गये। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन हुआ। हम इन सब विषयों पर आगे चल कर यथास्थान विचार करेंगे।

वयालीसवाँ अध्याय

महायुद्ध के परिणाम

१. जन और धन का विनाश

महायुद्ध में ३२ राज्य एक पक्ष में और ४ राज्य दूसरी पक्ष में थे। संसार भर में केवल चौदह ऐसे राज्य बचे थे, जो इस युद्ध में तटस्थ रहे थे। इनमें से ६ यूरोप में, ७ अमेरिका में और १ अफ़्रीका में है। संसार के अन्य सब राज्य फ्रांस और ब्रिटेन या जर्मनी का पक्ष लेकर युद्ध के मैदान में उतर आये थे। इतिहास में पहले कभी इतने सारे राज्य एक साथ रण-क्षेत्र में नहीं उतरे थे। जर्मनी और उसके साथियों ने दो करोड़ आदमी युद्ध के लिए सैनिक व उनके सहायक के रूप में तैयार किये थे। मित्र राज्यों कें सैनिकों की संख्या इससे दुगनी थी। इस प्रकार छः करोड़ आदमी युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग ले रहे थे। परोक्ष रूप से युद्ध में हिस्सा बटानेवाले लोगों की संख्या तो इससे कई गुना थी। वस्तुतः, युद्ध में सम्मिलित ३६ राज्यों की सारी जनता किसी न किसी रूप में युद्धकार्य में सहायता पहुँचा रही थी।

इस महायुद्ध में कुल मिलाकर अस्सी लाख आदमी मारे गये। घायलों की संख्या एक करोड़ नब्बे लाख रही, इनमें साठ लाख ऐसे घायल भी शामिल हैं, जो बिलकुल अपाहिज हो गये थे। जर्मनी व उसके साथियों के तीस लाख आदमी मारे गये और अस्सी लाख घायल हुए। मित्र राज्यों के पचास लाख आदमी मरे और ए करोड़ दस लाख घायल हुए। इनके अतिरिक्त, सत्तर लाख से भी अधि आदमी दोनों पक्षों में मिलाकर ऐसे थे, जो लापता थे। इस प्रकार महा

में तीन करोड़ बीस लाख आदमी या तो जान से मारे गये, या खोये गये और या बुरी तरह से घायल हुए। दोनों पक्षों ने कुल मिलाकर छः करोड़ सैनिक व उनके सहायक भरती किये थे। इनमें से आधे से भी अधिक युद्ध में काम आ गये। संसार के इतिहास में इससे पहले शायद कोई ऐसा युद्ध नहीं हुआ, जिसमें इतने मनुष्यों का संहार हुआ हो।

सैनिकों के अतिरिक्त नागरिकों को भी समुद्र व हवाई लड़ाई के कारण जान का बहुत नुकसान उठाना पड़ा। ६६२ अमेरिकन और २०,६२० ब्रिटिश नागरिक जहाज डुबा देने के कारण समुद्र में मारे गये। १२७० ब्रिटिश नागरिक हवाई गोलाबारी के शिकार हुए। तुर्क लोगों ने अपनी ईसाई या यहूदी प्रजा पर जो अत्याचार किये, उनके कारण लाखों नागरिकों का संहार हुआ। महायुद्ध के बाद जो महामारियाँ यूरोप में फैलीं, उनमें चालीस लाख से भी अधिक आदमी मृत्यु को प्राप्त हुए। सैनिकों और नागरिकों का करोड़ों की संख्या में यह संहार बहुत ही भयंकर था। युद्ध में जो सैनिक मारे गये, वे सब जवान थे। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से वे अपने देशों के सबसे अच्छे लोग थे। उनका इतनी बड़ी संख्या में मारा जाना यूरोप के लिए बहुत ही हानिकारक हुआ। १६१६ के बाद यूरोप में सर्वत्र जो एक प्रकार का आर्थिक ह्रास सा प्रतीत होता था, उसका बड़ा कारण वहाँ के नवयुवकों का इतनी बड़ी संख्या में मारा जाना ही था।

महायुद्ध में कितना खर्च हुआ, इसका हिसाब अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार लगाया है—

पहले साल में—	६०,०००,०००,०००	(छः हजार करोड़)
दूसरे साल में—	१००,०००,०००,०००	(दस हजार करोड़)
तीसरे साल में—	१२५,०००,०००,०००	(सादे बारह हजार करोड़)
चौथे साल में—	३००,०००,०००,०००	(तीस हजार करोड़)
सर्वयोग	५८५,०००,०००,०००	(सादे अट्ठावन हजार करोड़)

यह विशाल धन-राशि चार साल में युद्ध मे सम्मिलित दोनो पक्षों ने फूँक कर धर दी। सन् १९१८ में संयुक्तराज्य की सारी सम्पत्ति इससे अधिक कीमत नहीं रखती थी। ब्रिटिश साम्राज्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति की कीमत इस विशाल धनराशि से कम थी। इसमें से एक तिहाई खर्च जर्मनी और उसके साथियों का हुआ, और दो तिहाई मित्र राज्यो का। महायुद्ध का औसतन दैनिक खर्च चालीस करोड़ रुपया था, और १९१८ में तो खर्च का औसत साढ़े तीन करोड़ रुपया प्रति घंटा पड़ता था।

इस असाधारण खर्च के कारण संसार के सार्वजनिक ऋणों की मात्रा में भी असाधारण रूप से वृद्धि हो गई। १९१४ में दोनों पक्षों के प्रमुख राज्यों का कुल सार्वजनिक ऋण आठ हजार करोड़ था, १९१८ में यह बढ़ कर चालीस हजार करोड़ हो गया। सार्वजनिक ऋण की मात्रा में पाँच गुने की वृद्धि हो जाना यह भली भाँति सूचित करता है, कि युद्ध में सम्मिलित राज्यों को किस प्रकार ऋण के बोझ से लद जाना आवश्यक हो गया था।

महायुद्ध में जो खर्च हुआ, उसके अतिरिक्त सम्पत्ति का भी बड़ा भारी विनाश युद्ध के कारण हुआ। इसका हिसाब अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार लगाया है—

जमीन पर सम्पत्ति का विनाश—१००,०००,०००,००० (दस हजार करोड़)

समुद्र में सम्पत्ति का विनाश—२५,०००,०००,००० (ढाई हजार करोड़)

तटस्थ देशों की सम्पत्ति का विनाश—७,०००,०००,००० (सात सौ करोड़)

सर्वयोग—१३२,०००,०००,०००(तेरह हजार दो सौ करोड़)

इतने भारी धन-विनाश का परिणाम यह हुआ, कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगीं, मजदूरी की दर भी ऊँची उठने लगी, पैदावार बहुत

में तीन करोड बीस लाख आदमी या तो जान से मारे गये, या खोये गये और या बुरी तरह से घायल हुए। दोनों पक्षों ने कुल मिलाकर छः करोड सैनिक व उनके सहायक भरती किये थे। इनमें से आधे से भी अधिक युद्ध में काम आ गये। संसार के इतिहास में इससे पहले शायद कोई ऐसा युद्ध नहीं हुआ, जिसमें इतने मनुष्यों का संहार हुआ हो।

सैनिकों के अतिरिक्त नागरिकों को भी समुद्र व हवाई लडाई के कारण जान का बहुत नुकसान उठाना पडा। ६९२ अमेरिकन और २०,६२० ब्रिटिश नागरिक जहाज डुबा देने के कारण समुद्र में मारे गये। १२७० ब्रिटिश नागरिक हवाई गोलाबारी के शिकार हुए। तुर्क लोगों ने अपनी ईसाई या यहूदी प्रजा पर जो अत्याचार किये, उनके कारण लाखों नागरिकों का संहार हुआ। महायुद्ध के बाद जो महामारियाँ यूरोप में फैली, उनमें चालीस लाख से भी अधिक आदमी मृत्यु को प्राप्त हुए। सैनिकों और नागरिकों का करोड़ों की संख्या में यह संहार बहुत ही भयंकर था। युद्ध में जो सैनिक मारे गये, वे सब जवान थे। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से वे अपने देशों के सबसे अच्छे लोग थे। उनका इतनी बड़ी संख्या में मारा जाना यूरोप के लिए बहुत ही हानिकारक हुआ। १९१९ के बाद यूरोप में सर्वत्र जो एक प्रकार का आर्थिक ह्रास सा प्रतीत होता था, उसका बड़ा कारण वहाँ के नवयुवकों का इतनी बड़ी संख्या में मारा जाना ही था।

महायुद्ध में कितना खर्च हुआ, इसका हिसाब अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार लगाया है—

पहले साल में—	६०,०००,०००,०००	(छः हजार करोड़)
दूसरे साल में—	१००,०००,०००,०००	(दस हजार करोड़)
तीसरे साल में—	१२५,०००,०००,०००	(साढ़े बारह हजार करोड़)
चौथे साल में—	३००,०००,०००,०००	(तीस हजार करोड़)
सर्वयोग	५८५,०००,०००,०००	(साढ़े अट्ठावन हजार करोड़)

यह विशाल धन-राशि चार साल में युद्ध मे सम्मिलित दोनो पक्षो ने फूँक कर धर दी। सन् १९१८ में संयुक्तराज्य की सारी सम्पत्ति इससे अधिक कीमत नहीं रखती थी। ब्रिटिश साम्राज्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति की कीमत इस विशाल धनराशि से कम थी। इसमें से एक तिहाई खर्च जर्मनी और उसके साथियों का हुआ, और दो तिहाई मित्र राज्यों का। महायुद्ध का औसतन दैनिक खर्च चालीस करोड़ रुपया था, और १९१८ में तो खर्च का औसत साढ़े तीन करोड़ रुपया प्रति घंटा पड़ता था।

इस असाधारण खर्च के कारण संसार के सार्वजनिक ऋणों की मात्रा में भी असाधारण रूप से वृद्धि हो गई। १९१४ में दोनों पक्षों के प्रमुख राज्यों का कुल सार्वजनिक ऋण आठ हजार करोड़ था, १९१८ में यह बढ़ कर चालीस हजार करोड़ हो गया। सार्वजनिक ऋण की मात्रा में पाँच गुने की वृद्धि हो जाना यह भली भाँति सूचित करता है, कि युद्ध में सम्मिलित राज्यों को किस प्रकार ऋण के बोझ से लद जाना आवश्यक हो गया था।

महायुद्ध में जो खर्च हुआ, उसके अतिरिक्त सम्पत्ति का भी बड़ा भारी विनाश युद्ध के कारण हुआ। इसका हिसाब अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार लगाया है—

जमीन पर सम्पत्ति का विनाश—१००,०००,०००,००० (दस हजार करोड़)

समुद्र में सम्पत्ति का विनाश—२५,०००,०००,००० (ढाई हजार करोड़)

तटस्थ देशों की सम्पत्ति का विनाश—७,०००,०००,००० (सात सौ करोड़)

सर्वयोग—१३२,०००,०००,०००(तेरह हजार दो सौ करोड़)

इतने भारी धन-विनाश का परिणाम यह हुआ, कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगीं, मजदूरी की दर भी ऊँची उठने लगी, पैदावार बहुत

कम रह गई, मुद्रा की कीमत बुरी तरह नीचे जानी शुरू हुईं, औ
व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्रों में एक प्रकार की अव्यवस्था सी उत्पन्न हे
गई। सरकारों को अपना बजट बराबर करना कठिन हो गया। न
टैक्स लगाये गये, और लोग सब तरह से आर्थिक संकट का अनुभव कर
लगे। इस दशा से छुटकारा पाने के लिये यूरोप को कई साल लगे।

२. राजनीतिक परिणाम

महायुद्ध के राजनीतिक परिणाम इतने महत्वपूर्ण थे, कि इस
बाद यूरोप में एक नवयुग का प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार १७८६ में फ्रा
की राज्यक्रान्ति के बाद यूरोप में एक नवयुग का सूत्रपात हुआ थ
वैसे ही अब १६१८ के बाद हुआ। महायुद्ध के इन राजनीतिक परिवर्त
का यहाँ से संक्षेप उल्लेख करना आवश्यक है।

(१) एकतन्त्र शासनों का अन्त—फ्रांस की राज्यक्रांति से यूरे
में लोकतंत्र शासनों का जो श्रीगणेश हुआ था, अब उनका पूरी त
से विकास हुआ। १७८६ में फ्रांस के बोर्बों राजवंश का अन्त होकर व
रिपब्लिक की स्थापना हुई थी। अब जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और रशि
के प्राचीन गौरवशाली राजवंशों का अन्त होकर इन सब देशों में रि
ब्लिक स्थापित हुईं। आस्ट्रिया-हंगरी के हाप्सबुर्ग सम्राट प्राचीन प
रोमन सम्राटों उत्तराधिकारी थे। पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त
चुका था, पर हाप्सबुर्ग सम्राट अभी तक भी उसकी परम्परा व स्मृ
को कायम किये हुए थे। फ्रांस की राज्यक्रांति की लहर उन्हें कोई क्ष
नहीं पहुँचा सकी थी। १८३० और १८४८ की क्रान्ति की लहरें भी इ
पुराने राजवंश को कोई नुकसान नहीं पहुँचा पाई थीं। पर अब १६
में यह प्राचीन राजवंश सदा के लिये समाप्त हो गया, और इसका विश
साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। रशिया के सम्राट अपने स्वेच्छाचार अ
अबाधित सत्ता के लिये अद्वितीय थे। बीसवी सदी में भी उनके सुविस
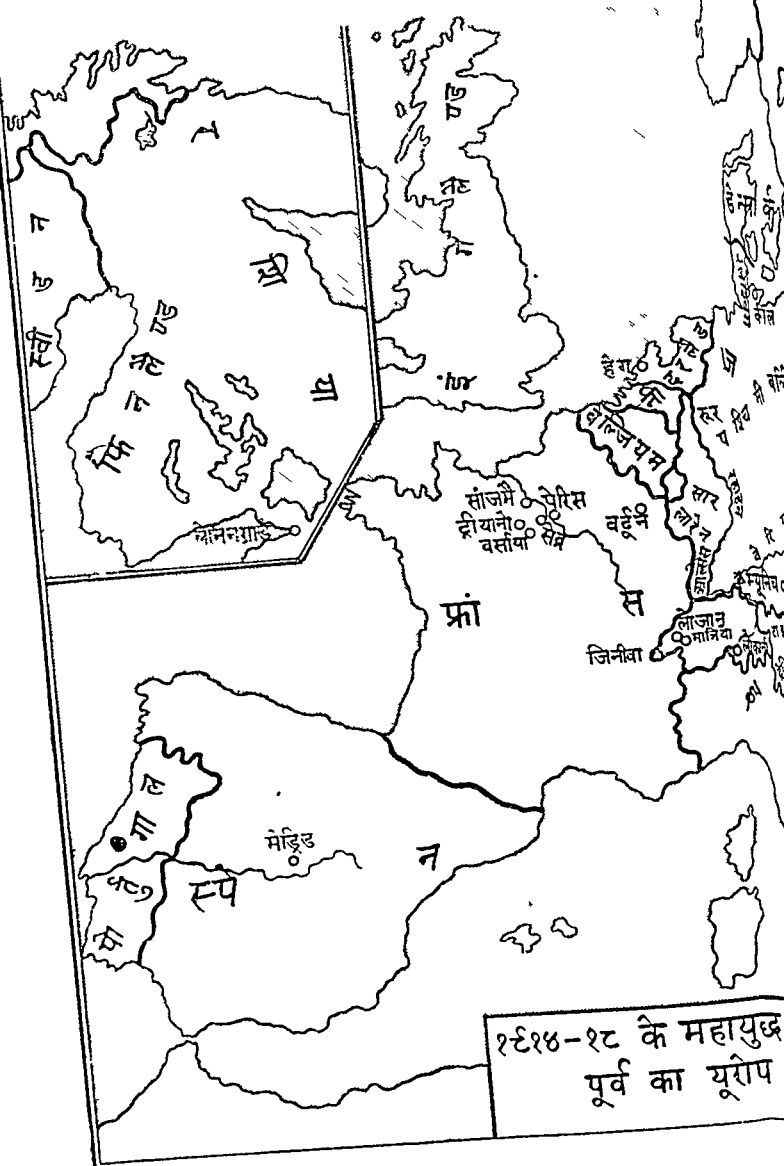
पेरिस
वर्साय
वर्दून
प्रां
स
सार
जिनीवा
मेड्रिड
स्पे
न
बेल्जियम
१९१४-१८ के महायुद्ध
पूर्व का यूरोप

साम्राज्य में प्रजा के अधिकार, स्वतन्त्र विचार और लोकमत जैसी 'फिजूल' बातों का प्रवेश नहीं हो पाया था। रशिया के ये सम्राट अब भी वैसे ही वैभव और गर्व के साथ रहते थे, जैसे कभी फ्रांस के बोर्बों सम्राट् स्वेच्छाचार और शान के साथ राज्य करते थे। जैसे कोई पुराना खोखला वृक्ष आँधी के वेग से लड़खड़ा कर गिर पड़ता है, वैसे ही अब रशिया का प्राचीन राजवंश क्रान्ति के धक्के से धराशायी हो गया। यही दशा जर्मनी के होहेन्ट्सोलर्न वंश की हुई। ये सम्राट अपनी वीरता और सैनिक शक्ति के मद से बहुत उद्धत थे। महायुद्ध में परास्त होकर इन्हें अपनी राजगद्दी से हाथ धोना पड़ा, और जर्मनी में भी रिपब्लिक की स्थापना हो गई। सम्राट् विलियम द्वितीय जर्मनी का सम्राट था, और प्रशिया का राजा। उसके अतिरिक्त जर्मनी में बवेरिया आदि राज्यों के अन्य भी अनेक राजवंश थे। होहेन्ट्सोलर्न राजवंश के साथ साथ उनकी भी समाप्ति हो गई। बल्गेरिया का राजवंश भी देर तक कायम नहीं रह सका, और कुछ साल बाद १९२५ में टर्की में भी सुलतान के एकतन्त्र शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई। टर्की के ये सुलतान केवल सम्राट् ही नहीं थे, अपितु खलीफा भी थे। संसार भर के मुसलमान इनको अपना धर्मगुरु भी मानते थे। अब न केवल टर्की की प्राचीन सल्तनत का अन्त हुआ, पर साथ ही खलीफत की भी इतिश्री हो गई। निःसन्देह, १९१८ में महायुद्ध की समाप्ति पर संसार में एक भारी क्रान्ति हुई थी, और १७८९ में लोकतन्त्रवाद की जिस लहर का प्रारम्भ हुआ था, उसने पृथिवी के बहुत बड़े भाग को व्याप्त कर लिया था।

(२) नई रिपब्लिकों की स्थापना—१८१४ में यूरोप में केवल एक राज्य में रिपब्लिकन शासन था। उन्नीसवीं सदी में केवक दो अन्य देशों में रिपब्लिकन शासन स्थापित हुए थे। १९१४ में जब महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड और पोर्तुगाल-केवल ये तीन देश ऐसे थे, जहाँ रिपब्लिक विद्यमान थीं। शेष सब यूरोपियन देशों में

राजाओं का शासन था। इसमें सन्देह नहीं, कि उन्नीसवीं सदी में यूरोप में लोकतन्त्रवाद का काफी विस्तार हुआ, पर उस काल की जनता इतने से संतुष्ट थी, कि पार्लियामेंट में लोकमत का प्रभाव बढ़ता रहे और विविध शासन सुधारों द्वारा नागरिकों को वोट का अधिकार व मन्त्रिमण्डल पर जनता का प्रभाव स्थापित होता रहे। राजगद्दियों का अन्त करके रिपब्लिक की स्थापना होनी चाहिए, इसकी आवश्यकता लोग उन्नीसवीं सदी में विशेष रूप से नहीं समझते थे। पर अब महायुद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप में रिपब्लिकों की बाढ़ सी आ गई। रशिया, जर्मनी, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, लिथुएनिया, लैटविया, एस्थोनिया, फिनलैण्ड और युक्रेनिया-ये दस नई रिपब्लिक अब यूरोप में कायम हुईं। यूरोप के बाहर एशिया और अफ्रीका में भी बहुत-सी नई रिपब्लिक इस समय स्थापित हुईं, और संसार के बहुसंख्यक राज्यों में ऐसा शासन कायम हुआ, जिसमें कोई वंश क्रमानुगत राजा नहीं होता था, अपितु जनता अपना राजप्रमुख व राष्ट्रपति स्वयं चुनती थी। जापान और टर्की के अतिरिक्त कोई भी देश इस समय पृथिवी पर ऐसा नहीं रह गया था, जहाँ राजा के दैवीय अधिकार का सिद्धान्त माना जाता हो। १६२५ में टर्की से भी दैवीय राजा का अन्त हो गया, और अठारहवीं सदी का यह सर्वमान्य सिद्धान्त अब केवल जापान की ही सम्पत्ति रह गया।

जिन देशों में अभी वंशक्रमानुगत राजा रह भी गये, वहाँ भी जनता का शासन में अधिकार बढ़ने लगा, और लोकतन्त्रवाद बड़ी तेजी के साथ प्रगति करने लगा।

(३) राष्ट्रीयता की भावना का चरम विकास—फ्रांस की राज्य-क्रान्ति द्वारा यूरोप में जिन नई प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ था, उनमें लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता की भावना सबसे प्रधान थीं। जो लोग भाषा धर्म, नसल, ऐतिहासिक परम्परा, संस्कृति व भौगोलिक दृष्टि से

एक हैं, उनका अपना पृथक् स्वतन्त्र राज्य होना चाहिए, और इस राज्य में किसी एक स्वेच्छाचारी राजा व वर्ग का शासन न होकर जनता की इच्छा व लोकमत के अनुसार शासन होना चाहिए—ये भावनायें अठारहवीं सदी के अन्त में यूरोप में प्रबल होने लगी थीं। उन्नीसवीं सदी में इन्ही प्रवृत्तियों को क्रिया में परिणत करने के लिए यूरोप में संघर्ष होता रहा, और महायुद्ध के बाद प्राय: सारे यूरोप में ये भावनायें फलीभूत हो गईं। राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार हो गया, और प्राय: सर्वत्र पुराने राज्यवंशों की स्वेच्छाचारी सत्ता का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन स्थापित हो गये।

महायुद्ध की समाप्ति पर यह सिद्धान्त एक सत्य के रूप में स्वीकृत कर लिया गया था, कि राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के अनुसार होना चाहिये। पेरिस की सन्धि-परिषद् ने राष्ट्रीयता के आधार पर यूरोप का पुनःनिर्माण करने का प्रयत्न किया, और आठ नये राज्य यूरोप के नकशे में प्रकट हुए। ये राज्य चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लविया, पोलैण्ड, लिथुएनिया, लैटविया, फिनलैण्ड, एस्थोनिया और हंगरी थे। इसमें सन्देह नहीं, कि इन राज्यों के निर्माण से यूरोप का नकशा बहुत-कुछ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार बन गया था।

पर अभी राष्ट्रीयता की दृष्टि से अनेक ऐसी समस्यायें बच रही थीं, जिनका हल होना बाकी था। आयर्लैण्ड अभी तक भी ग्रेट ब्रिटेन का एक प्रदेश था। भारत और ईजिप्ट अभी तक भी ब्रिटेन के अधीन थे। फिलिपाइन्स पर अमेरिका का प्रभुत्व था। कोरिया जापान के अधीन था। चीन और अफ्रीका में यूरोपियन राज्यों के बड़े बड़े प्रभाव क्षेत्र और उपनिवेश कायम थे। इन सबके सम्बन्ध में राष्ट्रीयता या स्वभाग्यनिर्णय के सिद्धान्तों का अभी प्रयोग नहीं हुआ था। साथ ही, यूरोप में भी जो नये राज्य कायम किये गये थे, उनकी सीमाओं के सम्बन्ध में अनेक विवाद थे। सदियों तक यूरोप में बड़े बड़े शक्तिशाली सम्राटों का शासन

रहा था। हाप्सबुर्ग सम्राटों के शासन में जर्मन, हंगेरियन, चेक, स्लाव आदि विविध जातियाँ एक साथ रही थीं। इसका परिणाम यह था, कि अनेक प्रदेशों की आबादी मिश्रित थी। उनमें जर्मन और चेक या जर्मन और स्लाव साथ-साथ बसे हुए थे। ये प्रदेश किस राज्य में रहें, इसका फैसला हो सकना सुगम बात न थी। पेरिस की सन्धि-परिषद् में इनके सम्बन्ध में जो निर्णय हुए, उनके विरुद्ध तीव्र असन्तोष था।

(४) लोकतन्त्रवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया—युद्ध के समय प्रायः सभी राज्यों के लिए यह आवश्यक हो गया था, कि उनकी सरकारें असाधारण शक्ति और अधिकार प्राप्त कर लें। सैनिक आवश्यकता की दृष्टि से यह उपयोगी था। युद्ध का सुचारु रूप से संचालन तभी हो सकता था, जब सरकारें लोकमत की परवाह किये बिना और पार्लियामेण्ट से हर बात पूछे बिना, जिस समय जो कुछ जरूरी हो, उसे कर सकने का पूरा अधिकार रखती हों। साथ ही, युद्ध की दृष्टि से ही यह भी आवश्यक था, कि प्रेस पर कड़ी निगाह रखी जाय, लेख और भाषण की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित किया जाय, जो लोग युद्ध से सहानुभूति न रखते हों या उसके लिए पूरा प्रयत्न न करते हों, उनका दमन किया जाय, और सरकार को जनता से न केवल पूरी तरह सहयोग मिले, अपितु सब लोग आँख मींच कर सरकार की आज्ञाओं का पालन करें। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ, कि युद्ध के मध्य में प्रायः सभी देशों की सरकारें बहुत कुछ स्वेच्छाचारी व एकतन्त्र हो गईं। जब युद्ध समाप्त भी हो गया, तो भी उस समय की असाधारण राजनीतिक व आर्थिक परिस्थितियों के कारण सरकारों के ये अबाधित अधिकार जारी रहे, और राजनीतिक नेताओं को यह आदत पड़ने लगी, कि वे देश की सुरक्षा और भलाई के नाम पर अमर्यादित सत्ता व अधिकारों का उपयोग करने लगें। इसी का परिणाम यह हुआ, कि इटली और स्पेन में लोकसत्तात्मक शासनों का अन्त होकर एक वर्ग विशेष या दल विशेष का शासन कायम हुआ। यही

प्रवृत्ति आगे चलकर जर्मनी में प्रगट हुई, और धीरे-धीरे यूरोप के अनेक देशों में वे शासन स्थापित हुए, जिन्हें राजनीतिक परिभाषा में 'फैसिस्ट' कहा जाता है। इन फैसिस्ट शासनों में जनता की सत्ता का अन्त कर एक राजनीतिक दल या प्रबल नेता की सत्ता रहती थी।

(५) सैनिकवाद में वृद्धि—समझा यह जाता था, कि महायुद्ध में मित्र-राज्य जर्मनी के सैनिक वाद (मिलिटरिज्म) के विरुद्ध लड़ रहे हैं। जर्मनी के परास्त हो जाने के बाद, उचित तो यह था, कि विजेता देश आपस में मिलकर यह निर्णय करते, कि भविष्य में कोई देश अपनी सेना में इतनी वृद्धि न कर सके, कि वह अन्य देशों के लिए खतरे का कारण हो। पर हुआ सर्वथा विपरीत। युद्ध की समाप्ति पर फ्रांस, ब्रिटेन और बेल्जियम ने अपनी सेना और साम्राज्य की वृद्धि के लिए अपनी सब शक्ति को लगा दिया। फ्रांस ने केवल आल्सेस-लारेन पर ही अपना अधिकार नहीं किया, अपितु र्हाइन के दक्षिण के सब जर्मन इलाकों पर कब्जा कर उसने अपने व्यवसायों को खूब तरक्की दी। इन प्रदेशों के लोहे, कोयले आदि का उपयोग कर उसने अपने अस्त्र-शस्त्रों को बहुत बढ़ा लिया, और बहुत बड़ी संख्या में सेनाओं की भरती की। १९२२ में फ्रांस की स्थिर सेना में सैनिकों की संख्या सात लाख सत्तर हजार से भी अधिक थी। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि नये राज्य उसके मित्र थे। इनकी विदेशी नीति का संचालन फ्रांस ही करता था। महायुद्ध के बाद यूरोप में फ्रांस की शक्ति इतनी प्रबल थी, कि वह जहाँ चाहे आक्रमण कर सकता था, और उसको रोकने की ताकत यूरोप के किसी भी देश में न थी। जर्मनी कभी इतना शक्तिशाली नहीं हुआ था, जितना कि अब फ्रांस था। अफ्रीका में अनेक जर्मन उपनिवेशों पर कब्जा करके और तुर्की साम्राज्य के अन्यतम प्रदेश सीरिया को अधिगत करके फ्रांस की सामुद्रिक और औपनिवेशिक शक्ति भी अब बहुत बढ़ गई थी। साम्राज्य की दृष्टि से अब उसका स्थान संसार में दूसरे नम्बर पर था। इसमें

सन्देह नहीं, कि फ्रांस की यह स्थिति यूरोप के लिए बड़े खतरे की चीज थी।'

ग्रेट ब्रिटेन और बेल्जियम ने भी महायुद्ध के परिणामस्वरूप अनेक नये प्रदेश व उपनिवेश प्राप्त किये थे। इटली ने जहाँ यूरोप में आस्ट्रिया से कुछ प्रदेशों को प्राप्त किया था, वहाँ अफ्रीका में भी अपने साम्राज्य-विस्तार की उसे बड़ी चिन्ता थी। यह स्पष्ट है, कि यूरोप के विविध देशों को इस समय दो भागों में बाँटा जा सकता था। एक वे जिनके पास साम्राज्य थे, और दूसरे व जिनके पास साम्राज्य नहीं थे। साम्राज्यवाले देश धनी, सम्पन्न और शक्तिशाली थे। साम्राज्यविहीन देश गरीब व शक्तिशून्य थे। उनमें प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या का होना बिलकुल स्वाभाविक था। साधन न होते हुए भी यूरोप के विविध देश सेनाओं तथा युद्धोपयोगी सामग्री की वृद्धि करने में जुट गये थे। सैन्य-शक्ति के लिए उनमें एक प्रकार की होड़-सी चल पड़ी थी। १९२२ में इन राज्यों की सेनाओं में सैनिकों की संख्या इस प्रकार थी—

फ्रांस—७७०,०००
पोलैण्ड—२९०,०००
इटली—२५०,०००
स्पेन—२१७,०००
ग्रीस—२५०,०००
बेल्जियम—११३,०००

युद्ध समाप्त हो गया था, पर अब भी यूरोप के विविध देशों की स्थिर सेनाओं में सैनिकों की संख्या चालीस लाख से कम न थी। इतनी बड़ी सेनाओं को रखने के लिये कितना रुपया प्रतिवर्ष खर्च होता था, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। यूरोप के विविध राज्य आपस में मिलकर यह तय कर लें, कि वे सेनाओं में वृद्धि करने के बजाय उन्हें घटायें—इसके लिये अनेक यत्न किये भी गये। १९२१ में वाशिंग-

टन में एक सम्मेलन इसी उद्देश्य से हुआ। इसमें अनेक महत्वपूर्ण बातों पर समझौता भी हुआ। पर यूरोप में सैन्य-वृद्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। महायुद्ध के समय में वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण अनेकविध नये संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ था। अब यूरोप के विविध देश इसी उद्योग में लगे थे, कि इन हथियारों को अधिक से अधिक मात्रा में अपने पास जुटा लें।

३. राष्ट्रसंघ

महायुद्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम राष्ट्रसंघ की स्थापना थी। संसार के विविध राज्यों को एक सूत्र में संगठित करने का विचार नया नहीं था। युद्धों का अन्त तभी हो सकता है, जब विविध स्वतन्त्र राज्य मिलकर एक ऐसे संगठन का निर्माण कर लें, जो उनके आपस के झगड़ों का निर्णय युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों से कर सके। उन्नीसवीं सदी में सबसे प्रबल राजनीतिक शक्ति राष्ट्रीयता की थी। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी पृथक् सत्ता और स्वाधीनता का अधिकार है, और उसे अक्षुण्ण रखना नागरिकों का प्रधान कर्तव्य है, यह विचार उस समय अत्यन्त प्रबल था। इसके लिये यह आवश्यक समझा जाता था, कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय सभ्यता, भाषा व संस्कृति का चरम विकास करे, और साथ ही उनकी रक्षा के लिये अपनी सैनिक शक्ति को इतना अधिक बढ़ा ले, कि कोई अन्य राष्ट्र उसे किसी प्रकार की क्षति न पहुँचा सके। हमारी राष्ट्रीय सभ्यता सबसे उत्कृष्ट है, और हम अपनी शक्ति को बढ़ाकर अन्य पिछड़े हुए देशों को सभ्यता व उन्नति के मार्ग पर अग्रेसर कर सकते हैं, यह विचार राष्ट्रीय गौरव की भावना का एक स्वाभाविक परिणाम था। इसी के कारण उस साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ, जिसने यूरोप के उन्नत राष्ट्रों को एशिया व अफ्रीका में अपने प्रभाव का विस्तार करने के लिये प्रेरित किया। उग्र

राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को जन्म दिया, और महायुद्ध बहुत कुछ इन्हीं प्रवृत्तियों का परिणाम था। पर विविध देशों के विचारक इस समय यह भी सोचने लग गये थे, कि क्या यह सम्भव नहीं कि विभिन्न राष्ट्रों के आपस के 'मात्स्य न्याय' का अन्त करके उन्हें एक सूत्र में संगठित किया जाय? इस विचार के विकसित होने में निम्नलिखित परिस्थितियाँ सहायक थीं—(१) वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा देश और काल पर जो विजय हो रही थी, उसके कारण विविध राष्ट्रों के निवासी एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे, उनमें एक प्रकार की एकता की भावना का प्रादुर्भाव होने लगा था। (२) विविध राज्यों में परस्पर व्यापार के विकास के कारण लोगों में विदेशियों के साथ सम्पर्क में आने, उन्हें समझने तथा उनका विश्वास करने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। (३) अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य की वृद्धि के कारण भाषा, धर्म और संस्कृति के कारण मनुष्यों में जो भेद हैं, वे दूर होने लगे थे। एक विश्व-संस्कृति का जन्म होने लगा था, और संसार अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर आगे बढ़ने लग गया था।

महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति को बहुत बल मिला। युद्धों से विविध राष्ट्रों में जहाँ विद्वेष उत्पन्न होता है, वहाँ उनमें से कतिपय में घनिष्ठता भी स्थापित होती है। मित्र-राष्ट्रों के पक्ष के ३२ राज्य और जर्मनी के पक्ष के ४ राज्य महायुद्ध में एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। उनके लिए यह आवश्यक था, कि वे एक दूसरे के साथ मिलकर, परस्पर सहयोग से युद्ध का संचालन करें। सैनिक, आर्थिक व राजनीतिक—सभी क्षेत्रों में पूर्ण सहयोग के बिना युद्ध का संचालन भली भाँति नहीं हो सकता था। इनके लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण किया गया, जिसमें प्रधान युद्ध-कौंसिल, मित्र राष्ट्रों की नाविक-कौंसिल, ट्रांसपोर्ट कौंसिल, खाद्य पदार्थ कौंसिल और शस्त्र कौंसिल सबसे प्रमुख थीं। इन अन्तर्राष्ट्रीय कौंसिलों द्वारा मित्र-राष्ट्रों

के पक्ष में सम्मिलित बत्तीस राज्यों को यह अभ्यास हुआ, कि वे अपनी स्वाधीनता को सबके हित के लिए आंशिक रूप से त्याग सकें, और एक मजबूत संगठन में बँध सकने की आदत डालें। इसी का परिणाम हुआ, कि जब महायुद्ध में मित्र-राष्ट्रों की विजय हुई, तो उन्होंने अनुभव किया कि युद्ध के कारण परस्पर सहयोग की जो भावना उनमें उत्पन्न हुई है, उसे स्थिर रखने के लिए और परस्पर मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का संचालन व झगड़ों का निर्णय करने के लिए एक राष्ट्रसंघ का निर्माण करें। राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) युद्ध का बड़ा महत्त्व-पूर्ण परिणाम था। राष्ट्रपति विल्सन ने जो चौदह सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे, उनमें राष्ट्रसंघ भी एक था। मित्र-राष्ट्र कहते थे, कि जिन उद्देश्यों को सम्मुख रखकर वे युद्ध में शामिल हुए हैं, उनमें एक यह भी है, कि अन्तर्राष्ट्रीय मात्स्यन्याय का अन्त होकर एक राष्ट्रसंघ की स्थापना की जाय। इस संघ के प्रधान उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, सुरक्षा और शान्ति तथा सुव्यवस्था को प्रोत्साहित करना, (२) हथियारों को कम करना और (३) युद्धों को रोकना। राष्ट्र-संघ में सम्मिलित राष्ट्रों ने यह जिम्मा लिया था, कि वे एक दूसरे की राष्ट्रीय सीमा का आदर करेंगे। यदि कोई अन्य राज्य उन पर आक्रमण करे या उनकी स्वाधीनता को नष्ट करने का प्रयत्न करे, तो मिलकर उसका मुकाबला करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बढ़ाने के लिए उन्होंने यह भी निर्णय किया था, कि गुप्त सन्धियाँ न करेंगे। उनकी जो कोई सन्धियाँ किसी राज्य के साथ हैं, उन्हें प्रकाश में लावेंगे और राष्ट्र-संघ को उनकी सही-सही सूचना दे देंगे। यदि कोई सन्धियाँ व समझौते इस प्रकार के हैं, जो राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के विपरीत हैं, तो उन्हें रद्द कर देंगे। सन् १९२५ तक ५५ राष्ट्र इस संघ में सम्मिलित हो गये थे। पृथिवी पर केवल ६ राज्य ही ऐसे रह गये थे, जो राष्ट्र-संघ के सदस्य नहीं बने थे। विश्व भर के राज्यों

को एक सूत्रमें संगठित करने के उद्देश्य में, निःसन्देह, यह बहुत बड़ी सफलता थी।

संघ का स्वरूप इस प्रकार था—(१) असेम्बली—इसमें सब सदस्य-राष्ट्रों के प्रतिनिधि रहते थे। प्रतिनिधियों की संख्या राष्ट्र के महत्त्व के अनुसार एक से तीन तक निश्चित की जाती थी। इसके अधिवेशन वार्षिक रूप से होते थे, और सर्वसाधारण जनता उनमें दर्शक रूप से सम्मिलित हो सकती थी। (२) कौंसिल—शुरू में इसके आठ सदस्य थे फ्रांस, ब्रिटेन, इटली और जापान का एक-एक प्रतिनिधि स्थिर रूप से कौंसिल का सदस्य होता था। संघ के शेष सदस्य अपने में से चार प्रतिनिधियों को चुनते थे। १९२३ में अमेरिका भी राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। उसका भी एक प्रतिनिधि स्थिर रूप से कौंसिल में रहने लगा। तब कौंसिल के सदस्यों की कुल संख्या दस कर दी गई। संघ के शेष सदस्य चार की जगह पर पाँच प्रतिनिधि चुनने लग गये। सैकड़ों की संख्या में विकट अन्तर्राष्ट्रीय मामले कौंसिल के सम्मुख पेश किये जाते थे, और उनका निर्णय उत्तमता के साथ किया जाता था। अनेक जटिल समस्याओं को शान्ति के साथ सुलझाकर कौंसिल ने यह प्रदर्शित कर दिया, कि राष्ट्रों के आपस के झगड़ों का निर्णय युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा भी किया जा सकता है। (३) स्थिर कार्यालय—यह स्विट्ज़रलैण्ड की प्रसिद्ध नगरी जिनीवा में स्थित था। इसमें ३०० से ऊपर कर्मचारी काम करते थे। ये कर्मचारी विविध राष्ट्रों से लिये जाते थे, और इस प्रकार एक विश्व-सरकार का सूत्रपात किया गया था, जिसमें विविध राष्ट्रों के लोग नसल, भाषा, धर्म व संस्कृति के भेदों को भुलाकर एक अन्तर्राष्ट्रीय शासन की नींव डालने का प्रयत्न करते थे। (४) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—इसमें ग्यारह न्यायाधीश व चार उपन्यायाधीश होते थे। राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़े निर्णय के लिए इसके सम्मुख उसी तरह पेश किये जाते थे, जैसे कि साधारण अदालतों में व्यक्तियों

के झगड़े उपस्थित होते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि इस न्यायालय ने अनेक मामलों का फैसला बड़ी सफलता के साथ किया।

. राष्ट्रसंघ ने न केवल राजनीतिक झगड़ों को निबटाने का ही कार्य किया, अपितु महामारियों को रोकने, स्वास्थ्य को उन्नत करने, दास-प्रथा को नष्ट करने, स्त्रियों के क्रय-विक्रय को बन्द करने, अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा करने, आर्थिक, सामाजिक व साहित्यिक क्षेत्र में सहयोग स्थापित करने व इसी प्रकार के अन्य सर्व-हितकारी मामलों के सम्बन्ध में भी बड़ा उपयोगी कार्य किया। जिस प्रकार राज्य आभ्यन्तर व बाह्य भयों से ही नागरिकों की रक्षा नहीं करता, अपितु देशवासियों की सब प्रकार की उन्नति का भी प्रयत्न करता है, उसी प्रकार राष्ट्रसंघ ने अपने सदस्य-राष्ट्रों के पारस्परिक राजनीतिक सम्बन्धों को ठीक रखने का ही प्रयत्न नहीं किया, अपितु उनमें सहयोग स्थापित कर अन्य क्षेत्रों में उन्नति के लिये भी भारी यत्न किया। इसमें सन्देह नहीं, कि राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम था। सन् १६-२४ से १६३० तक उसकी खूब उन्नति हुई। इस काल में प्रायः सभी शक्तिशाली राष्ट्रों के प्रधान नेता स्वयं संघ के अधिवेशनों में समिलित होते थे, और परस्पर सहयोग द्वारा संसार की समस्याओं को सुलझाने का उद्योग करते थे। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा था, कि युद्धों का अन्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शांति का युग आ गया है, और मानव जाति उन्नति के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ गई है।

४. महायुद्ध के आर्थिक व सामाजिक परिणाम

जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में १६१४-१८ के महायुद्ध ने अत्यन्त क्रान्ति कारी परिणाम उत्पन्न किये, वैसे ही आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में भी इसने भारी परिवर्तन किया। इन परिवर्तनों का उल्लेख संक्षेप के साथ इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) राष्ट्रीय साम्यवाद का विकास—महायुद्ध से पूर्व ही साम्यवाद का विचार यूरोप में जोर पकड़ने लगा था। पर व्यवसाय और व्यापार का संचालन अभी व्यक्तियों के ही हाथ में था, और प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा व साधनों के अनुसार जो काम चाहे कर सकता था। इसमें सन्देह नहीं, कि राज्य की ओर से आर्थिक जीवन पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण शुरू हो गये थे, पर अभी उनकी मात्रा बहुत कम थी। महायुद्ध के समय में आवश्यकता से विवश होकर राज्यों ने अनेक व्यवसायों का संचालन अपने हाथ में ले लिया था। युद्ध के लिए जिन व्यवसायों का सीधा सम्बन्ध था, उन्हें व्यक्तियों के हाथों में नहीं रहने दिया जा सकता था। कोयले और लोहे की खानें, अस्त्र-शस्त्र बनाने के कारखाने, रेल और मोटर बनानेवाले कारखाने—ये सब राज्यों ने अपने अधिकार में कर लिए थे। जिन व्यवसायों को राज्यों ने सीधा अपने कब्जे में नहीं किया था, उन पर भी कड़ा नियन्त्रण रखने की आवश्यकता थी, क्योंकि उन सबका संचालन युद्ध की दृष्टि से किया जाना अनिवार्य था। इस प्रकार, राज्यों का आर्थिक जीवन अब बहुत कुछ सरकारों के हाथ में आ गया था, और 'राष्ट्रीय साम्यवाद' की स्थापना स्वयमेव हो गई थी। युद्ध की समाप्ति पर साम्यवादी चाहते थे, कि व्यवसायों पर अब भी राज्य का नियन्त्रण जारी रहे, और पूँजीपतियों को यह अवसर न दिया जाय, कि वे मनमानी तरीके से आर्थिक जीवन का संचालन करें। यद्यपि उन्हें अपने उद्योग में सफलता नहीं मिली, और व्यवसाय फिर से व्यक्तियों व पूँजीपतियों के हाथ में चले गये, पर राज्य का अनेक प्रकार का हस्तक्षेप जारी रहा, और राष्ट्रीय साम्यवाद के लिये एक प्रकार का मार्ग तैयार हो गया। जर्मनी के नेताओं ने इस स्थिति से लाभ उठाकर वहाँ नाजी (राष्ट्रीय साम्यवादी) पद्धति का विकास किया, और अन्य अनेक देशों ने भी उसका अनुसरण किया।

(२) मजदूर आन्दोलन—महायुद्ध के समय में कारखानों में काम

करनेवाले मजदूरों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। करोड़ों की संख्या में नवयुवकों के लड़ाई के मैदान में चले जाने के कारण मजदूरी करनेवाले लोगों की बहुत कमी हो गई थी। लड़ाई में विजय के लिए जितनी आवश्यकता सैनिकों की थी, उतनी ही अस्त्र-शस्त्रों व अन्य युद्धोपयोगी सामग्री की भी थी। इस सामग्री को कारखाने तैयार करते थे, और कारखाने मजदूरों के बिना नहीं चल सकते थे। परिणाम यह हुआ, कि मजदूर श्रेणी में अपनी महत्ता की एक नई अनुभूति उत्पन्न हुई। मजदूर लोग न केवल यह आन्दोलन करने लगे, कि उन्हें अधिक वेतन मिलना चाहिए, काम करने के घंटों में कमी होनी चाहिए, उनके रहन-सहन की उन्नति तथा आराम का यत्न होना चाहिए, अपितु व्यवसायों के संचालन में उनका वैसा ही हाथ होना चाहिए, जैसा कि पूँजीपतियों का होता है। इसके लिए उन्होंने अनेक संघों की स्थापना की, और इस आन्दोलन को बहुत प्रबल कर दिया, कि युद्ध में विजय का बड़ा श्रेय मजदूरों को है, और समाज व राज्य में उनकी स्थिति अधिक महत्त्व की होनी चाहिए। राजनीतिक क्षेत्र में पृथक् मजदूर दलों की स्थापना हुई, और धीरे धीरे मजदूर श्रेणी का राज्य-शासन में महत्त्व बढ़ने लग गया।

(३) मुद्रा का प्रसार—महायुद्ध के समय में रुपये की भी बड़ी आवश्यकता थी। दोनों पक्षों के राज्य अरबों रुपया प्रतिवर्ष खर्च कर रहे थे। यह रुपया किसी उत्पादक धन्धे में न लगकर विनाश में लग रहा था। लड़ाई में न केवल रुपया पानी की तरह बह रहा था, पर साथ ही कल-कारखानों, रेलवे, जहाज तथा अन्य सम्पत्ति का विनाश भी बुरी तरह से हो रहा था। इस दशा में विविध राज्य अपने अत्यन्त बढ़े हुए खर्चों को चलाने के लिए यही उपाय काम में ला सकते थे, कि वे ज्यादा से ज्यादा कर्ज लें, यह कर्ज चाहे देश के धनपतियों से लिया जाय और चाहे विदेशों से। टैक्स खूब बढ़ाये जावें, और यदि कर्ज व टैक्स से भी खर्च पूरे न हों, तो कागज की मुद्रा प्रचारित कर काम चलाया

जाय। इन सबका परिणाम यह हुआ, कि युद्ध के समाप्त होते-होते प्रायः सभी राज्य कर्जों से बुरी तरह लद गये, कीमतें बहुत बढ़ गईं, और देशों की पत्र-मुद्राओं का बाजार में मूल्य बहुत गिर गया। यूरोप के प्रायः सभी देशों में एक प्रकार का आर्थिक संकट उपस्थित हो गया, जिसे दूर करने के लिए उन्हें अनेक प्रकार के आयोजन करने पड़े।

(४) **स्त्रियों की स्थिति**—महायुद्ध में करोड़ों की संख्या में पुरुष लड़ाई के मैदान में चले गये थे। जीवन के अनेक क्षेत्रों में काम करने के लिए अब स्त्रियों को आगे बढ़ना पड़ा। दफ्तर, ट्राम, बस, दूकान और कारखाने—सब जगह अब पुरुषों का स्थान स्त्रियाँ लेने लगीं। युद्ध की आवश्यकता से विवश होकर स्त्रियों को बहुत बड़ी संख्या में घर छोड़कर आर्थिक जीवन में आना पड़ा। बड़े-बड़े कारखानों में कठिन से कठिन काम करने के लिए भी स्त्रियों ने हाथ बढ़ाया। लोहे के कारखानों में ढलाई का काम, रन्दे का काम और भट्टी तक का काम स्त्रियाँ करने लगीं। यह एक भारी सामाजिक क्रान्ति थी। अब स्त्रियों में यह भावना बहुत प्रबल हो गई थी, कि उनका कार्यक्षेत्र केवल घर की चहारदीवारी ही नहीं है, अपितु वे सब क्षेत्रों में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाती हुई काम कर सकती हैं। इसका परिणाम यह हुआ, कि प्रायः सभी यूरोपियन देशों में स्त्रियों को वे सब राजनीतिक अधिकार दिये गये, जिनसे वे अब तक वंचित थीं। वोट का अधिकार उन्हें प्राप्त हुआ, और वे भी पार्लियामेंट की सदस्य बनने के लिए अपने को पेश करने लगीं। स्त्रियों को पुरुषों के समान सामाजिक और राजनीतिक स्थिति प्राप्त करने में महायुद्ध ने बहुत अधिक सहायता दी।

(५) **नस्लों की समानता**—महायुद्ध से पहले यूरोप के लोगों में अपने नस्ल और नस्ल की उत्कृष्टता की भावना बड़ी प्रबल थी। यूरोपियन लोग समझते थे, कि श्वेतांग लोग सबसे उत्कृष्ट हैं, और एशिया व अफ्रीका के काले, भूरे व पीले रंग के लोग उनकी अपेक्षा बहुत

हीन हैं। इन महाद्वीपों में उनके जो साम्राज्य थे, उनके कारण वे एशिया व अफ्रीका के निवासियों को अपना गुलाम व आश्रित समझते थे। पर युद्ध की आवश्यकता से विवश हो भारत, अफ्रीका, जापान आदि से बहुत से सैनिक यूरोप आये, और उन्होंने जर्मनी व उसके साथियों के गौरांग सैनिकों के साथ डट कर लड़ाई की। भारत व अफ्रीका के सिपाही यूरोप के सिपाहियों से किसी भी प्रकार हीन नहीं हैं, यह बात अब भली भाँति सिद्ध हो गई, और इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ, कि यूरोपियन नसलों की उत्कृष्टता का विचार बिलकुल निराधार साबित हो गया। सब नसलें एक समान हैं, कोई उत्कृष्ट या हीन नहीं है—इस विचार से संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता और सुख-शान्ति स्थापित होने का मार्ग बहुत कुछ निष्कण्टक हो गया।

(६) धर्म के सम्बन्ध में सन्देह—महायुद्ध के समय में दोनों पक्ष के चर्च अपने अपने राज्य के पक्ष को न्याय-संगत व धर्मानुकूल प्रतिपादित करते थे, और ईश्वर से प्रार्थना करते थे, कि उनके पक्ष की विजय हो। फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया—सब ईसाई धर्म के अनुयायी थे। सबका एक ईश्वर, एक धर्म पुस्तक और एक धर्माचार्य था। यदि ईसाई चर्च के नेता यह समझते, कि युद्ध के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं, चर्च का उद्देश्य तो दुखी मानव-जाति की समान रूप से सेवा करना है, युद्ध को बन्द कर शान्ति-स्थापना के लिये प्रयत्न धर्म के नेताओं का मुख्य कार्य है—तो धर्म के प्रति जनता में श्रद्धा बढ़ती। पर राजनीति से अभिभूत होकर पादरियों ने अपनी सरकारों के अच्छे बुरे सब प्रकार के कार्यों का समर्थन शुरू किया, और जनता को यह भी कहना प्रारम्भ किया, कि युद्ध में अपने राज्य का पूर्ण रूप से समर्थन उनका सबसे बड़ा धार्मिक कर्तव्य है। ईसाई मत के नाम से यही बात मित्र-राष्ट्रों के पादरी कहते थे, और यही बात जर्मनी व उसके साथी देशों के पादरी प्रतिपादित करते थे। जर्मनी के गिरजों में

भगवान् से प्रार्थना की जाती थी कि मित्र-राष्ट्र परास्त हो जावें और फ्रांस के गिरजों में जर्मनी के विनाश के लिये प्रार्थनायें होती थीं। धर्म और भगवान् का यह कैसा बीभत्स उपहास था! विज्ञान की उन्नति ने पहले ही ईसाई धर्म के सम्बन्ध में एक प्रकार की सन्देह की प्रवृत्ति लोगों में पैदा हो गई थी। अब युद्ध के समय में यह प्रवृत्ति और भी बढ़ गई। यूरोप में एक प्रकार की नास्तिकता की लहर जोर पकड़ने लगी। रशिया में इसने बड़ा उग्र रूप धारण किया, और वहाँ से ईसाई चर्च प्रायः नष्ट ही हो गया।

(७) शिक्षा और विज्ञान—महायुद्ध के कारण शिक्षा को बहुत नुकसान पहुँचा। उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले नवयुवक बाधित सैनिक सेवा के कारण बड़ी संख्या में युद्ध-क्षेत्र में चले गये। बहुत से अध्यापकों को भी पुस्तकें छोड़कर बन्दूकें हाथ में लेनी पड़ीं। अनेक विश्वविद्यालय और कालिज बन्द हो गये। पर शिक्षा के क्षेत्र में जो क्षति हुई, वह विज्ञान की उन्नति ने बहुत कुछ पूरी कर दी। युद्ध के समय में वैज्ञानिक लोगों ने अपनी सारी ताकत नये नये आविष्कारों में लगा दी। विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में इस समय नये नये आविष्कार हुए। इसमें सन्देह नहीं, कि युद्ध की आवश्यकताओं से विवश होकर विज्ञान के क्षेत्र में जो उन्नति हुई, उसके कारण मानव-समाज प्रगति के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ गया।

तेंतालीसवाँ अध्याय

जर्मनी का पुनः निर्माण

१. जर्मनी में क्रान्ति

महायुद्ध के बाद पेरिस की सन्धि परिषद् के निर्णयों के अनुसार यूरोप के राजनीतिक नकशे में इतने भारी परिवर्तन हो गये थे, और नये स्थापित हुए राज्यों के स्वरूप में पहले के मुकाबले में इतना अन्तर था, कि इन सब राज्यों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

१८७१ के बाद जर्मनी ने असाधारण उन्नति की थी। न केवल सैनिक दृष्टि से, अपितु व्यवसाय और विज्ञान में भी अन्य यूरोपियन राज्यों के मुकाबले में जर्मनी बहुत आगे बढ़ा हुआ था। सब प्रकार से उन्नत होते हुए भी जर्मनी के पास कोई साम्राज्य नहीं था। वहाँ के सब निवासी, चाहे वे किन्हीं भी विचारों या राजनीतिक दलों के हों, यह अनुभव करते थे, कि ब्रिटेन और फ्रांस के सदृश जर्मनी का भी साम्राज्य होना चाहिए। दुनिया में उसके लिए भी 'जगह' होनी चाहिए। इसीलिए युद्ध के पहले दो सालों में जर्मन सरकार को सब लोगों का पूरी तरह सहयोग प्राप्त था। साम्यवादी लोग भी युद्ध के प्रयत्न में अपने देश की सरकार का पूरी तरह साथ दे रहे थे। पर ज्यों ज्यों समय बीतता गया, युद्ध की भयंकरता बढ़ती गई, और जर्मनी की सैनिक उत्कृष्टता में सन्देह के कारण प्रगट होने लगे, सरकार की नीति का विरोध भी शुरू हो गया। सबसे पहले कार्ल लीब्कूनेख्ट के नेतृत्व में उग्र साम्यवादियों ने अपना पृथक् दल बनाया और बजट में युद्ध के खर्च के पक्ष में वोट देने से इनकार किया। बाद में उन्होंने जर्मनी की सोशलिस्ट (साम्यवादी) पार्टी से सम्बन्ध

भगवान् से प्रार्थना की जाती थी कि मित्र-राष्ट्र परास्त हो जावें और फ्रांस के गिरजों में जर्मनी के विनाश के लिये प्रार्थनायें होती थीं। धर्म और भगवान् का यह कैसा वीभत्स उपहास था ! विज्ञान की उन्नति से पहले ही ईसाई धर्म के सम्बन्ध में एक प्रकार की सन्देह की प्रवृत्ति लोगों में पैदा हो गई थी। अब युद्ध के समय में यह प्रवृत्ति और भी बढ़ गई। यूरोप में एक प्रकार की नास्तिकता की लहर जोर पकड़ने लगी। रशिया में इसने बड़ा उग्र रूप धारण किया, और वहाँ से ईसाई चर्च प्रायः नष्ट ही हो गया।

(७) **शिक्षा और विज्ञान**—महायुद्ध के कारण शिक्षा को बहुत नुकसान पहुँचा। उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले नवयुवक बाधित सैनिक सेवा के कारण बड़ी संख्या में युद्ध-क्षेत्र में चले गये। बहुत से अध्यापकों को भी पुस्तकें छोड़कर बन्दूकें हाथ में लेनी पड़ीं। अनेक विश्वविद्यालय और कालिज बन्द हो गये। पर शिक्षा के क्षेत्र में जो क्षति हुई, वह विज्ञान की उन्नति ने बहुत कुछ पूरी कर दी। युद्ध के समय में वैज्ञानिक लोगों ने अपनी सारी ताकत नये नये आविष्कारों में लगा दी। विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में इस समय नये नये आविष्कार हुए। इसमें सन्देह नहीं, कि युद्ध की आवश्यकताओं से विवश होकर विज्ञान के क्षेत्र में जो उन्नति हुई, उसके कारण मानव-समाज प्रगति के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ गया।

तेंतालीस

जर्मनी का पुनः निर्माण

१. जर्मनी में क्रान्ति

महायुद्ध के बाद पेरिस की सन्धि परिषद् के निर्णयों के अनुसार यूरोप के राजनीतिक नकशे में इतने भारी परिवर्तन हो गये थे, और नये स्थापित हुए राज्यों के स्वरूप में पहले के मुकाबले में इतना अन्तर था, कि इन सब राज्यों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

१८७१ के बाद जर्मनी ने असाधारण उन्नति की थी। न केवल सैनिक दृष्टि से, अपितु व्यवसाय और विज्ञान में भी अन्य यूरोपियन राज्यों के मुकाबले में जर्मनी बहुत आगे बढ़ा हुआ था। सब प्रकार से उन्नत होते हुए भी जर्मनी के पास कोई साम्राज्य नहीं था। वहाँ के सब निवासी, चाहे वे किन्हीं भी विचारों या राजनीतिक दलों के हों, यह अनुभव करते थे, कि ब्रिटेन और फ्रांस के सदृश जर्मनी का भी साम्राज्य होना चाहिए। दुनिया में उसके लिए भी 'जगह' होनी चाहिए। इसीलिए युद्ध के पहले दो सालों में जर्मन सरकार को सब लोगों का पूरी तरह सहयोग प्राप्त था। साम्यवादी लोग भी युद्ध के प्रयत्न में अपने देश की सरकार का पूरी तरह साथ दे रहे थे। पर ज्यों ज्यों समय बीतता गया, युद्ध की भयंकरता बढ़ती गई, और जर्मनी की सैनिक उत्कृष्टता में सन्देह के कारण प्रगट होने लगे, सरकार की नीति का विरोध भी शुरू हो गया। सबसे पहले कार्ल लीब्क्नेख्ट के नेतृत्व में उग्र साम्यवादियों ने अपना पृथक् दल बनाया और बजट में युद्ध के खर्च के पक्ष में वोट देने से इनकार किया। बाद में उन्होंने जर्मनी की सोशलिस्ट (साम्यवादी) पार्टी से सम्बन्ध

विच्छेद कर लिया, और एक स्वतन्त्र दल का संगठन किया, जिसका नाम 'स्वतन्त्र साम्यवादी दल' था। जब पन डुब्बियों और बारूदी सुरंगों द्वारा जर्मनी ने सब प्रकार के जहाजों को डुबाना शुरू किया, और संसार का लोकमत उसके बहुत विरुद्ध हो गया, तो जर्मनी में अन्य भी अनेक प्रगतिशील विचारकों ने अनुभव किया, कि उनकी सरकार की नीति उचित नहीं है, और वे स्वतन्त्र साम्यवादी दल के साथ मिलकर सरकार की युद्ध नीति का विरोध करने लगे। उन्होंने राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सिद्धान्तों का समर्थन किया, और यह उद्घोषणा की, कि इन सिद्धान्तों के अनुसार दोनों पक्षों को आपस में सुलह कर लेनी चाहिए। उन्होंने यह आन्दोलन भी शुरू किया, कि जर्मन सरकार का कायाकल्प होना चाहिए, मन्त्रिमण्डल ऐसा होना चाहिए, जो पूरी तरह जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी हो।

सन् १९१८ के शुरू तक यह भली भाँति स्पष्ट हो गया था, कि युद्ध में जर्मनी की विजय सम्भव नहीं है। सरकार की नीति के प्रति असन्तोष भी बहुत बढ़ गया था। जब अक्टूबर, १९१८ में बाडेन के प्रिंस मैक्स को चांसलर के पद पर नियत किया गया, तो प्रगतिशील लोग बहुत प्रसन्न हुए। प्रिंस मैक्स स्वयं प्रगतिशील विचारों के थे, और उनकी चांसलर पद पर नियुक्ति यह सूचित करती थी, कि अब जर्मनी की राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होंगे। पर इससे पहले कि प्रगतिशील लोग अपनी नीति को क्रिया में परिणत कर सकें, स्थिति काबू से बाहर हो गई। युद्ध में जर्मनी को निरन्तर विफलता हो रही थी। सेनाओं के हृदय डोलने लगे थे, और आम जनता युद्ध से तंग आकर शान्ति के लिए उत्सुक हो गई थी। अब तक रशिया में राज्यक्रान्ति हो चुकी थी। वहाँ कम्यूनिस्ट लोग एक नई विचार धारा को सम्मुख रखकर सरकार, समाज और आर्थिक जीवन-सबका पुनःनिर्माण करने में लगे थे। कम्यूनिस्ट विचारों का प्रभाव जर्मनी पर भी पड़ रहा था। वहाँ के विचारक और

मजदूर भी यह स्वप्न लेने लगे थे, कि सम्राट, उसके दरबारियों और कुलीनों के शासन का अन्त कर जर्मनी में भी किसान और मजदूरों का राज्य कायम होना चाहिए। नवम्बर, १९१८ में जर्मनी में क्रान्ति के चिन्ह प्रगट होने लगे। सबसे पहले कील कैनाल में विद्रोह हुआ। फिर अन्य अनेक स्थानों पर भी विद्रोह और क्रान्ति शुरू हुई। जर्मनी के प्रगतिशील लोगों ने भली भाँति समझ लिया, कि इस क्रान्ति के ज्वालामुखी को शमन कर सकना अब सम्भव नहीं है। उनका विचार था, कि सम्राट् विलियम द्वितीय को राजगद्दी पर कायम रखते हुए वे जर्मनी में उत्तरदायी लोकतन्त्र शासन की स्थापना करें। पर क्रान्ति की बाढ़ और समय की गति को अनुभव कर उन्होंने यही उचित समझा, कि अब रिपब्लिक स्थापित करने में क्रान्तिकारियों की सहायता करें। प्रगतिशील लोगों का यह खयाल था, कि इस समय क्रान्ति का साथ देकर वे जर्मनी को कम्यूनिज्म के पंजे से बचा सकते हैं, और सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन स्थापित करना सम्भव हो सकता है। इस बीच में क्रान्ति की लपटें बड़ी तेजी के साथ सारे जर्मनी को व्याप्त कर रही थीं। परिस्थितियों से विवश होकर, ९ नवम्बर, १९१८ को सम्राट् विलियम द्वितीय ने प्रशिया की राजगद्दी और जर्मन सम्राज्य के राजसिंहासन का परित्याग कर दिया। अगले दिन क्रान्ति का ज्वालामुखी बर्लिन में भी फूट पड़ा। प्रिंस मैक्स के लिए स्थिति को संभालना कठिन हो गया। उसने अपने अन्य साथियों की सहमति से यही निर्णय किया, कि साम्यवादी दल के नेता फ्रीडरिख एबर्ट के हाथ में सरकार का सूत्र सँभाल दिया जाय। जर्मनी से राजसत्ता का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई, और एबर्ट उसका पहला चांसलर बना। सम्राट् विलियम द्वितीय के राजसिंहासन का परित्याग करते ही बवेरिया आदि दर्जनों छोटी छोटी जर्मन रियासतों के राजाओं ने भी अपनी अपनी राजगद्दियों का परित्याग कर दिया, और राजाओं व कुलीनों के शासन का जर्मनी में सदा के लिए अन्त हो गया।

इस समय दो दल ऐसे थे, जो एबर्ट के शासन के विरोध में थे। एक तो वे राजसत्तावादी, जो होहेन्ट्सोलर्न राजवंश के शासन को फिर से जर्मनी में स्थापित करना चाहते थे। दूसरे वे उग्र साम्यवादी और कम्यूनिस्ट लोग, जो जर्मनी में रशिया के ढंग की क्रान्ति के लिए प्रयत्नशील थे। इन दोनों दलों को काबू में रखने के लिए एबर्ट और उसकी सरकार को भारी संघर्ष करना पड़ा। आखिर, वे अपने प्रयत्न में सफल हुए, और जब जनवरी, १९१९ में नई राष्ट्रीय महासभा का निर्वाचन हुआ, तो उसमें विविध दलों की स्थिति इस प्रकार थी—एबर्ट का साम्यवादी दल १६३; कैथोलिक दल ९०; डेमोक्रेट ७५; राजसत्तावादी ४२; उग्र साम्यवादी २२; जनता पार्टी २२ और अन्य ७। इस चुनाव में १९ वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक जर्मन स्त्री व पुरुष को वोट का अधिकार प्राप्त था। तीन करोड़ से अधिक व्यक्तियों ने अपने वोट के अधिकार का उपयोग भी किया था। निर्वाचन के परिणाम ने यह भली भाँति प्रगट कर दिया था, कि जर्मन जनता न तो फिर से होहेन्ट्सोलर्न राजवंश का शासन चाहती है, और न रशिया के ढंग की सामाजिक व आर्थिक क्रान्ति। जनता लोकतन्त्र रिपब्लिक के पक्ष में थी, और चांसलर एबर्ट का साम्यवादी दल लोकतन्त्र रिपब्लिक के लिए ही प्रयत्नशील था।

६ फरवरी, १९१९ को राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन वाईमर में हुआ। चार दिन बाद एक नया विधान स्वीकृत किया गया, जिसके अनुसार एक सामयिक सरकार की स्थापना की गई। यह सरकार राष्ट्रीय महासभा के प्रति उत्तरदायी थी। महासभा में बहुसंख्या साम्यवादी दल की थी, उसने कैथोलिक और डेमोक्रेट दलों के साथ मिलकर एक सम्मिलित (मिली-जुली) सरकार बनाई। इस सरकार में एबर्ट राष्ट्रपति (प्रेजिडेन्ट) था, चान्सलर (प्रधान मंत्री) के पद पर शीडमान को नियत किया गया था और उसके अतिरिक्त बारह अन्य मंत्री मन्त्रिमण्डल में नियुक्त किये गये थे। इस प्रकार जर्मनी में एक उत्तरदायी सरकार और

रिपब्लिकन शासन की स्थापना की जा रही थी। पर इस बीच में उग्र साम्यवादी और कम्यूनिस्ट लोग शान्त नहीं बैठे थे। चुनाव में बुरी तरह परास्त होकर उन्होंने गुप्त उपायों से सरकार को पलटने व स्वयं शक्ति प्राप्त करने के लिए उद्योग प्रारम्भ कर दिया था। ७ एप्रिल, १६१६ को इन कम्यूनिस्टों ने जगह-जगह पर विद्रोह किये, और म्यूनिच में बाकायदा सोवियट रिपब्लिक की स्थापना कर दी गई। इस आन्दोलन को कुचलने के लिए एबर्ट की सरकार को बहुत सख्त उपायों का अवलम्बन करना पड़ा। हजारों की संख्या में कम्यूनिस्ट तलवार के घाट उतारे गये, और हजारों गिरफ्तार हुए। ७ एप्रिल के प्रयत्न में विफल होकर उग्र साम्यवादी दल की शक्ति बहुत क्षीण हो गई। मजदूरों के विविध संगठनों ने राष्ट्रीय महासभा के प्रति भक्ति की शपथ ली, और शान्तिमय उपायों से अपने विचारों का प्रसार करने की नीति को स्वीकार किया। जब वर्साय की सन्धि को राष्ट्रीय महासभा के सम्मुख पेश किया गया, तो विरोधी दलों को सरकार पर आक्षेप करने का सुवर्णावसर हाथ लगा। पर वर्साय की सन्धि जर्मनी की पराजय का परिणाम था। एबर्ट व उसके साथी उसके लिए जिम्मेवार नहीं थे। महासभा ने बहुमत से सन्धि को स्वीकार कर लिया, और उग्र साम्यवादी अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सके। राष्ट्रीय महासभा मुख्य रूप से जर्मनी के लिए एक नये शासन-विधान को तैयार करने में लगी थी। जुलाई, १६१६ तक यह नया शासन-विधान बनकर तैयार हो गया था। ३१ जुलाई को राष्ट्रीय महासभा ने (२६२ पक्ष में और ७५ विरोध में) बहुमत से इसे स्वीकृत कर दिया था, और ११ अगस्त से इसके अनुसार जर्मनी का शासन भी प्रारम्भ हो गया था।

२. जर्मनी का नया शासन-विधान

राष्ट्रीय महासभा ने जर्मनी के लिए जो नया शासन-विधान तैयार किया था, उसकी रूप-रेखा निम्नलिखित थी—

(१) जर्मनी को एक संघ के रूप में संगठित किया गया था, जिसमें कुल मिलाकर अठारह राज्य सम्मिलित थे। सबसे बड़ा राज्य प्रशिया का था। क्रान्ति से पूर्व भी जर्मनी एक ऐसा साम्राज्य था, जिसमें बहुत-से छोटे बड़े राज्य शामिल थे। क्रान्ति ने इन स्थानीय भेदों को पूरी तरह दूर नहीं किया। एक भाषा, एक संस्कृति और एक परम्परा होते हुए भी जर्मनी के विविध राज्यों को पृथक् रूप से कायम रखा गया। भेद यह हुआ, कि इन अठारहों राज्यों का शासन रिपब्लिकन था, और उनका मिलकर जो संघ (फिडरेशन) बना, उसका अधिपति भी जनता द्वारा निर्वाचित होता था।

(२) जर्मन रिपब्लिक के कानून आदि का निर्माण करने के लिए दो सभाएँ बना ईं गईं—१. रीशराट (राज्य सभा)—इसमें सब राज्यों के प्रतिनिधि रहते थे। यह व्यवस्था की गई थी, कि दस लाख निवासियों का एक प्रतिनिधि राज्य सभा में रहे। पर यदि किसी राज्य की जन-संख्या दस लाख से कम हो, तो भी उसका एक प्रतिनिधि अवश्य रहे, और किसी एक राज्य के इतने अधिक प्रतिनिधि न होने पावें, कि उनकी संख्या राज्य सभा के कुल सदस्यों के ४० फी सदी से अधिक बढ़ जावे। २. रीशटाग (प्रतिनिधि सभा)—इसमें जर्मन जनता के प्रतिनिधि रहते थे। बीस साल से अधिक आयु के प्रत्येक स्त्री व पुरुष को वोट का अधिकार दिया गया था। चुनाव के लिए वोट गुप्त रूप से डाला जाता था, और 'समानुपातिक प्रतिनिधित्व' की प्रणाली से निर्वाचन किया जाता था। प्रतिनिधि सभा के सदस्य चार साल के लिए चुने जाते थे।

(३) रिपब्लिकके राष्ट्रपति का चुनाव सीधा जनता द्वारा होता था। राष्ट्रपति पद के लिए जो उम्मीदवार हों, उनकी आयु कम से कम ३५ साल अवश्य होनी चाहिए। राष्ट्रपति सात साल के लिए चुना जाता था, और उसे दुबारा फिर सात साल के लिए चुने जा सकने की भी व्यवस्था थी। यदि लोकमत उसके विरुद्ध हो जाय, तो जनमत (रिफरेन्डम)

द्वारा उसे पदच्युत भी किया सकता था। राष्ट्रपति को बहुत अधिक अधिकार दिये गये थे। वह स्थल और जल-सेनाओं का प्रधान सेनापति होता था। बड़े-बड़े सैनिक व अन्य राजकर्मचारियों की नियुक्ति वही करता था। विदेशी मामलों में उसके अधिकार बहुत अधिक थे। पर सन्धि-विग्रह के मामलों में वह प्रतिनिधि सभा की सम्मति के बिना कुछ न कर सकता था। उसकी शक्ति जनता के प्रतिनिधियों के अधीन थी।

(४) मन्त्रिमण्डल के प्रधान को चांसलर कहते थे। प्रतिनिधि सभा में जिस दल का बहुमत हो, उसके नेता को चांसलर का पद ग्रहण करने के लिए राष्ट्रपति निमन्त्रित करता था। चांसलर अपने साथियों में से मन्त्री चुनता था, और यह मन्त्रिमण्डल तब तक अपने पद पर रहता था, जब तक प्रतिनिधि सभा का बहुमत उसके पक्ष में रहे। यदि प्रतिनिधि सभा का बहुमत मन्त्रिमण्डल के पक्ष में न रहे, तो यह आवश्यक था कि मन्त्रिमण्डल त्याग-पत्र दे दे, और नये चांसलर की नियुक्ति हो।

(५) नये शासन-विधान में जर्मन नागरिकों के आधारभूत अधिकारों व कर्तव्यों का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया था। कानून की दृष्टि में सब नागरिक एक बराबर हों। स्त्री और पुरुष—दोनों के एक समान अधिकार और कर्तव्य हों। जन्म के कारण न किसी के कोई विशेष अधिकार हों और न किसी को हीन समझकर किसी अधिकार से वंचित रखा जाय। कुलीन लोगों व अन्य बड़े आदमियों को जो ओहदे व उपाधियाँ पहले जमाने में दी जाती थीं, वे अब न दी जावें। सबको अपने विचार प्रगट करने, स्वतन्त्रतापूर्वक भाषण करने, लेख लिखने व अपने विचारों का प्रचार करने की पूरी-पूरी आजादी रहे। जो जहाँ चाहे रह सके, जो काम चाहे कर सके। सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अधिकार रहे, और राज्य उस स्वत्त्व को स्वीकार करे। धर्म के सम्बन्ध में सबको पूरी-पूरी स्वतन्त्रता रहे। सबको बाधित रूप से शिक्षा दी जाय और यह शिक्षा बिना खर्च के हो। सब शिक्षणालयों में यह प्रयत्न किया

जाय, कि विद्यार्थियों का चरित्र उत्तम हो, नागरिकता के कर्तव्यों का उन्हें ज्ञान हो, अपने कार्य में वे पूरी तरह दक्ष हों, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति की नीति पर उन्हें विश्वास हो। सम्पत्ति पर व्यक्तियों के स्वत्त्व को स्वीकृत किया गया, पर साथ ही पूँजीपतियों से यह आशा की गई, कि वे अपनी सम्पत्ति का उपयोग सार्वजनिक हित को दृष्टि में रखकर करें। मजदूरों के लिये यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया, कि उन्हें कार्य देना राज्य का कर्तव्य है। बीमारी, बेकारी और बुढ़ापे के लिए उनका बीमा होना चाहिए, और काम करने का समय व कम से कम मजदूरी की मात्रा निश्चित होनी चाहिए।

(६) शासन विधान में यह भी व्यवस्था की गई, कि जर्मन संघ के अन्तर्गत सब राज्यों में रिपब्लिकन शासनप्रणाली आवश्यक रूप से रहे। ब्रेमन, हाम्बुर्ग और ल्यूबक के नगर-राज्यों में पहले से ही रिपब्लिक विद्यमान थीं। अतः उनमें किसी विशेष परिवर्तन की आवश्यकता नहीं थी। अन्य राज्यों के वंशक्रमानुगत राजा राजसिंहासन परित्याग करने को विवश हो गये थे। अब उन सबमें रिपब्लिक स्थापित की गई। प्रशिया की रिपब्लिक में दो सभाएँ बनाई गई। १. लान्डटाग—२४ वर्ष से अधिक आयु के सब स्त्री-पुरुष इस सभा के लिए प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार रखते थे। प्रतिनिधियों का चुनाव चार वर्ष के लिये होता था। २. स्टाट्सराट—इसका चुनाव प्रान्तीय सभाएँ करती थीं। प्रशिया के अतिरिक्त अन्य राज्य छोटे-छोटे थे। उनमें दो सभाओं की आवश्यकता नहीं थी। उनकी व्यवस्थापिका सभा एक ही रहती थी। सब राज्यों में व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल शासन का कार्य करते थे।

३. जर्मनी में रिपब्लिक का शासन

राजसत्ता का अन्त होकर जर्मनी में रिपब्लिक का शासन कायम हो हो गया था। पर नई सरकार के सम्मुख अनेक विकट समस्यायें थीं,

जिनका हल किये बिना जर्मनी में शान्ति व व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती थी। नये शासन विधान का विरोध दो दलों की ओर से हो रहा था। राजसत्ता के पक्षपाती अभी कम नहीं थे, दूसरी तरफ कम्यूनिस्ट लोग भी अभी अपने आन्दोलन में लगे थे। पर इन दोनों दलों की शक्ति को तोड़ने और रिपब्लिक की रक्षा करने में जर्मन साम्यवादी सरकार पूरी तरह सफल हुई। पर अधिक विकट समस्या वर्साय की सन्धि की उन शर्तों को पूरा करना था, जिनके अनुसार जर्मनी को अरबों रुपया प्रतिवर्ष मित्र राज्यों को हरजाने के रूप में देना था। जर्मनी का अंग भंग हो चुका था, लाखों जर्मन लोग अब अन्य राज्यों की प्रजा बनकर रहने के लिए विवश हो चुके थे, पर इन सब बातों को उन्होंने चुपचाप सह लिया था। परन्तु समस्या यह थी, कि उस भारी रकम को किस प्रकार अदा किया जाय, जिसे हर साल देना आवश्यक था। इसके लिए यही सम्भव था, कि जर्मन सरकार कर्ज ले, टैक्स बढ़ावे और अधिक से अधिक पत्रमुद्रा जारी करे। जर्मनी के व्यवसाय व कारखाने युद्ध में अस्त व्यस्त हो गये थे। व्यावसायिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व के बहुत से प्रदेश अब उसके हाथ से निकल चुके थे। इस दशा में अपनी पैदावार से हरजाने की रकम को दे सकना उसके लिए सम्भव नहीं था। कर्ज, टैक्सों में वृद्धि और पत्र-मुद्रा के प्रसार का अवलम्बन कर के जर्मनी ने अपनी देनदारियों को अदा करने का प्रयत्न किया, और उसका परिणाम यह हुआ, कि उसके सिक्के (मार्क) की कीमत लगातार गिरने लगी। मार्क की कितनी दुर्दशा हुई, यह इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। युद्ध के समय एक पौंड में २० मार्क आते थे। मार्क एक शिलिंग या ११½ आने के बराबर होता था। बाद में उसकी कीमत इस प्रकार गिरती गई—

दिसम्बर, १९२१ एक पौंड = ७७० मार्क
अगस्त, १९२२ एक पौंड = ३००० मार्क

दिसम्बर, १९२२ एक पौंड = ३४,००० मार्क

दिसम्बर, १९२३ एक पौंड = १,६००,०००,००० मार्क

मार्क की इस दुर्दशा के कारण जर्मनी के लिए हरजाने की रकम का दे सकना बहुत कठिन हो गया। मार्च, १९२२ तक जर्मनी ४०,०००,-०००,००० रुपया (चार हजार करोड़) हरजाने के रूप में अदा कर चुका था। इसी भारी रकम के कारण जर्मनी में रुपये का इतना अभाव हो गया, कि उसके लिए अपनी आर्थिक दशा को संभालना कठिन हो गया। मार्च, १९२२ के बाद मार्क की कीमत निरन्तर गिरने लगी, और उसके लिए और अधिक हरजाना दे सकना मुश्किल हो गया। इस दशा में जर्मनी की ओर से मित्रराज्यों की सेवा में एक आवेदन-पत्र भेज गया, जिसमें यह प्रार्थना की गई, कि दो साल के लिये हरजाने की अदायगी स्थागित की जाय, और जर्मनी को यह अवसर दिया जाय कि वह अपनी आर्थिक दशा को संभालने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय ऋण प्राप्त कर सके। ब्रिटेन इस आवेदनपत्र पर सहानुभूति के साथ विचार करने के लिए तैयार था। पर फ़ांस और बेल्जियम किसी भी प्रकार की रियायत के लिए तैयार नहीं हुए, और जब उन्होंने देखा कि जर्मनी समय पर हरजाने की रकम नही दे पाया है, तो रूर के प्रदेश पर उन्होंने कब्जा कर लिया। रूर जर्मन व्यवसायों का केन्द्र है। उस पर कब्जे का अभि-प्राय जर्मनी के व्यावसायिक जीवन पर कब्जा था। ११ जनवरी, १९२३ को फ़ांस की सेनाओं ने रूर पर अधिकार कर लिया। जर्मनी इस स्थिति में नहीं था, कि फ़ांस का मुकाबला कर सकता। पर उसने निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का अवलम्बन किया। जर्मन मजदूरों ने फ़ांस के साथ असहयोग किया, और सब व्यवसाय बन्द हो गये। संसार के लोकमत की सहानुभूति इस समय जर्मनी के साथ थी, और फ़ांस के कार्य की सब निन्दा करते थे। अन्त में फ़ांस जर्मनी के साथ समझौता करने के लिए तैयार हो गया। जर्मनी की ओर से निष्क्रिय प्रतिरोध के आन्दोलन को

बन्द कर दिया गया, और फ्रांस ने एक कमेटी बिठाना स्वीकार किया, जो इस बात पर विचार करे, कि हरजाने की अदायगी के सम्बन्ध में जर्मनी को क्या रियायतें दी जा सकती हैं। यह डावस कमेटी के नाम से प्रसिद्ध है। मई, १६२४ में डावस कमेटी की रिपोर्ट तैयार हो गई। जुलाई में लण्डन में दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें कुछ परिवर्तनों के साथ 'डावस योजना' को सबने स्वीकृत कर लिया। इस योजना की प्रधान बातें ये थीं—(१) जर्मनी अस्सी करोड़ रुपया प्रतिवर्ष हरजाने के रूप में देना शुरू करे। (२) पर वार्षिक हरजाने की यह मात्रा निरन्तर बढ़ती जावे, और चार वर्ष के बाद जर्मनी दो सौ करोड़ रुपया हर साल देने लगे। (३) आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने के लिए जर्मनी को ६५ करोड़ रुपये का कर्ज तुरन्त दिया जावे। (४) फ्रांस ने रूर के जिन प्रदेशों पर कब्जा किया हुआ था, उन्हें वह छोड़ दे। (५) पर जर्मनी ठीक समय पर हरजाने की मात्रा अदा करता रहेगा, इसके लिये उसकी रेलवे की आमदनी, व्यावसायिक आय और टैक्स—अमानत के रूप में रहें। यदि जर्मन सरकार स्वयं समय पर हरजाना न दे, तो इन आमदनियों से वह रकम वसूल की जा सके (६) जर्मनी की मुद्रापद्धति का पुनः संगठन किया जावे, और जर्मनी हरजाने की जो रकम हर साल दिया करे, वह मार्क सिक्के में हो। उसे अपने देश के सिक्के में परिवर्तित करने की जिम्मेवारी मित्र राज्यों के ऊपर रहे। (७) आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में जर्मनी को पूरी स्वतन्त्रता रहे।

मार्क की कीमत को सँभालने और जर्मनी की मुद्रापद्धति में फिर से जान डालने के लिए एक नई मुद्रापद्धति को शुरू किया गया। इस सिक्के का नाम रीशमार्क रखा गया, और इसकी कीमत एक शिलिंग या ११३ आने तय की गई। इसे जर्मनी की सरकार नहीं जारी करती थी। एक राजकीय बैंक का संगठन किया गया, जिसकी ओर से रीशमार्क जारी किये गये और ये सिक्के सरकारी नियन्त्रण से पृथक् रहे। इस

समय सभी राज्य जर्मनी की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए उत्सुक थे। उसकी आर्थिक दशा के सँभले बिना हरजाने की रकम भी वसूल नहीं हो सकती थी। यही कारण है, कि जब जर्मनी की ओर से राष्ट्रीय ऋण जारी हुआ, तो प्रायः सभी देशों ने अच्छी तरह उसका स्वागत किया। जितने कर्ज की उसे जरूरत थी, उससे कहीं अधिक रुपया उसे प्राप्त हो गया।

डावस योजना द्वारा यूरोप के इतिहास में एक नई प्रवृत्ति का सूत्र-पात हुआ। अब तक जर्मनी से बदला लेने और उसे सर्वथा पंगु बना देने की भावना प्रबल थी। वर्साय की सन्धि का अभिप्राय यही था, कि जर्मनी को सर्वथा कुचल दिया जाय। पर अब समय बदल रहा था। युद्ध की कटु स्मृतियाँ मन्द पड़ने लगी थीं, और मित्रराज्य अनुभव करने लगे थे, कि जर्मनी को अपने पैरों पर खड़ा होने देना उनके अपने हितों की दृष्टि से भी आवश्यक है। इस समय ब्रिटेन में लेबर पार्टी का मन्त्रि मण्डल बन चुका था, श्री रामजे मैकडानल्ड प्रधान मन्त्री थे। फ्रांस में मई, १९२४ में नया चुनाव हुआ था। इसके परिणामस्वरूप श्री पायन्कारे का मन्त्रि-मण्डल पदच्युत हो गया था, और उनके स्थान पर श्री हेरियो प्रधान मन्त्री के पद पर आरूढ़ हुए थे। श्री हेरियो रेडिकल पार्टी के नेता थे और जर्मनी के साथ उदार नीति का अनुसरण करने के पक्षपाती थे। इस समय जर्मनी के विदेश सचिव श्री स्ट्रेसमान थे, जो स्वयं इस बात के लिए उत्सुक थे, कि जर्मनी को यूरोप के राज्यों में फिर से सम्मानास्पद स्थान प्राप्त हो, और वह सब के साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करके रहे। मैकडनाल्ड, हेरियो और स्ट्रेसमान के प्रगतिशील विचारों का ही यह परिणाम हुआ, कि डावस योजना स्वीकृत हुई, और जर्मनी की गिरती हुई दशा को सँभलने में सहायता मिली।

डावस योजना द्वारा जर्मनी की वार्षिक देनदारी को ऐसी मात्रा में नियत करने का प्रयत्न किया गया, जिसे वह अपने व्यवसायों को नष्ट

किये विना देता रह सके। यह इस योजना की सबसे अच्छी बात थी। पर इसमें यह तय नहीं किया गया था, कि जर्मनी कब तक सालाना हरजाना देता रहेगा। जर्मनी को हरजाने की कुल कितनी रकम देनी है, यह भी इस योजना में तय नहीं किया गया था। सम्भवतः, यह मुमकिन नहीं था, कि हरजाने की पूर्व निश्चित मात्रा में किसी भी तरह की कमी की जा सके, कारण यह कि फ्रांस इस बात को कभी भी स्वीकार न करता। इस दशा में, जर्मन लोगों को अपनी देनदारी का अन्त कहीं भी नजर नहीं आता था। वे समझते थे, कि अपने व्यवसायों को उन्नत करके व आर्थिक दशा को सँभाल कर वे जो कुछ भी पैदा करेंगे या बचावेंगे, वह सब आखिरकार उनके हाथ से निकल कर मित्रराज्यों के पास पहुँच जायगा। डावस योजना ने जर्मनी को सँभलने में मदद अवश्य दी, पर जर्मन लोगों में जो कटुता और निराशा की भावना थी, उसे वह दूर नहीं कर सकी।

डावस योजना के अधीन जिस अन्तर्राष्ट्रीय ऋण की व्यवस्था की गई थी, उसने भी अनेक परिणाम उत्पन्न किये। इस ऋण की सफलता से उत्साहित होकर अगले पाँच सालों में न केवल जर्मन सरकार ने, अपितु अनेक जर्मन म्यूनिसिपैलिटियों और व्यावसायिक कम्पनियों ने भी विदेशों में ऋण लेने शुरू किये। अमेरिका और ब्रिटेन के बाजार में इन ऋणों को खूब सफलता मिलती थी। अरबों की संख्या में विदेशी रुपया जर्मनी को मिलने लगा, और इससे जहाँ वह अपने सालाना हरजाने की रकम को सुगमता से अदा करता रह सका, वहाँ अपने व्यवसायों की उन्नति के लिए भी उसे बहुत सहायता मिली। १६२३ में जो जर्मनी सर्वथा दिवालिया हो गया था, वह १६२८ तक बहुत कुछ सँभल गया, और उसके माल से संसार के बाजार एक बार फिर पटने लग गये। जर्मनी में फिर आर्थिक समृद्धि प्रगट होने लगी।

आर्थिक दशा सँभलने के साथ साथ जर्मनी में राजनीतिक शक्ति भी संचारित होने लगी थी। यद्यपि डावस योजना ने वर्साय की सन्धि की

बुराइयों का अनेक अंशों में संशोधन किया था, पर जर्मनी के उग्र राष्ट्रीय दल उससे संतुष्ट नहीं थे। महायुद्ध को समाप्त हुए अब छः साल हो गये थे। पराजय के कारण जो आत्मग्लानि जर्मन लोगों में पैदा हुई थी, वह बहुत कुछ दूर हो गई थी। वे अब फिर उग्र राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत होने लगे थे। २८ फरवरी, १९२५ को राष्ट्रपति एबर्ट की मृत्यु होगई। अब नये राष्ट्रपति के चुनाव का प्रश्न था। राष्ट्रीय दल ने फील्ड मार्शल फान हिण्डनबर्ग को अपनी ओर से उम्मीदवार खड़ा किया। हिण्डनबर्ग के वीर कृत्यों को जर्मन लोग अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वह जर्मन सैनिक शक्ति और राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं का मूर्त रूप था। उसके व्यक्तित्व के सम्मुख साम्यवादी एबर्ट के अनुयायी नहीं टिक सके। वह राष्ट्रपति चुना गया, और १२ मई, १९२५ को ७८ वर्ष की आयु के इस वयोवृद्ध फील्ड मार्शल ने राष्ट्रपति के पद की शपथ ग्रहण की। हिण्डनबर्ग के निर्वाचन ने जर्मनी में एक नई शक्ति का संचार कर दिया। लोग फिर से जर्मनी के राष्ट्रीय पुनरुत्थान का स्वप्न देखने लगे। जिस सैनिक शक्ति को कुचल कर जर्मनी का पराजय किया गया था, वह एक बार फिर जर्मन लोगों में नई आशा का संचार करने लगी।

४. लोकार्नो की सन्धि

यूरोप में फ्रांस और जर्मनी की प्रतिस्पर्धा देर से चली आती थी। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में फ्रांस यूरोप की सबसे बड़ी राजनीतिक और सैनिक शक्ति था। नैपोलियन के नेतृत्व में फ्रांस अपने उत्कर्ष की चरम सीमा को पहुँच गया था। पर उन्नीसवीं सदी में जर्मनी का संगठन हुआ, और १८७०-७१ में फ्रांस को उससे बुरी तरह परास्त होना पड़ा। १९१४-१८ के महायुद्ध में फ्रांस जर्मनी से बदला लेने में समर्थ हुआ, पर अभी तक उसे यह भय बना हुआ था, कि जर्मनी फिर से शक्ति प्राप्त कर उसके लिए खतरे का कारण बन सकता है। पेरिस की

सन्धि-परिषद् में फ़्रांस की यही कोशिश थी, कि जर्मनी की सम्भावित शक्ति के मुकाबले में आत्मरक्षा का वह पूरा पूरा इन्तजाम कर ले। इसी-लिए उसने वर्साय की सन्धि में जर्मनी को इस बात के लिए विवश किया था, कि र्‌हाइन नदी के दक्षिण में वह कोई किलाबन्दी न कर सके। इसी लिए उसने रूर के प्रदेश पर कब्जा किया था। पर फ़्रांस इस सबको पर्याप्त नहीं समझता था। महायुद्ध में जर्मनी के हाथों से उसे भारी नुक-सान उठाना पड़ा था। उसका कोशिश यह थी, कि अमेरिका और ब्रिटेन इस बात की गारंटी दें, कि यदि फिर कभी जर्मनी ने फ़्रांस पर हमला किया, तो वे पूरी तरह उसकी सहायता करेंगे। अमेरिका और ब्रिटेन से उसे यह गारंटी पूरी तरह नहीं मिल सकी। इसी उद्देश्य से फ़्रांस ने पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया के साथ सन्धियाँ की थीं। इन सब देशों को जर्मनी से निरन्तर भय था। कारण यह कि इनकी नई सीमाओं के अन्तर्गत ऐसे प्रदेश आ गये थे, जिनमें जर्मन जाति के लोग पर्याप्त संख्या में निवास करते थे। फ़्रांस ने इन देशों से सन्धि कर यूरोप में अपना एक ऐसा गुट बना लिया था, जिसकी सहायता पर वह सदा भरोसा रख सकता था। पर जर्मनी के भावी आक्रमणों से वह तभी निश्चिन्त हो सकता था, जब अमेरिका और ब्रिटेन जैसे शक्ति-शाली देशों की सहायता का भी उसे पूरी तरह भरोसा हो जाय।

सन् १९२१ में राष्ट्रसंघ के संमुख यह प्रश्न पेश हुआ, कि विविध-राज्यों को अपने अस्त्र शस्त्रों की मात्रा में कमी करनी चाहिए। फ़्रांस तथा पूर्वी यूरोप के विविध देशों की यह राय थी, कि अस्त्र-शस्त्रों में तब तक कमी कर सकना सम्भाव नहीं है, जब तक कि उनकी रक्षा के लिये अन्य व्यवस्था का भरोसा न हो। इस सिद्धान्त को ब्रिटेन ने स्वीकार किया, और एक ऐसा मसविदा तैयार हुआ, जिसमें 'पारस्प-रिक सहायता के लिये सन्धि" की व्यवस्था की गई थी। इस मसविदे के अनुसार यदि किन्हीं राज्यों में लड़ाई छिड़ जाय, तो राष्ट्रसंघ की कौंसिल का

अधिवेशन फौरन बुलाया जाना चाहिये, और कौंसिल को चार दिन के अन्दर अन्दर यह फैसला कर देना चाहिए, कि लड़ाई शुरू करने में कौन राज्य दोषी है। जो दोषी हो, उसके खिलाफ लड़ाई में अन्य सब राज्यों को पूरी तरह सहायता करनी चाहिये। इस मसविदे को राष्ट्रसंघ में सम्मिलित सब राज्यों की सरकारों के पास विचारार्थ भेज दिया गया। फ्रांस ने इसका बड़े उत्साह के साथ समर्थन किया। पूर्वी यूरोप के अन्य राज्य भी इस मसविदे से बहुत प्रसन्न हुए। पर ब्रिटेन ने इसका स्वागत नहीं किया। ब्रिटेन और उसके साम्राज्य के अन्तर्गत कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि उपनिवेश इस बात के लिये तैयार नहीं थे, कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनकी जिम्मेवारियाँ बढ़ती जावें। उन्होंने 'पारस्परिक सहायता की सन्धि' को अस्वीकृत कर दिया।

इसी बीच में अगले साल डावस योजना तैयार हुई। इस योजना से इंलैण्ड और फ्रांस दोनों सहमत थे। डावस योजना द्वारा यूरोप में एक बार फिर आशा और परस्पर विश्वास का संचार हुआ, और १९२४ में रामजे मैकडानल्ड और हेरियो राष्ट्रसंघ के अधिवेशन में बड़ी आशा के साथ सम्मिलित हुए। वहाँ उन्होंने मिलकर एक समझौता तैयार किया, जो 'जिनीवा प्रोटोकोल' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रोटोकोल द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि जब दो राज्यों में कोई झगड़ा ऐसा हो, जो कानून से सम्बन्ध रखता हो, तो उसे स्थिर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाय। इस न्यायालय का निर्णय दोनों पक्षों के लिये मानना आवश्यक हो। यदि राज्यों में ऐसे झगड़े हों, जो कानून से सम्बन्ध न रखते हों, तो उन्हें राष्ट्रसंघ की कौंसिल के सामने पेश किया जाय। यदि कौंसिल में कोई फैसला सर्वसम्मति से हो जाय, तो उसे मानना सबके लिये आवश्यक हो। पर यदि फैसला सर्वसम्मति से न हो, तो उसे एक पंचायत के सम्मुख पेश किया जाय। इस पंचायत की नियुक्ति राष्ट्रसंघ की कौंसिल करे। पंचायत जो फैसला दे, उसे मानना

सबके लिये जरूरी हो। पर फ्रांस इस प्रोटोकोल से पूर्णतया संतुष्ट नहीं था। कारण यह, कि वह यह गारण्टी चाहता था, कि यदि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, कौंसिल व उस द्वारा नियुक्त पंचायत का फैसला न माने, और युद्ध प्रारम्भ करे, तो उसके खिलाफ अन्य राज्य मिलकर लड़ाई की घोषणा कर देंगे। पर फिर भी फ्रांस ने जिनीवा प्रोटोकोल को स्वीकृत कर लिया। पोयन्कारे के पतन के बाद श्री हेरियो के नेतृत्व में फ्रांस की राजनीति में परिवर्तन आ गया था, और वह अन्य राज्यों के साथ मिलकर कार्य करने के लिये उत्सुक था। जिनीवा प्रोटोकोल इसी नीति का परिणाम था।

इस बीच में ब्रिटेन में नया निर्वाचन हुआ। वहाँ की कन्जर्वेटिव पार्टी ने मजदूर दल को परास्त कर अपनी सरकार कायम की। नये मन्त्रिमण्डल में विदेश सचिव का पद श्री आस्टिन चेम्बरलेन ने ग्रहण किया। श्री बालड्विन प्रधानमन्त्री बने। ब्रिटेन की जनता नहीं चाहती थी, कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी जिम्मेवारियाँ जरा भी बढ़ें। पार्लियामेण्ट के सम्मुख जिनीवा प्रोटोकोल जब पेश हुआ, तो वह बहुमत से अस्वीकृत हो गया। ब्रिटेन की अस्वीकृति का परिणाम यह हुआ, कि श्री हेरियो और श्री मैकडानेल्ड ने आपस में मिलकर जो समझौता किया था, वह बीच में ही रह गया। उसकी अकालमृत्यु हो गई। फ्रांस में इससे बहुत असन्तोष हुआ, और अब वहाँ के राजनीतिज्ञ ब्रिटेन के सहयोग की आशा छोड़कर यूरोप में अपनी स्थिति को मजबूत करने में लग गये। इसी प्रयत्न का परिणाम लोकार्नो की सन्धि थी, जो जर्मनी और फ्रांस के इतिहास में बड़ा महत्त्व रखती है।

१९२२ के अन्त में जर्मनी ने फ्रेंच सरकार के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा था, कि वे आपस में मिलकर एक ऐसा समझौता कर लें, जिसके अनुसार कम से कम एक सन्तति तक (२५ वर्षों तक) वे एक दूसरे के साथ युद्ध न करें। पर उस समय पोयन्कारे फ्रांस का प्रधान मन्त्री था। रूर पर

चवालीसवाँ अध्याय

यूरोप के नये राज्य

१. आस्ट्रिया-हंगरी का अधःपतन

महायुद्ध में परास्त होने से जिस प्रकार जर्मनी में होहेन्ट्सोलर्न राजवंश का अन्त हुआ, उसी प्रकार आस्ट्रिया-हंगरी से हाप्सबुर्ग वंश की समाप्ति हुई। हाप्सबुर्ग वंश के राजा आस्ट्रिया और हंगरी दोनों राज्यों के अधिपति होते थे। जर्मनी और उसके साथियों के पराजय से न केवल इस प्राचीन राजवंश का अन्त हुआ, पर आस्ट्रिया-हंगरी का शक्तिशाली साम्राज्य भी टुकड़े टुकड़े हो गया। उसके भग्नावशेषों पर चार स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ, जिनके नाम हैं—आस्ट्रिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया।

३० अक्टूबर, १९१८ को आस्ट्रिया में एक सामयिक राष्ट्रीय महासभा की बैठक हुई। इसमें वे लोग सदस्य के रूप में एकत्र हुए, जो पुराने आस्ट्रिया-हंगरी की प्रतिनिधि सभा में आस्ट्रिया के प्रदेशों से चुने गये थे। इस महासभा का मुख्य कार्य यह था, कि विजेता देशों के साथ सन्धि करके शान्ति की स्थापना करें। ११ नवम्बर, १९१८ को हाप्सबुर्ग सम्राट् चार्ल्स ने पदत्याग कर दिया, और अगले दिन आस्ट्रिया में रिपब्लिक की घोषणा की गई। सामयिक रूप से एक नये मन्त्रिमण्डल का संगठन किया गया और उन जरूरी कानूनों का निर्माण किया गया, जो समय और परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए आवश्यक थे।

इसी बीच में आस्ट्रिया के लिए एक विधान-परिषद् (कान्स्टिट्युएन्ट असेम्बली) का निर्वाचन किया गया। इसके लिये सब बालिग स्त्री-पुरुषों

को वोट का अधिकार दिया गया था। १६ फरवरी, १६१६ तक नई विधान-परिषद् के चुनाव पूर्ण हो गये। परिषद् में सोशल डेमोक्रेट और क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टियों का बहुमत था। इन दलों की प्रवृत्तियाँ साम्यवादी थीं। मित्र राज्यों के साथ सां जर्मे की सन्धि सम्पन्न कर विधान-परिषद् ने आस्ट्रिया के लिये नये शासन-विधान के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। नया विधान १ अक्टूबर, १६२० से लागू हुआ।

आस्ट्रिया की नई रिपब्लिक की कुल जन-संख्या ६५ लाख थी। इनमें से २० लाख व्यक्ति वीएना में निवास करते थे, जो कि आस्ट्रिया की प्राचीन राजधानी थी। इस छोटी सी रिपब्लिक को आठ भागों या राज्यों में विभक्त किया गया। प्रत्येक राज्य अपने आप में पूर्ण व स्वतन्त्र था, और उनका मिलाकर एक संघ (फिडरेशन) बनाया गया था। संघ की पार्लियामेन्ट में दो सभायें बनाई गईं (१) नाशनल राट—(राष्ट्रीय सभा)—इसके सदस्य चार साल के लिये चुने जाते थे, और उनका चुनाव आस्ट्रिया के मतदाताओं द्वारा सीधा होता था। (२) बुन्दसराट (संघ सभा)—इसके सदस्यों का चुनाव आठों राज्यों की प्रतिनिधि-सभायें करती थीं। दोनों सभाओं का जब मिलकर अधिवेशन हो, तो उसे राष्ट्रीय महासभा कहते थे, और यह महासभा आस्ट्रिया के राष्ट्रपति का निर्वाचन करती थी। राष्ट्रपति का निर्वाचन चार साल के लिये किया जाता था, और वह दुबारा भी चार साल के लिये चुना जा सकता था। मन्त्रिमण्डल का निर्माण प्रधान मन्त्री करता था। नाशनल राट में जिस दल का बहुमत हो, उसके नेता को प्रधान मन्त्री बनाया जाता था, और वह नाशनल राट के सदस्यों में से अपने मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। मन्त्रिमण्डल नाशनल राट के प्रति ही उत्तरदायी होता था। संघ की सरकार के अधिकार बहुत अधिक थे। आस्ट्रिया ने कानूनों का भी पुनः निर्माण किया था। इन नये कानूनों की विशेषता यह थी, कि मृत्युदण्ड को सर्वथा उड़ा दिया गया था।

१७ अक्टूबर, १६२० को नये शासन-विधान के अनुसार पहले निर्वाचन हुए। पार्लियामेन्ट में सोशल डेमोक्रेट और क्रिश्चियन सोशलिस्ट दलों का ही बहुमत हुआ। आस्ट्रिया का पहला राष्ट्रपति डा० माइकेल हैनिश निर्वाचित हुआ। रिपब्लिक की नई सरकार के सम्मुख बहुत सी विकट समस्यायें थीं। आस्ट्रिया अब एक छोटा सा राज्य रह गया था। उसके पास कोई भी बन्दरगाह नहीं था। पुराने आस्ट्रिया के जो भी व्यावसायिक नगर थे, उसके पास जो भी कोयले या लोहे की खानें थी, वे सब उससे ले ली गई थीं। महायुद्ध के लिये दोषी ठहरा कर उस पर भी हरजाने की भारी मात्रा लाद दी गई थी। इस दशा में आर्थिक दृष्टि से आस्ट्रिया को भी बहुत सी कठिनाओं का सामना करना पडा। धीरे-धीरे उसकी दशा इतनी बिगड़ गई, कि राष्ट्र संघ को बाधित होकर उसे सहायता देने के लिये तैयार होना पड़ा। आखिर, यह व्यवस्था की गई, कि चालीस करोड़ रुपये के कर्ज का प्रबन्ध किया जाय, जिससे कि आस्ट्रिया अपनी आर्थिक दशा को सँभाल सके। इस कर्ज की अदायगी के लिये आस्ट्रिया की रेलवे और निर्यात-आयात करों की आमदनियों को जमानत के रूप में माना गया। इसमें सन्देह नहीं, कि इस कर्ज के कारण १६२२ के बाद आस्ट्रिया की आर्थिक दशा कुछ कुछ सुधरने लग गई।

२. हंगरी

महायुद्ध के बाद हंगरी का बहुत सा प्रदेश उसके हाथ से निकल गया। पहले उसकी आबादी दो करोड़ दस लाख थी। नये हंगरी के निवासियों की संख्या केवल ७५ लाख रह गई। त्रियानो की सन्धि के अनुसार पुराने हंगरी का ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश रूमानिया को, क्रोटिया का प्रदेश युगोस्लाविया को और स्लोवाकिया का प्रदेश चेको-स्लोवाकिया को दिया गया था। इन प्रदेशों में जो हंगेरियन लोग रहते थे, उनकी संख्या तीस लाख से भी अधिक थी। हंगरी के इतने राष्ट्रीय नागरिक अब विदेशों मे

रहने के लिये विवश हुए थे। उसकी यह स्वाभाविक इच्छा थी, कि ट्रांसिलवेनिया, क्रोटिया और स्लोवाकिया के वे हिस्से, जिन में हंगेरियन लोग बहुसंख्या में थे, उसे फिर से वापस मिल जावें। अल्पसंख्या के लोगों की जो समस्यायें यूरोप में आगे चलकर पैदा हुईं, उनमें हंगेरियन लोगों की समस्या भी बहुत पेंचीदी थी।

हंगरी का राज्य अब आस्ट्रिया से पृथक् करके बनाया गया। हाप्सबुर्ग वंश के राजा ही पहले हंगरी के भी राजा होते थे। सम्राट् चार्ल्स ने जब आस्ट्रिया की राजगद्दी का परित्याग किया, तभी हंगरी की राजगद्दी भी खाली हो गई। हंगरी की नई सरकार का स्वरूप अब बदल गया था। वहाँ भी अब रिपब्लिक की स्थापना की गई थी। सामयिक रूप से वहाँ का पहला राष्ट्रपति काउण्ट कारोल्यी को बनाया गया। पर हंगरी में ऐसा दल भी विद्यमान था, जो वहाँ फिर से हाप्सबुर्ग वंश का शासन स्थापित करना चाहता था। १९२१ में भूतपूर्व सम्राट् चार्ल्स की ओर से दो बार यह प्रयत्न किये गये, कि वह फिर से हंगरी की राजगद्दी पर अधिकार प्राप्त कर सके, पर उसे सफलता नहीं हुई। यद्यपि हंगरी के लोगों की सहानुभुति उसके साथ थी, पर चेकोस्लावाकिया और युगोस्लाविया उसके बहुत खिलाफ थे। उनका खयाल था, कि हाप्सबुर्ग वंश के फिर से हंगरी के शासक बन जाने का परिणाम यह होगा, कि पुराने साम्राज्य को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया जायगा।

पृथक् स्वतन्त्र राज्य बनने के बाद हंगरी को अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। मार्च, १९१९ में कम्यूनिस्ट लोग हंगरी में बहुत प्रबल हो गये। रशिया में इस समय तक कम्यूनिस्ट लोग अपना शासन भली भाँति जमा चुके थे। उनका यह प्रयत्न था, कि सारे यूरोप में बोल्शेविक सिद्धान्तों के अनुसार क्रान्ति की जाय, क्योंकि सर्वत्र कम्यूनिस्ट प्रणाली के प्रचलित हुए बिना रशिया में नये आर्थिक व सामाजिक संगठन का कायम रह सकना सम्भव नहीं है। हंगरी के कम्यूनिस्ट दल

का नेता बेलाकुन था। वह देर तक रशिया में रहा था, और वहीं उसने कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों की शिक्षा ग्रहण की थी। मार्च, १६१६ में बेलाकुन के नेतृत्व में हंगरी में क्रान्ति हुई। हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट पर उन्होंने अपना कब्जा कर लिया, और राष्ट्रपति काउन्ट कारोल्यी को देश छोड़ने के लिये विवश होना पडा। कम्यूनिस्ट शासन में सब वैयक्तिक सम्पत्ति जब्त कर ली गई। सब व्यवसाय और व्यापार राज्य के अधिकार में ले लिये गये। कारखानों पर मजदूरों की कौंसिलों ने कब्जा कर लिया और जमींदारों से उनकी सब जमीनें छीन ली गईं। विरोधियों के साथ बड़ा सख्त बरताव किया गया। कुछ समय के लिये हंगरी में आतंक का राज्य छा गया, और ऐसा प्रतीत होने लगा, कि इस छोटी सी रिपब्लिक में भी रशिया के समान बोल्शेविक रीति-नीति कायम हो जायगी।

हंगरी के पड़ोसी राज्य इससे बहुत चिन्तित हुए। विशेषतया, वे राज्य जिनका निर्माण पुराने आस्ट्रिया-हंगरी के खण्डहरों पर हुआ था, इससे बहुत भयभीत हुए। उनसे प्रेरणा पाकर रूमानिया ने हंगरी पर हमला कर दिया। ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश रूमानिया ने हंगरी से ही प्राप्त किया था। इसमें बहुत से हंगेरियन जाति के लोग बसते थे। रूमानिया को भय था, कि कम्यूनिज्म की बीमारी कहीं उसके प्रदेश में भी न आ जावे। हंगरी के बोल्शेविक रूमानिया का मुकाबला नहीं कर सके। रूमानियन सेनाओं ने शीघ्र ही बुडापेस्ट पर कब्जा कर लिया। बोल्शेविक शासन का अन्त कर दिया गया। आक्रमण करनेवाली सेनाओं ने हंगरी को बहुत बुरी तरह से लूटा। उनकी हंगरी से पुरानी शत्रुता थी। बोल्शेविकों का दमन करने के बहाने से उन्होंने हंगरी का बुरी तरह विनाश किया।

जब रूमानियन सेनायें लूट-मार करके अपने देश को वापस लौट गईं, तो हंगरी की राष्ट्रीय महासभा ने एडमिरल होर्थी को राष्ट्रपति चुना और देश में नये शासन विधान को प्रचलित करने का प्रयत्न किया।

बोल्शेविकों के दमन के कारण हंगरी में साम्यवादी दल बहुत कमजोर पड़ गये, और उन दलों ने जोर पकड़ा, जो हाप्सबुर्ग राजवंश को फिर से राजगद्दी पर स्थापित करके पुराने जमाने को वापस लाना चाहते थे। पर इन्हें अपने प्रयत्नों में सफलता नहीं हुई। हंगरी में रिपब्लिक कायम रही, पर वहाँ के प्रगतिशील लोगों ने अपना यह प्रयत्न बन्द नहीं किया, कि हंगरी फिर अपने लुप्त गौरव को प्राप्त करे। चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया से उसका स्वाभाविक विरोध था। यही कारण है, कि जब १६३८ में हिटलर के प्रयत्नों से चेकोस्लोवाकिया का अन्त हुआ, तो हंगरी ने भी अपनी राजनीतिक सत्ता के पुनरुत्थान का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया और वह एक बार फिर जर्मनी के शिकंजे में चला गया।

२. चेकोस्लोवाकिया

आस्ट्रिया-हंगरी के खण्डहरों पर जिन नये राज्यों का निर्माण हुआ, उनमें चेकोस्लोवाकिया मुख्य है। इस देश में दो जातियों का प्रधानतया निवास है, चेक और स्लोवाक। ये दोनों विशाल स्लाव जाति की दो शाखायें हैं। इनकी बोलियाँ अलग अलग हैं, पर वे भी एक ही भाषा की शाखायें हैं। यद्यपि जाति की दृष्टि से चेक और स्लोवाक एक दूसरे के बहुत समीप हैं, पर उनकी ऐतिहासिक परम्परा सर्वथा पृथक् रही है। चेक लोगों का प्रदेश बोहेमिया कहाता है, और मध्यकाल में वह एक स्वतन्त्र राज्य था। १६२० के बाद वह आस्ट्रिया के साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। तब से चेक लोगों पर जर्मन प्रभाव बढ़ने लगा। आस्ट्रियन लोगों की भाषा जर्मन है, और सभ्यता व संस्कृति की दृष्टि से भी वे जर्मनों के बहुत समीप हैं। चेक जाति के कुलीन और बड़े लोग जर्मन भाषा पढ़ने लगे और जर्मन संस्कृति को अपनाने में गौरव अनुभव करने लगे। इसी का परिणाम हुआ, कि आधुनिक चेक लोग सुशिक्षित, परिश्रमी और उन्नत हैं। इसके विपरीत, स्लोवाक लोग एक हजार साल से हंगरी के अधीन

रहे। हंगरी आस्ट्रिया के मुकाबले में बहुत पिछड़ा हुआ था। इसलिये हंगेरियन लोगों के सम्पर्क में रहते हुए स्लोवाक लोग कोई विशेष उन्नति नहीं कर सके। यही कारण है, कि जब महायुद्ध के बाद चेको-स्लोवाकिया का पृथक् स्वतन्त्र राज्य कायम हुआ, तो उसकी सरकार में चेक लोगों की प्रधानता रही। राजकर्मचारी भी मुख्यतया चेक जाति के हुए। यह बात बहुत से स्लोवाक लोगों को पसन्द नहीं थी। उनके प्रगतिशील लोगों ने यह आन्दोलन शुरू किया, कि स्लोवाकिया का पृथक् राज्य होना चाहिये। पर यह आन्दोलन सफल नहीं हुआ। चेक और स्लोवाक—दोनों एक ही जाति के थे। अतः धीरे-धीरे उनमें एकता की भावना का विकास होता गया।

चेक और स्लोवाक लोगों में आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य से स्वतन्त्र होने की आकांक्षा देर से विद्यमान थी। फ़ांस की राज्यक्रान्ति और नैपोलियन के विजयों से यूरोप भर में राष्ट्रीयता की जो भावना व्याप्त हुई थी, उसका प्रभाव चेक और स्लोवाक लोगों पर भी पड़ा। विशेषतया, चेक लोगों में अपने राष्ट्रीय गौरव और देश-प्रेम का विकास बड़ी तेजी के साथ होने लगा। अनेक विद्वानों और लेखकों ने इस प्रवृत्ति में सहायता दी। १८४८ के क्रान्ति काल में चेक लोगों ने भी विद्रोह किये, पर उन्हें बुरी तरह कुचल दिया गया। १८६८ के बाद चेक लोगों ने अपने राष्ट्रीय आन्दोलन को फिर खड़ा किया। इस समय चेकों में दो मुख्य दल थे। एक दल का कहना था, कि जिस प्रकार हाप्सबुर्ग राजवंश का सम्राट् आस्ट्रिया और हंगरी दोनों राज्यों का पृथक पृथक् राजा है, और उसका राज्याभिषेक वीएना और बुडापेस्ट, दोनों राजधानियों में होता है, उसी प्रकार उसे बोहेमिया के पृथक् राज्य का भी पृथक् राजा होना चाहिए, और उसका राज्याभिषेक प्राग में भी होना चाहिये। दूसरा दल कहता था, कि चेक, स्लोवाक, रूथेनियन और युगो-स्लाव, इन सब जातियों का मिलकर एक विशाल स्लाव राज्य संगठित किया

जाना चाहिये। दोनों दल शान्तिमय उपायों से अपने आन्दोलनों को आगे बढाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसी बीच मे महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ। शुरू में चेक लोगों ने आस्ट्रिया हंगरी के साम्राज्य के प्रति पूर्णतया भक्ति प्रदर्शित की, और युद्ध के प्रयत्न मे सरकार का पूरा पूरा साथ दिया। अक्टूबर, १९१४ मे बोहेमिया के चेक यूनियन ने घोषणा की कि "हम सरकार का विरोध अवश्य करते रहे है, पर हमने राज्य के प्रति विरोध-भावना का कभी प्रदर्शन नहीं किया।" पर चेक लोगों मे ऐसे उग्र राष्ट्रवादी नेताओं की कमी नहीं थी, जो महायुद्ध को अपनी राष्ट्रीय आकाक्षाओं की पूर्ति का एक सुवर्णावसर समझते थे। वे अनुभव करते थे, कि यदि महायुद्ध मे आस्ट्रिया हंगरी का पराजय हो. तभी वे अपना पृथक् स्वतन्त्र राज्य कायम करने मे समर्थ हो सकते है। इन क्रान्तिकारी लोगों ने गुप्त रूप से मित्रराष्ट्रों की सहायता करनी प्रारम्भ की। अनेक नेता छिपकर फ्रास और ब्रिटेन मे चले आये, और वहाँ उन्होंने मित्रराष्ट्रों की सरकारों से यह प्रेरणा की, कि चेक गुप्त समितियों को अपने कार्य मे पूरी पूरी सहायता दी जाय, ताकि आस्ट्रिया-हंगरी के युद्ध सम्बन्धी प्रयत्नों मे रोडे अटकाने के कार्य मे वे समर्थ हो सकें। कुछ समय बाद अनेक चेक नेताओं ने पेरिस मे एक सामयिक चेक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की, और फ्रास के विदेशी कार्यालय की सहायता से बोहेमिया मे विद्यमान क्रान्तिकारी गुप्त समितियों की सहायता शुरू कर दी। साथ ही, आस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध प्रचार के काम मे इस सामयिक चेक सरकार ने बडा काम किया। न केवल संसार के लोकमत को हाप्सबुर्ग राज्यवंश के खिलाफ भडकाने का इसने उद्योग किया, पर साथ ही आस्ट्रिया-हंगरी के विशाल साम्राज्य में निवास करनेवाली विविध जातियों को युद्ध के अवसर से फायदा उठा कर विद्रोह कर देने के लिये भी इसने प्रेरित किया। १४ अक्टूबर. १९१८ को पेरिस मे स्थित इस चेक सरकार को मित्रराष्ट्रों ने बाकायदा

चेक सरकार के रूप में स्वीकार कर लिया। चार दिन बाद, १८ अक्टूबर को इसी चेक सरकार ने अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। चेक लोगों के इस राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रधान नेता प्रोफेसर मैसेरिक था। आस्ट्रिया-हंगरी के पराजय और हाप्सबुर्ग राजवंश के पतन के बाद प्राग में चेक लोगों ने रिपब्लिक की स्थापना कर दी। रिपब्लिक का पहला राष्ट्रपति प्रोफेसर मैसेरिक को चुना गया, और नया शासन-विधान तैयार करने के लिये एक विधान परिषद् का निर्माण कर दिया गया।

२६ फरवरी, १६२० को चेको-स्लोवाकिया का नया विधान बनकर तैयार हुआ। पार्लियामेंट में दो सभायें रखी गई (१) प्रतिनिधि सभा—इसके सदस्य छः साल के लिये चुने जाते थे। २१ साल से अधिक आयु के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वोट का अधिकार दिया गया था, और ३० साल से अधिक आयु का प्रत्येक व्यक्ति प्रतिनिधि सभा का सदस्य होने का उम्मीदवार हो सकता था। (२) सीनेट—इसका चुनाव आठ साल के लिये होता था। प्रतिनिधि सभा और सीनेट के सदस्य राष्ट्रीय महासभा के रूप में अपनी सम्मिलित बैठक करते थे, और राष्ट्रपति का निर्वाचन करते थे। प्रोफेसर मैसेरिक अब तक सामयिक रूप से राष्ट्रपति का कार्य करते थे। अब उन्हें राष्ट्रीय महासभा द्वारा सात साल के लिये राष्ट्रपति चुन लिया गया।

चेकोस्लोवाकिया का जो नया राज्य अब स्थापित हुआ, उसकी कुल आबादी एक करोड़ छत्तीस लाख ग्यारह हजार थी। इसमें ८७,६०,००० चेको-स्लोवाक, ३१,२३,००० जर्मन (आस्ट्रियन), ७५,८०० पोल, ७,४७,००० हंगेरियन और ४,६१,००० रूथेनियन लोग थे। चेकोस्लोवाकिया की यह बहुत बड़ी कमजोरी थी, कि उसमें अन्य जातियों के लोग भी बड़ी संख्या में बसते थे। विशेषतया, जर्मन लोगों का ३१ लाख से भी अधिक संख्या में रहना चेकोस्लोवाकिया के लिये बहुत भय की बात

थी। राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर जिस नये राज्य का चेक लोगों ने निर्माण किया, उसमें इतनी अधिक संख्या में उग्र जर्मन जाति के लोगों को शामिल करके उन्होंने भारी गलती की। राष्ट्रीय उत्साह में वे यह बात भूल गये, कि अपने देश की सीमाओं को आगे बढ़ाने के लिए जिन प्रदेशों को वे शामिल करते जा रहे हैं, उनमें विजातीय लोग बड़ी संख्या में बसते हैं, और वे लोग कभी उनके राज्य के लिए खतरे का कारण हो सकते हैं। हिटलर ने इन्हीं जर्मन निवासियों का सहारा लेकर केवल बीस साल बाद इस नये चेक राज्य को दबोच कर अपने पैरों के नीचे कुचल दिया। बीस साल की स्वतन्त्र सत्ता के काल में भी चेको-स्लोवाकिया की सरकार को इन विविध अल्पसंख्यक जातियों की अनेकविध समस्याओं का मुकाबला करना पड़ा।

पुराने आष्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य में जो लोहे और कोयले की खानें थीं, उनका आधे से भी अधिक भाग चेको-स्लोवाकिया के राज्य में आया था। इसके कारण इस नये राज्य की खूब व्यावसायिक उन्नति हुई। जिस समय जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी आदि विविध राज्य आर्थिक संकट के शिकार होकर दुर्दशा को प्राप्त थे, चेको-स्लोवाकिया निरन्तर व्यावसायिक उन्नति में लगा था। उसका माल संसार के बाजारों में खूब अच्छी कीमतों पर बिकता था। केवल व्यावसायिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु कृषि में भी इस नये राज्य ने खूब उन्नति की। महायुद्ध से पूर्व इस देश में जमीनों पर बड़े बड़े जमींदारों का अधिकार था, जो किसानों को चूस कर स्वयं भोग विलास में मस्त रहते थे। अब इन बड़ी जमींदारियों को छोटे टुकड़ों में विभक्त कर किसानों को बेच दिया गया। परिणाम यह हुआ, कि मध्य श्रेणी के किसान निरन्तर समृद्ध और सुखी होते गये।

यूरोप की राजनीति में भी चेको-स्लोवाकिया का महत्त्व बढ़ने लगा। जर्मनी की पराजय से फ्रांस यूरोप के राज्यों में सबसे शक्तिशाली हो गया था। अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए उसने चेको-स्लोवाकिया,

यूगोस्लाविया और रूमानिया का एक त्रिगुट संगठित किया। इतिहास में यह 'छोटा त्रिगुट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका उद्देश्य यह था, कि जर्मनी फिर सिर न उठा सके, और न ही हाप्सबुर्ग राजवंश के सम्राट् फिर से अपने साम्राज्य का पुनरुद्धार कर सकें। फ्रांस इस त्रिगुट का संरक्षक था। इसकी सेनाओं का शिक्षण फ्रेंच आफिसर करते थे, और इसकी सरकारें पूरी तरह फ्रेंच प्रभाव में थीं। फ्रांस जर्मनी के खिलाफ आत्मरक्षा के जो साधन जुटा रहा था, उनमें इन तीन नये राज्यों को

साम्राज्य के अन्तर्गत थे। नये स्थापित युगोस्लाव राज्य में तीन जातियों का निवास था, सर्ब, क्रोट और स्लोवन। ये तीनों विशाल स्लाव जाति की भिन्न भिन्न शाखायें थीं, और नसल, भाषा तथा संस्कृति की दृष्टि से एक दूसरे के बहुत समीप थीं। सर्बिया के राजा को ही सारे युगोस्लाविया का राजा बनाया गया था। युगोस्लाव का अभिप्राय है, दक्षिणी स्लाव। दक्षिणी स्लाव जातियों के इस राज्य की स्थापना से स्लाव जाति की राष्ट्रीय भावना और महत्त्वाकांक्षा बहुत कुछ पूरी हो गई थी। इस नये राज्य की कुल आबादी एक करोड़ पैंतीस लाख थी। यूरोप के नये राज्यों में यह काफी बड़ा और शक्तिशाली था। नये राज्य का शासन विधान क्या हो, इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद थे। रिपब्लिक का सवाल युगोस्लाविया में उत्पन्न नहीं हुआ। सर्बिया से ही महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ था, आस्ट्रिया-हंगरी की सेनायें शीघ्र ही उसे जीत लेने में समर्थ हुई थीं। मित्रराष्ट्रों की विजय के बाद सर्बिया के राजवंश ने एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था, और उसे पदच्युत कर देने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। पर शासन विधान के विषय में मुख्य मतभेद इस बात पर था, कि नये राज्य में सब राजशक्ति केन्द्रीय सरकार में केन्द्रित की जाय, या विविध प्रदेशों का स्वतन्त्र शासन कायम रखते हुए एक फिडरेशन (संघ) का निर्माण किया जाय। एक दल के नेता श्री पाशिप थे। उनकी राय यह थी, कि युगोस्लाविया की केन्द्रीय सरकार फ्रांस के समान मजबूत होनी चाहिए। दूसरा दल चाहता था, कि उनके देश में स्विट्जरलैण्ड के जैसा शासन कायम किया जाय, जिसमें सर्ब, क्रोट और स्लोवन जातियों की पृथक् सत्ता और पृथक् राज्य कायम रहें। इस दल के प्रधान नेता श्री रेडिप थे। क्रोट लोगों में कुछ ऐसे भी थे, जो रिपब्लिक चाहते थे, पर अभी उनकी संख्या अगण्य थी।

नवम्बर, १६२० में नया शासन विधान तैयार करने के लिए विधान परिषद् की रचना की गई। १६२१ में इस परिषद् ने युगोस्लाविया का

यूगोस्लाविया और रूमानिया का एक त्रिगुट संगठित किया। इतिहास में यह 'छोटा त्रिगुट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका उद्देश्य यह था, कि जर्मनी फिर सिर न उठा सके, और न ही हाप्सबुर्ग राजवंश के सम्राट् फिर से अपने साम्राज्य का पुनरुद्धार कर सकें। फ्रांस इस त्रिगुट का संरक्षक था। इसकी सेनाओं का शिक्षण फ्रेंच आफिसर करते थे, और इसकी सरकारें पूरी तरह फ्रेंच प्रभाव में थीं। फ्रांस जर्मनी के खिलाफ आत्मरक्षा के जो साधन जुटा रहा था, उनमें इन तीन नये राज्यों को अपने साथ रखना भी एक महत्त्व की बात थी। इन राज्यों का हित इसी में था, कि जर्मनी, आस्ट्रिया और हंगरी फिर से अपनी शक्ति न बढ़ा सकें। इनकी सत्ता ही इस बात पर निर्भर थी। फ्रांस भी यही चाहता था, इसीलिये वह इन छोटे राज्यों के साथ बहुत घनिष्ठ सन्धि करने में समर्थ हुआ। चेकोस्लोवाकिया के साथ तो उसने इतनी अधिक मित्रता करली, कि यदि उनमें से किसी पर कोई अन्य राज्य आक्रमण करे, तो वे एक दूसरे की पूरी तरह सहायता करेंगे, और विदेशी राजनीति सम्बन्धी सब मामलों में एक दूसरे के परामर्श तथा सहयोग से काम करेंगे। यह सन्धि २५ जनवरी, १९२४ को की गई थी। इसके बाद चेको-स्लोवाकिया की स्थिति यूरोप की राजनीति में बहुत सुरक्षित तथा महत्त्वपूर्ण हो गई थी, क्योंकि फ्रांस उसकी पीठ पर था।

४. युगोस्लाविया

पुराने सर्बिया का विस्तार कर युगोस्लाविया का निर्माण किया गया था। इस नये राज्य में निम्नलिखित प्रदेश सम्मिलित किये गये थे— सर्बिया, क्रोटिया, मान्टिनिग्रो, स्लोवेनिया, डाल्मेटिया, बोस्निया और हरजोगोविना। महायुद्ध से पहले इनमें से सर्बिया और मान्टिनिग्रो पृथक् राज्य थे, यद्यपि मान्टिनिग्रो आंशिक रूप से हाप्सबुर्ग राजवंश की अधीनता को स्वीकार करता था। शेष सब प्रदेश आस्ट्रिया-हंगरी के

साम्राज्य के अन्तर्गत थे। नये स्थापित युगोस्लाव राज्य में तीन जातियों का निवास था, सर्व, क्रोट और स्लोवन। ये तीनों विशाल स्लाव जाति की भिन्न भिन्न शाखायें थीं, और नसल, भाषा तथा संस्कृति की दृष्टि से एक दूसरे के बहुत समीप थीं। सर्विया के राजा को ही सारे युगोस्लाविया का राजा बनाया गया था। युगोस्लाव का अभिप्राय है, दक्षिणी स्लाव। दक्षिणी स्लाव जातियों के इस राज्य की स्थापना से स्लाव जाति की राष्ट्रीय भावना और महत्त्वाकांक्षा बहुत कुछ पूरी हो गई थी। इस नये राज्य की कुल आबादी एक करोड़ पैंतीस लाख थी। यूरोप के नये राज्यों में यह काफी बड़ा और शक्तिशाली था। नये राज्य का शासन विधान क्या हो, इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद थे। रिपब्लिक का सवाल युगोस्लाविया में उत्पन्न नहीं हुआ। सर्विया से ही महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ था, आस्ट्रिया-हंगरी की सेनायें शीघ्र ही उसे जीत लेने में समर्थ हुई थीं। मित्रराष्ट्रों की विजय के बाद सर्विया के राजवंश ने एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था, और उसे पदच्युत कर देने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। पर शासन विधान के विषय में मुख्य मतभेद इस बात पर था, कि नये राज्य में सब राजशक्ति केन्द्रीय सरकार में केन्द्रित की जाय, या विविध प्रदेशों का स्वतन्त्र शासन कायम रखते हुए एक फिडरेशन (संघ) का निर्माण किया जाय। एक दल के नेता श्री पाशिप थे। उनकी राय यह थी, कि युगोस्लाविया की केन्द्रीय सरकार फ्रांस के समान मजबूत होनी चाहिए। दूसरा दल चाहता था, कि उनके देश में स्विट्जरलैण्ड के जैसा शासन कायम किया जाय, जिसमें सर्व, क्रोट और स्लोवन जातियों की पृथक् सत्ता और पृथक् राज्य कायम रहें। इस दल के प्रधान नेता श्री रेडिप थे। क्रोट लोगों में कुछ ऐसे भी थे, जो रिपब्लिक चाहते थे, पर अभी उनकी संख्या अगण्य थी।

नवम्बर, १६२० में नया शासन विधान तैयार करने के लिए विधान परिषद् की रचना की गई। १६२१ में इस परिषद् ने युगोस्लाविया का

झगड़े भयंकर रूप से चलते रहे, और वहाँ के राजनीतिज्ञ इन्हें नहीं निपटा सके। मनुष्य-जाति का स्वभाव ही यह है, कि वह दूरदृष्टि से किसी समस्या को निबटाने की बजाय क्षणिक विचारों को अधिक महत्त्व देती है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में युगोस्लाविया यूरोप के छोटे त्रिगुट में सम्मिलित था। फ्रांस उसकी सैन्यनीति व विदेशी राजनीति का वैसे ही संचालन करता था, जैसे कि चेकोस्लोवाकिया का। युगोस्लाविया का इटली के साथ १६१६ से १६२४ तक पाँच साल इस प्रश्न पर झगड़ा रहा, कि फियूम का महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह किसके अधीन रहे। इन पाँच सालों में कई बार ऐसा प्रतीत होता था, कि फियूम के प्रश्न को लेकर दोनों राज्यों में युद्ध शुरू हो जायगा। अन्त में, २७ जनवरी १६२४ को युगोस्लाविया और इटली में यह समझौता हुआ, कि फियूम पर इटली का कब्जा रहे, पर युगोस्लाविया को यह अधिकार रहे, कि व्यापार के लिए उसके नागरिक फियूम के बन्दरगाह का स्वतन्त्रता के साथ उपयोग कर सकें।

५. रूमानिया

महायुद्ध में रूमानिया ने मित्रराज्यों का साथ दिया था। इसका उसे बहुत इनाम मिला। शान्ति परिषद् के बाद यूरोप का जिस प्रकार पुनः निर्माण किया गया, उससे रूमानिया का क्षेत्रफल पहले की अपेक्षा दुगने से भी अधिक हो गया। उसे निम्नलिखित नये प्रदेश प्राप्त हुए—ट्रांसिल-वेनिया, बुकोविना और बेस्सेरेबिया। इनके अतिरिक्त, टेमेश्वार का भी बहुत सा हिस्सा उसे प्राप्त हुआ। इनमें से बेस्सेरेबिया का प्रदेश उसे रशिया से मिला था, शेष सब पुराणे आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य से। नये विशाल रूमानिया की आबादी एक करोड़ सत्तर लाख थी, और इसमें सन्देह नहीं, कि अब उसकी गिनती यूरोप के शक्तिशाली राज्यों में

होने लगी थीं। महायुद्ध से पहले रूमानिया के उग्र राष्ट्रवादी भी यह कल्पना नहीं करते थे, कि उसका इतना अधिक उत्कर्ष इतने थोड़े से समय में हो जायगा।

रूमानिया में रिपब्लिक स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। वहाँ पुराना राजवंश राज्य करता रहा। राजा फर्डिनण्ड (सन १९२७ तक) के शासनकाल में नाम को पार्लियामेंट विद्यमान थी, पर वास्तविक शासन शक्ति श्री जान ब्राटियानो के हाथ में थी, वह रूमानिया का प्रधानमन्त्री था, और लिबरल दल का नेता था। कहने को तो उसकी पार्टी का नाम लिबरल था, पर वस्तुतः उसमें धनी पूँजीपतियों का जोर था। वे अपने रुपये के जोर पर मनमानी करते थे, और पार्लियामेन्ट का निर्वाचन आजादी के साथ नहीं होने देते थे। सारी राजशक्ति इस दल के कुछ नेताओं के हाथ में थी, जो अपनी इच्छानुसार उम्मीदवारों को नामजद करते थे, और धन की ताकत से उन्हें पार्लियामेन्ट में चुनवा देते थे। सन १९२७ में जान ब्राटियानो की मृत्यु हो गई। उसके बाद लिबरल दल में कोई ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति नहीं रहा, जो सारे राजनीतिक जीवन को अपने हाथ में रख सके। १९२८ में जब नये निर्वाचन हुए, तो लिबरल् दल की पराजय हुई, और पार्लियामेन्ट में राष्ट्रीय किसान दल का बहुमत हो गया। इस दल की नीति यह थी, कि रूमानिया में सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जाय, चुनाव स्वतन्त्र रूप से हों, प्रेस पर सेंसर न रहे, अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा की जाय और देश की आर्थिक उन्नति के लिये विदेशी पूँजी का स्वागत किया जाय। पर राष्ट्रीय किसान दल अपने आदर्शों के अनुसार शासन में विशेष परिवर्तन नहीं ला सका। १९३० में शासन-सूत्र को वहाँ के राजा-करोल ने अपने हाथों में ले लिया, और फैसिस्ट आदर्शों के अनुसार राज्यकार्य प्रारम्भ किया। इस समय यूरोप में फैसिज्म जोर पकड़ने लगा था। लोकतन्त्रवाद का स्थान एकाधिकारी नेताओं या राजाओं के एक

तन्त्र शासन लेने लगे थे। रूमानिया में करोल ने इसी प्रणाली का अनुसरण किया।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में रूमानिया यूरोप के छोटे त्रिगुट में शामिल था, और फ्रांस के कहने के अनुसार चलता था। हाप्सबुर्ग वंश के राजा अपनी शक्ति का पुनरुत्थान करके कहीं फिर आस्ट्रिया-हंगरी की शक्ति का विकास न कर लें, इसका भय रूमानिया को सदा बना रहता था। यही कारण है, कि वह विदेशी राजनीति में सदा फ्रांस का साथ देता था। इस समय फ्रांस यूरोप में उन सब देशों का नेता था, जो वर्साय की सन्धि और पेरिस की शान्ति परिषद् के निर्णयों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते थे।

रूमानिया के सम्मुख अल्पसंख्यक जातियों के प्रश्न अधिक जटिल नहीं थे। उसमें अन्य जातियों के लोग बसते जरूर थे, पर उनकी संख्या इतनी अधिक नहीं थी, कि वे रूमानिया के खिलाफ सिर उठा सकें। पर रूमानिया की आन्तरिक राजनीति में सबसे बड़ी समस्या उन तेल की खानों की थी, जिनका संचालन प्रधानतया विदेशी कम्पनियाँ करती थीं। रूमानिया में मट्टी का तेल बहुत बड़ी मात्रा में होता है। इस दृष्टि से उसका स्थान यूरोप में दूसरा है। रशिया के बाद तेल की सबसे ज्यादा खानें रूमानिया में ही हैं। इनका संचालन मुख्यतया अमेरिकन, ब्रिटिश व अन्य विदेशी कम्पनियों के हाथ में था। रूमानियन लोग यह पसन्द नहीं करते थे। इसी कारण उनके विदेशियों के साथ अनेक संघर्ष हुए। बेस्सेरेबिया के प्रश्न को लेकर रशिया के साथ भी उसके अनेक झगड़े हुए। कम्यूनिज्म की लहर वैसे तो सारे ही रूमानिया पर असर डाल रही थी, पर बेस्सेरेबिया में उसका जोर बहुत अधिक था। यही कारण है, कि युद्ध के बाद रूमानिया में कई बार विद्रोह हुए। पर वहाँ की सरकार इन सबको दबाने में सफल रही, और वहाँ क्रान्ति की चिनगारियाँ प्रकट नहीं हो पाईं।

६. पोलैण्ड

महायुद्ध के बाद यूरोप में जो नये राज्य कायम हुए, उनमें सब से बड़ा, सबसे शक्तिशाली और सबसे महत्त्वपूर्ण पोलैण्ड था। इसकी आबादी तीन करोड़ से भी अधिक थी। वह यूरोप के सबसे बड़े सात राज्यों में एक था, और निःसन्देह यूरोप की प्रधान राजनीतिक शक्तियों में उसकी गिनती की जा सकती थी। पोलैण्ड कोई नया राज्य नहीं था। दसवीं से अठारहवीं सदी तक, लगभग आठ सौ साल तक पोलैण्ड यूरोप का एक शक्तिशाली और स्वतन्त्र राज्य रहा था। अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में रशिया, प्रशिया और आस्ट्रिया ने अपनी क्रूर दृष्टि उस पर डाली, और उसका पतन शुरू हुआ। १७९५ तक वह पूर्णतया इन तीन पड़ौसी राज्यों में बंट गया। उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो गई, और उसके विविध प्रदेश रशिया, प्रशिया और आस्ट्रिया की अधीनता में चले गये। नैपोलियन ने जब रशिया पर आक्रमण किया, तो कुछ समय के लिए पोलैण्ड रशिया की अधीनता से मुक्त हो गया। वारसा के राज्य की पृथक् रूप से स्थापना हुई, और पोल लोग फिर से अपने राष्ट्रीय गौरव का स्वप्न देखने लगे। नैपोलियन के पतन के बाद वीएना की कांग्रेस के समय, १८१५ में, रशिया के सम्राट् अलकजेण्डर प्रथम ने पोलैण्ड की आन्तरिक स्वतन्त्रता को स्वीकार किया। उसकी योजना यह थी, कि पोलैण्ड रशियन साम्राज्य के अन्तर्गत अपनी पृथक् सत्ता कायम रखे। पर पोल देशभक्त इससे संतुष्ट नहीं थे, वे पूर्ण स्वाधीनता चाहते थे। यही कारण है, कि जब सन् १८३० में क्रान्ति की दूसरी लहर ने यूरोप को व्याप्त किया, तो पोल लोग भी उसके असर में आ गये। उन्होंने रशिया के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। पर अपने प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं हुई। रशियन सम्राट् ने उन्हें बुरी तरह कुचल दिया, और पोलैण्ड को जो थोड़ी बहुत आन्तरिक स्वतन्त्रता १८१५ में दी गई थी, वह उससे छीन ली गई। १८६३ में पोल देशभक्तों ने फिर एक बार विद्रोह किया, पर इस

बार उनका और भी बुरी तरह दमन किया गया। अब रशियन राजनीतिज्ञों ने यह तय किया, कि पोल लोगों की राष्ट्रीय भावना का पूर्णरूप से अन्त कर देने के लिए यह आवश्यक है, कि उनमें रशियन सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया जाय, उन्हें पूरी तरह रशियन बना लिया जाय

१८६३ के बाद पोल देशभक्तों को यह आशा नहीं रही थी, कि वे सुगमता से रशियन पंजे से छुटकारा पा सकेंगे। पर रशियन साम्राज्य के अन्तर्गत रहने से आर्थिक दृष्टि से उन्हें एक लाभ भी हुआ। रशिया में इस समय व्यावसायिक क्रान्ति हो रही थी, नये नये कारखाने कायम किये जा रहे थे। पोलैण्ड में लोहे और कोयले की अनेक खानें थीं। रशियन पूँजी द्वारा इन खानों का उपयोग किया गया, और कुछ ही समय में पोलैण्ड रशियन साम्राज्य का व्यावसायिक केन्द्र बन गया। पोलैण्ड के जो प्रदेश प्रशिया और आस्ट्रिया के अन्तर्गत थे, उनमें भी राष्ट्रीय भावना जागृत थी। वहाँ के पोल देशभक्त भी अपने पुराने राष्ट्रीय गौरव को पुनः स्थापित करने और पोलैन्ड का एक शक्तिशाली राज्य कायम करने के लिए वैसे ही इच्छुक थे, जैसे कि रशियन साम्राज्य के अन्तर्गत पोल लोग।

१९१४ में जब महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो रशिया और जर्मनी की लड़ाई प्रधानतया पोलैण्ड के प्रदेशों में ही हुई। इससे पोल लोगों को बहुत नुकसान पहुँचा। पर युद्ध के समय रशिया और जर्मनी—दोनों ही इस बात के लिए उत्सुक थे, कि पोल लोगों की सहानुभूति और सहयोग को प्राप्त करें। १९१४ में रशिया की सरकार ने उद्घोषित किया, कि लड़ाई में शामिल होने का उनका एक उद्देश्य यह भी है, कि सारे पोल प्रदेशों को एक साथ मिलाकर पोलैण्ड की पुनः स्थापना की जाय। १९१६ में जर्मनी और आस्ट्रिया ने भी यह घोषणा की, कि वे भी सब पोल प्रदेशों को (जिनमें रशिया के अन्तर्गत पोल प्रदेश भी शामिल हैं)

मिलाकर एक पृथक् पोलैण्ड की स्थापना करना चाहते हैं। १६१७ में रशिया में राज्यक्रान्ति हो गई। विशाल रशियन साम्राज्य विवश होकर युद्ध से अलग हो गया। इस अवसर से लाभ उठाकर पोल देशभक्तों ने अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को पूर्ण किया, और एक सामयिक पोल सरकार की स्थापना कर डाली। शीघ्र ही, एक विधान परिषद् का आयोजन किया गया। पर युद्ध की स्थिति अभी बहुत अनिश्चित थी। यह विधान परिषद् अपना काम तभी कर सकी, जब महायुद्ध का अन्त होकर शान्ति की स्थापना हो गई। १७ मार्च, १६२१ को पोलैण्ड का नया शासन विधान बनकर तैयार हो गया।

वर्साय की सन्धि में पोलैण्ड के पृथक् स्वतन्त्र राज्य की सत्ता को स्वीकार किया गया। पोल देशभक्तों की आकांक्षा पूर्ण हुई, और एक बार फिर स्वतन्त्र पोलैण्ड की स्थापना हुई। पर इस नये राज्य के सम्मुख समस्यायें कम नहीं थीं। एक सदी से अधिक समय तक पोल लोग तीन भिन्न भिन्न साम्राज्यों के अन्तर्गत रहे थे। तीनों की सभ्यता, संस्कृति और कानून में भेद था। इस भेद का प्रभाव पोल लोगों पर भी पड़ा था। एक जाति के होते हुए भी अब पोल लोग एक दूसरे से बहुत कुछ भिन्न हो गये थे। महायुद्ध में वे भिन्न पक्षों की सेनाओं में शामिल होकर एक दूसरे के साथ लड़े भी थे। इस दशा में पोलैण्ड के सब लोगों में एकता की भावना, देशप्रेम की वृत्ति और भ्रातृभाव उत्पन्न करना सहज बात नहीं थी। पोल लोगों की इस आन्तरिक भिन्नता ने अनेक समस्याओं को उत्पन्न किया, और इसी कारण उनके देश में लोकतन्त्र शासन बहुत सफल नहीं हुआ। शीघ्र ही वहाँ एकाधिकारी शासन का विकास हो गया, और सरकार के हाथ में जो अपार शक्ति थी, उसी के कारण पोलैण्ड की एकता कायम रह सकी।

वर्साय की सन्धि द्वारा पोलैण्ड की जो सीमायें निश्चित की गई थीं, उनसे भी अनेक जटिल समस्यायें उत्पन्न हुईं। केवल दक्षिण दिशा

लैण्ड की सीमा स्वाभाविक थी। कार्पेथियन पर्वतमाला उसे
किया से अलग करती थी। अन्य सब ओर उसकी सीमाये ऐसी थीं,
बारे में उसके पड़ौसी राज्यों से झगड़े उत्पन्न हुए। दक्षिण-पूर्व में
ट्रयन साइलीसिया का प्रदेश ऐसा था, जिसमें चेक और पोल—
जातियो के लोग बसते थे। इस प्रदेश में कोयले की बहुत सी खाने
पोलैण्ड और चेको-स्लोवाकिया दोनों ही इसे अपने अपने राज्य के
त करना चाहते थे। साइलीसिया के सवाल को लेकर झगडा
बढ़ा, कि १६१६ के शुरू में पोल और चेक सेनाएँ लडने के लिए
में उतर आईं। उनकी लडाई बहुत भयंकर रूप धारण कर लेती,
फ्रांस और ब्रिटेन बीच-बचाव करने के लिए आगे न आ जाते।
र, यह फैसला हुआ, कि साइलीसिया मे लोकमत लिया जाय,
बहुमत जिस ओर हो, उसे दोनों पक्ष स्वीकार करे। पर ज्यों ज्यों
मत लेने का समय नजदीक आता गया, साइलीसिया के चेक और
लोगों के सम्बन्ध अधिक अधिक कटु होते गये। ऐसा प्रतीत होने
कि लोकमत लेने के समय भयंकर दंगे होंगे, और शान्तिपूर्वक
निर्णय नही हो सकेगा। इस दशा मे फ्रांस ने बीच में पडकर लोकमत
बिना ही दोनों राज्यों में फैसला करा दिया। इस फैसले के
र यह निश्चय हुआ, कि कोयले की खानों के क्षेत्र चेकोस्लोवा-
को मिलें, और आस्ट्रियन साइलीसिया की प्रधान नगरी टेशन
ण्ड को प्राप्त हो। इस फैसले के पीछे कोई युक्ति नहीं थी। यह
एक समझौता था, जिससे पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया दोनों
संतुष्ट थे। पर इस समय उनके सम्मुख इस समझौते को स्वीकार
लेने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था।

पोलैण्ड के जो प्रदेश पहले आस्ट्रियन साम्राज्य के अन्तर्गत थे, उनके
थे, पूर्वी गैलीसिया और पश्चिमी गैलीसिया। इनमें से पश्चिमी
सिया की आबादी विशुद्ध रूप से पोल थी। परन्तु पूर्वी गैलीसिया

में बड़े बड़े जमींदार और शिक्षित श्रेणियों के लोग तो पोल थे, पर सर्वसाधारण जनता और किसान लोग युक्रेनियन जाति के थे। युक्रेनियन किसान पोल जमींदारों से बहुत घृणा करते थे। अब पोलैण्ड के नये राज्य में पूर्वी गैलीसिया भी शामिल किया गया। इस पर युक्रेनियन लोगों ने विद्रोह कर दिया। उनका दमन करने के लिए पोल सेनाओं ने बड़े सख्त उपायों का प्रयोग किया। फ्रांस और ब्रिटेन ने इस मामले में भी हस्तक्षेप किया, और अन्त में यह फैसला हुआ, कि पच्चीस साल तक पूर्वी गैलीसिया पर पोलैण्ड का शासन रहे। बाद में राष्ट्रसंघ यह निर्णय करे, कि इस प्रदेश पर किसका शासन रहना है। इस फैसले का अभिप्राय यही था, कि पूर्वी गैलीसिया पर पोलैण्ड का अधिकार मान लिया गया था। पर उग्र पोल लोगों ने इस फैसले को मानने से भी इन्कार कर दिया। उनका कहना था, कि सम्पूर्ण साइलीसिया पोलैण्ड का एक प्रदेश है, और उसके बारे में वे किसी बाहरी राज्य का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते। आखिरकार, १९२३ में मित्रराष्ट्रों ने पूर्वी साइलीसिया पर पोलैण्ड का अधिकार पूरी तरह से स्वीकार कर लिया।

किसी समय, जब पोलैण्ड एक स्वतन्त्र और शक्तिशाली राज्य था, उसका शासन लिथुएनिया और युक्रेनिया में भी था। उस समय काला सागर तक पोलैण्ड का साम्राज्य विस्तृत था। इन प्रदेशों की जमीनें पोल जमींदारों की सम्पत्ति थी। अठारहवीं सदी के अन्त में पोलैण्ड की राजनीतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गई, उसके प्रदेश रशिया, प्रशिया और आस्ट्रिया ने आपस में बाँट लिये। पर लिथुएनिया और युक्रेनिया में पोल जमींदारों की जमींदारियाँ कायम रहीं। राजनीतिक स्वतन्त्रता नष्ट हो जाने के बाद भी इन पोल जमींदारों का प्रभाव और शक्ति जारी रही। पर जब १९१७ में रशिया में राज्यक्रान्ति हुई, कम्यूनिस्ट लोगों ने एक नई आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया, तो ये पोल जमींदार भागकर पोलैण्ड में चले आये। अब जब कि पोलैण्ड एक

पृथक् व शक्तिशाली राज्य बन गया, तो इन पोल जमींदारों ने अपनी सरकार पर यह जोर देना शुरू किया, कि युक्रेनिया और लिथुएनिया पर हमला करके उन देशों को अपने अधीन किया जाय, ताकि वे अपनी खोई हुई जमींदारियों को फिर से प्राप्त कर सकें। पोलैण्ड के उग्र राष्ट्रीय नेताओं ने उनका साथ दिया। उनका ख्याल था, कि इन आक्रमणों से पोलैण्ड के विलुप्त गौरव का पुनरुद्धार किया जा सकता है, और एक बार फिर पोल साम्राज्य को बाल्टिक सागर से काला सागर तक व्याप्त किया जा सकता है। जब पोल देशभक्तों की यह मनोवृत्ति थी, तो उनके लिए इस बात को समझ सकना बिलकुल असम्भव था, कि उनके राज्य में केवल वे ही प्रदेश शामिल होने चाहिएँ, जहाँ के निवासियों की बहुसंख्या पोल जाति की है। इस समय पोल सरकार का अधिपति मार्शल पिल्सुदस्की था। १६२० के शुरू में उसने युक्रेनिया पर आक्रमण कर दिया। रशिया की कम्यूनिस्ट सरकार अभी पूरी तरह व्यवस्थित नहीं हुई थी। वह पोल सेनाओं के सामने नहीं टिक सकी। शीघ्र ही कीव (युक्रेनिया का मुख्य नगर) पर पोलैण्ड का कब्जा हो गया। पर रशिया की कम्यूनिस्ट सेनाएँ इस बीच में संगठित हो गई थीं। जून में उन्होंने हमला शुरू किया। वे न केवल पोल सेनाओं को युक्रेनिया से बाहर खदेड़ने में समर्थ हुईं, अपितु पोलैण्ड में प्रवेश करके वारसा (पोलैण्ड की राजधानी) तक पहुँच गईं। पर यहाँ पोल सेनाओं ने कड़ा मुकाबला किया। रशियन सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। अभी रशियन सरकार युद्ध से बची रहना चाहती थी। उसके सम्मुख अपने देश को सँभालने का ही बहुत बड़ा सवाल विद्यमान था। उसने यही उचित समझा, कि पोलैण्ड से सुलह कर ली जाय। १६२१ में रीगा की सन्धि द्वारा रशिया और पोलैण्ड के बीच की सीमा का निर्णय कर दिया गया। इस सन्धि से पोल देशभक्तों की यह इच्छा तो पूर्ण नहीं हुई, कि काला सागर तक उनका साम्राज्य विस्तीर्ण हो जाय, पर रशिया का काफी बड़ा

प्रदेश उन्हें प्राप्त हो गया। निःसन्देह, इस समय पोलैण्ड एक शक्ति-शाली राज्य बन गया था।

लिथुएनिया की राजधानी विल्ना थी। इस विल्ना की आबादी मिली-जुली थी। लिथुएनियन लोगों के अतिरिक्त वहाँ यहूदी और पोल लोग भी बड़ी संख्या में निवास करते थे। यद्यपि बहुसंख्या पोल लोगों की नहीं थी, पर विल्ना पोल साहित्य, शिक्षा और संस्कृति का बड़ा केन्द्र था। वहाँ पोल लोगों का एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। इस कारण पोलैण्ड के राष्ट्रीय नेताओं की यह प्रबल आकांक्षा थी, कि विल्ना उनके राज्य में शामिल हो। यदि इसके लिए लिथुएनिया से युद्ध भी करना पड़े, तो भी इसमें संकोच नहीं करना चाहिए। पोल सेनाओं ने युद्ध शुरू कर दिया, पर उन्हें अपने प्रयत्नों में विशेष सफलता नहीं हुई। पोलैण्ड की सरकार ने यही उचित समझा, कि लिथुएनिया के साथ सन्धि कर ली जाय, और विल्ना पर कब्जा करने के यत्न को छोड़ दिया जाय।

इधर तो पोल सरकार विल्ना के सम्बन्ध में सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर कर रही थी, और उधर वह गुप्त रूप से एक षड्यन्त्र तैयार कर रही थी, जिसके अनुसार केवल तीन दिन बाद एक पोल सेनापति ने कुछ सेना एकत्र कर अचानक विल्ना पर हमला कर दिया। लिथुएनियन लोग समझते थे, कि पोलैण्ड के साथ सुलह हो चुकी है। वे बेफिक्र थे, और युद्ध के लिए उन्होंने कोई भी तैयारी नहीं की हुई थी। जनरल जेलि-गोव्स्की के नेतृत्व में पोल सेनाओं ने विल्ना पर कब्जा कर लिया। ऊपर से पोल सरकार ने घोषणा की, कि जनरल जेलिगोव्स्की के कार्य में उनका कोई भी हाथ नहीं है, वे उसके कार्य की निन्दा करते हैं, और इस प्रकार एक मित्र राज्य की राजधानी पर कब्जा कर लेना सर्वथा अनुचित है। पर अन्दर अन्दर से पोल सरकार इससे बहुत प्रसन्न थी, वस्तुतः उसी की प्रेरणा और साजिश से यह हमला हुआ था। राष्ट्रसंघ ने बहुत कोशिश की, कि पोल सेना विल्ना को छोड़कर वापस चली जाय। पर उसकी

और लिथुएनिया। इन चारों राज्यों के प्रदेश पहले रशियन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। रशिया के विशाल साम्राज्य से पृथक् करके ही इन नये राज्यों का निर्माण किया गया था।

अठारहवीं सदी तक फिनलैण्ड स्वीडन का एक हिस्सा था। १८०६ में उस पर रशिया ने अपना अधिकार कर लिया। पर रशिया ने फिनलैण्ड की भाषा, संस्कृति व कानून आदि में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। विदेशी मामलों और सन्धि-विग्रह की बात को छोड़कर अन्य सब विषयों में फिनलैण्ड की पृथक् सत्ता और आन्तरिक स्वतन्त्रता भी स्वीकार की गई। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक रशियन सरकार की यह नीति जारी रही, और फिनलैण्ड के निवासी रशियन साम्राज्य के अधीन रहते हुए भी अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहे। पर सम्राट् निकोलस द्वितीय बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। साथ ही, रशिया में स्लाव राष्ट्रीय आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ रहा था। परिणाम यह हुआ, कि फिनलैण्ड में स्लाव संस्कृति और रशियन कानून जारी करने का प्रयत्न शुरू किया गया, और इस नीति का अवलम्बन किया गया, कि फिनलैण्ड को पूरी तरह रशिया का ही एक अंग बना दिया जाय। इसी लिए उसकी आन्तरिक स्वतन्त्रता भी छीन ली गई। फिन लोगों ने विद्रोह किया, पर उसका बुरी तरह दमन किया गया। अनेक फिन नेता विदेशों में जाकर आश्रय लेने को विवश हुए। १९०५ में रशिया की जापान के साथ युद्ध में पराजय हुई। उसी साल रशिया में क्रान्ति की लहर शुरू हुई, और अनेक नवीन शासन-सुधार किये गये। इसका असर फिनलैण्ड पर भी पड़ा, और एक बार फिर वहाँ प्रतिनिधि सभा की स्थापना की गई। पर १९०८ में रशियन सरकार ने फिनलैण्ड पर फिर दबाव डालना शुरू किया। स्लाव राष्ट्रवादी नेताओं की आकांक्षा यह थी, कि फिनलैण्ड आदि सब बाल्टिक प्रदेश अपनी पृथक् सत्ता को खोकर पूरी तरह रशियन बन जावें। पर फिन लोग अपनी राष्ट्रीय सत्ता को इस प्रकार नष्ट नहीं होने देना चाहते थे।

परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने फिर विद्रोह किये। १९१४ में महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय रशिया के खिलाफ फिन देशभक्तों के आन्दोलन जारी थे। युद्ध के दौरान में यह असम्भव था, कि रशिया किसी भी विद्रोह व आन्दोलन को सह सके। फिन लोगों के साथ बहुत कड़ाई का बरताव किया गया। कई बार वहाँ फौजी कानून भी जारी किया गया। बहुत से देशभक्त गिरफ्तार हुए। इस सबके बावजूद भी फिन लोगों ने स्वतन्त्रता के अपने प्रयत्नों को जारी रखा। १९१७ में रशिया में जब राज्यक्रान्ति हुई और साम्राज्य का केन्द्रीय शासन अस्त-व्यस्त हो गया, तो फिन लोगों ने इस अनुपम अवसर से लाभ उठाया। ६ दिसम्बर, १९१७ को उन्होंने फिनलैण्ड को एक स्तवन्त्र राज्य उद्घोपित कर दिया और उसके शासन के लिए एक सामयिक सरकार का संगठन कर लिया। रशिया की क्रान्तिकारी कम्यूनिस्ट सरकार के सम्मुख अपनी आन्तरिक समस्यायें ही बहुत थीं। फिनलैण्ड के स्वातन्त्र्य को कुचलने के लिए न उनके पास समय था, न शक्ति। २७ दिसम्बर, १९१७ को रशियन सरकार ने फिनलैण्ड की स्वाधीनता और पृथक् सत्ता को स्वीकार कर लिया। १९१८ के शुरू में स्वीडन, फ्रांस और जर्मनी ने भी रशिया का अनुसरण किया।

पर स्वाधीनता की स्थापना के साथ फिनलैण्ड की समस्याओं का अन्त नहीं हो गया। रशिया की बोल्शेविक विचारधारा का असर फिन लोगों पर भी पड़ा, और अनेक फिन क्रान्तिकारियों ने सोचा, कि साम्यवादी शासन स्थापित करने का यह अच्छा अवसर है। १९१७ की क्रान्ति से पहले जो रशियन सेनाएँ फिनलैण्ड में विद्यमान थीं, उनमें से बहुत सी अब तक रशिया वापस नहीं गई थीं। ये रशियन सैनिक कम्यूनिस्ट विचारों के थे। फिन कम्यूनिस्टों ने सोचा, कि रशियन सैनिकों की मदद से फिनलैण्ड में भी कम्यूनिस्ट प्रणाली के अनुसार क्रान्ति की जा सकती है। उन्होंने विद्रोह कर दिया। बाकायदा गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया, और

दक्षिणी फिनलैण्ड पर कम्यूनिस्टों का कब्जा हो गया। कम्यूनिस्टों के साथ उत्तरी फिनलैण्ड की जो सेनायें लड रही थीं, उनका प्रधान सेनापति जनरल मैनरहाइम था। यह पुरानी रशियन सेना का एक निपुण सेनापति था। उत्तरी फिनलैण्ड के लोग पूरी तरह उसकी सहायता कर रहे थे। पर विदेशी सहायता के बिना यह सम्भव नहीं प्रतीत होता था, कि कम्यूनिस्ट लोगों का दमन किया जा सकेगा। फिन सरकार ने पहले स्वीडन की सहायता मांगी। पर वह किसी तरह भी फिनलैण्ड के इस आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार नहीं हुआ। जर्मनी ने खुशी के साथ जनरल मैनरहाइम की मदद करना स्वीकार कर लिया। जनरल रूडिगर के नेतृत्व में एक जर्मन सेना फिन कम्यूनिस्टों का दमन करने के लिए भेजी गई। फिन और जर्मन सेनाओं के सम्मिलित प्रयत्न से एप्रिल, १९१८ में कम्यूनिस्ट सेनाओं का पराजय किया गया और गृह-कलह का अन्त हुआ। महायुद्ध में जब जर्मनी परास्त हो गया, और सन्धि की स्थापना हो गई, तब ये जर्मन सेनाएँ दिसम्बर, १९१८ में फिनलैण्ड से वापस लौटीं।

फिनलैण्ड में नये शासन-विधान का प्रारम्भ जुलाई, १९१९ में हुआ। उसके अनुसार पार्लियामेंट में केवल एक सभा रखी गई, जिसका चुनाव तीन साल के लिए होता था। वोट का अधिकार सब बालिग स्त्री-पुरुषों को दिया गया। राष्ट्रपति का निर्वाचन छः साल के लिए होता था। प्रतिनिधि सभा जो फैसला करे, उसे वीटो करने का अधिकार राष्ट्रपति को नहीं दिया गया था। मन्त्रिमण्डल प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी था। फिनलैण्ड के दस फीसदी निवासी स्वीडिश भाषा बोलनेवाले थे। उन्हें संतुष्ट रखने के लिए फिन और स्वीडिश—दोनों भाषाओं को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत किया गया। फिनलैण्ड का कुल क्षेत्रफल १,४५,००० वर्गमील है, और उसकी आबादी १९२५ में ३३,६०,००० थी।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फिनलैण्ड की नीति यह रही है, कि वह अपने पड़ोसी राज्य स्वीडन, नार्वे और डेनमार्क के साथ सुलह से रहे। राष्ट्रसंघ पर उसका अतुल विश्वास था। रशिया और स्वीडन के साथ उसके जो भी झगड़े हुए, उन सबको वह राष्ट्रसंघ के सम्मुख पेश करता रहा। पर फिनलैण्ड का यह रिपब्लिकन राज्य देर तक अपने लोकतन्त्र स्वरूप को कायम नहीं रख सका। जब इटली और जर्मनी में फैसिज्म और नाजीज्म द्वारा एक दल या एक नेता के हाथ में सब राजनीतिक अधिकार आने की प्रवृत्ति शुरू हुई, तो फिनलैण्ड भी उस प्रभाव से नहीं बच सका। यद्यपि लोकतन्त्र शासन वहाँ कायम रहा, तथापि फैसिज्म के असर से वहाँ की सरकार ने बहुत सी शक्ति अपने हाथों में कर ली।

८. एस्थोनिया

फिनलैण्ड के समान एस्थोनिया के प्रदेश भी पहले स्वीडन के अधीन थे, बाद में रशिया ने उन पर अपना कब्जा कर लिया था। रशियन साम्राज्य के अन्तर्गत रहकर एस्थोनिया की बहुत दुर्दशा हुई। बड़े बड़े एस्थोनियन जमींदार और कुलीनश्रेणी के लोग रशियन सम्राट् की मदद करते थे, और इस मदद के बदले में स्वच्छन्दता पूर्वक अपनी रैयत पर अत्याचार करते थे। पर एस्थोनिया की जनता में भी धीरे धीरे जागृति हो रही थी। १९०५ में जब रशिया भर में क्रान्ति की लहर व्याप्त हुई, तो एस्थोनियन लोगों ने भी विद्रोह किया। पर इस विद्रोह का दमन करने के लिए रशियन सरकार को कोई भी परेशानी नहीं हुई। बिना किसी विशेष प्रयत्न के एस्थोनिया की क्रान्ति की भावना को कुचल दिया गया। महायुद्ध के समय में एस्थोनियन देशभक्त स्वतन्त्रता के लिए हाथ पैर जरूर पटकते रहे, पर उन्हें कोई सफलता नहीं मिली।

१९१७ में जब रशिया में राज्यक्रान्ति हुई, तो एस्थोनिया को भी स्वाधीनता प्राप्ति का अनुपम अवसर हाथ लगा। मार्च, १९१७ में रशिया

जो सामयिक सरकार कायम हुई थी, उसने एस्थोनिया के स्वाधीनता दावे को स्वीकार कर लिया। एस्थोनिया में भी सामयिक सरकार की स्थापना की गई और विधान परिषद् के निर्वाचन की व्यवस्था हुई। पर एस्थोनिया अपनी स्वतन्त्रता को देर तक कायम नहीं रख सका। १९१८ के शुरू में जर्मन सेनाओं ने उस पर कब्जा कर लिया, और एस्थोनियन देशभक्तों की सब उमंगें और आकांक्षायें मन की मन में ही रह गईं।

महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के बाद एस्थोनियन रिपब्लिक का पुनरुद्धार हुआ। विधान-परिषद ने देश के लिए जो नया शासन-विधान बनाया था, उसके अनुसार पार्लियामेण्ट में केवल एक सभा रखी गई थी, जिसके १०० सदस्य होते थे, वोट का अधिकर सब बालिग स्त्री पुरुषो को दिया गया था। राष्ट्रपति को वोटों का अधिकार नहीं था। वह किसी निश्चित काल के लिए नहीं चुना जाता था। जब तक प्रतिनिधि सभा उ[...] पर विश्वास रखे, वह अपने पद पर रह सकता था। १९२२ में एस्थोनि[...] की आबादी ११ लाख थी।

एस्थोनिया को स्वतंत्र हो जाने के बाद अनेक दिक्कतों का सा[...] करना पड़ा। नवम्बर, १९१८ में उसको भी कम्यूनिस्टों के साथ [...] शुरू हुई। यह युद्ध एक साल से अधिक समय तक जारी रहा। [...] जब रशिया की कम्यूनिस्ट सरकार ने एस्थोनियन रिपब्लिक की [...] सत्ता को स्वीकार कर लिया, तब २ फरवरी, १९२० को इस ल[...] अन्त हुआ।

१९३४ के बाद एस्थोनिया भी फैसिस्ट प्रभाव में चला [...] लोकतन्त्र शासन का अन्त होकर वहाँ एकाधिकार की स्थापन[...]

९. लैटविया

फिनलैंड और एस्थोनिया के समान लैटविया भी [...]

साम्राज्य के अन्तर्गत था। स्वीडन के निर्बल होने और रशिया के उत्कर्ष के कारण बाद में लैटविया रशिया के अधीन हो गया। लैट-देशभक्तों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए जो भी प्रयत्न किये, उन सबको बुरी तरह कुचला गया। १९०५ की क्रान्ति की लहर का असर लैटविया पर भी पड़ा, पर लैट विद्रोह का दमन करने में रशियन सरकार को कोई दिक्कत नहीं उठानी पड़ी।

महायुद्ध के शुरू होने पर जर्मन सेनाओं ने पूर्वी रणक्षेत्र में आगे बढ़ना शुरू किया, और१९१५ में लैटविया पर कब्जा कर लिया। जर्मनी का लैटविया पर यह कब्जा १९१८ तक जारी रहा। जब महायुद्ध का अन्त हुआ और जर्मनी परास्त हो गया, तब लैट लोगों को अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा करने का अवसर मिला। १८ नवम्बर, १९१८ को लैटविया में स्वाधीनता की घोषणा की गई, और देश का शासन करने के लिए एक सामयिक सरकार का निर्माण हुआ। साथ ही, एक विधान-परिषद् का निर्वाचन किया गया, जिसने रिपब्लिक के लिए नया शासन विधान तैयार करने का काम अपने हाथों में लिया। १५ फरवरी, १९२२ को विधान-परिषद् ने अपना काम समाप्त कर दिया और जो नया शासन विधान बनाकर तैयार किया, उसके अनुसार पार्लियामेण्ट में एक सभा रखी गई। इस सभा के सदस्यों की संख्या १०० निश्चित की गई, जिनका चुनाव तीन सालों के लिए किया जाता था। वोट का अधिकार सब बालिग स्त्री-पुरुषों को दिया गया था, राष्ट्रपति का चुनाव भी तीन साल के लिए होता था। उसे वोटों का अधिकार नहीं दिया गया था, और राज्य की वास्तविक शक्ति जनता के हाथों में रखी गई थी। लैटविया की इस नई रिपब्लिक की जन-संख्या बीस लाख के लगभग थी, और उसका कुल क्षेत्रफल २५ हजार वर्ग मील था।

स्वतन्त्र होने के बाद लैटविया को भी कम्यूनिस्ट लोगों से युद्ध करना पड़ा। इस लड़ाई का अन्त तब हुआ, जब कि अगस्त,१९२० में

रीगा (लैटविया की राजधानी) की सन्धि द्वारा रशिया की बोल्शेविक सरकार ने लैटविया की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लिया।

१०. लिथुएनिया

मध्यकाल में लिथुएनिया के प्रदेश पोलैण्ड के शक्तिशाली राज्य के अन्तर्गत थे। जब पोलैण्ड की शक्ति क्षीण हुई, तो रशिया ने इन पर अपना अधिकार कर लिया। इन प्रदेशों के सम्बन्ध में रशिया की नीति यह थी, कि इन्हें पूरी तरह रशियन बना लिया जाय। १८४० में लिथुएनिया में वहाँ के पुराने कानून की जगह रशियन कानून को लागू किया गया, विल्ना के विश्वविद्यालय तथा अन्य अनेक शिक्षणालयों को बन्द कर दिया गया और १८६४ में लिथुएनियन पुस्तकों और समाचार पत्रों तक का प्रकाशन रोक दिया गया। इन सब का उद्देश्य यही था, कि लिथुएनियन लोग अपनी भाषा, सभ्यता, संस्कृति और परम्परा को सर्वथा भूल जावें, और पूरी तरह रशियन जन-समाज के अंग बन जायँ। १९०५ की क्रान्ति की लहर ने लिथुएनिया पर भी असर डाला। पर उसका कोई विशेष परिणाम नहीं हुआ। इस बीच में लिथुएनियन लोगों में स्वतन्त्रता का आन्दोलन जारी था। दमनकारी विविध उपायों से भी उसे दबाया नहीं जा सका था। महायुद्ध के शुरू होने के कुछ समय बाद ही जर्मन सेनाओं ने लिथुएनिया पर भी कब्जा कर लिया। जर्मनी यह चाहता था, कि लैटविया और लिथुएनिया को मिलाकर एक पृथक् बाल्टिक राज्य बना दिया जाय, जो जर्मनी की अधीनता को स्वीकार करे। पर लिथुएनियन देशभक्त इससे सहमत नहीं थे, वे अपने देश को पूर्णतया स्वाधीन करना चाहते थे। महायुद्ध में जब जर्मनी परास्त हो गया, तो उन्हें अपनी आकांक्षा को क्रिया में परिणत करने का अवसर मिला। १९१८ में स्वतन्त्र लिथुएनिया की घोषणा कर दी गई और शासन-विधान तैयार करने के लिए एक निर्माण-परिषद् का निर्वाचन किया गया।

नया शासन विधान १ अगस्त, १६२२ को तैयार हुआ। इसके अनुसार पार्लियामेन्ट में एक सभा बनाई गई, जिसके सदस्यों का चुनाव तीन साल के लिए किया जाता था। सब बालिग स्त्री-पुरुषों को वोट का अधिकार दिया गया। राष्ट्रपति को भी पार्लियामेन्ट ही निर्वाचित करे, यह व्यवस्था की गई। राष्ट्रपति को वीटो का अधिकार नही दिया गया, यद्यपि पार्लिया-मेन्ट द्वारा स्वीकार किये गये कानून व प्रस्ताव को क्रिया में परिणत होने का समय वह स्थगित कर सकता था। लिथुएनिया का कुल क्षेत्रफल २० हजार वर्गमील था, और १६२२ में उसकी जन-संख्या २२½ लाख के लग-भग थी।

लिथुएनिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सबसे महत्वपूर्ण घटना विल्ना पर पोलैण्ड का कब्जा थी। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरी महत्वपूर्ण घटना मेमल पर लिथुएनिया का कब्जा थी। मेमल बाल्टिक के समुद्रतट पर एक समृद्ध बन्दरगाह है। यह पहले जर्मनी के हाथ में था। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी ने इसे मित्र-राष्ट्रों के सुपुर्द कर दिया था। लिथुएनिया चाहता था, कि यह उसे प्राप्त हो जाय। उसके राज्य में अन्य कोई ऐसा बन्दरगाह नहीं था, जो उसके सामुद्रिक व्यापार का केन्द्र बन सके। मित्रराष्ट्र उसे वचन भी दे चुके थे, कि स्थिति के सँभलने पर मेमल लिथुएनिया के सुपुर्द कर दिया जायगा। जब लिथु-एनियन सरकार ने देखा, कि मित्रराष्ट्र मेमल को देने में टालमटोल कर रहे हैं, तब उसने भी पोलैन्ड की नीति का अनुसरण कर मेमल पर जबर्दस्ती कब्जा कर लिया। बाद में विवश होकर मित्रराष्ट्रों ने मेमल पर लिथुएनिया के अधिकार को स्वीकार कर लिया।

बाल्टिक के समुद्रतट पर स्थित इन तीनों राज्यों (लैटविया, एस्थो-निया और लिथुएनिया) के अन्तर्राष्ट्रीय हित एक सदृश थे। इसलिए उन्होंने मिल कर उसी प्रकार एक बाल्टिक त्रिगुट का निर्माण किया, जैसे कि चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया ने मिलकर

दक्षिण पूर्वी यूरोप में किया था। इस त्रिगुट का यही प्रयत्न रहता था, कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वे सहयोग से काम करें। जब उनके पड़ोस में रशिया में बोल्शेविक सरकार ने और जर्मनी में नाजीदल ने जोर पकड़ा, और कम्युनिस्ट और नाजी विचारधाराओं में संघर्ष का सूत्रपात हुआ, तो इस त्रिगुट द्वारा ही बाल्टिक समुद्रतट के ये राज्य कुछ समय के लिए अपनी स्थिति को सुरक्षित रख सके।

अन्य पड़ोसी राज्यों के समान लिथुएनिया में भी लोकतन्त्रशासन देर तक कायम नहीं रह सका। नाजी और फैसिस्ट प्रणाली का अनुसरण कर यहाँ भी १९२६ के बाद एक दल का शासन स्थापित होगया। १९२६ से १९३६ तक, दस साल तक लिथुएनियन पार्लियामेण्ट का अधिवेशन तक नहीं हुआ। राष्ट्रीय संघ नाम के राजनीतिक दल ने इस राज्य की सारी राजशक्ति को अपने हाथ में कर लिया था।

११. युक्रेनिया

पोलैण्ड के दक्षिण-पूर्व में युक्रेनिया का प्रदेश है, जहाँ के निवासी युक्रेनियन या रुथेनियन कहाते हैं। गेहूँ की पैदावार की दृष्टि से यह यूरोप का सबसे उपजाऊ इलाका है। मध्यकाल में युक्रेनिया का कुछ हिस्सा रशिया के अधीन था, और शेष पोलैण्ड के शक्तिशाली राज्य के अन्तर्गत था। जब १७९५ में पोलैण्ड की स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता का अन्त हुआ, तो यह सब प्रदेश रशिया की अधीनता में आ गया। रशियन सरकार की इसके सम्बन्ध में भी यही नीति थी, कि युक्रेनियन संस्कृति, कानून और परम्पराओं को नष्ट करके उसे पूर्णतया रशियन बना लिया जाय। इसका परिणाम यह हुआ, कि युक्रेनियन लोगों में राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावनाएँ जोर पकड़ने लगीं। यहाँ भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए विद्रोह शुरू हुए, और अनेक देशभक्त नेताओं ने सब प्रकार के कष्ट उठाकर भी स्वाधीनता के आन्दोलन को जारी रखा। महायुद्ध के समय में

इस आन्दोलन को बहुत बल मिला, और जब मार्च, १९१७ में रशिया में पहली राज्यक्रान्ति हुई, तो युक्रेनियन लोगों के राष्ट्रीय नेताओं ने कीव में एकत्र होकर यह मांग पेश की, कि रशियन राज्य के अन्तर्गत उनकी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया जाय। रशिया की सामयिक सरकार ने इस मांग का कोई उत्तर नहीं दिया। इस पर २६ जून, १९१७ को युक्रेनियन नेताओं ने अपनी सामयिक सरकार कायम कर ली, और स्वतन्त्र रूप से अपने देश का शासन प्रारम्भ कर दिया। जब नवम्बर १९१७ में एक षड्यंत्र द्वारा बोल्शेविक लोगों ने रशिया का शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया, तो युक्रेनिया में स्वतन्त्र रिपब्लिक की घोषणा कर दी गई। बोल्शेविक लोग अपने देश की आन्तरिक शक्ति को सँभालने में लगे हुए थे, अतः उन्होंने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया।

फरवरी, १९१८ में जर्मन सेनाओं ने युक्रेनिया पर कब्जा कर लिया। वहाँ की सरकार को गिरफ्तार कर उन्होंने जर्मनी के पक्षपाती जनरल स्कोरोपाड्स्की को युक्रेनिया का शासक नियत किया। महायुद्ध में जब जर्मनी की पराजय हुई, तो युक्रेनिया में फिर स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की गई। पर रशिया के समान युक्रेनिया में भी कम्यूनिस्ट लोगों की शक्ति बढ़ने लगी थी। वहाँ की स्वतन्त्र रिपब्लिक पर भी कम्यूनिस्टों का कब्जा हो गया, और जब बोल्शेविकों ने रशिया में सोवियट प्रणाली के अनुसार निर्मित रिपब्लिकों का संघ स्थापित किया, तो दिसम्बर १९२२ में युक्रेनिया भी इस संघ में शामिल हो गया। युक्रेनिया का क्षेत्रफल १,७४,५१० वर्ग मील है, और १९२२ में उसकी जन-संख्या २,७५,००,००० के लगभग थी। रशियन संघ में शामिल होकर युक्रेनिया की अन्तर्राष्ट्रीय राज नीति रशिया के अधीन हो गई, पर आन्तरिक मामलों में उसकी स्वतन्त्र सत्ता कायम रही।

पैंतालीसवाँ अध्याय

रशिया की राज्यक्रान्ति

१. क्रान्ति से पूर्व रशिया की दशा

बीसवीं सदी के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना रशिया की राज्यक्रान्ति है। अठारहवीं सदी के अन्त में जब फ्रांस में क्रान्ति हुई, तो उसने लोकतन्त्रवाद, राष्ट्रीयता की भावना और राजनीतिक समानता को प्रारम्भ किया था। पुराने स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासनों का अन्त होकर जनता के शासन का सूत्रपात फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय से ही हुआ था। १८७६ में जिन सिद्धान्तों को क्रान्तिकारी और उग्र माना जाता था, आज वे सर्वसम्मत तथ्य हो गये हैं, और फ्रांस से जो लहर शुरू हुई थी, वह सारी पृथिवी पर व्याप्त हो गई है।

आज से लगभग तीस साल पहले रशिया में जो राज्यक्रान्ति हुई, उसने सम्राट् के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर लोकतन्त्रवाद की स्थापना का ही प्रयत्न नहीं किया, अपितु सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में भी कुलीनों, पूँजीपतियों और जमींदारों की सत्ता का अन्त कर सर्वसाधारण मजदूर और किसान जनता की सत्ता भी स्थापित की। उससे संसार में एक नई विचारधारा का प्रारम्भ हुआ, जिसे कम्यूनिज्म (समाजवाद या साम्यवाद) कहते हैं। कम्यूनिज्म एक नई सभ्यता, नई संस्कृति और नये समाज का पक्षपाती है। उसकी दृष्टि में फ्रांस, ब्रिटेन या अमेरिका का समाज व आर्थिक संगठन उसी प्रकार पुराना या विकृत है, जैसे कि राजाओं के स्वेच्छाचारी शासनों के समय में था। राजनीतिक क्रान्तियों ने शक्ति को राजा व उसके दरबारियों के हाथ से

५

की दशा

... घटना रशिया की
... में क्रान्ति हुई, तो
... राजनीतिक समानता को
... शासकों का अन्त होकर
... क्रान्ति के समय से ही हुआ
... और उग्र माना जाता था,
... से जो लहर शुरू हुई थी,

... में जो राज्यक्रान्ति हुई,
... का अन्त कर लोकतन्त्रवाद
... सामाजिक, आर्थिक और
... और जमींदारों की सत्ता
... जनता की सत्ता भी
... का प्रारम्भ हुआ, जिसे
... कम्युनिज्म एक नई सभ्यता,

छीन कर कुछ पढ़े-लिखे लोगों व पूँजीपतियों के हाथ
साधारण जनता की दशा में विशेष परिवर्तन नहीं आय
खयाल है, कि जैसे फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने राजनीति
लाकर पुराने युग का अन्त किया और राजाओं की स
उसी प्रकार अब आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में कम
के अनुसार क्रान्ति होकर मध्य श्रेणी और पूँजीपति
जायगा, और सर्व-साधारण जनता की सत्ता स्थापित ह
में यही सब कुछ हुआ है। अन्य भी बहुत से देशों में
का प्रयत्न जारी है। आधा यूरोप और तिहाई के लगभग
हो चुका है। पृथिवी के अन्य देशों में भी यह विचार
बड़ी तेजी के साथ बढ़ा रही है। सम्भव है, कि जिस प्र
की राज्यक्रान्ति द्वारा उत्पन्न विचारधारा को सब देशों
उसमें एक सदी के लगभग समय लगा; उसी प्रकार
कम्यूनिस्ट विचारधारा को भी स्वीकार कर लें। पर अ
कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आज
उन्नत और शक्तिशाली देश रशिया की विचारधार
हानिकारक बताते हैं। पर यही दशा कभी फ्रांस की
सम्बन्ध में भी थी। वीएना की कांग्रेस (१८१४) में
फ्रांस की राज्यक्रान्ति का उपहास करते थे, उसके सब
देने में ही वे यूरोप का कल्याण मानते थे। सम्भवतः, य
रशिया की राज्यक्रान्ति के सम्बन्ध में है। अमेरिका, ब्रि
सर्वत्र कम्यूनिज्म को एक बीमारी के रूप में लिया
आगे चलकर बतायेगा, कि संसार के सभ्य देश उस

रशिया पृथिवी का सबसे बड़ा देश था। कुल जमीन का छठा भाग रशिया के अन्तर्गत था। उसकी आबादी अठारह करोड़ थी। वहां का सम्राट् निकोलस द्वितीय बड़ा शक्तिशाली राजा था। सारी शक्ति उसके हाथ में थी। यद्यपि १९०५ की क्रान्ति के बाद वहां पार्लियामेण्ट की स्थापना हो गई थी, पर अभी असली राजशक्ति सम्राट् और उसके दरबारियों के हाथ में ही थी। सम्राट् जो चाहे कर सकता था, उसकी मनमानी को रोकने का कोई जबर्दस्त साधन जनता के पास नहीं था। सर्वसाधारण जनता अशिक्षित और पिछड़ी हुई थी। चर्च का लोगों पर बड़ा प्रभाव था। जनता में बहुत से अन्ध-विश्वास प्रचलित थे। शिक्षा के न होने से लोग पुरोहितों व पादरियों का कहना आंख मींचकर मानते थे। चर्च का अभी तक भी यह खयाल था, कि राजा दैवीय अधिकार से देश पर शासन करता है। जनता अनेक श्रेणियों में विभक्त थी। कुलीन श्रेणी, मध्यश्रेणी और मजदूर किसान जनता—एक दूसरे से बिलकुल पृथक् पृथक् थीं। कुलीन और मध्य श्रेणियों के लोग अन्य जनता को नीची निगाह से देखते थे। कुलीन लोग अपने घमण्ड में मध्य श्रेणी को भी कुछ नहीं गिनते थे।

रशिया में सम्राट् की एकतन्त्र स्वेच्छाचारी सत्ता को कायम रखने में निम्नलिखित कारण परम सहायक थे—(१) चर्च राजा के दैवीय अधिकार के सिद्धान्त में विश्वास रखता था, और अपने अनुयायियों को यही उपदेश देता था, कि राजा पृथिवी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। उसका विरोध करना ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह करना है। (२) सम्राट् की सहायता के लिए एक शक्तिशाली कुलीन श्रेणी विद्यमान थी। इन कुलीन लोगों का भला इसी में था, कि राजा का स्वेच्छाचारी शासन बना रहे, ताकि वे भी अपने अपने क्षेत्र में स्वेच्छा से रह सकें, और मनमानी कर सकें। (३) रशिया में नौकरशाही भी सम्राट् के शासन के पक्ष में थी। अठारह करोड़ की जन-संख्या के विशाल देश में शासन करने के लिए हजारों की

संख्या में बड़े बड़े सरकारी कर्मचारी विद्यमान थे। इन की सत्ता, स्थिति और उन्नति इसी बात पर निर्भर थी, कि ये सम्राट् की पूर्ण भक्ति के साथ सेवा करें, और उसकी आज्ञाओं को आँख मींच कर स्वीकार करें। नौकरशाही के लोगों की उन्नति तभी थी, जब वे राजा को प्रसन्न करें। राजा की प्रसन्नता के लिए वे जनता को सब प्रकार से कुचलने में जरा भी सकोच नहीं करते थे। (४) रशिया की विशाल सेना में भरती वेतन और सुखपूर्वक जीवन के लालच से की जाती थी। इस सेना के सैनिकों और अफसरों की उन्नति भी राजा की कृपा दृष्टि पर ही निर्भर थी। अतः ये भी राजा को प्रसन्न रखने के लिए सब कुछ करने को उद्यत रहते थे। (५) आम जनता सर्वथा अशिक्षित थी। बेपढ़े लिखे लोगों पर शासन करना सुगम होता है, क्योंकि वे अपने अधिकारों को नहीं समझते।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के विचारों का असर रशिया पर अवश्य पड़ा था, पर अभी तक भी वहाँ की दशा बहुत कुछ वही थी, जो लुई १८वें के शासनकाल में फ्रांस की थी। १९०५ में रशिया में पार्लियामेन्ट अवश्य बन गई थी, पर सम्राट् व उसके सलाहकार जनता की इच्छा की कोई परवाह नहीं करते थे। सम्राट् पर अन्तःपुर और दरबार का बड़ा असर था। वहाँ सब प्रकार की साजिशें चलती रहती थीं। निकोलस द्वितीय के अन्तःपुर पर रासपुटिन नाम के एक साधु का बड़ा असर था। अन्तःपुर पर प्रभाव के कारण सम्राट् उसके हाथ में कठपुतली के समान था। रशिया में रासपुटिन की इच्छा ही कानून थी, और यह रासपुटिन एक अन्धविश्वासी पर चतुर साधु के अतिरिक्त और कुछ न था। बीसवीं सदी में, अठारह करोड़ जनसंख्या के विशाल देश में इस प्रकार का शासन एक लज्जा की बात थी।

२. क्रान्ति के कारण

यह सम्भव नहीं था, कि बीसवीं सदी में इस प्रकार का स्वेच्छाचारी

के लिए स्थिति पर काबू रख सकना कठिन हो गया। इसी समय, सर्वत्र अनाज, ईंधन और कपड़े की कमी होने लगी। कीमतें बहुत ऊँची उठ गईं। गरीब लोगों के लिए गुजर कर सकना असम्भव हो गया। लोग समझते थे, कि रशिया में सब चीजें प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, पर स्वार्थी पूँजीपतियों ने उन्हें अपने कब्जे में कर किया है, ताकि बाजार में माल न होने से कीमतें ऊँची उठती जावें, और बढ़े हुए मूल्य पर बेचकर अमीर लोग और अधिक रुपया कमा सकें। सरकार इस दशा को सँभालने में सर्वथा असमर्थ थी। ऐसा प्रतीत होता था, कि शीघ्र ही घोर दुर्भिक्ष सारे देश को व्याप्त कर लेगा। पर सरकार को इसकी कोई भी चिन्ता नहीं थी। लोग कहते थे, कि सरकार स्वयं अमीरों और पूँजीपतियों की मुनाफाखोरी की नीति में शामिल है। उनमें सरकार के विरुद्ध असन्तोष और भी बढ़ता जाता था।

इस दशा को सुधारने के लिए विशेषज्ञों की एक कमेटी सरकार की ओर से नियुक्त की गई। कमेटी का खयाल यह था, कि देश में अनाज और कपड़ा प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। पर सरकारी अव्यवस्था और कुप्रबन्ध के कारण वह चोर बाजार में चला गया है। सम्राट् से यह प्रार्थना की गई, कि वह स्वयं शासनसूत्र को अपने हाथ में ले, और स्थिति में सुधार का प्रयत्न करे। फरवरी, १९१७ में मास्को में एक कान्फरेन्स हुई, जिसमें कुलीन श्रेणी के बड़े बड़े लोग एकत्र हुए। इन कुलीन लोगों ने भी यह माँग की, कि स्थिति को सँभालने के लिए शासन में सुधार करना परमावश्यक है। पार्लियामेन्ट का अधिवेशन शीघ्र होना चाहिए, और सब स्थिति पर विचार करके ऐसे कदम उठाने चाहिए, जिनसे देश के इस भयंकर संकट को दूर किया जासके। पर सम्राट् और उसके दरबारियों को इस की कुछ भी चिन्ता न थी। वे अपने भोग विलास और शक्ति के मद में मस्त थे। रासपुटिन ने उन पर एक प्रकार का जादू सा किया हुआ था।

आखिर, ७ मार्च १९१७ को स्थिति काबू से बाहर होगई। भूखे और ठण्ड से ठिठुरते हुए गरीब मजदूरों ने जुलूस बना कर पेट्रोग्राड की सड़कों पर घूमना शुरू कर दिया। रोटी की दुकानों पर ताजी और गरम रोटियों के ढेर लगे थे। भूखे गरीब लोगों से न रहा गया, उन्होंने लूट शुरू कर दी। सरकार ने हुकम दिया, कि गोली चला कर बलवाइयों को तितर बितर कर दिया जाय। पर सिपाहियों ने गोली चलाने से इनकार कर दिया। उनमें भी क्रान्ति की भावना प्रवेश कर गई थी। भूख से तड़पते हुए निहत्थे लोगों पर गोली चलाने को उनका मन नहीं कहता था।

अब क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया था!

३. पहली राज्यक्रान्ति

८ मार्च, १९१७ को पेट्रोग्राड के कपड़े के कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियों ने हड़ताल कर दी, क्योंकि उन्हें पेट भर भोजन नहीं मिल रहा था। उनकी माँग थी, कि पहले उन्हें खाने को दिया जाय, तब वे काम पर आवेंगी। अगले दिन मर्द मजदूर भी उनके साथ हड़ताल में शामिल हो गये। हड़ताली लोगों ने एक जुलूस निकाला, जो जहाँ 'रोटी, रोटी' के नारे लगा रहा था, वहाँ साथ ही 'लड़ाई का अन्त हो' 'स्वेच्छाचारी शासन का नाश हो'—इस प्रकार के भी नारे बुलन्द कर रहा था। अगले दिन १० मार्च को पेट्रोग्राड में आम हड़ताल हो गई। अन्य शहरों पर भी इस का असर हुआ। बहुत से कारखानों में मजदूर लोग अपने अपने औजार छोड़कर बाहर निकल आये। सिपाहियों को जब हुकम दिया गया, कि हड़तालियों के जुलूसों को तितर बितर करें, उन पर गोली चलावें, तो उन्होंने हुकम मानने से इनकार कर दिया। वे दिल से हड़तालियों के साथ थे। पुलीस और सेना के अन्य सिपाहियों की हालत साधारण मजदूरों जैसी ही थी, वे भी सर्वसाधारण जनता के अंग थे। जब मजदूरों को मालूम होगया, कि सिपाही उन पर गोली नहीं चलावेंगे, तो उनकी

हिम्मत और भी बढ़ गई। हड़तालों की बीमारी सब जगह फैल गई, और सारे कारोबार बन्द होगये। राजनैतिक पार्टियों ने इस दशा से लाभ उठाया। उन्होंने अनुभव किया, कि लोकतन्त्र शासन स्थापित करने का यह उत्तम अवसर है। वे सब भी मिल कर मजदूरों के इस अन्दोलन में शामिल हो गईं।

क्रोध में आकर सम्राट् निकोलस द्वितीय ने यह आज्ञा प्रचारित की, कि पार्लियामेण्ट को तोड़ दिया जाय। इस पर पार्लियामेण्ट ने भी विद्रोह कर दिया। सब सदस्य लोग पार्लियामेण्ट के हाल में एकत्र हुए। सम्राट् की आज्ञा से उन्होंने अधिवेशन को बन्द करके बाहर जाने से इनकार कर दिया। अब स्थिति काबू से बाहर होती जाती थी। पेट्रोग्राड की गलियों में लड़ाई चल रही थी। जो फौजी अफसर सम्राट् के साथ थे, वे मजदूरों और बलवाइयों पर दिल खोल कर गोली चला रहे थे। तीन दिन तक यह लड़ाई जारी रही। आखिर, सम्राट् ने अनुभव कर लिया, कि अब वह या उसके अफसर स्थिति को नहीं सँभाल सकते। १४ मार्च, १९१७ को पार्लियामेण्ट ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया, कि एक सामयिक सरकार की स्थापना की जाय, जो देश के शासन को अपने हाथों में ले ले। अगले दिन, १५ मार्च को सम्राट् निकोलस द्वितीय ने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया। तीन सौ साल से जो प्रतापी रोमनेव राजवंश विशाल रशियन साम्राज्य का अबाधित शासन कर रहा था, उसका अब अन्त हो गया। रशिया में राज्यक्रान्ति हो गई।

पार्लियामेण्ट ने देश का शासन करने के लिए जिस सामयिक सरकार की स्थापना की, उसका नेता प्रिंस ल्वोव था। वह प्रधान मन्त्री बना। ल्वोव रशिया के लिबरल दल का नेता था, और स्वयं कुलीन श्रेणी का था। युद्ध-मन्त्री के पद पर श्री गुचकोव को नियत किया गया। टेरेश्चेन्को अर्थ-मन्त्री बना। यह स्वयं एक समृद्ध व्यापारी था, और रशिया के पूँजीपतियों का प्रतिनिधि था। विदेश-मन्त्री प्रोफेसर मिल्युकोव को बनाया

लेनिन (१८७०–१६२४)

गया। उसका बहुत सा समय ब्रिटेन और फ्रांस में व्यतीत हुआ था, और वह विदेशी राजनीति से भली भाँति परिचित था। साम्यवादी दल का नेता केरेन्स्की न्यायमन्त्री बनाया गया। यद्यपि क्रान्ति का मुख्य श्रेय भूखे और नंगे मजदूरों को था, पर सम्राट् को राज्यच्युत करके जो नई सरकार कायम हुई, उसका नेतृत्व कुलीन और मध्य श्रेणी के हाथों में था। मित्र राष्ट्रों ने रशिया की इस नई सरकार को तुरंत स्वीकृत कर लिया। वे जिन आदर्शों के लिए युद्ध कर रहे थे, रशिया की स्वेच्छाचारी एकतंत्र सरकार उनके सर्वथा विपरीत थी। वे अनुभव करते थे, कि उनका एक साथी देश ऐसा है, जहाँ का शासन जर्मनी और आस्ट्रिया की अपेक्षा भी अधिक पिछड़ा हुआ है। वे इस बात से बहुत प्रसन्न और संतुष्ट हुए, कि अब रशिया में एक ऐसा शासन कायम हो गया है, जो लोकतंत्रवाद और राष्ट्रीयता के आदर्शों के अनुकूल है।

रशिया की नई सरकार ने उन हजारों राजनीतिक कैदियों को तुरंत जेलखाने से मुक्त कर दिया, जो अपने विचारों और आदर्शों के कारण साइबीरिया में कैद थे। पुराने जमाने के पक्षपाती लोगों को कैद किया गया; या देश से बाहर भाग जाने के लिए विवश किया गया। यहूदियों के खिलाफ जो बहुत से कानून थे, उन सबको रद्द कर दिया गया। यह प्रयत्न किया गया, कि सरकारी कर्मचारियों के विकृतिपूर्ण शासन को सुधारा जाय, उनमें रिश्वतखोरी की प्रवृत्ति को दूर किया जाय। यह व्यवस्था की गई, कि शीघ्र ही रशिया के लिए एक ऐसे शासन-विधान का निर्माण किया जाय, जिसमें नागरिकों के आधारभूत अधिकारों का प्रतिपादन हो, सबको लिखने, बोलने और अपने विचारों को प्रकट करने की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता हो। राष्ट्रपति विलसन के विचारों को इस समय रशिया में बड़े उत्साह के साथ पढ़ा जाता था। लोग समझते थे, अब उनके देश में नये युग की स्थापना हो रही है। सिपाही, किसान, मजदूर-सब इस समय खुश थे।

प्रिंस ल्वोव और प्रोफेसर मिल्युकोव की इच्छा थी, कि रशिया युद्ध को जारी रखे। वे कट्टर राष्ट्रवादी थे। विदेशी राजनीति के सम्बन्ध में वे सम्राट् निकोलस द्वितीय की सरकार के पदचिन्हों पर पूरी तरह चलना चाहते थे। उन्होंने घोषणा की, कि रशिया की नई सरकार युद्ध को दुगने उत्साह से चलायगी। मित्रराष्ट्र इससे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने रशिया को खूब साधुवाद दिया। पर साम्यवादी लोगों को कहना था, कि युद्ध को जारी रखते हुए रशिया से उन बुराइयों को दूर कर सकना सम्भव नहीं है, जो रोमनेव राजवंश की स्वेच्छाचारी सत्ता के परिणाम हैं। देश में लोकतंत्र शासन तभी भली-भाँति स्थापित हो सकता है, जब कि युद्ध को बन्द करके सारी ताकत शासन को सँभालने में लगा दी जाय।

जिस समय रशिया की सरकार युद्ध जारी रखने या सुलह करने के सवाल पर बहस करने में लगी थी, सारे देश में क्रान्ति हो रही थी। पुरानी नौकरशाही के लिए यह संभव नहीं था, कि वह एक दम अपने को नई परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित कर ले। परिणाम यह था, कि सुदूर प्रदेशों में एक प्रकार की अराजकता सी छा गई थी। केन्द्रीय सामयिक सरकार पुरानी नौकरशाही को अपने अनुकूल नहीं बना सकती थी, और नये कर्मचारी भरती करके सरकार चलाने का न उसे समय था, और न सामर्थ्य। इस दशा में सब जगह किसानों और मजदूरों ने अपने संगठन बनाने शुरू कर दिये। पार्लियामेण्ट और प्रान्तीय प्रतिनिधि-सभाओं के पास इस समय कोई ऐसा साधन न था, जिससे वे रशिया जैसे विशाल देश की शासन-सत्ता को पूरी तरह सँभाल सकतीं। पुरानी नौकरशाही सर्वथा निकम्मी, विकृत और अयोग्य थी। पर रशिया में गैर-सरकारी तौर पर वे ग्राम पंचायतें अब तक विद्यमान थीं, जिनमें एकत्र होकर देहात के निवासी अपने काम चलाते थे। ये पंचायतें मुख्यतया जमींदारों के विरुद्ध किसानों की रक्षा करने का काम किया करती थीं। अब

जब कि देश में कोई ऐसी सत्ता नहीं रह गई थी, जो शासन के साधारण कार्य को भली भाँति चला सके, और देहातों में शान्ति और व्यवस्था को कायम रख सके, तो इन पंचायतों ने, जिन्हें रशिया में मीर कहते थे, जोर पकड़ा। इनका पुनः संगठन हुआ, और इन्होंने सरकार के काम को अपने हाथों में ले लिया। इन पंचायतों में उन साम्यवादियों का जोर था, जिन्हें कम्युनिस्ट या बोल्शेविक कहा जाता था। कम्युनिस्ट लोग भारी संख्या में इन पंचायतों में शामिल हुए, और इन्हें अपने प्रभाव में कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि रशिया में एक बार फिर क्रान्ति हुई। कुलीन और मध्य श्रेणियों के शिक्षित लोग लोक-तंत्रवाद के आदर्शों के अनुसार जिस सामयिक सरकार को सफल बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, वह अपने उद्देश्य में असफल रही। प्रिंस ल्वोव और उसके साथी चाहते थे, कि रशिया में एक विधान-परिषद् का आयोजन किया जाय, सब बालिग स्त्री-पुरुषों को इसके सदस्य निर्वाचित करने के लिए वोट का अधिकार हो। विधान-परिषद् देश के लिए एक ऐसा शासन विधान तैयार करे, जिसके अनुसार मन्त्रिमण्डल पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी रहे। पर उनकी यह सब आकांक्षा दिल की दिल में ही रह गई। इन्हें अपने प्रयत्नों में सफलता नहीं हुई। कारण यह कि (१) युद्ध की परिस्थितियों ने रशिया में जो भयंकर भुखमरी पैदा कर दी थी, उससे लोग व्याकुल थे। वे चाहते थे, कि उनके लिए भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध किया जाय। उनके लिए वोट देने के अधिकार का उतना महत्व नहीं था, जितना कि खाने के लिए रोटी और पहनने के लिए कपड़ों का। प्रिंस ल्वोव की सरकार विधान-परिषद् के लिए योजनाएँ तैयार कर रही थी। पर उसके कुलीन और उच्च श्रेणी के लोगों को गरीब किसानों व मजदूरों के लिए रोटी व कपड़े की कोई चिन्ता नहीं थी। बाल्शेविकों ने इस स्थिति से लाभ उठाया और सर्वसाधारण जनता में सामाजिक और आर्थिक संगठन को ही बदल डालने का आन्दोलन खड़ा कर दिया।

(२) प्रिंस ल्वोव लड़ाई को जारी रखना चाहता था। मित्रराष्ट्र उसकी पीठ को थपथपा रहे थे। पर रशिया की जनता युद्ध से तंग आ चुकी थी। युद्ध के कारण उन्होंने अपार कष्ट उठाया था। जर्मन लोग भी इस प्रचार में लगे थे, कि युद्ध से रशियन जनता को कोई लाभ नहीं है। फौज के सिपाही भी शान्ति चाहते थे। जब प्रिंस ल्वोव ने यह उद्घोषित किया, कि रशिया की नई लोकतन्त्र सरकार लड़ाई को जारी रखेगी, तो किसानों और मजदूरों में असन्तोष बहुत बढ़ा। युद्ध में भी नई सरकार को कोई सफलता नहीं मिली। गैलीशिया पर जो हमला नई सरकार ने किया था, वह बुरी तरह असफल हुआ। इससे प्रिंस ल्वोव के खिलाफ लोकमत इतना बढ़ गया, कि उसे त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ा। उसकी जगह केरेंस्की ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। पर रशिया की जनता युद्ध को बन्द करके शान्ति की स्थापना करना चाहती थी। कोई भी सरकार, जो इस समय युद्ध को जारी रखना चाहे, रशिया में कामयाब नहीं हो सकती थी। (३) इस समय सेनाओं में युद्ध को बन्द करने की उत्कट अभिलाषा पैदा हो गई थी। वे अपनी सरकार के विरुद्ध बगावत तक करने के लिए तैयार थीं, और इस बात के लिए तुली हुई थीं, कि वे लड़ाई में हिस्सा न लेंगी। जिस तरह की पंचायतें देहातों में किसानों ने और कारखानों में मजदूरों ने बनाई थीं, वैसे ही सेना में सिपाहियों ने बना लीं। ये पंचायतें, जिन्हें अब सोवियट कहते थे, अपनी केन्द्रीय कान्फरेन्स करके यह माँग कर रह थीं, कि युद्ध को बन्द कर दिया जाय। इसके कारण रशिया की सरकार की लोकप्रियता नष्ट होती जाती थी, और यह साफ नजर आने लगा था, कि देश में जो क्रान्ति की लहर शुरू हुई थी, वह अभी और बहुत कुछ करेगी। क्रान्ति का अभी तो श्रीगणेश ही हुआ है, उसे अभी बहुत कुछ आगे बढ़ना है।

रशिया की वास्तविक राज्यशक्ति अब सोवियटों के हाथ में आ रही

थी। देहातों में किसानों की, कारखानों में मजदूरों की और सेना में सिपाहियों की सोवियटों का संगठन बड़ी तेजी के साथ हो रहा था। तीनों तरह की सोवियटें अपना अपना केन्द्रीय संगठन बना रही थीं। मई, १६१७ में इन सोवियटों की एक अखिल रशियन कांग्रेस का अधिवेशन मास्को में हुआ। इसमे उन्होंने यह खुले शब्दों में घोषित किया, कि हम केवल राजनीतिक क्रान्ति से ही संतुष्ट नहीं हैं, हम साथ ही सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति भी चाहते हैं। युद्ध के सम्बन्ध में उन्होंने मित्रराष्ट्रों के सम्मुख वे शर्तें पेश कीं, जिनके माने जाने पर वे युद्ध को जारी रखने के लिए तैयार हैं। इस कांग्रेस का ही यह परिणाम हुआ था, कि प्रिंस ल्वोव तथा उसके अमीर साथियों को त्याग-पत्र देने के लिये विवश होना पडा। सामयिक सरकार का पुनः संगठन हुआ, और केरेन्स्की प्रधान् मन्त्री के पद पर अधिष्ठित हुआ। अखिल रशियन सोवियट कांग्रेस की देश के शासन-विधान में कोई स्थिति नहीं थी, पर वास्तविक शक्ति अब उसके हाथ में आती जाती थी। केरेन्स्की इस लिए प्रधान मन्त्री बना था, क्योंकि प्रिंस ल्वोव को सोवियट कांग्रेस पसन्द नहीं करती थी। जब सोवियट कांग्रेस में बोल्शेविकों का बहुमत हो गया, और सोवियट के सदस्य इस बात के लिए कटिबद्ध हो गये, कि उन्हें आर्थिक क्रान्ति करनी है, तो केरेन्स्की को अपना पद त्यागना पड़ा, और सरकार बोल्शेविकों के हाथ में चली गई।

राज्यक्रान्ति के समय जनता को जो आशाएँ थीं, वे अलग अलग तरह की थीं। सिपाही क्रान्ति से यह आशा करते थे, कि अब युद्ध की समाप्ति हो जायगी, और वे चैन से अपने घरों में बैठ सकेंगे। मजदूर समझते थे, कि अब कारखानों पर उनका कब्जा हो जायगा। किसानों का खयाल था, कि अब जमीनें उनकी अपनी हो जावेंगी। रशिया के किसान बहुत दुर्दशाग्रस्त थे। पहले उनकी स्थिति अर्द्ध-दासों की थी। अब यह दशा तो हट गई थी, पर जमींदार उनसे लगान और अन्य रूपों में उपज

का इतना हिस्सा ले लेते थे, कि किसानों के पास खाने के लिए कठिनता से बच रहता था। किसान लोग क्रान्ति से यही आशा करते थे, कि उनकी स्थिति में भी सुधार होगा। पर सिपाही, मजदूर व किसान—किसी की भी आशा क्रान्ति से पूरी नहीं हुई। सब में असन्तोष बढ़ने लगा। सिपाही खुल्लमखुल्ला विद्रोह करने लगे, उन्होंने लड़ने से इनकार करना शुरू कर दिया, और पूरी की पूरी पलटनें हथियार डाल कर रणक्षेत्र से वापस लौटने लगीं। रशिया जैसे विशाल देश में किसी एक जाति का निवास नहीं था। वहाँ बहुत सी नसलों के, बहुत सी भाषाएँ बोलनेवाले और बहुत सी विभिन्न संस्कृतियों का अनुसरण करनेवाले लोग निवास करते थे। अब तक ये एक राज्य के अंग थे, क्योंकि उन पर एक सम्राट् का शासन था, और एक नौकरशाही उन पर लौहहस्त से शासन करती थी। अब जब केन्द्रीय सरकार कमजोर हुई, विद्रोह और अव्यवस्था की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ने लगीं, तो इन जातियों में भी गदर की भावना उत्पन्न हुई। सब अपना अपना पृथक् राज्य बनाने का फिकर करने लगीं। राष्ट्रीयता की भावना उनमें एकता उत्पन्न नहीं कर सकती थी, क्योंकि रशिया की विभिन्न जातियाँ राष्ट्रीय दृष्टि से एक नहीं थीं। पर एक विचारधारा और एक प्रकार का आर्थिक संगठन उनमें एकता उत्पन्न कर सकते थे। बोल्शेविक लोगों के पास यह नई विचारधारा विद्यमान थी। पुराने किस्म के लोक-तन्त्र शासन को स्थापित करने के प्रयत्न में केरेन्स्की की सामयिक सरकार एकदम असफल हो रही थी।

इसी बीच में जर्मन सेनाएँ रशिया की सेनाओं को परास्त करती हुई निरन्तर आगे बढ़ रही थीं। सेनाओं में असन्तोष बढ़ता जाता था। सोवियट बोल्शेविकों के प्रभाव में आते जाते थे। पर केरेन्स्की जर्मनी के साथ पृथक् रूप से सन्धि करके युद्ध का अन्त कर देने के लिए उद्यत नहीं था। वह पूरी तरह फ्रांस और ब्रिटेन के प्रभाव में था, और जर्मनी के खिलाफ एक नये हमले की योजना तैयार कर रहा था। रशियन जनता

इसे सहन नहीं कर सकी। आखिर, ७ नवम्बर, १९१७ को उसे प्रधान मंत्री के पद का त्याग करने के लिए विवश होना पड़ा। सामयिक सरकार का अन्त हो गया, और राजशक्ति बोल्शेविक दल के हाथों में चली गई। रशिया में लोकतन्त्र शासन स्थापित करने का जो प्रयत्न हुआ था, वह कुछ ही महीनों में असफल होकर समाप्त हो गया।

४. बोल्शेविक पार्टी

कार्ल मार्क्स ने जर्मनी में साम्यवाद के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, उसका रशिया में पहले पहल प्रवेश सन् १८८३ में हुआ। रशिया का पहला साम्यवादी प्लेखनोव था। उसके लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह रोमनेव राजवंश के स्वेच्छाचारी शासन में अपने सिद्धान्तों का खुले तौर पर प्रचार कर सके। विवश होकर उसे स्विट्जरलैण्ड में शरण लेनी पड़ी, और जिनीवा में उसने एक आन्दोलन का प्रारम्भ किया, जिसे 'मजदूरों की मुक्ति' का आन्दोलन कह सकते हैं। कार्ल मार्क्स के विचारों का प्रचार करने के लिए प्लेखनोव और उसके अनुयायियों ने बड़ा काम किया। मार्क्स और एँजल्स के ग्रन्थों का उन्होंने रशियन भाषा में अनुवाद किया। ये अनुवाद स्विट्जरलैण्ड में प्रकाशित हुए, और गुप्त रीति से उन्हें रशिया में पहुँचाया गया। प्लेखनोव ने स्वयं भी अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें मार्क्स के सिद्धान्तों का विशदरूप से प्रतिपादन किया गया। मार्क्स का मत था, कि साम्यवाद की स्थापना केवल स्वप्न की बात नहीं है। वह एक यथार्थ सत्य है। व्यावसायिक क्रान्ति और पूँजीवाद का यह परिणाम अवश्यम्भावी है, कि मजदूर श्रेणी में जागृति उत्पन्न हो। वे यह समझने लगें, कि उनके हित पूँजीपतियों के हितों से सर्वथा भिन्न हैं। पूँजीपति श्रमियों के श्रम से उत्पन्न सम्पत्ति का लाभ स्वयं प्राप्त करते हैं, और श्रमियों को कुछ नहीं देना चाहते। जिस प्रकार ऐतिहासिक विकास के कारण राजाओं के

एकतन्त्र अधिकारों का अन्त हो गया, और जमींदारों और कुलीनों के चंगुल से दास लोग मुक्त हो गये, इसी प्रकार वह समय आना अवश्यम्भावी है, जब कि पूँजीवाद का अन्त हो जायगा, व्यवसाय श्रमियों के हाथ में आ जावेंगे, उत्पत्ति के साधनों पर समाज का स्वत्व स्थापित हो जायगा, और पूँजीपति श्रेणी की समाप्ति होकर आर्थिक उत्पत्ति मजदूर श्रेणी के अधिकार में आ जायगी। प्लेखनोव और उसके साथी इन्हीं विचारों का प्रचार करने का प्रयत्न कर रहे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि शहरों की जागृत मजदूर जनता उनके विचारों को ध्यान से सुनती थी, और उन्हें अपने लिए हितकर समझती थी। रशिया में व्यावसायिक क्रान्ति हो रही थी। उसके कारण शहरों में मजदूर श्रेणी बड़ी संख्या में विकसित हो रही थी। प्लेखनोव समझता था, कि यही श्रेणी किसी समय रशिया में क्रान्ति का श्रीगणेश कर सकती है। इस समय वह उनके विचारों को बदलने के प्रयत्न में लगा था। वह जानता था, कि क्रान्ति के लिए पहले विचारों में परिवर्तन आवश्यक है। पर प्लेखनोव और उसके अनुयायी मजदूरों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने में समर्थ नहीं हुए थे। उनका मुख्य कार्य पढ़े-लिखे लोगों में था, जो सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों पर विचार करते थे। मजदूरों की मुक्ति-सभा ने रशिया में अनेक ऐसे अध्ययन-केन्द्र कायम किये, जहाँ मार्क्स के विचारों पर बहस होती थी, जहाँ नवयुवकों को साम्यवाद के साथ सम्पर्क में आने का अवसर मिलता था। इसमें सन्देह नहीं, कि प्लेखनोव ने रशिया में मजदूर आन्दोलन और बोल्शेविक क्रान्ति के लिए मैदान तैयार करने के लिए बड़ा काम किया।

पर मार्क्स के सिद्धान्तों को साधारण मजदूर लोगों में फैलाने और उन्हें कार्य में परिणत करने का प्रधान श्रेय लेनिन को है। वस्तुतः, लेनिन ही कम्युनिज्म या बोल्शेविज्म का प्रवर्तक था। उसका जन्म सन् १८७० में सिम्बिस्क नामक नगर में हुआ था। १८८७ में वह काजन यूनिवर्सिटी

में दाखिल हुआ। उसके विचार शुरू से ही क्रान्तिकारी थे। विद्यार्थियों में जो क्रान्तिकारी आन्दोलन चल रहे थे, लेनिन उनमें प्रमुख भाग लेता था। काजन में मार्क्स के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए एक केन्द्र पहले से ही विद्यमान था। लेनिन ने उसमें हिस्सा लेना शुरू किया। परिणाम यह हुआ, कि उसे काजन यूनिवर्सिटी से निकाल दिया गया। पर वहाँ रहते हुए उसने मार्क्स के विचारो का भली भाँति अनुशीलन कर लिया था, और वह साम्यवाद का पक्का अनुयायी हो गया था। काजन से लेनिन समरा नामक नगर में गया, और वहाँ उसने स्वयं एक अध्ययन-केन्द्र की स्थापना की। १८६३ में लेनिन सेण्ट पीटर्सबर्ग पहुँच गया। वहाँ मार्क्स के अनेक अनुयायी पहले से ही विद्यमान थे। पर लेनिन साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह करता था, और उसे मजदूर श्रेणी की अवश्यम्भावी विजय पर इतना जबर्दस्त विश्वास था, कि वह शीघ्र ही सेण्ट पीटर्सबर्ग के साम्यवादियों का प्रधान नेता बन गया। १८६५ में लेनिन ने सेण्ट पीटर्सबर्ग के सब साम्यवादियों को एकत्र करके एक नया संगठन बनाया, जिसका नाम रखा गया—मजदूर श्रेणी की मुक्ति के लिए संघर्ष करने का संघ। इस संघर्ष-संघ के सम्मुख लेनिन ने यह विचार रखा, कि हमें केवल प्रचार का कार्य ही नहीं करना चाहिए, अपितु मजदूरों के साथ घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करने और राजनैतिक आन्दोलन शुरू करने का भी यत्न करना चाहिए। मजदूर लोग अपनी शिकायतों को दूर करने के लिए जो हडताल करते हैं, या अन्य आन्दोलन करते हैं, उन सबका प्रयोग अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए करना चाहिए। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में रशिया में कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या लाखों में पहुँच चुकी थी, और ये लोग समय समय पर हडतालें भी करते रहते थे। काम करने का समय नियन्त्रित हो, मजदूरी की कम से कम दर सरकार की तरफ से निश्चत की जाय और मजदूरों के निवास आदि की समुचित व्यवस्था की जाय—इस प्रकार की बातों को लेकर

मजदूर लोग समय समय पर आन्दोलन करते रहते थे। लेनिन कहता था, कि इन आन्दोलनों का सहारा लेकर मजदूरों का संगठन इस दृष्टि से करना चाहिए, कि समय आने पर वे सारे व्यवसाय और कल-कारखानों पर अपना कब्जा कर सकें। इसीलिए जब सेण्ट पीटर्सबर्ग के किसी कार-खाने में हड़ताल होती थी, तो लेनिन के संघर्ष-संघ की ओर से मजदूरों में खूब प्रचार किया जाता था। अनेक पुस्तिकाएँ प्रकाशित की जाती थीं, जिनमें साम्यवाद के सिद्धान्तों का सुचारुरूप से प्रतिपादन किया जाता था। संघर्ष-संघ की ओर से स्वयं भी कई हड़तालों का आयोजन किया गया, और धीरे धीरे यह संघ सेण्ट पीटर्सबर्ग के मजदूरों की प्रधान संस्था बन गई।

कुछ समय बाद अन्य बड़े नगरों और व्यावसायिक केन्द्रों में भी सेण्ट पीटर्सबर्ग के संघर्ष-संघ के अनुकरण में संघ कायम किये गये, और इन साम्यवादी संस्थाओं का एक जाल सा सारे रशिया में बिछ गया। रशिया में एक नई पार्टी का संगठन हो गया, जिसे सोशल डेमोक्रेट पार्टी कहा जाता था। लेनिन इसका प्रधान नेता था। उसके बढ़ते हुए प्रभाव को सरकार नहीं सह सकी। दिसम्बर, १८९५ में उसे अपने प्रमुख साथियों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। पर सेण्ट पीटर्सबर्ग के संघर्ष-संघ और सोशल डेमोक्रेट पार्टी का काम जारी रहा, और मजदूर आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ता गया। कुछ समय तक सेण्ट पीटर्सबर्ग की जेल में रखकर लेनिन को बाद में साइबीरिया भेज दिया गया। वहाँ भी उसने अपने काम को जारी रखा, और वह गुप्त रूप से रशिया के अपने अनुयायियों से पत्र-व्यवहार आदि करता रहा। १९०० में लेनिन को साइबेरिया से मुक्ति मिली। रशिया लौटकर लेनिन ने अनुभव किया, कि देश भर के साम्यवादियों में परस्पर सम्बन्ध बनाये रखने के लिए एक समाचारपत्र की परम आवश्यकता है। पर रोमनेव राजवंश के शासन में यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था, कि लेनिन इस प्रकार के समाचारपत्र को शुरू कर

सके। इसके लिए वह स्विटजरलैण्ड गया, और वहाँ प्लेखनोव के सहयोग से इस्क्रा नाम के पत्र का प्रारम्भ किया गया। यह पत्र जिनीवा से प्रकाशित होता था, और गुप्त रूप से रशिया में पहुँचाया जाता था। इस्क्रा के प्रथम अंक के प्रथम पृष्ठ पर यह लेख अंकित था—'यह एक चिनगारी है, जो एक दिन भयंकर ज्वाला का रूप धारण कर लेगी।' इसमें सन्देह नहीं, कि लेनिन का इस्क्रा इसी प्रकार की एक चिनगारी थी।

इस्क्रा के कारण रशिया के साम्यवादियों को एक सूत्र में संगठित होने में बड़ी मदद मिली। धीरे-धीरे वे सब सोशल डेमोक्रेट पार्टी में सम्मिलित हो गये, और यह पार्टी मजदूरों में बहुत लोकप्रिय हो गई। १६०३ में सोशल डेमोक्रेट पार्टी की एक कांग्रेस संगठित की गई, जिसमें पार्टी के उद्देश्य और नियम तैयार किये गये। पर इस समय पार्टी में मतभेद प्रकट होने लगे थे। इन मतभेदों के कारण लेनिन की सोशल डेमोक्रेट पार्टी के अन्दर दो नई पार्टियां बनने लग गई (१) मेन्शेविक पार्टी—यह मार्क्स के साम्यवादी सिद्धान्तों पर तो विश्वास करती थी, पर इसका खयाल यह था, कि उन्हें क्रिया में परिणत करने के लिए क्रान्तिकारी उपाय अनिवार्य नहीं हैं। मजदूरों में शिक्षा के प्रसार और धीरे-धीरे सुधारों द्वारा भी साम्यवाद की स्थापना की जा सकती है। (२) बोल्शेविक पार्टी—इसका खयाल था, कि क्रान्तिकारी उपायों के बिना मार्क्स के सिद्धान्तों को क्रिया में परिणत नहीं किया जा सकता। मजदूर लोग तभी अपनी असली स्थिति प्राप्त कर सकते हैं, जब कि राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक—सब क्षेत्रों में क्रान्ति हो। इस क्रान्ति के लिए यदि हिंसा और हत्या के उपायों का भी प्रयोग किया जाय, तो भी कोई हानि नहीं।

१६०५ में जब रशिया में क्रान्ति की लहर आई, तो बोल्शेविक लोगों का खयाल था, कि रोमनेव वंश के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त करने का यह अच्छा अवसर है। वे चाहते थे, कि इस समय मजदूर लोग

हथियार लेकर उठ खड़े हों, और पुराने जमाने का अन्त कर नवयुग की सृष्टि करें। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। १९०५ की क्रान्ति की लहर का केवल इतना फल हुआ, कि रशिया में भी पार्लियामेण्ट की स्थापना हो गई, और आंशिक रूप से वैध राजसत्ता का प्रारम्भ हुआ।

धीरे-धीरे मेन्शेविक और बोल्शेविक लोगों में मतभेद बढ़ते गये। यद्यपि अभी ये दोनों दल सोशल डेमोक्रेट पार्टी की कांग्रेस में एक साथ सम्मिलित होते थे, पर यह निरन्तर स्पष्ट होता जाता था, कि कार्ल मार्क्स के अनुयायी होते हुए भी उनमें इतना अधिक मतभेद है, कि उनका एक साथ काम कर सकना असम्भव है। आखिर, प्राग में १९१२ में रशियन सोशल डेमोक्रेट पार्टी का एक महत्त्वपूर्ण अधिवेशन हुआ। इसमें मेन्शेविक दल को पार्टी से बहिष्कृत कर दिया गया, और बोल्शेविक दल का पृथक् रूप से संगठन किया गया। इस दल का प्रधान नेता लेनिन था। वह पुराने जमाने से किसी भी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं था। उसके बोल्शेविक अनुयायी मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार किसान-मजदूर श्रेणियों का आधिपत्य स्थापित करने के लिए कटिबद्ध थे। मेन्शेविकों का बहिष्कार कर देने के बाद इस दल में कोई भी ऐसे लोग नहीं रह गये, जो किसी भी प्रकार से सुधारवादी हों, या धीरे-धीरे उन्नति व परिवर्तन के पक्षपाती हों। लेनिन का यह बोल्शेविक दल आमूल चूल क्रान्तिकारी था।

महायुद्ध से समय में लेनिन रशिया के बाहर रहता हुआ अपने विचारों का प्रचार करता रहा। वह युद्ध को पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का परिणाम कहता था। उसके अनुसार मजदूरों और सर्वसाधारण जनता को युद्ध से कोई लाभ नहीं था। वह यही प्रतिपादित करता था, कि रशिया के मजदूरों को सरकार के खिलाफ गदर करके सब शक्ति अपने हाथ में ले लेनी चाहिये, और युद्ध को बन्द कर देना चाहिये।

मार्च, १९१७ में जब रशिया में पहली राज्यक्रान्ति हुई, तो लेनिन ज्यूरिच में था। अपने एक मित्र से उसे क्रान्ति का समाचार मिला। वह खुशी के मारे उछल पड़ा, और तुरन्त बाजार में निकल आया। वहाँ उसने ताजा समाचार पत्र खरीदा, पर उससे भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। ज्यूरिच की झील के किनारे एक बड़ा बोर्ड था, जिस पर ताजे समाचारों के बुलेटिन चिपका दिये जाते थे। लेनिन वहाँ गया, एक बुलेटिन में निम्नलिखित पंक्तियाँ थीं—"पार्लियामेन्ट के बाहर सदस्यों की एक कमेटी इस समय सरकार का संचालन कर रही है। सम्राट् के सब मन्त्री गिरफ़्तार करके जेल में डाल दिये गये हैं। रशिया की सरकार उन सब लोगों को देश वापस आने का निमन्त्रण देती है, जिन्होंने देश के लिये कष्ट उठाया है, जो अब जेलों में हैं, या देश से बहिष्कृत हैं।" अब लेनिन के सामने केवल एक विचार था, वह कैसे जल्दी से जल्दी रशिया को वापस लौट जाय। लेनिन का प्रसिद्ध साथी और प्रतिस्पर्धी ट्राटस्की इस समय अमेरिका में था। उसे भी यही चिन्ता थी, कि कैसे शीघ्र से शीघ्र रशिया पहुँचा जाय। ट्राटस्की लेनिन के समान ही बोल्शेविक था, और सोशल डेमोक्रेट पार्टी की कांग्रेस में उसका भी बहुत उच्च स्थान था। पर सवाल यह था, कि रशिया पहुँचा कैसे जाय? स्विट्जरलैण्ड से रशिया जाने के लिये दो ही रास्ते थे, या तो जर्मनी होकर और या फ्रांस, इंगलैण्ड, हॉलैण्ड और स्केण्डेनेविया होकर। जर्मनी का रशिया से युद्ध जारी था। वहाँ से होकर जाना असम्भव था। मित्रराष्ट्रों के प्रदेश से होकर जाना सम्भव था, पर लेनिन युद्ध का विरोधी और शान्ति का पक्षपाती था। रशिया की नई सरकार युद्ध को जारी रखने के पक्ष में थी। मित्रराष्ट्रों की खुफिया पुलिस युद्ध के विरोधी लेनिन को रशिया वापस जाने देगी, इस बात में बहुत सन्देह था। आखिर, लेनिन ने यह विचार किया, कि जर्मन सरकार उसे रशिया वापस लौटने में सहायता कर सकती है, क्योंकि जर्मनी का हित रशिया को युद्ध से पृथक् कर देने में ही है। उसने जर्मन सरकार

से बातचीत शुरू की, और रशिया लौटने का इन्तजाम कर लिया। अपने २६ साथियों के साथ लेनिन जर्मन रेलगाड़ी पर सवार हुआ, और बर्लिन से कोपनहागन, स्वीडन और फिनलैण्ड होता हुआ पेट्रोग्राड पहुँच गया।

रशिया में राज्यक्रान्ति हुए अभी केवल एक मास हुआ था। रशिया में विद्यमान बोल्शेविक पार्टी के लोग सामयिक सरकार के साथ सहयोग कर रहे थे। पर लेनिन के आते ही परिस्थिति में परिवर्तन आ गया। लेनिन ने घोषणा की, लोग चाहते हैं रोटी, लोग चाहते हैं खेत और लोग चाहते हैं शान्ति। पर सामयिक सरकार शान्ति की जगह लड़ाई, रोटी की जगह भूख और किसानों को खेत देने की जगह जमींदारों को खेत दे रही है। लेनिन के आने से बोल्शेविक दल में नई जान आ गई। उन्होंने सामयिक सरकार के साथ सहयोग करना बन्द कर किसानों, मजदूरों और सिपाहियों की सोवियटों में काम करना शुरू किया। यद्यपि इन सोवियटों की सरकार में कोई सत्ता नहीं थी, देश के शासन-विधान में इनका कोई स्थान न था, पर लेनिन भली-भाँति समझता था, कि इन सोवियटों द्वारा ही सर्वसाधारण जनता राजसत्ता को अपने हाथों में ले सकती है, और वह समय दूर नहीं है, जब इन सोवियटों द्वारा साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना की जा सकेगी। लेनिन और उसके साथियों ने इन सोवियटों द्वारा निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन व आन्दोलन प्रारम्भ किया—(१) बड़ी-बड़ी जमींदारियों को तुरन्त जब्त कर लिया जाय। (२) व्यवसायों पर राज्य का नियन्त्रण कायम किया जाय (३) रशिया के राष्ट्रीय ऋण को गैर कानूनी घोषित कर दिया जाय। सरकार इस ऋण की अदायगी से इन्कार कर दे। (४) कारखानों का संचालन मजदूर सभायें करें। (५) रोमनेव राजवंश के सम्राटों ने जो भी विदेशी सन्धियाँ व समझौते किये थे, उन सबको तुरन्त रद्द कर दिया जाय। (६) युद्ध को तुरन्त बन्द करके शान्ति

स्थापित कर दी जाय (७) वोट का अधिकार केवल सर्वसाधारण जनता को हो। पूँजीपतियों व अन्य धनिक लोगों को वोट का अधिकार न दिया जाय।

रशिया आने के बाद लेनिन अपना कार्य बड़ी तेजी के साथ कर रहा था। एप्रिल,१९१७ में उसने एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें बोल्शेविक पार्टी के मन्तव्यों और कार्यक्रम का बडे विशद रूप से प्रतिपादन किया गया था। ७ मार्च को उसने बोल्शेविक पार्टी की एक कान्फरेन्स सेण्ट पीटर्सबर्ग में बुलाई। इस समय तक बोल्शेविक पार्टी के बाकायदा सदस्यों की संख्या अस्सी हजार से ऊपर हो चुकी थी। कहने को तो यह बोल्शेविक पार्टी की सातवीं कान्फरेन्स थी, पर कानून से विहित खुले तौर पर हुई यह पहली ही कान्फरेन्स थी, इससे पहले की कान्फरेन्सें या तो विदेशों में हुई थीं, या रशिया में गुप्त रूप से की गई थीं। अब लेनिन की बोल्शेविक पार्टी खुले तौर पर मैदान में आ गई थी।

५. बोल्शेविक क्रान्ति

लेनिन का विचार था, कि बोल्शेविक क्रान्ति के लिए उपयुक्त समय अब आ गया है। अतः उसने अब अपना कार्य बड़ी तत्परता के साथ शुरू कर दिया। वह कहता था—हमें रशिया के लिए न पार्लियामैन्टरी रिपब्लिक की आवश्यकता है, और न शिक्षित मध्यश्रेणी के लोकतन्त्र शासन की। हमें केवल एक सरकार चाहिए, वह है किसानों, मजदूरों और सिपाहियों की सोवियटों के प्रतिनिधियों की। पहली राज्यक्रान्ति ने राजशक्ति को सम्राट, दरबारी और कुलीन लोगों के हाथ से छीन कर मध्यश्रेणी के हाथों में दे दिया है। अब समय आ गया है, कि राजशक्ति मध्यश्रेणी के हाथ से निकल कर सर्वसाधारण जनता, किसानों और मजदूरों के हाथ में आ जाय। राज्यक्रान्ति को पूर्ण करने के लिए यह आवश्यक है, कि आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति भी हो, और पूंजीपतियों व जमींदारों

का वैसे ही विनाश हो, जैसे कि सम्राट् व रोमनेव राजवंश का हुआ है। लेनिन के अपने अनेक साथी उसके विचारों को अत्यधिक उग्र समझते थे। उनका खयाल था, लेनिन बहुत जल्दबाजी कर रहा है। रशिया जैसे पिछड़े हुए देश में एकदम साम्यवादी समाज का निर्माण क्रियात्मक नहीं है। पर लेनिन चट्टान की तरह अपने विचारों पर दृढ़ था। उसका विश्वास था, कि यह समय क्रान्ति को पूर्ण करने के लिये उपयुक्त है। वह भलीभाँति समझता था, कि रशिया में मजदूरों की संख्या व शक्ति इतनी नहीं है, कि वे अकेले मध्यश्रेणी के हाथ से राजसत्ता को छीन सकें। रशिया की जनता देहातों में निवास करती थी। देहात के किसानों के लिए एक ही समस्या थी, खेतों पर कैसे उनका अपना अधिकार हो। यही उनके लिए स्वराज्य था, और यही क्रान्ति। लेनिन ने कहा—खेतों पर किसानों का अधिकार होना चाहिए। किसान उसके साथ हो गये। सामयिक सरकार का संचालन जो लोग कर रहे थे, उनकी यह भारी भूल थी, कि उन्होंने देहातों के करोड़ों किसानों को संतुष्ट करने के लिए कोई काम नहीं किया। यदि वे किसानों को खुश करके उन्हें अपने पक्ष में कर लेते, तो सम्भवतः रशिया में बोल्शेविक क्रान्ति सफल न हो सकती। लेनिन बड़ा दूरदर्शी और चतुर राजनीतिज्ञ था। उसकी सफलता का मूल कारण यही था, कि उसने मजदूरों, किसानों और सिपाहियों को मिला कर एक मोरचा कायम किया, और इसी लिए वह सामयिक सरकार को पदच्युत करके दूसरी राज्यक्रान्ति में सफलता प्राप्त कर सका। बोल्शेविक पार्टी के सदस्यों की संख्या बहुत नहीं थी। उसके पास रुपये की भी कमी थी; पर उसका प्रचार कार्य गजब का था। 'युद्ध का अन्त हो, खेत किसानों को मिलें और गरीबों को रोटी प्राप्त हो,' ये नारे जादू का सा असर करते थे। उसका प्रोपेगेन्डा गजब कर रहा था। वे आम जनता में घुस गये थे। कारखानों और खेतों में, सेनाओं और दफ्तरों में—सब जगह उनके एजंट काम कर रहे थे। वे सरकार के

विरुद्ध जहर उगलते थे, और विश्वास के साथ कहते थे, कि उनके शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद रशियन जनता की सब समस्यायें हल हो जावेंगी, लोगों को खाने को रोटी और पहनने को कपड़ा मिलने लगेगा। इस समय सामयिक सरकार अपने प्रयत्नों में सर्वथा असफल हो रही थी। कारखानों में इसलिये काम नहीं था, क्योंकि कच्चे माल का अभाव था। सेनायें इसलिये तकलीफ में थीं, क्योंकि उनके पास न लड़ने को हथियार थे और न ठण्ड से बचने के लिए कपड़ा। रेल, मोटर आदि आने जाने के सब साधन अस्त व्यस्त हो गये थे।

बोलशेविकों ने इस स्थिति से फायदा उठाया। पहले उन्होंने जुलाई १९१६ में क्रान्ति के लिए उद्योग किया। बोल्शेविक स्वयंसेवक हथियार लेकर बाजार में आ गये। पर सरकार ने इस विद्रोह को सुगमता से दबा दिया। बहुत से बोल्शेविक नेता और कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिये गये। लेनिन के रशिया पहुँचने के कुछ दिन बाद ट्राटस्की भी स्वदेश वापस लौट आया था। वह भी गिरफतार हुआ। लेनिन ने छिप कर अपने को गिरफतार होने से बचाया। बोलशेविक विद्रोह की असफलता से सामयिक सरकार की शक्ति बढ़ गई। बोल्शेविक पार्टी को गैरकानूनी उद्घोषित कर दिया गया, और कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा, कि रशिया में भी लोकतन्त्र शासन की स्थापना हो जायगी। मित्रराष्ट्र इससे बहुत खुश हुए।

पर बोल्शेविक विद्रोह की विफलता का एक और परिणाम हुआ, जिसका केरेन्स्की और उसकी सरकार को स्वप्न में भी ख्याल न था। रशिया में अभी ऐसे लोग विद्यमान थे, जो रोमनेव वंश के पुराने जमाने के पक्षपाती थे। विशेषतया, सेना के अनेक बड़े अफसर फिर से अपनी सत्ता और शक्ति को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। जब उन्होंने देखा, कि उग्र क्रान्तिकारी बिलकुल दब गये हैं, तो उन्होंने पुराने जमाने की पुनः स्थापना के लिए विद्रोह किया, और जनरल कोर्निलोव,

जो कि रशिया के लोगों का प्रधान सेनापति था, के नेतृत्व में सामयिक सरकार की सत्ता का अन्त करने के लिए गदर प्रारम्भ हो गया। पर सैनिक अफसरों की यह साजिश सफल नहीं हो सकी। शीघ्र ही इस विद्रोह को दबा दिया गया। पर इस विद्रोह के दो महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए—(१) जनता इससे बहुत चिन्तित हो गई। उसने अनुभव किया, कि अभी रशिया में ऐसी शक्तियाँ मौजूद हैं, जो क्रान्ति को विफल कर सकती हैं, और फिर से एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना के लिए उद्योग कर सकती हैं। उनके विचार अधिक उग्र हो गये, और उनकी बोलशेविकों के साथ सहानुभूति पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गई। (२) केरेन्स्की की सरकार ने अनुभव किया, कि क्रान्ति की विरोधी भावनाओं का मुकाबला करने के लिए उग्र क्रान्तिकारियों का सहयोग प्राप्त रखना उपयोगी है। इसलिए उन्होंने बोल्शेविक पार्टी पर से प्रतिबन्ध हटा दिये। ट्राटस्की आदि नेताओं को जेल से मुक्त कर दिया गया। लेनिन आदि छिपे हुए नेता फिर से प्रकाश में आ गये।

अब बोल्शेविकों ने फिर अपना काम शुरू किया। अब उनका प्रयत्न यह था, कि किसानों, मजदूरों और सिपाहियों की सोवियटों पर कब्जा कर लिया जाय, और ऐसे लोग इन सोवियटों में निर्वाचित हों, जो बोलशेविक पार्टी के सदस्य हों। इस प्रयत्न में उन्हें सफलता हुई, और पेट्रोग्राड और मास्को की सर्वप्रधान सोवियटों पर उनका कब्जा हो गया। ट्राटस्की पेट्रोग्राड की सोवियट का अध्यक्ष चुना गया। लेनिन समझता था, कि अब समुचित अवसर आ गया है, और बोल्शेविकों को शक्ति प्राप्त करने का पुनः उद्योग करना चाहिए। लेनिन के अनेक साथी कहते थे, अभी रशिया बोल्शेविक क्रान्ति के लिए तैयार नहीं है। पेट्रोग्राड और मास्को जैसे बड़े शहरों और व्यावसायिक केन्द्रों की सोवियटों पर कब्जा कर लेने से यह नहीं समझा जा सकता, कि रशिया जैसे

विशाल देश में सब जगह जनता बोल्शेविकों के साथ है। विशेषतया, देहातों के किसान किस का साथ देंगे, यह सर्वथा अनिश्चित है। पर लेनिन कहता था—हम चाहते हैं, कि जमीन जमींदारों के हाथ से छिन जाय, किसान खेतों पर अधिकार कर लें। यह कैसे सम्भव है, कि वे हमारा साथ न दें। आखिर, बोल्शेविक पार्टी ने अपने नेता की बात मान ली, वे दूसरी बार क्रान्ति के लिए उद्यत हो गये। इस क्रान्ति की योजना को ट्राटस्की ने तैयार किया था। पेट्रोग्राड की शक्तिशाली सोवियट के अध्यक्ष की हैसियत से वह क्रान्ति का नेतृत्व कर रहा था।

इस समय बोल्शेविक पार्टी की स्वयंसेवक सेना में २५ हजार के लगभग स्वयंसेवक थे। ये सब हथियार बाँधते थे, और अपने आदर्शों के लिए बड़े से बडा त्याग करने के लिए तैयार थे। यदि सामयिक सरकार चाहती, तो इनको सुगमता से काबू में रख सकती थी। पर इस स्वयं-सेवक सेना को दबाने का एकमात्र उपाय सेना थी। पर सेना किस ओर है, यह बात बहुत संदिग्ध थी। सेना में बोल्शेविक लोगों के अनुयायियों की संख्या कम न थी। पेट्रोग्राड में स्थापित सेना जहाँ स्वयं बोल्शेविक विचारों की थी, वहाँ उसे यह भी आशंका थी, कि कहीं उसे लड़ाई के अगले मोरचे पर न भेज दिया जाय। वह बोल्शेविकों के साथ मिल गई, और केरेन्स्की की सामयिक सरकार सर्वथा असहाय हो गई। ७ नवम्बर, १९१७ को प्रातःकाल दो बजे बोल्शेविक स्वयं-सेवकों ने पेट्रोग्राड के रेलवे स्टेशन, पुलिस कोतवाली, पोस्ट आफिस, सरकारी बैंक, टेलीफोन एक्सचेंज और इसी प्रकार की अन्य सरकारी इमारतों पर कब्जा कर लिया। खून की एक बूँद भी गिराये बिना पेट्रोग्राड पर बोल्शेविकों का अधिकार हो गया। उन्हें न जुलूस निकालने की आवश्यकता हुई, न गलियों और बाजारों में लड़ाई हुई, और न ही गोलियाँ चलीं। सेना उनके साथ थी, इस दशा में केरेन्स्की और उसके साथी कर ही क्या सकते थे।

७ नवम्बर को पेट्रोग्राड में रशिया की दूसरी राज्यक्रान्ति शुरू हो गई, और बोल्शेविकों ने राजशक्ति को अपने हाथ में ले लिया। ८ नवम्बर को लेनिन की ओर से अनेक सरकारी आज्ञायें प्रचारित की गईं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित थीं—(१) रशिया युद्ध का अन्त करके शान्ति स्थापित करना चाहता है, अतः युद्ध में सम्मिलित सब देशों की जनता और सरकारों से अनुरोध है, कि वे न्याय पर आश्रित सुलह के लिए बातचीत तुरन्त प्रारम्भ कर दें। इस सुलह के अनुसार न किसी राज्य पर हरजाने की रकम लादनी चाहिए और न उसके राष्ट्रीय प्रदेशों को उससे छीनना चाहिए। जर्मनी व उसके साथी इसके लिए उद्यत नहीं हुए। उन दिनों उनकी चढ़ती कला थी। पर लेनिन युद्ध को समाप्त करने के लिए तुला हुआ था। जर्मनी की इच्छानुसार, उस द्वारा आरोपित शर्तों पर भी वह सुलह के लिए तैयार हो गया। और इसका परिणाम यह हुआ, कि ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की सन्धि के द्वारा जर्मनी के साथ युद्ध का अन्त कर दिया गया। (२) जमींदारों का जमीनों पर से स्वामित्व समाप्त किया जाता है, और उन्हें जमींदारियों के बदले में किसी प्रकार की कीमत व हरजाना नहीं दिया जायगा। देहातों के लोग इस आज्ञा से बहुत प्रसन्न हुए। उनकी निगाह में जमींदार सब प्रकार के अत्याचारों और ज्यादतियों के मूर्तिमान् रूप थे। उनके खातमे की बात से किसान लोग बोल्शेविकों के पक्ष में हो गये, और लेनिन को यह मौका मिल गया, कि क्रान्ति की लहर को रशिया के कोने कोने में पहुँचा दे। (३) लेनिन समझता था, कि केवल केरेन्स्की व उसकी सामयिक सरकार के मंत्रियों को पदच्युत कर देने से ही काम नहीं चलेगा। सरकार के सब पुराने अफसरों, न्यायाधीशों व कर्मचारियों को बदले बिना बोल्शेविक क्रान्ति सफल नहीं हो सकेगी। पुरानी सब नौकरशाही सम्राटों के स्वेच्छाचारी शासन, पूँजीपतियों के प्रभुत्व और शिक्षित मध्यश्रेणी की उत्कृष्टता की आदी है। पुराने जमाने के इन औजारों से नये युग का काम नहीं

चल सकता। इन सब पुराने अफसरों को हटाकर नये आदमी नियत करने होंगे, और सरकारी मशीनरी को सर्वथा बदल देना होगा। लेनिन ने इसके लिए उद्योग शुरू कर दिया, और ऐसे लोगों को सरकारी पदों पर नियत किया, जो किसानों और मजदूरों के विश्वासपात्र थे। शासन की इकाई सोवियटें नियत की गईं, और किसानों, मजदूरों व सिपाहियों की जिन सोवियटों का पिछले दिनों में संगठन हुआ था, उन्हें नई सरकार का आधार बनाया गया।

निःसन्देह, अब रशिया बोल्शेविक क्रान्ति की लहरों से आप्लावित हो गया था।

६. गृह-कलह

बोल्शेविक शासन का स्थापन तो बड़ी सुगमता से हो गया था, पर उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। नवम्बर १९१७ से १९२२ के शुरू तक लगभग तीन साल तक बोल्शेविकों को अपने विरोधियों का डट कर मुकाबला करना पड़ा। ये विरोधी तीन प्रकार के थे। (१) रोमनेव राज-वंश के पक्षपाती, जो पुराने जमाने को फिर से स्थापित करना चाहते थे। (२) लोकतन्त्रवादी, जो चाहते थे कि रशिया में फ्रांस और अमेरिका के सदृश लोकतन्त्र शासन की स्थापना हो। विधान-परिषद् निर्वाचित की जाय, और लोकमत को दृष्टि में रखते हुए नये शासन-विधान का निर्माण किया जाय। (३) मेन्शेविक पार्टी के लोग, जो साम्यवादी तो थे, पर क्रान्तिकारी उपायों से समाज के आर्थिक संगठन को एकदम बदल देना उचित नहीं समझते थे। मित्रराष्ट्र बोल्शेविकों के इन विरोधियों की पीठ पर थे। लेनिन ने जर्मनी के साथ सुलह करके युद्ध की समाप्ति कर दी थी। इससे जर्मनी पूर्वी रण-क्षेत्र से निश्चिन्त होकर अपनी सारी सैन्यशक्ति को पश्चिमी और दक्षिणी रण-क्षेत्रों में लगा देने में समर्थ हो गया था, मित्रराष्ट्र इस बात से बहुत जले हुए थे। वे चाहते थे,

कि रशिया से बोल्शेविक शासन का अन्त हो, और फिर से ऐसी सरकार कायम हो, जो जर्मनी के साथ युद्ध को जारी रखे। मित्रराष्ट्रों की सहायता बोल्शेविकों के विरोधियों को प्राप्त थी। इन विरोधियों ने रशिया के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया (१) साइबीरिया में एडमिरल कोलचक ने, (२) जनरल डेनिकिन ने दक्षिण में, (३) युडेनिख ने उत्तर में और (४) रेन्गाल ने दक्षिण-पश्चिम में सेनायें एकत्र कर युद्ध शुरू कर दिया। इतना ही नहीं, फ़्रांस और ग्रीस की सेनाओं ने युक्रेनिया पर हमला शुरू किया और फ़्रांस के जंगी जहाजों ने ओडेसा पर गोलाबारी शुरू कर दी।

यह युद्ध दो देशों का नहीं था। इसमें एक ही देश की दो विचार-धाराओं के लोग आपस में घोर संघर्ष में लगे थे। दोनों तरफ से एक दूसरे पर वीभत्स से वीभत्स अत्याचार किये जा रहे थे। लाल आतंक और श्वेत आतंक एक दूसरे से टकरा कर एक भयंकर स्थिति उत्पन्न किये हुए थे। बोल्शेविकों के भयंकर कारनामों को लाल आतंक और उनके विरोधियों के कुकृत्यों को श्वेत आतंक कहा जाता था। जुलाई, १९१८ में सम्राट् निकोलस द्वितीय और उसके परिवार की हत्या कर दी गई। बोल्शेविक लोग समझते थे, कि राजघराने के सब लोग षड्यन्त्रों में शामिल हैं। बोल्शेविकों के विरोधियों पर मुकदमे चलाने के लिए एक क्रान्तिकारी न्यायालय की स्थापना की गई। इस न्यायालय में हजारों की संख्या में मुकदमे पेश किये गये, और अपराधियों को कड़ी से कड़ी सजाएँ दी गईं। बहुत से लोगों को बिना मुकदने के ही गिरफ्तार किया गया। इस समय सारे रशिया में एक प्रकार का घोर आतंक छाया हुआ था। दोनों पक्ष अपने विरोधियों पर घोर से घोर अत्याचार करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। हत्या, लूट और गिरफ्तारियों का बाजार गरम था। सब जगह हाहाकार मचा हुआ था।

एडमिरल कोचक ने पूर्व में साइबीरिया से जो हमला शुरू किया,

उसमें रशियन सैनिकों के अतिरिक्त ब्रिटिश, अमेरिकन, जापानी, इटालियन, फ्रेंच, सर्वियन, चेक और पोल सैनिक भी बड़ी संख्या में शामिल थे। अनुमान किया गया है, कि एडमिरल कोचक की सेना में ६० हजार रशियन, ६ हजार ब्रिटिश, ७ हजार अमेरिकन, २८ हजार जापानी और हजारों की संख्या में फ्रेंच, चेक और पोल आदि सम्मिलित थे। पर कोचक को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, बोल्शेविक सेनाओं ने उसे साइबीरिया से आगे नहीं बढ़ने दिया, और वहीं उसकी सेनाओं का संहार कर दिया गया। कोचक गिरफ़्तार कर लिया गया, और उसे गोली मार दी गई। डेनिकिन ने दक्षिण में जो विद्रोह का झण्डा खड़ा किया था, उसमें उसे मित्रराष्ट्रों की सहायता पूरी तरह प्राप्त थी। क्रीमिया के क्षेत्र में ब्रिटिश और फ्रेंच लोग उसे पूरी सहायता पहुँचा रहे थे। पर बोल्शेविक सेनाओं ने उसे भी परास्त किया, और डेनिकिन की सेनाओं के पैर उखड़ गये। जनरल युडेनिख ने उत्तर में एस्टोनिया की तरफ से बढ़ना शुरू किया, और धीरे-धीरे लेनिनग्राड (पेट्रोग्राड) तक पहुँच गया। फ्रांस का प्रधान मन्त्री पोयन्कारे चाहता था, कि युडेनिख को पूरी तरह मदद दी जाय, और मित्रराष्ट्रों की ओर से एक विशाल सेना उसकी सहायता के लिए भेजी जाय। पर ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री लायड जार्ज इसके लिए तैयार नहीं हुआ। उसका कहना था, कि रशिया के मामले में सैनिक हस्तक्षेप से बढ़ कर कोई बेवकूफी नहीं हो सकती। युडेनिख की सेनाओं ने लेनिनग्राड का घेरा डाल रखा था। लेनिन की राय थी, कि लेनिनग्राड को छोड़ दिया जाय और बोल्शेविक सेनाओं को वहाँ से वापस बुला लिया जाय। पर अन्य बोल्शेविक नेता इसके लिए तैयार नहीं हुए। लेनिनग्राड की रक्षा के लिए ट्राटस्की को भेजा गया। वहाँ की जनता और सेनायें शहर के घेरे के कारण बहुत परेशान हो चुकी थीं। भोजन, वस्त्र और हथियारों की कमी से लेनिनग्राड के निवासी बहुत तंग थे, और बहुत कुछ निराश हो चुके थे।

ट्राटस्की ने उनमें नये जीवन का संचार किया। उसकी जोशीली वक्तृताओं से लेनिनग्राड की सेनाओं में उत्साह भर गया। वे पूरे उत्साह से मोरचे पर उतर आये। युडेनिख की सेनाओं का मुकाबला करते हुए बीस हजार से अधिक बोल्शेविक सिपाही काम आये, पर वे लेनिनग्राड की रक्षा करने में सफल हुए और युडेनिख को वापस लौटने के लिए विवश होना पड़ा। पोयन्कारे के परामर्श के अनुसार यदि मित्रराष्ट्र पूरी तरह युडेनिख की सहायता के लिए मैदान में आ जाते, तो शायद लेनिनग्राड के युद्ध में बोल्शेविक सेनायें परास्त हो जातीं। पर अब न केवल युडेनिख को, अपितु अन्य सब विद्रोही सेनापतियों को परास्त करने में बोल्शेविक लोग सफल हुए।

बोल्शेविक लोग विजयी अवश्य हुए, पर विजय के लिए उन्हें बड़ी तगड़ी कीमत देनी पड़ी। लाखों बोल्शेविक सैनिक युद्ध में काम आये। जब मित्रराष्ट्रों ने देखा, कि सैनिक युद्ध में रशिया को परास्त करना कठिन है, तो उन्हों ने आर्थिक बहिष्कार का आश्रय लिया। रशिया के साथ सब प्रकार का व्यापार बन्द कर दिया गया। बोल्शेविक सरकार को इस बात की बड़ी आवश्यकता थी, कि रशिया के व्यवसायों और कल-कारखानों को फिर से संगठित करने के लिए नई मशीनरी प्राप्त करे। पर मित्रराष्ट्र उसे न मशीनरी देने को तैयार थे, और न कोई अन्य सामान। केवल इंजन, मोटर तथा अन्य मशीनरी के अभाव से रशिया के व्यवसाय, व्यापार व माल का ढोना—सब अस्त व्यस्त हो गये। इसी समय, वहाँ घोर दुर्भिक्ष पड़ा। गृहकलह के इस काल में रशिया को बहुत कष्ट उठाने पड़े, पर बोल्शेविक पार्टी और उसके नेताओं में इतनी हिम्मत थी, कि वे सब प्रकार के विरोधों और कठिनाइयों के होते हुए भी अपने प्रयत्न में लगे रहे।

अन्त में इस गृह-कलह में बोल्शेविकों की विजय हुई। १९२१ के अन्त तक न केवल रशिया में आन्तरिक शान्ति स्थापित हो गई, अपितु

फ्रांस, ग्रीस और पोलैण्ड ने भी यह भली भाँति अनुभव कर लिया, कि बोल्शेविकों को परास्त कर सकना असम्भव है। जनता की सारी शक्ति बोल्शेविकों के साथ थी, और इस शक्ति को दबा सकना सुगम काम न था। गृह-कलह में बोल्शेविकों की विजय के कारण निम्नलिखित थे—(१) किसान लोग समझते थे, कि यदि बोल्शेविक परास्त हो गये, तो जमींदार फिर से उनके जमीन पर अधिकार कर लेंगे। उन्होंने बोल्शेविकों की पूरी तरह सहायता की। (२) ट्राटस्की ने लाल सेना का बड़ी कुशलता के साथ संगठन किया। इस समय रशिया की जनता में वैसी ही क्रान्ति की भावना पैदा हो गई थी, जैसी कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय फ्रांस में हुई थी। रशियन लोग समझते थे, वे एक सिद्धान्त के लिए लड़ रहे हैं। उन्हें संसार में एक नई व्यवस्था और एक नये समाज को कायम करना है। वे रशियन सिपाही जो पहले लड़ाई के नाम से काँपते थे, जो बड़ी संख्या में सेना से भाग कर अपनी प्राणरक्षा करने में संकोच नहीं करते थे, अब शेरों की तरह से लड़ रहे थे। बोल्शेविकों ने उनके अन्दर एक नया जोश पैदा कर दिया था। (३) क्रान्ति के विरोधियों ने जनता पर घोर अत्याचार किये थे। वे लोगों में एक तरह का आतंक पैदा कर रहे थे, पर नये आदर्शों से ओत-प्रोत रशियन जनता इस आतंक से दबने के बजाय और भी अधिक उग्र होती जाती थी। (४) क्रान्ति के विरोधियों की सहायता के लिए जो विदेशी सेनायें रशिया पर हमला कर रही थीं, उनसे जनता में बहुत क्रोध उत्पन्न हो गया था, देशभक्ति की भावना प्रबल हो गई थी, और रशियन लोग कहते थे, कि बोल्शेविकों के विरोधी देश में विदेशी सत्ता को स्थापित करना चाहते हैं। इस समय रशिया की कुछ वैसी ही दशा थी, जैसी कि अठारवीं सदी के अन्त में फ्रांस की थी। फ्रांस के क्रान्तिकारियों को कुचलने के लिए प्रशिया, आस्ट्रिया, ब्रिटेन—सबने हमले किये। पुराने जमाने के पक्षपाती फ्रेंच लोग क्रान्ति के विरुद्ध

प्रतिक्रिया ये लिए सब प्रकार का उद्योग करते रहे। पर फ्रांस की क्रान्तिकारी भावनाओं के सम्मुख उनकी एक न चली। यही दशा अब रशिया की थी। विदेशी हमले और आन्तरिक विरोध मिलकर भी बोल्शेविक क्रान्ति का कुछ न बिगाड़ सके, और १६२२ के शुरू तक बोल्शेविक सरकार पूरी तरह रशिया में स्थापित हो गई।

७. बोल्शेविक सरकार

नवम्बर, १६१७ की क्रान्ति से रशिया में जिस बोल्शेविक सरकार की स्थापना हुई थी, उसका संगठन संसार के इतिहास में बिलकुल नया था। इस सरकार के प्रधान अंग निम्नलिखित थे—(१) अखिल रशियन सोवियट कांग्रेस में स्थानीय और प्रान्तीय सोवियटों के प्रतिनिधि होते थे। इन प्रतिनिधियों की संख्या १३०० के लगभग थी। बोल्शेविक सरकार की सारी शक्ति इन सोवियटों में केन्द्रित रहती थी, और स्थानीय सोवियटों की यह केन्द्रीय कांग्रेस सर्वोपरि राजसत्ता रखती थी। (२) अखिल रशियन सेन्ट्रल एक्जीक्यूटिव कमेटी—इसके सदस्यों की संख्या २०० थी। इनका निर्वाचन सोवियट कांग्रेस द्वारा होता था। नये कानून यही पास करती थी, और इस द्वारा स्वीकृत कानूनों, प्रस्तावों व अन्य विधानों को सोवियट कांग्रेस के सम्मुख अन्तिम स्वीकृति के लिए पेश किया जाता था। (३) पीपल्स कमीशार की कांसिल—यह कांसिल वह स्थिति रखती थी, जो अन्य देशों में मन्त्रिमण्डल की होती है। शासन के कुल अठारह विभाग बनाये गये थे। प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष को कमीशार कहा जाता था। कौंसिल में कुल अठारह कमीशार होते थे, जिन्हें सेन्ट्रल एक्जीक्यूटिव कमेटी चुनती थी। शासन का संचालन ये कमीशार ही करते थे।

नई बोल्शेविक सरकार का आधार स्थानीय सोवियटें थीं। प्रत्येक ग्राम व नगर में ये सोवियटें विद्यमान थीं। अठारह वर्ष से अधिक आयु

के प्रत्येक स्त्री व पुरुष को, जो अपने श्रम से आजीविका प्राप्त करता हो, वोट का अधिकार दिया गया था। इस प्रकार प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष पहले स्थानीय सोवियट का चुनाव करता था। फिर ये सोवियटें प्रान्तीय सोवियट कांग्रेस के सदस्यों को चुनती थीं, और प्रान्तीय सोवियट कांग्रेसों द्वारा अखिल रशियन केन्द्रीय सोवियट कांग्रेस का निर्वाचन किया जाता था। यह केन्द्रीय कांग्रेस शासन की सारी शक्ति रखती थी, और काम की सुगमता को दृष्टि में रखकर केन्द्रीय एक्ज़ीक्यूटिव कमेटी को चुनती थी। इस प्रकार बोल्शेविक शासन नीचे से ऊपर की तरफ जाता था। वह एक विशाल पिरामिड के समान था, जिसका आधार हज़ारों सोवियटें थीं, और जिसकी केन्द्रीय सरकार अपनी सब शक्ति इन स्थानीय सोवियटों से ही प्राप्त करती थी। शासन के क्षेत्र में यह एक नया परीक्षण था, और संसार के अन्य किसी देश में ऐसी सरकार नहीं थी, जिससे इसकी तुलना की जा सके।

नये बोल्शेविक शासन-विधान में यह भी व्यवस्था की गई कि (१) सम्पत्ति पर व्यक्तियों का स्वामित्व न रहे। जमीन, जंगल, खानें, रेलवे, कारखाने, बैंक आदि सब पर राज्य का प्रभुत्व व स्वत्व रहे। उत्पत्ति के साधनों पर किसी व्यक्ति का अधिकार न रह कर राज्य का अधिकार हो। (२) जमीन किसानों को खेती के लिए दी जाय, और जो किसान जितनी जमीन पर सुगमता के साथ स्वयं अपने हाथ से खेती कर सके, उसका उतनी जमीन पर अधिकार रहे। (३) व्यवसायों और कारखानों का संचालन मजदूर लोग करें, और इसके लिए वे अपनी एक कौंसिल बना लें। विविध कारखानों का प्रबन्ध उन कारखानों की मजदूर कौंसिलों के हाथ में हो, जिन पर एक सर्वोपरि राष्ट्रीय श्रमी कौंसिल का निरीक्षण रहे। (४) रोमनेव राज्यवंश के शासन काल में जो राष्ट्रीय ऋण लिये गये थे। उन सबको रद्द कर दिया जाय। (५) प्रत्येक आदमी के लिए श्रम करना आवश्यक हो। जो श्रम न करे, उसे भोजन न मिले। आम-

दनी का स्रोत केवल श्रम है। शारीरिक श्रम के अतिरिक्त मानसिक श्रम को भी श्रम माना गया, पर यह व्यवस्था की गई, कि कोई ऐसा मनुष्य न रहे, जो बिना कुछ किये आमदनी प्राप्त कर सके। (६) जो लोग सम्पत्ति रखते हों, बिना श्रम के आमदनी प्राप्त करते हों, उन्हें न वोट का अधिकार हो और न वे शस्त्र रख सकें। श्रमियों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी गई, उनके लिए सैनिक शिक्षा आवश्यक और सैनिक सेवा बाधित कर दी गई। इसी कारण उस शक्तिशाली लाल सेना का विकास हुआ, जो सब प्रकार के विरोधियों को दमन कर रशिया में बोल्शेविक सत्ता की स्थापना में समर्थ हुई। (७) पुरानी सरकारों ने विदेशी राज्यों के साथ जो गुप्त सन्धियाँ व समझौते किये थे, उन सबको रद्द कर दिया गया। (८) राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को स्वीकृत किया गया, और इसीलिए पुराने रशियन साम्राज्य के जिन प्रदेशों में रशियन-भिन्न लोग बसते थे, उन्हें स्वतन्त्र रूप से अपने पृथक् राज्य स्थापित करने का अवसर दिया गया। बोल्शेविक सरकार की इसी नीति के कारण फिनलैण्ड, लैटविया, एस्थोनिया और लिथुएनिया के स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई। (९) विशाल रशियन साम्राज्य में निवास करनेवाली विविध जातियों को बोल्शेविक प्रणाली का अनुसरण कर सोवियट शासन स्थापित करने के लिए प्रेरणा की गई। जिन लोगों ने इसे स्वीकार किया, उनका एक सम्मिलित सोवियट संघ स्थापित किया गया। (१०) चर्च को राज्य से पृथक् किया गया, और शिक्षा को चर्च से। अब तक चर्च शिक्षा का भी काम करता था। अब वह काम उससे ले लिया गया, ताकि विद्यार्थी किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रभाव में न रहें। (११) किसानों और मजदूरों के बालक-बालिकाओं को राज्य की ओर से मुफ़्त शिक्षा मिले, यह व्यवस्था की गई। (१२) विदेशों के जो मजदूर रशिया में बसना चाहें, उन्हें इसके लिए पूरा अवसर दिया गया। यह नियम बनाया गया, कि विदेशी मजदूरों को भी रशिया में सब राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। बोल्शेविक

लोग मानते थे, कि संसार भर के श्रमियों के हित एक सदृश हैं, उन्हें एक दूसरे को विदेशी समझने के बजाय आपस में एक होकर रहना चाहिए।

नई बोल्शेविक सरकार ने मास्को को अपनी राजधानी बनाया। राष्ट्रीय झण्डे का रंग लाल नियत किया गया, और उप सर दरांती और हथौड़ा चिह्नित किया गया। दरांती किसानों और हथौड़ा मजदूरों का प्रतिनिधि था। राष्ट्रीय चिह्न में यह भी अंकित किया गया—"रशियन सोशलिस्ट सोवियट फिडरेटेड रिपब्लिक, संसार के श्रमिको, मिलकर एक हो जाओ।" लेनिन कहता था, रशिया की यह सरकार सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र सरकार है। अन्य लोकतन्त्र राज्यों का इससे कोई मुकाबला नहीं हो सकता।

नई सरकार के प्रधान नेता थे, लेनिन, चिचेरिन और ट्राटस्की। लेनिन पीपल्स कमीशार की कांसिल या मन्त्रिमण्डल का प्रधान था। उसे प्रधान मन्त्री कहा जा सकता है। चिचेरिन विदेश मन्त्री और ट्राटस्की युद्ध-मन्त्री था। इस सरकार ने बाह्य और आभ्यन्तर—सब प्रकार के भयों से नये शासन की रक्षा करने और एक नई सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को कायम करने में असाधारण तत्परता और योग्यता प्रदर्शित की।

रशिया में जो भारी परिवर्तन हुए, उनका प्रधान श्रेय लेनिन को है। कार्ल मार्क्स ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, लेनिन ने उन्हें क्रिया में परिणत करके दिखा दिया। बीसवीं सदी के शुरू में रशिया की प्रायः वही दशा थी, जो अठारहवीं सदी के मध्य भाग में फ्रांस की थी। पर लेनिन के प्रयत्नों से वहाँ न केवल पुराने जमाने का अन्त हुआ, अपितु एक नई व्यवस्था व नवीन सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। लेनिन का विश्वास था, कि वह समय दूर नहीं है, जब यही व्यवस्था सारा संसार अपना लेगा। पर अपने विश्वासों को वह अपने जीवन-काल में पूरा होता हुआ न देख सका। १९२४ में उसकी मृत्यु हो गई।

इसमें सन्देह नहीं, कि लेनिन इतिहास के उन महापुरुषों में एक है, जो सदा के लिए अपनी छाप उस पर छोड़ जाते हैं। वह सच्चे अर्थों में युगप्रवर्तक था। रशिया की बोल्शेविक क्रान्ति उसी के असाधारण व्यक्तित्व, शक्ति और प्रतिभा का परिणाम थी। संसार की सभ्यता को एक नये साँचे में ढालने का जो प्रयत्न उसने शुरू किया, वह अब भी जारी है। इसमें सन्देह नहीं, कि साम्यवाद की जो लहर लेनिन ने प्रारम्भ की, वह संसार के काफी बड़े भाग को अब तक व्याप्त कर चुकी है, और किसी न किसी रूप में वह सारी पृथिवी पर अपना असर डाल रही है।

छियालीसवाँ अध्याय

बोल्शेविक रशिया

१. स्तालिन का उदय

लेनिन और अन्य बोल्शेविक नेताओं का विश्वास था, कि रशिया में जो साम्यवादी क्रान्ति की लहर प्रारम्भ हुई है, वह केवल रशिया तक ही सीमित नहीं रहेगी, अपितु शीघ्र ही सारे यूरोप को व्याप्त कर लेगी। लेनिन का कहना था, कि वैज्ञानिक रूप से यह भविष्यवाणी पूरे भरोसे के साथ की जा सकती है, कि वह समय दूर नहीं है, जब सारा संसार साम्यवादी क्रान्ति के प्रभाव में आ जायगा। इस विश्वव्यापी क्रान्ति के लिए मैदान तैयार करने के उद्देश्य से १६१६ में 'थर्ड इन्टर्नेशनल' (साम्यवादियों का तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय संघ) या कामिन्टर्न की स्थापना की गई। यह व्यवस्था की गई, कि इस संघ में सब देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के प्रतिनिधि शामिल हों, और सब कम्युनिस्ट पार्टियों को एक सूत्र में संगठित कर दिया जाय। कामिन्टर्न के विधान में इसके उद्देश्यों को निम्नलिखित रीति से प्रकट किया गया था—"श्रमिकों के इस नये अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृसंघ की स्थापना इस उद्देश्य से की गई है, कि विविध देशों की सर्वसाधारण जनता आपस के सहयोग से पूँजीवाद का नाश कर सके, और किसान मजदूर जनता का एकाधिपत्य कायम कर सके। समाज में जो विविध श्रेणियाँ हैं, उनका अन्त करके साम्यवाद की स्थापना सम्भव हो सके, और इस प्रकार संसार भर के राज्यों की एक अन्तर्राष्ट्रीय सोवियट रिपब्लिक स्थापित होने के लिए मैदान तैयार हो जाय।" कामिन्टर्न का पहला अध्यक्ष जिनोवीव था। उसने घोषणा की, कि एक

साल के अन्दर-अन्दर सारा यूरोप कम्युनिस्ट हो जायगा। सब बोल्शेविक लोगों को यही आशा थी।

पर उनकी यह आशा पूरी नहीं हो सकी। महायुद्ध की समाप्ति पर जर्मनी, आस्ट्रिया, पोलैण्ड आदि अनेक देशों में बोल्शेविकों ने क्रान्ति की कोशिश की। बेलाकुन के नेतृत्व में कुछ समय के लिए हंगरी में बोल्शेविक शासन स्थापित भी हो गया। जर्मनी में रोजा लुक्समबुर्ग और लीब्कनेख्ट के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने बहुत जोर पकड़ा; पर वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुए। कुछ ही समय बाद रशिया के अतिरिक्त अन्य सब देशों में बोल्शेविक क्रान्ति की लहर उतर गई, और लोकतन्त्र शासनों की स्थापना हुई। अन्य देशों में जो बोल्शेविक लोग सफल नहीं हुए, उसका कारण यह था, कि वहाँ शिक्षित मध्य श्रेणी बहुत शक्तिशाली थी। रशिया में इस श्रेणी की संख्या बहुत कम थी, और वहाँ जमींदारी को नष्ट कर देने की बात उठाकर बोल्शेविकों ने किसानों को अपने पक्ष में कर लिया था।

बोल्शेविक क्रान्ति संसार भर को अपने असर में नहीं ला सकी, इसका परिणाम बोल्शेविक पार्टी पर बड़े महत्त्व का हुआ। उनमें नीति और कार्यक्रम के सम्बन्ध में मतभेद प्रकट होने लगे। जब तक लेनिन जीवित रहा, ये मतभेद ज्यादा प्रबल रूप धारण नहीं कर सके। पर उसकी मौत होते ही बोल्शेविक पार्टी दो भागों में विभक्त हो गई। एक पक्ष का नेता ट्राटस्की था। उसका मत यह था, कि बोल्शेविकों को विश्व भर में साम्यवादी क्रान्ति के लिए अपने प्रयत्नों को जारी रखना चाहिए। ट्राटस्की कहता था, कि पूँजीवाद की परिस्थितियों में अकेले रशिया में बोल्शेविक व्यवस्था का फलना-फूलना सम्भव नहीं है। दूसरे पूँजीवादी देश सैनिक हस्तक्षेप या आर्थिक बहिष्कार द्वारा रशिया के बोल्शेविक राज्य को सुगमता से नष्ट कर सकते हैं। ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, पोलैण्ड आदि ने किस प्रकार पुराने जमाने के पक्षपाती रशियन विद्रोहियों

की सहायता की थी, और स्वयं भी अपनी सेनाएँ भेज कर उस पर हमला किया था, यह उदाहरण उसके सामने था। ट्राटस्की यह भी कहता था, कि संसार के सब राज्य एक दूसरे पर आश्रित हैं। इस समय दुनिया का बाजार एक है, कोई देश कोई सा माल तैयार करता है, और अन्य देश दूसरा माल तैयार करते हैं। इस युग में कोई भी देश ऐसा नहीं रहा है, जो आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया अपने आप में परिपूर्ण हो। इस दशा में यह कैसे सम्भव है, कि एक देश में तो बोल्शेविक व्यवस्था हो, और अन्य सब में पूँजीवाद, और वे सब आपस में सहयोग से व्यापार का संचालन कर सकें। पूँजीवादी देशों के बीच में एक बोल्शेविक देश जीवित नहीं रह सकेगा। उसकी वही दशा हो जायगी, जो कि सब ओर से शत्रुओं से घिरे हुए देश की होती है। ट्राटस्की का मत था, कि रशिया से बोल्शेविक क्रान्ति की जो लहर शुरू हुई है, उसे सारे संसार में व्याप्त होना ही चाहिए। जब सब जगह साम्यवाद के अनुसार समाज की रचना हो जायगी, तो आर्थिक दृष्टि से सारा संसार एक हो जायगा। जिस प्रकार एक देश में जो प्रान्त वस्त्र-व्यवसाय के लिए अनुकूल परिस्थिति रखता है, वहाँ वस्त्र-व्यवसाय का विकास होता है, दूसरा प्रान्त लोह-व्यवसाय का, तीसरा कोयले का, चौथा रेशम का, और पाँचवाँ चीनी या अनाज का केन्द्र होता है। इसी प्रकार जब सारे विश्व में बोल्शेविक समाज की स्थापना हो जायगी, तो विविध देश भिन्न भिन्न व्यवसायों के केन्द्र बन जावेंगे, और संसार भर की सर्वसाधारण श्रमिक जनता एक दूसरे के साथ सहयोग से सबके हित के लिए प्रयत्न करेगी। राज्यों की प्रतिस्पर्धा और ईर्षा-द्वेष का अन्त हो जायगा और स्थिर शान्ति के लिए मार्ग खुल जायगा।

पर स्टालिन का मत इससे भिन्न था। ट्राटस्की के समान स्टालिन भी लेनिन के प्रधान सहयोगियों में से एक था। स्टालिन कहता था, कि रशिया को विश्व भर में बोल्शेविक क्रान्ति करने की फिक्र करने की

आवश्यकता नहीं है। हमें यत्न यह करना चाहिए, कि पहले एक देश में बोल्शेविक समाज को स्थापित करके दिखा दें। जब रशिया में साम्यवादी व्यवस्था कायम हो जायगी, तो अन्य देश स्वयं उसका अनुसरण करने के लिए उत्साहित होंगे। अन्य देशों में बोल्शेविक व्यवस्था के कायम हुए विना भी रशिया में उसे सफल किया जा सकता है। अन्य देशों में क्रान्ति करने के उद्योग का परिणाम यह होगा, कि उनके साथ व्यर्थ में संघर्ष और विद्वेष बढ़ेगा, और रशिया को अपनी उन्नति के लिए जिस मैशीनरी व अन्य साधनों की आवश्यकता है, वे उसे प्राप्त न हो सकेंगे। अन्य देशों से निरन्तर संघर्ष के कारण रशिया में शान्ति और व्यवस्था नहीं रह पायेगी, और बोल्शेविक व्यवस्था कायम होने में बाधा उपस्थित होगी।

ट्राटस्की और स्टालिन के इस मतभेद ने बहुत उग्र रूप धारण किया। पर अन्त में स्टालिन की विजय हुई। सोवियटों में उन लोगों का बहुमत था, जो स्टालिन के अनुयायी थे, और कम्युनिस्ट पार्टी में भी स्टालिन का जोर था। ट्राटस्की को देशनिकाला दिया गया, और वह १६२६ में रशिया छोड़कर बाहर चले जाने को विवश हुआ। उसके सब अनुयायी गिरफ्तार किये गये और बहुतों को तो प्राण-दण्ड तक दिया गया। स्टालिन के अनुसार ट्राटस्की के विचार बोल्शेविक सिद्धान्तों के प्रतिकूल थे, और उसके कार्य नई क्रान्ति के लिए हानिकारक थे। उसे देशद्रोही और कम्युनिज़्म का शत्रु समझा गया, और उसके अनुयायियों के साथ अत्यन्त कठोर वर्ताव किया गया। यह कह सकना कठिन है, कि ट्राटस्की कम्युनिज़्म का शत्रु था। क्रान्ति के तुरन्त बाद सभी बोल्शेविक लोग यह समझते थे, कि विश्व भर में साम्यवादी समाज की स्थापना करना परम आवश्यक है। इसी के लिए कोमिन्टर्न का संगठन किया गया था। पर जब हंगरी, पोलैण्ड, जर्मनी आदि में बोल्शेविक क्रान्ति की पहली लहर सफल नहीं हुई, तो स्टालिन व उसके

साथियों ने विश्व-क्रान्ति का स्वप्न छोड़कर अपने देश में बोल्शेविक व्यवस्था को सफल बनाने का काम हाथ में लिया। परिस्थितियों को देखते हुए यह उचित ही था, पर मतभेदों के कारण ट्राटस्की व उसके अनुयायियों को कम्युनिज्म का शत्रु समझना कहाँ तक उचित है, इस पर ऐतिहासिकों में मतभेद ही रहेगा।

पर अब बोल्शेविक रशिया की सब शक्ति स्टालिन के हाथ में आ गई थी। १९२४ के शुरू में लेनिन की मृत्यु के बाद अपने प्रतिस्पर्धियों को परास्त कर वह कम्युनिस्ट पार्टी का प्रधान नेता बन गया था।

२. नई आर्थिक नीति

नवम्बर, १९१७ में जब बोल्शेविकों ने क्रान्ति द्वारा राजशक्ति प्राप्त की, तो जल्दी जल्दी जिन आज्ञाओं को प्रचारित किया, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह समय भारी परिवर्तन का था। अन्दर और बाहर, दोनों ओर शत्रुओं का भय नई बोल्शेविक सरकार के सामने था। वह परिस्थिति युद्ध की थी, उस दशा में बोल्शेविकों ने शीघ्रता में जो नई आर्थिक व्यवस्थाएं कीं, उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—(१) सब कारखानों पर राज्य का अधिकार हो गया। (२) आर्थिक उत्पत्ति और सम्पत्ति के विनिमय के सब साधनों पर राज्य ने अपना अधिकार कर लिया। व्यक्तियों द्वारा संचालित सब व्यवसाय बन्द कर दिये गये। (३) बैंक बन्द हो गये, और रुपये के लेन-देन का सब काम सरकार की ओर से होने लगा। (४) श्रमिकों को पारिश्रमिक रुपये में नहीं अपितु पदार्थों की शकल में मिलने लगा। उन्हें काम के बदले में कार्ड मिलते थे, जिन्हें दिखा कर वे मुफ़्त भोजन, मुफ़्त सवारी व मकान प्राप्त कर सकते थे। रुपये का चलन प्रायः बन्द कर दिया गया था, और इसीलिए महाजनों व बैंकों की कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। (५) जमीनें जमींदारों से छीन ली गईं। यह घोषणा कर दी गई, कि जमीन राज्य की है। पर खेती का काम

किसानों के ही हाथों में रहा। किसान अपने अपने खेतों में उसी तरह खेती करते रहे, जैसे पहले करते थे। सरकार स्वयं अपनी ओर से खेती की व्यवस्था करे, इसका उद्योग नहीं किया गया। पर सरकार को यह हक था, कि वह किसान के पास उसके खाने लायक अनाज को छोड़कर बाकी अनाज को उससे प्राप्त कर सके।

इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ, कि बहुत से कारोबार बन्द हो गये। लाखों-करोड़ों आदमी बेकार हो गये। सारे कारखानों को व आर्थिक उत्पत्ति के सब साधनों को सरकार एकदम पूरी तरह नहीं सँभाल सकी। पैदावार बहुत घट गई। किसानों ने जब देखा, कि सरकारी अफसर उनके अनाज को मनमानी तरीके से ले जाते हैं, तो वे बहुत असंतुष्ट हुए। जगह जगह किसानों के विद्रोह हुए। सब जगह अशान्ति और विद्रोह के चिन्ह प्रकट होने लगे। रशिया के जंगी जहाजों के बेड़े में मल्लाहों तक ने विद्रोह कर दिया। इस दशा में (१६२१ में) लेनिन ने अनुभव किया, कि आर्थिक नीति में परिवर्तन की आवश्यकता है। एक बार अपनी सारी शक्तियों को एकत्र करके जोर के साथ हमला किया जा सके, इसके लिए सेना को पीछे हटने की भी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार बोल्शेविक पार्टी को भी चाहिए, कि अपने आदर्शों के अनुसार व्यवस्था कायम करने के लिए एक बार कुछ पीछे हट जावे, और फिर पूरी तैयारी करके आगे बढ़े। इस उद्देश्य को दृष्टि में रख कर लेनिन ने जिस नई आर्थिक नीति को प्रारम्भ किया, उसकी मुख्य बातें ये थीं—(१) किसानों को यह अनुमति दी गई, कि वे अपनी पैदावार को खुले बाजार में बेच सकें। (२) लोगों को यह अनुमति दी गई, कि वे छोटे पैमाने के व्यवसाय, व्यापार व अन्य कारोबार स्वतन्त्र रूप से चला सकें, और अपनी पैदावार को खुले बाजार में बेच सकें। (३) दूकानदारों को यह अनुमति दी गई, कि वे एक जगह से माल खरीद कर दूसरी जगह पर बेच सकें, और इस प्रकार

मुनाफा कमा सकें। (४) साहूकारों और बैंकों को फिर से रुपये का लेन-देन करने का अवसर दिया गया। (५) रुपये का इस्तेमाल फिर शुरू हो गया। मजदूरी मुद्रा की शकल में दी जाने लगी। रेलवे, मोटर और मकान के किराये, वेतन—सब रुपये पैसे में दिये जाने लगे। (६) बड़े बड़े कारखाने राज्य के स्वामित्व में रहे, पर उनका हिसाब भी मुद्रा में रखा जाने लगा, और उनमें काम करनेवाले कर्मचारियों को वेतन रुपये की शकल में दिये जाने शुरू हुए। बड़े-बड़े कारखानों, रेलवे, डाक, तार, खानों आदि पर राज्य का स्वामित्व जारी रखा गया। छोटे पैमाने के जिन कारोबारों को संचालन करने की स्वतन्त्रता व्यक्तियों को दी गई थी, उनके विषय में बोल्शेविक नेताओं का यह विचार था, कि ज्यों-ज्यों साम्यवादी समाज सुदृढ़ नींव पर कायम होता जायगा, इन सबको राज्य की अधीनता में कर लिया जायगा। केवल सामयिक रूप से छोटे कारोबारों को व्यक्तियों के हाथ में दिया गया है। इस समय भी उनके काम काज पर कड़ी निगाह रखी जायगी, और धीरे-धीरे उन्हें पूरी तरह राज्य के नियन्त्रण में कर लिया जायगा। बोल्शेविक लोग अपनी योजना पर दृढ़ रहे, और १९३१ तक स्वतन्त्र व्यापारियों और धनी किसानों का अन्त करके उनके कारोबार राज्य की अधीनता में ले लिये गये।

३. कृषिसम्बन्धी क्रान्ति

रशिया कृषिप्रधान देश है। १९१७-१८ में तो वहाँ की जनता का बहुत ही बड़ा भाग कृषि पर आश्रित था। बोल्शेविक क्रान्ति ने देहातों में रहनेवाले और खेती पर आश्रित करोड़ों आदमियों की स्थिति पर जो असर डाला, उसका विशेष रूप से विवेचन करने की आवश्यकता है। १९१७ के अन्त में बोल्शेविक सत्ता के स्थापित होते ही जमींदारी प्रथा का अन्त कर दिया गया। सरकारी आज्ञा से बात की बात में जमींदारों का जमीन पर से स्वत्व नष्ट हो गया, और यह व्यवस्था की गई कि खेत किसानों

में बाँट दिये जावें। जमींदारों की जमीनें दो प्रकार की थीं। एक पर जमींदार लोग खुद खेती कराते थे। उनके अपने बड़े-बड़े फार्म थे। बाकी जमीन किसानों को खेती के लिए दी गई थी, जिसके बदले में वे जमींदार को लगान देते थे। अब नई बोल्शेविक व्यवस्था में जमींदारों के जो फार्म बहुत बड़े-बड़े थे, वे तो राज्य के स्वामित्व में आ गये, और उन पर खेती का काम सरकार की ओर से होने लगा। जिन खेतों पर पहले से किसान लोग खेती करते थे, वे अब भी उन्हीं किसानों के पास रहे। जमींदारों के फार्मों की व खाली पड़ी हुई कुछ जमीन नये किसानों को दे दी गई, या पहले से खेती करनेवाले किसानों में बाँट दी गई। खेती का काम किसानों के ही हाथ में रहा। उनके अपने औजार रहे। रशिया में खेती बैलों से नहीं होती। वहाँ इसके लिए घोड़े काम आते हैं। घोड़े भी किसानों की अपनी सम्पत्ति रही। बोल्शेविकों के शासन में सर्वसाधारण किसानों की स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आया। जैसे वे पहले जमींदार की जमीन जोतते थे, अब सरकारी जमीन जोतने लगे। उनके खेतों के साइज छोटे-छोटे थे। औसतन एक किसान परिवार के पास कुल जमीन ग्यारह एकड़ से अधिक नहीं थी। जमींदारी प्रथा के अन्त से किसानों की संख्या भी बढ़ गई थी, और उन्हें खेती करने के लिए जमीन भी ज्यादा मिल गई थी। १९१७ में एक करोड़ अस्सी लाख ऐसे परिवार थे, जिनके पास अपने अलग-अलग खेत थे। दस साल बाद १९२७ में ऐसे परिवारों की संख्या बढ़कर दो करोड़ पचास लाख हो गई थी। इससे स्पष्ट है, कि दस साल में ७० लाख के लगभग नये परिवारों को खेती के लिए जमीन प्राप्त हो गई थी। जमींदारी प्रथा के अन्त से सर्वसाधारण देहाती जनता को यह बड़ा भारी लाभ पहुँचा था। वे जमींदारों के अत्याचारों से भी बच गये थे, और यह अनुभव करने लगे थे, कि उनकी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है, और उनका सम्बन्ध सीधा राज्य के साथ है।

१६१८ से १६२१ तक रशिया में जो गृह-कलह हुआ, और जिस प्रकार विदेशी सेनाओं ने उस पर आक्रमण किये, उससे किसानों को बहुत नुकसान पहुँचा। दोनों पक्षों को अपनी-अपनी सेनाओं के लिए अनाज की आवश्यकता थी। इस अनाज को प्राप्त करने का सबसे सुगम तरीका यह था, कि किसानों से उसे जबर्दस्ती ले लिया जाय। इससे किसान बहुत परेशान हुए। उन्होंने तंग आकर खेती करना ही छोड़ दिया। बहुत से किसानों ने खेत जोते ही नहीं, परिणाम यह हुआ, कि १६२१ में बड़ा घोर अकाल पड़ा। आम तौर पर जितनी पैदावार रशिया में होती थी, १६२१ में उसकी कुल ४० फी सदी हुई। अनाज की कमी बुरी तरह अनुभव होने लगी। अब सरकार को होश आया। उन्होंने इस नीति को छोड़ दिया, कि किसान के पास अपने खाने लायक अनाज को छोड़ कर शेष सब उससे जबर्दस्ती ले लिया जाय। उसे कीमत भी वह दी जाय, जो सरकार निश्चित करे। अब नई आर्थिक नीति के अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि किसान अपनी जमीन को जोतने-बोने के लिए लगान की एक निश्चित मात्रा सरकार को अदा करें। लगान की अदायगी के बाद जो अनाज उनके पास बाकी बचे, उसे वे खुले तौर पर बाजार में बेच सकें। अब ठीक वही हालत आ गई, जो बोल्शेविक क्रान्ति से पहले थी। फर्क यह था, कि किसान लगान जमींदार को न देकर सरकार को देता था। बाकी सब कुछ वही था, जो पूँजीवादी देशों में होता था। किसान के अपने घोड़े, अपने हल व अपने औजार थे। वह अपनी पैदावार का खुद मालिक था, और स्वतन्त्रता के साथ अपना कारोबार करता था। सर्व-साधारण जनता स्वभाव से ही अपरिवर्तनशील होती है। विशेषतया, देहात के निवासी अशिक्षित किसान लोग अपने घोड़ों व हल औजारों से विशेष रूप से प्यार करते हैं। उनकी अपरिवर्तनशीलता के सम्मुख बोल्शेविकों के सिद्धान्त परास्त हो गये। लेनिन को विवश होकर यह

में बाँट दिये जावें। जमींदारों की जमीनें दो प्रकार की थीं। एक पर जमींदार लोग खुद खेती कराते थे। उनके अपने बड़े-बड़े फार्म थे। बाकी जमीन किसानों को खेती के लिए दी गई थी, जिसके बदले में वे जमींदार को लगान देते थे। अब नई बोल्शेविक व्यवस्था में जमींदारों के जो फार्म बहुत बड़े-बड़े थे, वे तो राज्य के स्वामित्व में आ गये, और उन पर खेती का काम सरकार की ओर से होने लगा। जिन खेतों पर पहले से किसान लोग खेती करते थे, वे अब भी उन्हीं किसानों के पास रहे। जमींदारों के फार्मों की व खाली पड़ी हुई कुछ जमीन नये किसानों को दे दी गई, या पहले से खेती करनेवाले किसानों में बाँट दी गई। खेती का काम किसानों के ही हाथ में रहा। उनके अपने औजार रहे। रशिया में खेती बैलों से नहीं होती। वहाँ इसके लिए घोड़े काम आते हैं। घोड़े भी किसानों की अपनी सम्पत्ति रही। बोल्शेविकों के शासन में सर्वसाधारण किसानों की स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आया। जैसे वे पहले जमींदार की जमीन जोतते थे, अब सरकारी जमीन जोतने लगे। उनके खेतों के साइज छोटे-छोटे थे। औसतन एक किसान परिवार के पास कुल जमीन ग्यारह एकड़ से अधिक नहीं थी। जमींदारी प्रथा के अन्त से किसानों की संख्या भी बढ़ गई थी, और उन्हें खेती करने के लिए जमीन भी ज्यादा मिल गई थी। १९१७ में एक करोड़ अस्सी लाख ऐसे परिवार थे, जिनके पास अपने अलग-अलग खेत थे। दस साल बाद १९२७ में ऐसे परिवारों की संख्या बढ़कर दो करोड़ पचास लाख हो गई थी। इससे स्पष्ट है, कि दस साल में ७० लाख के लगभग नये परिवारों को खेती के लिए जमीन प्राप्त हो गई थी। जमींदारी प्रथा के अन्त से सर्वसाधारण देहाती जनता को यह बड़ा भारी लाभ पहुँचा था। वे जमींदारों के अत्याचारों से भी बच गये थे, और यह अनुभव करने लगे थे, कि उनकी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है, और उनका सम्बन्ध सीधा राज्य के साथ है।

१६१८ से १६२१ तक रशिया में जो गृह-कलह हुआ, और जिस प्रकार विदेशी सेनाओं ने उस पर आक्रमण किये, उससे किसानों को बहुत नुकसान पहुँचा। दोनों पक्षों को अपनी-अपनी सेनाओं के लिए अनाज की आवश्यकता थी। इस अनाज को प्राप्त करने का सबसे सुगम तरीका यह था, कि किसानों से उसे जबर्दस्ती ले लिया जाय। इससे किसान बहुत परेशान हुए। उन्होंने तंग आकर खेती करना ही छोड़ दिया। बहुत से किसानों ने खेत जोते ही नहीं, परिणाम यह हुआ, कि १६२१ में बड़ा घोर अकाल पड़ा। आम तौर पर जितनी पैदावार रशिया में होती थी, १६२१ में उसकी कुल ४० फी सदी हुई। अनाज की कमी बुरी तरह अनुभव होने लगी। अब सरकार को होश आया। उन्होंने इस नीति को छोड़ दिया, कि किसान के पास अपने खाने लायक अनाज को छोड़ कर शेष सब उससे जबर्दस्ती ले लिया जाय। उसे कीमत भी वह दी जाय, जो सरकार निश्चित करे। अब नई आर्थिक नीति के अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि किसान अपनी जमीन को जोतने-बोने के लिए लगान की एक निश्चित मात्रा सरकार को अदा करें। लगान की अदायगी के बाद जो अनाज उनके पास बाकी बचे, उसे वे खुले तौर पर बाजार में बेच सकें। अब ठीक वही हालत आ गई, जो बोल्शेविक क्रान्ति से पहले थी। फर्क यह था, कि किसान लगान जमींदार को न देकर सरकार को देता था। बाकी सब कुछ वही था, जो पूँजीवादी देशों में होता था। किसान के अपने घोड़े, अपने हल व अपने औजार थे। वह अपनी पैदावार का खुद मालिक था, और स्वतन्त्रता के साथ अपना कारोबार करता था। सर्व-साधारण जनता स्वभाव से ही अपरिवर्तनशील होती है। विशेषतया, देहात के निवासी अशिक्षित किसान लोग अपने घोड़ों व हल औजारों से विशेष रूप से प्यार करते हैं। उनकी अपरिवर्तनशीलता के सम्मुख बोल्शेविकों के सिद्धान्त परास्त हो गये। लेनिन को विवश होकर यह

व्यवस्था करनी पड़ी, कि किसान लोग अपने सब मामलों का स्वयं निर्णय करें, और अपने विचारों के अनुसार अपने समाज का विकास करें।

अब बोल्शेविक सरकार की सारी ताकत बड़े बड़े कल-कारखानों के विकास पर लग गई। देश की व्यावसायिक उन्नति को उन्होंने महत्त्व दिया, और देहातों में खेती का काम किसानों के हाथ में छोड़ दिया। किसान यह बात पसन्द करते थे, अपनी स्वतन्त्रता उन्हें बहुत अच्छी मालूम होती थी। पर इस समय भी एक बात उन्हें बहुत परेशान कर रही थी। अनाज की कीमतें सस्ती थीं, और दूसरे माल मुकाबले में बहुत मँहगे थे। महायुद्ध के करीब दस साल बाद सारी दुनिया में यह हालत थी, कि अनाज का दाम बहुत गिर गया था, और अपनी पैदावार को बेचकर किसान को जो कुछ मिलता था, उससे वह कपड़ा, औजार या पशु मुनासिब कीमत पर नहीं खरीद सकता था। किसान इससे बहुत तंग थे। रशिया के एक किसान ने अपनी परेशानी को इन शब्दों में प्रकट किया था—"सोवियट सरकार ने मुझे जमीन दे दी है। पर मैं जमीन का क्या करूँ? क्या मैं जमीन से पेट भर सकता हूँ? मेरे पास घोड़ा नहीं है, घोड़े के बिना मैं जमीन पर कर ही क्या सकता हूँ? पुराने जमाने में हमारे देश में सम्राट् था, जमींदार थे, हमारा शोषण करनेवाले लोग भी थे, पर फिर भी यदि मेरा घोड़ा मर जाता था, तो मैं नया घोड़ा खरीद सकता था। अब न कोई सम्राट् है, न कोई जमींदार है और न कोई शोषण करनेवाला है। पर हमारे पास घोड़ा खरीद सकने की ताकत ही नहीं है।" इस दशा का परिणाम फिर यह हुआ, कि अनाज की पैदावार कम हो गई, और दुर्भिक्ष के काले बादल आसमान में मँडराने लगे। बोल्शेविक सरकार के लिए यह आवश्यक था, कि इस परिस्थिति को सँभालने के लिए कुछ उद्योग करे।

इस समय रशिया के देहातों में किसानों को दो श्रेणियों में विभक्त

किया जा सकता था। (१) कुलक—ये बड़े किसान थे, जिनके पास खेती के लिए खासी बड़ी जमीनें थीं, और जो मजदूरों को नौकरी में रखकर अच्छे बड़े पैमाने पर खेती करते थे। ये किसान खुशहाल थे। जमींदारी प्रथा के विनाश के कारण देहातों का नेतृत्व इनके हाथ में आ गया था, और ये खूब आराम के साथ जीवन व्यतीत करते थे। (२) छोटे किसान—इनके पास खेती के लिए इतनी जमीन नहीं थी, कि ये आराम के साथ अपना निर्वाह कर सकें। घोड़े और खेती के अन्य उपकरणों की प्राप्ति भी इनके लिए समस्या की बात थी। ये प्रायः कर्ज से लदे हुए रहते थे। इस प्रकार अब रशिया के देहात में स्पष्टतया दो श्रेणियाँ विकसित होने लगी थीं, एक समृद्ध मध्य श्रेणी और दूसरी गरीब जनता।

ट्राटस्की का मत था, कि मध्य श्रेणी के समृद्ध किसानों का विकास बोल्शेविक व्यवस्था के लिए बहुत खतरे की बात है। इससे एक नये पूँजीवाद का प्रादुर्भाव हो सकता है। उसकी राय यह थी, कि देहातों में खेती का काम भी किसानों के हाथ में न रखकर सरकार को अपने हाथ में लेना चाहिए, और जिस प्रकार व्यवसायों का संचालन राज्य की ओर से हो रहा है, वैसे ही खेती का संचालन भी राज्य को करना चाहिए। स्टालिन यह स्वीकार नहीं करता था। पर ट्राटस्की के पतन के बाद स्टालिन ने स्वयं अनुभव किया, कि खेती पर भी राज्य के नियन्त्रण के बिना अनाज की समस्या हल नहीं की जा सकती। रशिया के बहुसंख्यक किसान गरीब थे, उनके खेत छोटे छोटे थे। उनके पास इतना भी रुपया नहीं था, कि अपने घोड़े खरीद सकें। तिहाई किसानों के पास तो लोहे के हल तक नहीं थे। उन्हें विवश होकर लकड़ी के पुराने किस्म के हलों से काम चलाना पड़ता था। इस दशा में यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि रशिया अनाज-सम्बन्धी अपनी सब आवश्यकताओं को स्वयं पूरा कर सके। गरीब किसान काफी अनाज नहीं पैदा कर सकते थे। यह एक ऐसी हालत थी, जिसका इलाज करना आवश्यक था। साथ ही,

नगरनिवासी लोगों में इस बात से बड़ा असंतोष था, कि उनके कारोबार तो निरन्तर राज्य के हाथ में चले जा रहे हैं, पर देहातों की जनता अपने कारोबारों की स्वयं मालिक है। नगरों और देहातों में एक ही प्रकार की व्यवस्था चल सकती थी। इसलिए अब यह आवश्यक हो गया था, कि देहातों में खेती को भी सरकार अपने हाथ में ले। इससे दो लाभ होते थे। पहला यह कि छोटे-छोटे खेतों का अन्त कर देने से बड़े फार्मों में यन्त्रों द्वारा खेती होने से पैदावार बढ़ती थी और दूसरा यह कि देहातों में भी बोल्शेविक व्यवस्था को कायम करने का अवसर मिलता था।

१६२६ में स्टालिन ने यह फैसला कर लिया, कि खेती भी राज्य की ओर से होनी चाहिए। जब बोल्शेविक लोग किसी बात का निश्चय कर लेते थे, तो उसे क्रिया में परिणत करने के लिए देर नहीं लगाते थे। उसके लिए चाहे कितने ही जबर्दस्त विरोध का सामना करना पड़े, वे उसे करके ही रहते थे। यह आज्ञा प्रचारित की गई, कि सब खेत सरकार के हो गये हैं, और किसानों के पास जो भी घोड़े, बैल, गाय, हल या अन्य उपकरण हैं, वे सब सरकार की सम्पत्ति हैं। छोटे छोटे खेतों को मिलाकर बड़े बड़े फार्म बनाये जावेंगे, और उन सब पर सरकार की ओर से खेती होगी। किसानो में इस आज्ञा से बड़ा असन्तोष फैला। विशेषतया, बड़े किसान (कुलक) इससे बहुत असन्तुष्ट हुए। वे अपने खेतों और जानवरों को प्राणों से भी ज्यादा प्यार करते थे। वे इसके लिए तैयार नहीं हुए, कि उनकी सब सम्पत्ति इस तरह उनसे छीन ली जाय। उन्होंने विद्रोह किया, पर उनके विद्रोह को बुरी तरह कुचला गया। लाखों कुलक गिरफ्तार किये गये, हजारों को गोली से उड़ा दिया गया। बोल्शेविक सरकार का काम इतनी तेजी से हो रहा था, कि केवल एक साल में १६३० तक आधे से अधिक खेत किसानों से छीन कर बड़े फार्मों में परिवर्तित कर दिये गये। पर इस तेजी का परिणाम अच्छा

नहीं हुआ। इतनी मशीनें व ट्रैक्टर विद्यमान नहीं थे, कि इतनी बड़ी जमीन पर सामूहिक रूप से खेती की जा सके। इस भय से कि पशु उनसे छीन लिये जावेंगे, बहुत से किसानों ने अपने घोड़ों और गौवों को मार दिया था, ताकि खाने के लिए मांस तो उनके पास रह जाय। रशिया में खेती के पशुओं की इससे बहुत कमी हो गई। मशीनें इतनी थीं नहीं, कि सारी जमीन पर उनसे खेती हो सके। बहुत सी जमीन पड़ती पड़ी रह गई। अनाज की पैदावार कम हो गई, और एक बार फिर घोर दुर्भिक्ष के चिन्ह प्रकट होने लगे। पर स्टालिन व उसके साथी इससे घबराये नहीं। उन्होंने अपने कार्यक्रम को जारी रखा। सन् १९३७ तक यह हालत हो गई थी, कि खेती के योग्य ९२ फी सदी जमीन बड़े फार्मों से परिवर्तित कर ली गई थी। दो करोड़ बीस लाख किसान परिवारों से उनके खेत लेकर सरकार ने अपने कब्जे में कर लिये थे। ढाई लाख के लगभग बड़े फार्म इस समय तक रशिया में बन गये थे—और उनमें यान्त्रिक शक्ति से खेती होने लग गई थी। कुछ लाख किसान-परिवार ही ऐसे शेष रह गये थे, जो अपने अपने खेतों में स्वतन्त्र रूप से खेती करते थे।

निःसन्देह, यह रशिया की महान् कृषि-सम्बन्धी क्रान्ति थी। इससे वहाँ के देहातों की दशा, सामाजिक जीवन और आर्थिक व्यवस्था में बड़ा भारी परिवर्तन आ गया था। बोल्शेविकों ने रशिया में जो फार्म बनाये, वे तीन प्रकार के थे। (१) सहकारी फार्म—इनमें बहुत से किसान मिलकर परस्पर सहयोग से खेती करते थे। किसानों के पशु, हल व अन्य उपकरण अपने-अपने होते थे। इन पर किसानों का स्वामित्व स्वीकृत किया जाता था। पर जमीन सबकी सम्मिलित रहती थी। सब मिल कर इस जमीन पर मेहनत करते थे, और जो पैदावार होती थी, वह श्रम के अनुपात से सबमें बाँट ली जाती थी। (२) दूसरे किस्म के फार्मों में जहाँ जमीन सबकी सम्मिलित रहती थी, वहाँ पशु, हल व

कृषि के अन्य उपकरण भी सबके सम्मिलित होते थे। जमीन, पूँजी व श्रम सबके साझे में रहते थे, पर रहने के मकान, गौवें, भेड़, बकरी, मुर्गी आदि किसानों के अपने-अपने होते थे। (३) कम्यून—इसमें न केवल उत्पत्ति के साधन सबके सम्मिलित रहते थे, पर रहने के मकान व अन्य सब पदार्थ भी सब साझे में रहते थे। जो कुछ पैदावार होती थी, वह सबकी सम्मिलित सम्पत्ति मानी जाती थी, और भोजन भी सबका एक जगह बनता था। सब लोग इस सम्मिलित भोजनालय में भोजन करते थे, और जिसे जिस चीज की आवश्यकता हो, वह सम्मिलित निधि से प्राप्त कर लेता था।

बोल्शेविक लोगों का आदर्श तो यह है, कि सारी खेती कम्यूनों द्वारा हो। किसी के पास कोई वैयक्तिक सम्पत्ति रहे ही नहीं। जहाँ आर्थिक उत्पत्ति में सब लोग सम्मिलित होकर उद्योग करें, वहाँ उसका उपभोग भी वे आपस में मिलकर साझे में करें। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार सम्पत्ति उपभोग के लिए मिलती रहे। कोई अपने पास संग्रह न कर सके, क्योंकि संग्रह का उद्देश्य केवल यही हो सकता है, कि मनुष्य श्रम किये बिना अपना गुजारा करना चाहे। पर बोल्शेविक लोग सारे खेतों को कम्यूनों के रूप में परिवर्तित नहीं कर सके। यह बात क्रियात्मक दृष्टि से सरल व सम्भव नहीं थी। रशिया में दूसरे प्रकार के फार्मों का प्रचार अधिक हुआ। किसानों ने इन्हें ज्यादा पसन्द किया, क्योंकि इनमें वे दूध, अण्डा व अन्य छोटी-छोटी चीजें स्वयं पृथक् रूप से पैदा कर सकते थे, और सम्पत्ति के उपभोग में वे स्वतन्त्र रहते थे। इन सामूहिक फार्मों के सम्बन्ध में सरकार की ओर से पहले ही यह तय कर दिया जाता था, कि कितना अनाज सरकार को दिया जाना है। सरकार को पैदावार का पूर्व—निश्चत अंश दे चुकने के बाद फार्म को यह अधिकार था, कि वह अपने शेष बचे हुए अनाज को अपने उपभोग के लिए रख ले, और उससे भी बचे हुए अनाज को

खुले बाजार में बेच सके। उससे जो धन प्राप्त हो, उसका उपयोग
आवश्यक वस्तुओं को क्रय करने या फार्म की उन्नति के लिए किय
सकता था। फार्म का इन्तजाम उन सब किसानों के हाथ में था,
उसमें सम्मिलित थे। इन किसानों की एक सार्वजनिक सभा रहती
और यह सभा एक कार्यकारिणी समिति को चुन लेती थी। दै
मामले कार्यकारिणी समिति तय करती थी, पर महत्त्वपूर्ण विषय
नीति सम्बन्धी बातें किसानों की सार्वजनिक सभा में तय होते थे। पैद
का कितना हिस्सा किस किसान को मिले, इसका फैसला उसके श्रम
अनुसार किया जाता था। जो किसान जितना काम करता था, उ
सही-सही हिसाब रखा जाता था, और पैदावार को उसी हिसाब से
लिया जाता था।

इसमें सन्देह नहीं, कि सामूहिक फार्मों के अनेक लाभ हैं। सर
के हाथ में खेती का नियन्त्रण और संचालन होने से यह तय किया
सकता है, कि देश की दृष्टि से किस फसल की कितनी आवश्यकत
और कौन से फार्म की जमीन किस फसल के लिए अधिक उपयुक्त
सरकार यह आदेश दे सकती है, कि अमुक फार्म अमुक फसल पैदा क
इससे जहाँ सब अनाज उचित परिमाण में पैदा होंगे, वहाँ उपज
मात्रा भी बढ़ जायगी, क्योंकि प्रत्येक फार्म वही अनाज बोयेगा, जि
लिए उसकी जमीन अधिक उपयुक्त है। बड़े-बड़े फार्म होने से कि
लोग ट्रैक्टर आदि मशीनों का उपयोग भी खेती के लिए कर स
हैं। छोटे-छोटे खेतों में न मशीनरी का प्रयोग सम्भव होता है, औ
जमीन की पैदावार बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक तरीकों का अनुसरण कि
जा सकता है। बड़े फार्मों में विशेषज्ञों की राय से लाभ उठाया जा सक
है, निपुण कारीगर रखे जा सकते हैं, और अच्छे खादों का उपयोग
किया जा सकता है। वस्तुतः, बड़े फार्मों में खेती का संगठन भी वैसे
हो सकता है, जैसे कि बड़े कारखानों द्वारा व्यवसायों का। जैसे कि ह

छोटे कारीगरों के लिए यह सुगम नहीं है, कि वे बड़े कारखानों का सुगमता के साथ मुकाबला कर सकें, ऐसे ही बड़े फार्मों के मुकाबले में छोटे-छोटे किसानों का टिक सकना कठिन है।

पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि रशिया में खेती के सम्बन्ध में जो नई व्यवस्था बोल्शेविकों ने कायम की, उससे खेती पूरी तरह राज्य के हाथ में नहीं आ गई। सरकार ने अपनी तरफ से भी कुछ बड़े बड़े फार्म खोले, जिनमें काम करनेवाले किसानों की हालत ठीक मजदूरों की सी थी। इन फार्मों में काम करनेवालों को मजदूरी दी जाती थी, और सारी पैदावार राज्य की सम्पत्ति होती थी। उपज चाहे कम हो या ज्यादा, कर्मचारियों को निश्चित वेतन मिलता था। पर ऐसे राजकीय फार्मों की संख्या रशिया में अधिक नहीं है। अधिक फार्म ऐसे हैं, जहाँ राज्य को अंश देने के बाद जो कुछ बचता है, उसे किसान लोग आपस में बाँट लेते हैं। पर सब फार्म पैदावार की दृष्टि से एक हैसियत नहीं रखते। कहीं पर जमीन अधिक उपजाऊ है, और कहीं पर कम। कोई फार्म शहरों या मण्डियों के नजदीक हैं, कोई दूर। कहीं पर रेल व सवारी की सुविधा विद्यमान है, कहीं पर नहीं है। इन भेदों से विविध फार्मों की आमदनी में बहुत अन्तर पड़ जाता है, और इसी लिए उनमें काम करने वाले किसानों की आर्थिक दशा भी एक दूसरे से बहुत भिन्न रहती है। अर्थशास्त्र के अनुसार लगान की भिन्नता का कारण खेत या जमीन की उपज-शक्ति व अन्य अनकूल व प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही हैं। जो जमीन अधिक उपजाऊ है, या जिसकी स्थिति अधिक अनुकूल है, उसके स्वामी को बिना कुछ किये कतिपय लाभ प्राप्त हो जाते हैं, जिन्हें लगान कहते हैं, जो उसकी बिना कमाई, बिना मेहनत की आमदनी होती है। रशिया के विविध फार्मों में भी उपज व अन्य परिस्थितियों के भेद विद्यमान हैं, जिनके कारण उनके स्वामियों व कर्मचारियों को बिना कुछ किये, बिना मेहनत के अतिरिक्त लाभ प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि कृषि सम्बन्धी क्रान्ति द्वारा बोल्शेविक लोग रशिया के देहातों के सामाजिक व आर्थिक जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन लाने में समर्थ हुए। उनकी नई व्यवस्था के कारण रशिया का स्वरूप ही बदल गया। आज जो रशिया में बहुत अधिक अनाज पैदा होता है, वहाँ की जनता की आवश्यकताओं को पूरा करके इतना अनाज रशिया में बच रहता है, कि दूसरे देशों को वह बहुत बड़ी मात्रा में भेजा जा सकता है। इन सब का श्रेय कृषि-सम्बन्धी क्रान्ति को ही है। प्रारम्भ में यह क्रान्ति बहुत ही कष्टप्रद हुई। इसके कारण लाखों आदमियों को अपार कष्ट उठाना पड़ा। पर अन्त में इसका परिणाम सुखकर हुआ। अब रशिया का किसान बहुत ही समृद्ध व सुखी है।

४. व्यवसायों का संचालन

१६१७ के नवम्बर मास में शक्ति प्राप्त करते ही बोल्शेविक सरकार ने यह आज्ञा प्रकाशित की थी, कि कारखानों पर से पूँजीपतियों के स्वत्व का अन्त किया जाता है, और उनका संचालन मजदूरों की एक प्रबन्ध समिति द्वारा किया जायगा। उत्पत्ति, कच्चे माल का क्रय, तैयार माल का विक्रय, माल की सँभाल और विक्रय धन का प्रबन्ध— ये सब काम कारखाने में काम करनेवाले मजदूरों द्वारा निर्वाचित कमेटियों के हाथ में रहेंगे। जो लोग इन कमेटियों के सदस्यों को चुनेंगे, उनमें मजदूरों के अतिरिक्त वे क्लार्क, मुनीम, इंजीनियर और वैज्ञानिक भी होंगे, जो कि उन कारखानों में काम करते हैं। बोल्शेविक सरकार की इस एक आज्ञा से उन लाखों पूँजीपतियों का अन्त हो गया, जो कि अपने हिस्सों (शेयरों) द्वारा अब तक कारखानों से न केवल मुनाफा प्राप्त करते थे, पर निर्वाचित डायरेक्टरों द्वारा उनका संचालन भी करते थे। पूँजीपतियों को अपने हिस्सों के बदले में कोई कीमत व हरजाना नहीं दिया गया। जिस तरह ज़मीनों पर से जमींदारों के स्वामित्व का

अन्त कर दिया गया था, वैसे ही व्यवसायों और कल-कारखानों पर से पूँजीपतियों के स्वत्व की इतिश्री कर दी गई। कारखानों का इन्तजाम मजदूरों की जिन निर्वाचित कमेटियों को दिया गया था, वे सफलता से उनका संचालन नहीं कर सकीं। यह परीक्षण नाकामयाब रहा। कुछ ही महीनों बाद, जून १६१८ में बोल्शेविक सरकार ने यह अनुभव किया, कि व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण जितना आसान है, उनका इन्तजाम व संचालन उतना सुगम नहीं है। मजदूर लोग पूँजीपतियों के खिलाफ आन्दोलन तो कर सकते हैं, पर उनकी जगह आसानी से नहीं ले सकते। अब बोल्शेविकों ने राष्ट्र के अधीन इन व्यवसायों का संचालन करने की यह व्यवस्था की, कि प्रत्येक कारखाने का सरकार की ओर से एक एक मैनेजर नियत किया गया। एक किसम के कारखानों को एक सूत्र में संगठित किया गया। उदाहरण के लिए, कपड़े की सब मिलों को मिलाकर एक केन्द्रीय संस्था के अधीन किया गया, जिसे सिण्टीकेट या ट्रस्ट कहते थे। इस सिण्टीकेट की तरफ से प्रत्येक मिल के पास यह सूचना भेज दी जाती थी, कि उसे कितनी कपास दी जायगी, उस कपास की कीमत क्या होगी, मजदूरों को कितनी मजदूरी दी जायगी और उसे क्या माल तैयार करना होगा। यह माल किस कीमत पर बिकेगा, यह भी सिण्डीकेट द्वारा निश्चित कर दिया जाता था। जब सारे देश की सब कपड़े की मिलें एक संस्था के नियन्त्रण में हो गईं, तो उनमें प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही नहीं रहता। वे ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के लिए मजदूरों का पेट काटें, उन्हें समुचित मजदूरी न दें—यह समस्या भी उनके सम्मुख पेश नहीं होती। जिस कारखाने की परिस्थितियाँ जिस तरह के कपड़े के लिए अनुकूल हैं, वह वही तैयार करेगा। मजदूर समुचित वेतन प्राप्त करेंगे, और मिल को सारे खर्च अदा करने के बाद मुनासिब मुनाफा बच रहेगा। जिस तरह कपड़े के व्यवसाय की सिण्डीकेट बनाई गई, वैसे ही लोहा, इस्पात, कागज, चीनी, रासायनिक द्रव्य और

अन्य विभिन्न व्यवसायों के लिए भी सिण्डीकेटों का निर्माण किया गया। विभिन्न सिण्डीकेटों को मिलाकर केन्द्रीय व्यवसाय-संस्था की भी रचना की गई, ताकि विविध व्यवसाय आपस में सहयोग के साथ अपना विकास कर सकें, किसी में आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति न हो जाय, और किसी में आवश्यकता से कम उत्पत्ति की सम्भावना न रहे। व्यवसायों के लिए रुपये की व्यवस्था तीन साधनों द्वारा की जाती थी। (१) मुनाफे में से जो रकम रिजर्व फण्ड में डाली जाय, उसे व्यवसाय की उन्नति के लिए प्रयोग में लाया जा सकता था। (२) सरकारी बैंक से कर्ज कारखानों को दिया जा सकता था। (३) राज्य की ओर से सहायता।

कारखानों को जो कमाई होती थी, उसका एक निश्चित हिस्सा सरकार प्राप्त करती थी। एक हिस्सा कारखाने के अपने रिजर्व फण्ड में जाता था, और शेष मजदूरों की शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य भलाई के लिए व्यय किया जाता था। साथ ही, बोल्शेविक सरकार ने यह भी व्यवस्था की थी, कि यदि एक व्यवसाय में मुनाफा अधिक हो, तो उसका इस्तेमाल उन दूसरे व्यवसायों की मदद के लिए किया जा सके, जिनमें अभी काफी मुनाफा नहीं है, या नुकसान है। अब रशिया में व्यवसायों का संचालन मुनाफे के उद्देश्य से नहीं होता था, अपितु देश की उन्नति, सार्वजनिक हित और श्रमिकों के कल्याण को ही लक्ष्य में रखा जाता था। इसलिए यह भी सम्भव था, कि किसी कारखाने की पैदावार को लागत से भी कम कीमत पर बेचा जाय, और किसी में काफी ज्यादा मुनाफे पर उसका विक्रय किया जाय। सब व्यवसाय एक ही केन्द्रीय संस्था के अधीन थे, अतः नफे या नुकसान का हिसाब अलग अलग कारखानों की दृष्टि से नहीं किया जाता था। सब व्यवसायों को सम्मिलित रूप से देखा जाता था, और उसी लिहाज से मजदूरी की दर, कीमत आदि का निर्धारण किया जाता था।

पृथक् पृथक् कारखानों का प्रबन्ध करने के लिए यह व्यवस्था थी, कि सरकार की ओर से प्रत्येक कारखाने का एक मैनेजर नियत किया जाता था, जो कि उसके सुप्रबन्ध और संचालन के लिए जिम्मेदार होता था। कारखाने में काम करने वाले सब मजदूर व अन्य कर्मचारी एक कमेटी का चुनाव करते थे, जो मैनेजर को उसके काम में मदद देती थी। मजदूर व अन्य कर्मचारी मिलकर एक ट्रेड यूनियन बनाते थे। यह ट्रेड यूनियन ही वस्तुतः कमेटी का चुनाव करता था। साधारणतया, ट्रेड यूनियन मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए, उनके अधिकारों के लिए संघर्ष करने को और उनका प्रतिनिधित्व करने के लिए संगठित किया जाता है। पर रशिया में इन उद्देश्यों के लिए किसी ट्रेड यूनियन व अन्य संस्था की आवश्यकता न थी। वहाँ कारखानों के मजदूरों को अपने हितों के लिए किसी से लड़ने की कोई जरूरत नहीं थी। वहाँ ट्रेड यूनियनों का संगठन इसलिए किया गया था, कि उत्पत्ति बढ़ाने, अधिक मेहनत करने और व्यावसायिक उन्नति में पूरा सहयोग देने के लिए मजदूरों को प्रेरणा दे। ट्रेड यूनियन द्वारा निर्वाचित मजदूर कमेटी कारखाने के प्रबन्ध व संचालन में महत्त्वपूर्ण काम करती थी। उसके अतिरिक्त, कम्युनिस्ट पार्टी की एक शाखा प्रत्येक कारखाने में कायम थी। इस शाखा का काम यह था, कि किसी मजदूर, शिल्पी, इंजीनियर व अन्य कर्मचारी को बोल्शेविक सिद्धान्तों के खिलाफ कोई हरकत न करने दे। उत्पत्ति की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है, कि कारखाने के सब कर्मचारी नियन्त्रण में रहें, और अपनी सारी शक्ति उत्पत्ति की वृद्धि में ही लगा दें। कम्युनिस्ट पार्टी की शाखाओं का काम यह था, कि सबको नियन्त्रण में रखें और किसी आदमी को ऐसा काम न करने दें, जो साम्यवाद की व्यवस्था को नुकसान पहुँचानेवाला हो। बोल्शेविक लोग भली भाँति समझते थे, कि उनके सिद्धान्त तभी सफल हो सकते हैं, जब कि आम किसान मजदूर जनता की समृद्धि हो, उन्हें पेट भर खाना और पहनने को कपड़ा मिले,

उनके आराम में वृद्धि हो और वे अपने को प्रसन्न व संतुष्ट अनुभव करें। पर इस सबके लिए यह परम आवश्यक था, कि पैदावार अधिक हो। कम्युनिज्म का आदर्श तो यह है, कि "सब को उनकी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त हो।" यह आदर्श तभी पूरा हो सकता है, जब कि अधिक से अधिक सम्पत्ति पैदा होने लगे। यद्यपि अभी रशिया के कम्युनिस्ट "सबको आवश्यकतानुसार" देने की स्थिति में नहीं थे, पर उनका यत्न यही था, कि उत्पत्ति की वृद्धि से एक समय ऐसा आ जाय, जब किसी मनुष्य को किसी चीज की कमी न रह जाय।

पर यह नहीं समझना चाहिए, कि रशिया में सब व्यवसाय राज्य के अधीन हैं। बड़े बड़े कारखाने, रेलवे, खानें आदि राज्य की सम्पत्ति हैं। नगरों की म्युनिसिपैलिटियाँ बिजली घर, जल-कल आदि का प्रबन्ध भी स्वयं करती हैं। पर ऐसे बहुत से छोटे छोटे व्यवसाय हैं, जो अब भी व्यक्तियों के अधीन हैं। छोटे छोटे कारीगर अब भी लाखों की संख्या में विद्यमान हैं, जो अपना रोजगार स्वतन्त्र रूप से करते हैं। इन कारीगरों के पास अपने औजार रहते हैं, ये स्वयं कच्चा माल खरीदते हैं, और माल तैयार करके स्वयं उसे बाजार में बेच देते हैं। बोल्शेविक सिद्धान्त यह है, कि कोई किसी दूसरे के श्रम का फल प्राप्त न कर सके। छोटे कारीगर अपनी मेहनत से जो कमाते हैं, वह उनकी अपनी सम्पत्ति होती है, अतः उन्हें बने रहने देने में कोई हानि नहीं। बहुत से स्वतन्त्र कारीगरों ने मिलकर अपने को सहकारी-समितियों में भी संगठित कर लिया है, और इन समितियों के कारण उन्हें वे बहुत से लाभ प्राप्त हो जाते हैं, जो अकेले कारीगर को नहीं मिल सकते।

रशिया में सब श्रमिक लोग एक ही हैसियत के नहीं हैं। उनके कार्य का स्वरूप भी एक दूसरे से भिन्न है। कुछ लोग बड़े सरकारी कारखानों में काम करते हैं, और उन्हें निश्चित मजदूरी मिलती है। दूसरे लोग स्वतन्त्र कारीगरों की सहकारी समितियों द्वारा संचालित छोटे बड़े कार-

खानों में काम करते हैं, और उन्हें भी मजदूरी मिलती है। तीसरी प्रकार के श्रमिक स्वतन्त्र रूप से अपना रोजगार करते हैं। दर्जी, मोटर ड्राइवर, कोचवान, मछियारे, पत्रकार आदि की गिनती इनमें की जा सकती है।

व्यापार के क्षेत्र में भी यही दशा है। तैयार हुए माल को बेचने के लिए जहाँ बड़े बड़े विशाल स्टोर हैं, वहाँ सहकारी समितियों द्वारा स्थापित दूकानें भी हैं। अनेक छोटे कारीगर अपना माल स्वयं मण्डी में लाकर बेच देते हैं। फेरीवाले भी विद्यमान हैं, क्योंकि बोल्शेविक लोग उनकी सत्ता को हानिकारक नहीं समझते।

५. पंचवार्षिक योजनाएँ

बोल्शेविक पार्टी के सम्मुख सबसे बड़ा कार्य रशिया के व्यवसायों और पैदावार को तरक्की देना था। इसी से वे अपने आदर्शों के अनुसार व्यवस्था कायम कर सकते थे। इसके लिए उन्होंने एक पंचवार्षिक योजना तैयार की, जिसे १९२८ में शुरू किया गया। इस योजना को तैयार करने का काम एक कमीशन के सुपुर्द किया गया था, जिसके ७०० सदस्य थे। ये सब अपने अपने विषय के विशेषज्ञ थे। इस कमीशन को 'गोस्प्लैन' कहते थे। जब गोस्प्लैन ने अपनी योजना तैयार कर ली, तो उसे अन्तिम स्वीकृति के लिए सर्वोपरि इकोनोमिक कौंसिल के सम्मुख पेश किया गया। यह योजना बहुत विशाल थी, और इसका प्रमुख प्रयोजन यह था, कि देश की आर्थिक उन्नति के लिए जिस मशीनरी, यान्त्रिक शक्ति और अन्य साधनों की जरूरत है, उन्हें अधिक से अधिक परिमाण में रशिया में ही तैयार किया जाय। अन्य देशों ने रशिया का जिस प्रकार आर्थिक बहिष्कार किया था, उससे यह बात बहुत महत्त्व की हो गई थी। इस योजना के अनुसार ६०० मील लम्बी एक पाइप लाइन तैयार की गई, जो बाकू से शुरू होकर बाटम तक जाती थी। बाकू में मिट्टी के तेल के कुएँ हैं, और यह रशिया का सबसे

बड़ा तैल-क्षेत्र है। तेल को ढोकर अन्य स्थानों पर पहुँचाने का सवाल बड़ा महत्त्वपूर्ण था। रेल या मोटर से तेल को ढोने में बड़ा खर्च पड़ता था। पाइप लाइन द्वारा तेल को नाम मात्र के खर्च से समुद्रतट तक पहुँचाया जा सकता था, और वहाँ से जहाजों द्वारा उसे थोड़े खर्च पर यथास्थान भेजा जा सकता था। नेप्रोस्ट्रोई नामक जगह पर नदी के विशाल प्रवाह को रोक कर एक डाम बनाया गया, ताकि उससे पानी को गिराकर बिजली पैदा की जा सके। इसका उद्देश्य यह था, कि सस्ती बिजली तैयार हो, और व्यवसायों के लिए सस्ते रेट पर बिजली मिल सके। युराल पर्वत-माला में मैग्निटोगोर्स्क नामक स्थान पर लोहे का एक विशाल कारखाना खोला गया। यहाँ लोहे की कच्ची धात बड़ी मात्रा में उपलब्ध थी। पर कोयला १५०० मील की दूरी पर ही मिलता था। कोयले के बिना लोहे की खानें बेकार थीं, और उनका कोई इस्तेमाल नहीं था। पर यह इन्तजाम किया गया, कि कोयले जैसी भारी चीज को बड़ी मात्रा में वहाँ पहुँचाया जाय, और मैग्निटोगोर्स्क में लोहे के व्यवसाय का विकास किया जाय। मजदूरों के रहने के लिए अच्छे मकान बड़ी संख्या में बनाये गये। बाकू तैल-कूपों में काम करने वाले मजदूरों के लिए पहाड़ी के ऊपर एक नये नगर का निर्माण किया गया। इस नगर को एक उद्यान के रूप में बनाया गया था, और मजदूरों के आने-जाने के लिए बिजली की रेलवे चलाई गई थी। बाकू के इस नये उद्यान-नगर में मजदूरों के आराम के लिए क्लब, स्कूल, अस्पताल और पुस्तकालय—सब बनाये गये। यह भी व्यवस्था की गई, कि मजदूर और उनके परिवार अपनी छुट्टियाँ दक्षिण में स्वास्थ्यप्रद स्थानों पर बिता सकें। इसके लिए उन्हें सब खर्च सरकार की ओर से दिया जाता था। इसी प्रकार की सुविधाएँ अन्य भी अनेक व्यावसायिक केन्द्रों में दी गईं। बोल्शेविक सरकार का उद्देश्य यही था, कि कल-कारखानों की उन्नति हो, उनमें काम करनेवाले मजदूर सन्तुष्ट रहें और रशिया कृषि-

प्रधान देश न रहकर व्यवसाय-प्रधान बन जाय। कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के लिए अनाज और कपड़ा भी सस्ते दामों पर दिया जाता था, ताकि वे सर्वथा सन्तुष्ट और सुखी रहें।

कृषि के क्षेत्र में बड़े बड़े फार्मों का निर्माण भी इस पंचवार्षिक योजना का एक अंग था। स्वतन्त्र किसानों से खेतों, पशुओं और हल आदि उपकरणों को छीनकर बोल्शेविक सरकार ने किस प्रकार बड़े फार्मों का निर्माण किया, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस समय(१६२६ में) दुनिया में कीमतें निरन्तर नीचे जा रही थीं। विशेषतया, अनाज का दाम बहुत गिर रहा था। १६३० में तो खेती की पैदावार की कीमत बहुत ही नीची हो गई थी। रशिया को अपने व्यावसायिक प्रोग्राम को पूरा करने के लिए विदेशों से मशीनरी को खरीदना अनिवार्य था। तेल, लोहा, बिजली आदि के व्यवसायों के लिए जिस जटिल और वैज्ञानिक मशीनरी की आवश्यकता थी, वह अभी रशिया में नहीं बनती थी। मशीनरी के व्यवसाय को शुरू करने के लिए भी पहले मशीनों की आवश्यकता थी। ये सब विदेशों से ही खरीदी जा सकती थीं। पर विदेशों को इनकी कीमत कैसे अदा की जाय, यह समस्या बड़ी विकट थी। रशिया के पास अनाज ही ऐसी वस्तु थी, जिसे वह बदले में दे सकता था। अनाज के दाम अब बहुत नीचे थे। अतः अनाज के रूप में मशीनरी की कीमत अदा करने का मतलब यह था, कि बहुत बड़ी मात्रा में अनाज विदेशों को दिया जाय। यह तभी सम्भव था, जब कि रशिया अपने खर्च के लिए कम से कम अनाज इस्तेमाल करे। पर सर्व-साधारण जनता इसे पसन्द नहीं करती थी। सरकार खेतों और फार्मों से जिस प्रकार बहुत बड़ी तादाद में अनाज ले रही थी, उससे देहात के लोग बहुत तंग थे। उन्होंने विद्रोह कर दिया। विद्रोही किसानों की एक सेना मास्को की तरफ चल पड़ी। ऐसा प्रतीत होता था, कि अब फिर रशिया में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो जायगा। पर स्टालिन ने बड़ी बुद्धिमत्ता

के साथ इस स्थिति को सँभाला। जहाँ उसने विद्रोहियों का दमन करने के लिए कठोर उपायों का प्रयोग किया, वहाँ किसानों को सन्तुष्ट करने के लिए बड़े सामूहिक फार्मों में सिनेमा, क्लब आदि का भी निर्माण कराया, ताकि किसान नई व्यवस्था के प्रति आकृष्ट हों, और उसके फायदों को भली भाँति समझ जावें।

इसमें सन्देह नहीं, कि कुछ समय तक पंचवार्षिक योजना के कारण रशियन जनता को बहुत तकलीफें उठानी पड़ीं। पर जब यह योजना पूर्ण हो गई, और नये नये कल-कारखानों का विकास हो गया, तो लोगों ने इसकी उपयोगिता को अनुभव किया, और इसके कारण उनकी आर्थिक समृद्धि बहुत बढ़ गई।

सन् १९३३ में रशिया में द्वितीय पंचवार्षिक योजना शुरू की गई। इससे मुख्यतया आने-जाने और माल ढोने के साधनों का विकास किया गया। रशिया जैसे विशाल देश में खेती, व्यवसाय और व्यापार का तब तक भली भाँति विकास नहीं हो सकता था, जब तक कि रेलवे और सड़कों का अच्छी तरह विस्तार न हो जाय। दूसरी पंचवार्षिक योजना में प्रधानतया इसी के लिए उद्योग किया गया, और इसके परिणाम-स्वरूप रशिया में रेलवे और सड़कों का जाल सा बिछ गया। इस योजना द्वारा एक प्रयत्न यह किया गया, कि शहरों और व्यवसाय-केन्द्रों में मकानों का बड़ी संख्या में निर्माण हो। व्यावसायिक उन्नति के कारण लाखों मजदूर गाँवों से शहरों में आ बसे थे। पर इनके रहने के लिए मकानों की बहुत कमी थी। मास्को जैसे शहर में ३० फी सदी से अधिक आबादी बहुत ही तंगी के साथ रहती थी। मकानों की कमी का यह हाल था, कि एक एक कमरे में पाँच-पाँच व उससे भी अधिक आदमी निवास करते थे। इस दशा को ठीक किया गया, लाखों की संख्या में नये मकान बनाये गये। परिणाम यह हुआ, कि रशिया में मजदूरों के निवास के लिए स्थान की तंगी नहीं रही, और वहाँ की सर्वसाधारण जनता आराम से

स्वच्छ और सुन्दर मकानों में रहने लग गई। दूसरी पंचवार्षिक योजना में व्यवसायों और खेती की उन्नति के उस प्रोग्राम को जारी रखा गया, जिसका प्रारम्भ १९२८ में पहली योजना द्वारा किया गया था।

इन्हीं योजनाओं का यह परिणाम था, कि जिस समय संसार के अन्य देशों में बेकारी की समस्या से वहाँ की सरकारें परेशान थीं, रशिया में बेकारी का सर्वथा अभाव था। जिस तरह की योजनाओं से रशिया ने अपनी आर्थिक समस्या को हल किया, वे लोकतन्त्र राज्यों में सम्भव नहीं हो सकतीं। उनकी सफलता के लिए बोल्शेविक व्यवस्था का होना अनिवार्य है।

६. बहिष्कार का अन्त

ट्राटस्की के पतन और स्टालिन के उदय के बाद रशिया की बोल्शेविक सरकार ने विश्व भर में साम्यवादी क्रान्ति के स्वप्न का परित्याग कर दिया था। स्टालिन की नीति यह थी, कि पूँजीवादी देशों के साथ राजनैतिक व आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किये जावें, और रशिया अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्य देशों के साथ सहयोग से काम करे। स्टालिन के उदय से बहुत पहले, लेनिन के समय में भी एक बार बोल्शेविकों ने अन्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया था। एप्रिल १९२२ में लेनिन ने चिचरिन को जिनोवा कान्फरेन्स में इसलिए भेजा, कि वह रशिया के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का आयोजन करे। चिचरिन को यह काम भी सुपुर्द किया गया, कि रशिया के आर्थिक बहिष्कार की नीति का परित्याग कर देने के लिए मित्रराष्ट्रों का प्रेरित करे। जिनोवा कान्फरेन्स के सदस्य चिचरिन को देखने के लिए बहुत उत्सुक थे। उनका खयाल था, कि बोल्शेविक क्रान्ति के नेता अत्यन्त बर्बर और असभ्य हैं। उन्होंने रशिया में जो क्रान्ति की है, वह सभ्यता और संस्कृति के सब सिद्धान्तों

के विपरीत है। उसके नेता भी सभ्यता के क्षेत्र से सर्वथा बाहर होंगे। उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब चिचरिन कान्फरेन्स के सम्मुख उपस्थित हुआ, और उसने विशुद्ध फ्रेंच भाषा में अपना भाषण प्रारम्भ किया। वह ठीक उस प्रकार से अपनी वक्तृता दे रहा था, जैसे कि किसी सुसंस्कृत से सुसंस्कृत राजनीतिज्ञ से आशा की जा सकती है। फ्रेंच में भाषण समाप्त कर उसने अँगरेजी में वक्तृता दी, और चिचरिन के विचारों को सुनकर कान्फरेन्स के सब सदस्य आश्चर्यचकित रह गये। जिस बोल्शेविक व्यवस्था के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों ने एक प्रकार का जिहाद सा शुरू कर रखा था, उसके एक जिम्मेवार प्रतिनिधि से सम्पर्क प्राप्त कर यूरोप के राजनीतिज्ञों ने पहली बार यह अनुभव किया कि बोल्शेविक लोग जंगली व बर्बर नहीं हैं। वे भी उन्हीं के समान सभ्य व सुसंस्कृत हैं। खेद है, कि यूरोप के राजनीतिज्ञों ने अभी अपनी नीति में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा। चिचरिन का मिशन असफल रहा, और रशिया का आर्थिक बहिष्कार जारी रहा। पर जिनोवा कान्फरेन्स में शामिल होकर रशिया को जर्मनी और इटली के प्रतिनिधियों के साथ घनिष्ट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। जर्मनी धीरे-धीरे युद्ध की समाप्ति के बाद अपना पुनः संगठन कर रहा था। वह अन्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्सुक था। यही दशा इटली की भी थी। यद्यपि इटली मित्रराष्ट्रों में से एक था, और युद्ध में उसके पक्ष की विजय हुई थी, पर सन्धि की शर्तों से उसे पूरा सन्तोष नहीं हुआ था। साम्राज्य-विस्तार की उसकी भूख अभी शान्त नहीं हुई थी। वह भी राष्ट्रसंघ के क्षेत्र के बाहर अपने राजनैतिक सम्बन्धों को स्थापित करने के लिए उद्यत था। सबसे पहले जर्मनी ने रशिया से राजनैतिक सम्बन्ध कायम किया। मई १६२२ में रशिया और जर्मनी के प्रतिनिधि इटली के समुद्र-तट पर रपालो नामक स्थान पर एकत्र हुए। वहाँ उन्होंने आपस में एक सन्धि की, जिससे जर्मनी

ने बोल्शेविक सरकार को रशिया की कानूनी सरकार स्वीकृत किया। रपालो की यह सन्धि बड़े महत्व की थी। इससे पूर्व रशिया के फिनलैण्ड एस्थोनिया, लैटविया, टर्की, लिथुएनिया, ईरान और अफगानिस्तान के साथ राजनीतिक सम्बन्ध विद्यमान थे, पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इन छोटे राज्यों का कोई महत्व नहीं था। रशिया की सीमा पर स्थित होने के कारण ये राज्य रशिया जैसे विशाल देश के साथ शत्रुता का सम्बन्ध नहीं रख सकते थे। पर किसी बड़े यूरोपियन राज्य ने बोल्शेविक सरकार को अभी तक स्वीकृत नहीं किया था। रपालो की सन्धि द्वारा जब जर्मनी ने रशिया की बोल्शेविक सरकार के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया, तो अन्य राज्यों के लिए रास्ता खुल गया। फरवरी, १९२४ में ब्रिटेन में मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल बना। श्री रामजे मैकडानल्ड प्रधान मन्त्री पद पर अधिष्ठित हुए। मजदूर दल की सरकार की यह नीति थी, कि रशिया के बहिष्कार का अन्त कर उसके साथ भी राजनैतिक सम्बन्ध कायम किये जावें, ताकि यूरोप में चिरशान्ति के लिए मैदान तैयार हो जाय। १९२४ की ग्रीष्म ऋतु में लन्दन में इस सुलहनामे के लिए बातचीत जारी रही, और उसी साल ब्रिटेन और रशिया में समझौते पर दस्तखत हो गये।

इसके बाद इटली, फ्रांस और जापान ने भी रशिया के साथ सन्धि की। स्टालिन की नीति के कारण अन्य यूरोपियन राज्यों के लिए यह सम्भव हो गया था, कि वे रशिया के साथ मैत्री सम्बन्ध का विकास कर सकें। १९२७ में रशिया के प्रतिनिधियों ने राष्ट्रसंघ की आर्थिक परिषदों में उपस्थित होना शुरू किया। वह अभी तक राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बना था। पर अमेरिका के समान (अमेरिका भी राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था) रशिया के प्रतिनिधि भी राष्ट्रसंघ के विविध कार्यों में सहयोग देने लग गये। निःशस्त्रीकरण आदि विविध राजनैतिक उद्देश्यों से जिन अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्सों का आयोजन राष्ट्रसंघ की

ओर से किया गया, उनमें रशिया के प्रतिनिधि भी शामिल होने लगे, और अन्त में १९३४ में रशिया राष्ट्रसंघ का बाकायदा सदस्य हो गया।

अब रशिया यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पूरी तरह हाथ बटाने लग गया था। प्रायः सभी राज्यों से उसके राजनैतिक सम्बन्ध कायम हो गये थे। १९१८ में उसका जो बहिष्कार किया गया था, वह अब समाप्त हो गया था।

७. शासन-विधान

सन् १९२३ में रशिया का नया शासन-विधान बनकर तैयार हुआ। बाद में १९३६ में उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। नये शासन-विधान के अनुसार रशिया एक संघराज्य (फिडरेशन) है, जिसमें ग्यारह रिपब्लिक शामिल हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) ग्रेट रशियन रिपब्लिक—राजधानी मास्को। (२) ह्वाइट रशियन रिपब्लिक—राजधानी मिन्स्क। (३) युक्रेनिया—राजधानी कीव। (४) आर्मीनियन रिपब्लिक। (५) ज्योर्जिया। (६) अजरबैजान। (७) तुर्कोमान। (८) उजबेक रिपब्लिक। (९) ताजिक। (१०) खिरगिज। (११) काजक।

इन ग्यारह राज्यों में ग्रेट रशियन रिपब्लिक सबसे बड़ी है। सम्पूर्ण संघराज्य का तीन चौथाई प्रदेश उसके अन्तर्गत है, वहाँ की आबादी भी सारे रशिया की आबादी की दो तिहाई है। यह ग्रेट रशियन रिपब्लिक स्वयं एक प्रकार का संघ है, जिसमें अनेक उपराज्य अन्तर्गत हैं। इसमें अनेक नसलों की ऐसी बहुत सी जातियाँ बसती हैं, जिनकी भाषा व संस्कृति अलग अलग है। उन्हें पृथक् राष्ट्र कहा जा सकता है। ग्रेट रशियन रिपब्लिक द्वारा इन सब जातियों व राष्ट्रीयताओं को मिलाकर एक संघ बनाया गया है। आर्मीनिया, ज्योर्जिया और अजरबैजान—ये तीन रिपब्लिक ट्रांस-कोकेशिया के प्रदेश में हैं। तुर्कोमान, उजबेक और ताजिक दक्षिणी तुर्किस्तान में हैं। खिरगिज पूर्वी तुर्किस्तान में है, और

काजक उत्तरी तुर्किस्तान और दक्षिण-पश्चिमी साइबीरिया में है। काजक रिपब्लिक कैस्पियन सागर से मन्गोलिया तक फैली हुई है। रशिया के संघ राज्य के अन्तर्गत इन ग्यारहों रिपब्लिक राज्यों को यह अधिकार है, कि वे स्वेच्छापूर्वक संघ से पृथक् होकर स्वतन्त्र हो सकते हैं।

सोवियट यूनियन की संघ पार्लियामेंट में दो सभाएँ होती हैं। दोनों के सदस्यों की संख्या भी प्रायः एक बराबर है, और उनके अधिकार भी एक समान हैं। सदस्यों का चुनाव चार साल के लिए होता है। दोनों सभाओं के अधिवेशन साल में दो बार नियमपूर्वक किये जाते हैं। प्रत्येक सभा का पृथक् पृथक् अध्यक्ष होता है। यह पार्लियामेंट या सोवियट यूनियन की सुप्रीम कौंसिल रशिया की प्रधान राजसत्ता है। कानून बनाने, सरकार पर नियन्त्रण रखने और देश की समृद्धि के लिए सब समुचित व्यवस्था करने का सब अधिकार इसी में निहित है। एक सभा को 'यूनियन की कांसिल' कहते हैं, और दूसरी को 'राष्ट्रीयताओं की कौंसिल'। जैसा कि इनके नाम से स्पष्ट है, राष्ट्रीयताओं की कौंसिल में रशियन यूनियन के अन्तर्गत विविध जातियों, राष्ट्रों व राज्यों के प्रतिनिधि रहते हैं। यूनियन की कौंसिल का चुनाव जाति व राष्ट्र के भेद-भाव की उपेक्षा कर सीधा जनता करती है। तीन लाख व्यक्तियों का एक प्रतिनिधि रहता है। यूनियन की कौंसिल के सदस्यों की संख्या ५७० के लगभग रहती है। दूसरी सभा में भी लगभग इतने ही सदस्य होते हैं। पार्लियामेंट की कार्यकारिणी समिति को 'प्रेसिडियम' कहते हैं। इसका एक अध्यक्ष, ग्यारह उपाध्यक्ष, एक मन्त्री और चौबीस सदस्य होते हैं। जिस समय पार्लियामेंट का अधिवेशन न हो रहा हो, यह 'प्रेसिडियम' ही रशिया की सर्वोपरि सत्ता होता है। मन्त्रिमण्डल को 'पीपल्स कमीशार की कौंसिल' कहते हैं। यह मन्त्रिमण्डल पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी होता है। जब पार्लियामेंट का अधिवेशन न हो रहा हो, तो

मन्त्रिमण्डल प्रेसिडियम के निरीक्षण में काम करता है, और उसी के प्रति उत्तरदायी होता है।

रशिया के शासन विधान में नागरिकों के आधारभूत अधिकारों का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है, कि वह श्रम करे, आराम के लिए काफी समय पाये, बीमारी की दशा में मुफ्त चिकित्सा करा सके, बुढ़ापा, बीमारी व अपाहिज हो जाने की दशा में निर्वाह योग्य खर्च प्राप्त कर सके, शिक्षा पा सके, और जीवन-संघर्ष में किसी भी भेद-भाव के बिना समान रूप से आगे बढ़ सके। सबको यह अधिकार है, कि वे अपने विश्वासों के अनुसार किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का अनुसरण कर सकें या धर्म के विरुद्ध प्रचार कर सकें। सबको भाषण करने, लिखने, सभाएं करने, जलूस निकालने, अपने संगठन बनाने और अन्य प्रकार से अपने विचारों को प्रकट करने या प्रचारित करने की पूरी पूरी स्वतन्त्रता है। जाति, धर्म, वर्ण, नसल, लिंग आदि का भेदभाव किये बिना सब नागरिक एक समान हैं, और सबको उन्नति का समान अधिकार और समान अवसर है।

जिस प्रकार सोवियट यूनियन का विधान लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित है, उसी प्रकार यूनियन के अन्तर्गत विविध राज्यों के विधान भी लोकतन्त्रवाद के अनुसार बनाये गये हैं। शासन की इकाई सोवियट (पंचायत) है, जिसमें सर्वसाधारण जनता एकत्र होकर अपना शासन स्वयं करती है। जैसा कि पहले प्रदर्शित किया जा चुका है, ये सोवियटें सब जगह विद्यमान हैं, और विशाल रशियन यूनियन के आधार हैं।

रशिया के शासन में कम्युनिस्ट (बोल्शेविक) पार्टी का बड़ा महत्त्व है। इस पार्टी का सदस्य वही बन सकता है, जो कार्ल मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों का कट्टर अनुयायी हो, जो पार्टी के नियन्त्रण और अनुशासन

का पालन करने के लिए तैयार हो और जिसने अपने उत्साह और लगन द्वारा यह सिद्ध कर दिया हो कि वह पार्टी का सदस्य होने के लिए उपयुक्त है। कम्युनिस्ट पार्टी का बाकायदा सदस्य बन सकने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को कुछ समय के लिए अन्तेवासी रूप में रहना पड़ता है। जब पार्टी को विश्वास हो जाता है, कि वह व्यक्ति इस योग्य है कि बाकायदा पार्टी में शामिल किया जा सके, तब उसे कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बनाया जाता है। कम्युनिस्ट लोग यह आवश्यक नहीं समझते, कि उनकी पार्टी के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक हो। १९३५ में उनके कुल सदस्य २५ लाख के लगभग थे। अब भी उनकी संख्या ४० लाख के लगभग है। रशिया की जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों की यह संख्या अधिक नहीं है। पर उसका प्रभाव अतुल है, और उसके सब सदस्य अपने विश्वासों में कट्टर हैं। कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन प्रायः वैसा ही है, जैसा कि सोवियट सरकार का है। प्रत्येक कारखाने, गाँव व दफ़्तर में पार्टी की शाखा विद्यमान है। ये शाखाएँ या स्थानीय सभाएँ अपने प्रतिनिधि प्रान्तीय या प्रादेशिक सभाओं के लिए चुनती हैं। प्रान्तीय सभाओं के प्रतिनिधि अखिल रशियन पार्टी कांग्रेस में एकत्र होते हैं। कांग्रेस की एक कार्यकारिणी समिति है, जिसके सदस्यों की संख्या ७० के लगभग रहती है। इस समिति की भी एक उपसमिति है, जिसे पोलिटिकल ब्यूरो कहते हैं। इसके कुल ९ सदस्य होते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी का संचालन यह ब्यूरो ही करता है। सरकार पर कम्युनिस्ट पार्टी का अनुपम प्रभाव है। किसी ऐसे व्यक्ति का, जो कम्युनिस्ट न हो, उच्च सरकारी पद पर रहना सम्भव नहीं है। क्रियात्मक दृष्टि से कम्युनिस्ट पार्टी और सरकार में भेद कर सकना सुगम नहीं है। वस्तुतः कम्युनिस्ट पार्टी ही रशियन सरकार का संचालन करती है।

कम्युनिज्म के विरोधियों पर कड़ी निगाह रखने के लिए और साम्यवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह को दबाये रखने के लिए रशिया में एक

खुफिया पुलिस का संगठन किया गया है, जिसे संक्षेप में ओगपू कहा जाता है। इसके गुप्तचर सब जगह पर विद्यमान हैं, और उन लोगों पर कड़ी निगाह रखते हैं, जिन पर कम्युनिज्म के विरोधी होने का लेशमात्र भी सन्देह हो। वस्तुतः, कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हो सकता, जो सन्देह से परे हो। कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों व नेताओं पर भी कड़ी निगाह रखी जाती है, और यदि वे कोई भी षड्यन्त्र करें या कोई भी ऐसी हरकत करें, जिससे साम्यवादी व्यवस्था को खतरा हो, तो ओगपू के गुप्तचर उसका तुरन्त पता लगा लेते हैं। ओगपू को अपने कार्य के सम्बन्ध में बहुत अधिक अधिकार दिये गये हैं। उसकी आज्ञा से किसी भी व्यक्ति को गिरफ़्तार किया जा सकता है, और बाकायदा मुकदमा चलाये बिना भी देर तक जेल में रखा जा सकता है।

८. विरोधियों का विनाश

ट्राटस्की को देश से बहिष्कृत करके स्टालिन रशिया का प्रधान भाग्यविधायक बन गया था। पर अब भी उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। कम्युनिस्ट पार्टी में ही ऐसे लोग विद्यमान थे, जो ट्राटस्की के विचारों से सहानुभूति रखते थे, या स्टालिन के कार्यक्रम को पसन्द नहीं करते थे। दिसम्बर १९३४ में किरोव की हत्या हो गई। वह स्टालिन का प्रधान साथी था, और लेनिनग्राड में हाई कमिश्नर के पद पर नियुक्त था। उसकी हत्या निकोलमेव नाम के नवयुवक ने की थी, जिसकी पत्नी किरोव की प्राइवेट सेक्रेटरी थी। शुरू में यह समझा गया, कि यह हत्या वैयक्तिक कारणों से की गई है। पर बाद में जाँच के अनन्तर स्टालिन को यह निश्चय हो गया, कि किरोव की हत्या एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र का परिणाम है, जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी के भी अनेक प्रमुख सदस्य शामिल हैं। इन सबको गिरफ्तार किया गया। १९३६ में उन मुकदमों का प्रारम्भ किया गया, जिनमें रशिया के अत्यन्त

प्रमुख व्यक्ति अभियुक्त के रूप में उपस्थित किये गये थे। जिनोवींव और कामनेव, जो पहले स्टालिन के परम मित्रों में गिने जाते थे, और जो उसी के समान लेनिन के प्रधान शिष्य थे, अब अभियुक्त के रूप में पेश किये गये। उन्हें दोषी पाया गया, और गोली से उड़ा दिया गया। कुछ महीने बाद राडक (एक प्रसिद्ध बोल्शेविक पत्रकार), प्याटकोव (रशियन व्यवसाय का प्रमुख संचालक), सोकोल्निकोव (प्रसिद्ध नीतिज्ञ) और करखान (विदेशी राजनीति का विशेषज्ञ) को गिरफ्तार किया गया और उन्हें देशद्रोह का दोषी पाया गया। जून १९३७ में आठ प्रमुख सेनापतियों की गिरफ्तारी हुई, जिनमें मार्शल तुखचेवस्की, जनरल डवोरेविप (जिसने गृहयुद्ध में जनरल डेनिकिन को परास्त किया था) और जनरल कार्क (मास्को के सैनिक कालिज का अध्यक्ष) भी शामिल थे। इन सब पर मुकदमा चलाया गया। सब दोषी पाये गये, और सबको गोली से उड़ा दिया गया। इस समय जिन लोगों को साम्यवादी व्यवस्था के विरोधी होने के अपराध में गिरफ्तार करके प्राणदण्ड दिया गया, उनकी संख्या सैकड़ों में है। वे सब रशियन सरकार के उच्च पदाधिकारी थे, और कम्युनिस्ट पार्टी में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। आश्चर्य की बात यह है, कि सब अभियुक्तों ने न्यायालय में उपस्थित होकर अपने अपराधों को खुले तौर पर स्वीकार किया, और बड़े विशद रूप से उन षडयन्त्रों का बयान किया, जिनमें वे शामिल हुए थे।

उच्च कम्युनिस्ट अधिकारियों पर चलाये गये इन मुकदमों से संसार भर में बड़ी सनसनी फैल गई थी। ऐसा प्रतीत होता था, कि रशिया में कोई भी व्यक्ति पूर्णतया विश्वसनीय नहीं समझा जा सकता। लोग समझते थे, कि स्टालिन अपने प्रतिद्वन्द्वियों का विनाश करने के लिए यह कार्रवाई कर रहा है। कुछ लोगों का यह भी खयाल था, कि साम्यवादी व्यवस्था रशिया में अब देर तक नहीं रह सकेगी। ये मुकदमे इस बात को सूचित करते हैं, कि रशिया के बड़े से बड़े नेता कम्युनिज्म

के विरोधी हैं। पर अन्य देशों की यह सब आशा पूरी नहीं हो पाई। इन मुकदमों के बाद न केवल स्टालिन की स्थिति अधिक मजबूत हो गई, पर रशिया में बोल्शेविक व्यवस्था की जड़ें भी अधिक मजबूती के साथ जम गईं।

९. रशिया की उन्नति

साम्यवादी व्यवस्था के काल में रशिया ने बहुत उन्नति की है। बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व रशिया की ७३ फी सदी जनता अशिक्षित थी। १९४१ में अशिक्षितों की संख्या केवल १० फी सदी रह गई थी। अब यह संख्या और भी कम रह गई है, और यह कहा जा सकता है, कि रशिया में प्रायः सभी व्यक्ति शिक्षित हैं। चौथाई सदी के स्वल्पकाल में पन्द्रह करोड़ से भी अधिक आदमियों को शिक्षित कर देना बोल्शेविक व्यवस्था की शानदार सफलता है। आर्थिक क्षेत्र में भी रशिया ने इसी प्रकार उन्नति की है। दो पंचवार्षिक योजनाओं द्वारा रशिया में खेती की पैदावार पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गई है, और नये कल-कारखानों की स्थापना से रशिया संसार के प्रमुख व्यवसाय-प्रधान देशों में गिना जाने लगा है। रशिया में छोटे-बड़े और ऊँच-नीच का भेद हट गया है। यह तो नहीं कहा जा सकता, कि आर्थिक दृष्टि से सब लोग एक समान हैं, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को उसकी आवश्यकता के अनुसार नहीं, अपितु काम के अनुसार वेतन मिलता है। पर लोगों की आमदनियों व आर्थिक स्थिति में उतना भेद नहीं है, जितना कि पूँजीवादी देशों में है।

बोल्शेविक व्यवस्था द्वारा रशिया ने जो उन्नति की, अन्य देश उसे बहुत सन्देह की दृष्टि से देखते थे। पर द्वितीय महायुद्ध में रशिया ने जो शानदार कार्य किये, और जिस प्रकार अपनी शक्ति प्रदर्शित की, उससे सारा संसार उसका सिक्का मान गया है, और अब वह दुनिया की प्रधान शक्तियों में गिना जाता है। यदि अब उसका प्रतिद्वन्द्वी कोई है, तो वह

केवल अमेरिका है। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि अन्य यूरोपियन राज्यों के मुकाबले में वह बहुत आगे बढ़ गया है।

१०. रशिया में धर्म का स्थान

बोल्शेविक लोग धर्म के बहुत खिलाफ हैं। रशिया का पुराना ईसाई चर्च राजा के दैवी अधिकार में विश्वास करता था। चर्च के बड़े पादरी स्वयं धनी कुलीन जमींदारों के समान सुख और समृद्धि से जीवन बिताते थे। चर्च के पास अपनी अपार सम्पत्ति थी। जब रशिया में क्रान्ति हुई, तो जो बोल्शेविक लोग राजा और कुलीन श्रेणी के स्वच्छन्द शासन के खिलाफ उठ खड़े हुए, उन्हें चर्च के विरोध का भी जबर्दस्त सामना करना पड़ा। कार्ल मार्क्स पक्का भौतिकवादी था। धर्म के कर्मकाण्ड, विधि-विधान या अध्यात्म पर उसे जरा भी विश्वास न था। उसके अनुयायी बोल्शेविक लोग भी भौतिकवाद के पक्षपाती हैं। जब उन्हें अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों में पादरियों व अन्य धर्माचार्यों के विरोध का सामना करना पड़ा, तो वे धर्म के एकदम विरुद्ध हो गये। क्रान्ति के बाद यह घोषणा की गई, कि चर्च का राज्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, शिक्षा को चर्च के प्रभाव से मुक्त कर दिया जाता है, और चर्च की तरफ से जितने शिक्षणालय हैं, वे सब बन्द कर दिये जाते हैं। साथ ही, चर्च की सब जायदाद जब्त कर ली गई। पादरियों को वोट का अधिकार नहीं दिया गया। जब पादरी लोग बोल्शेविकों के खिलाफ उठ खड़े हुए, और जनता को उनके विरुद्ध भड़काने लगे, तो बहुत से पादरियों को गिरफ्तार किया गया। अनेकों को फाँसी की सजा दी गई। बहुत से पादरी अपनी जान बचाने के लिए रशिया से भाग निकले। चर्च की बहुत सी इमारतें सार्वजनिक पुस्तकालयों, संग्रहालयों व विश्रामगृहों के रूप में परिवर्तित कर दी गईं। यह व्यवस्था की गई, कि कोई आदमी सार्वजनिक रूप से धर्म का प्रचार न कर सके।

१६२६ में बोल्शेविकों ने धर्म के सम्बन्ध में अपने रुख में कुछ परिवर्तन किया। लोगों को यह स्वतन्त्रता दी गई, कि वे अपने घर में या चर्च में पूजा-पाठ कर सकें। पर इसका कड़े तरीके से इन्तजाम किया गया, कि चर्चों का उपयोग पूजा-पाठ के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिए न किया जा सके। साथ ही, बोल्शेविकों ने धर्म के खिलाफ अपने प्रचार को जारी रखा। नास्तिकों की एक सोसायटी कायम की गई, और बोल्शेविकों ने धर्म के विरुद्ध अपने मोरचे को बहुत जबर्दस्त बना दिया। जगह जगह ऐसी नुमाइशें की गईं, जिनमें चित्रों, कार्टूनों और अन्य तरीकों से धर्म का मजाक उड़ाया जाता था। बच्चों की शिक्षा में धर्म को कोई स्थान नहीं था, इसलिए बोल्शेविक प्रभाव में जिन बच्चों ने शिक्षा प्राप्त की, बड़े होने पर उन्हें धर्म से जरा भी प्रेम नहीं था। पुराने लोग अभी तक ईश्वर से डरते थे। विविध विधि-विधानों व पूजा-पाठ द्वारा वे अपनी धार्मिक तृष्णा को पूर्ण करते थे। पर धीरे धीरे रशिया की आम जनता में धर्म भावना बिलकुल नष्ट होती जाती थी। ईसाई धर्म का असर उन पर निरन्तर क्षीण होता गया। अब स्थिति यह है, कि रशिया में ईसाई धर्म प्रायः नष्ट हो गया है। ईसा का स्थान मार्क्स व लेनिन ने ले लिया है। अदने से अदने मजदूर व किसान के घर में इन महापुरुषों के चित्र विद्यमान हैं। उनके प्रति अपनी श्रद्धा को प्रकट करने के लिए वे उन चित्रों के सम्मुख दीपक भी जलाते हैं। सब बड़े बड़े शहरों में सबसे प्रमुख स्थान पर लेनिन की विशाल मूर्तियाँ स्थापित हैं। जनता उन्हें अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखती है, और यह समझती है, कि वह ही उनका उद्धारकर्ता था।

सैंतालीसवाँ अध्याय

टर्की का अभ्युदय

१. सल्तनत का अन्त

उन्नीसवीं सदी में टर्की को यूरोप का बीमार देश समझा जाता था। ब्रिटेन और रशिया की प्रतिस्पर्धा ने ही उसकी प्राण-रक्षा की हुई थी। महायुद्ध में टर्की जर्मनी के पक्ष में शामिल हुआ, और परास्त होने के बाद उसके साथ जो सन्धि (सेव्र की सन्धि) हुई, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस सन्धि द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि (१) थ्रेस का प्रदेश और ईगियन सागर के द्वीप ग्रीस को प्राप्त हों। (२) स्मर्ना का प्रदेश भी सामयिक रूप से ग्रीस को दिया जाय। (३) बोस्पोरस और डार्डनल्स के जल-डमरूमध्य अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रहें। इनके पूर्व की ओर का समुद्र-तट के साथ साथ का प्रदेश टर्की के शासन में हो, और पश्चिम की ओर का ग्रीस के शासन में रहे। पर समुद्र-तट के साथ साथ के इन दोनों ओर के प्रदेशों के शासन पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण भी रहे। इसका उद्देश्य यह था, कि काला सागर से भूमध्यसागर तक आने-जानेवाले सब जहाज पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ इस जलमार्ग का प्रयोग कर सकें। (४) अरब, मैसोपोटामिया, सीरिया और आर्मीनिया तुर्की साम्राज्य से पृथक् कर दिये जावें। (५) एशिया माइनर में सीलीसिया को फ्रांस के अधिकार में और अनेतोलिया व अडेलिया को इटली के अधिकार में दे दिया जाय। (६) कुर्दिस्तान को स्वतन्त्र राज्य बना दिया जाय। (७) टर्की को भी युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया, और उस पर भी हरजाने की भारी रकम लादी गई। इसकी अदायगी के
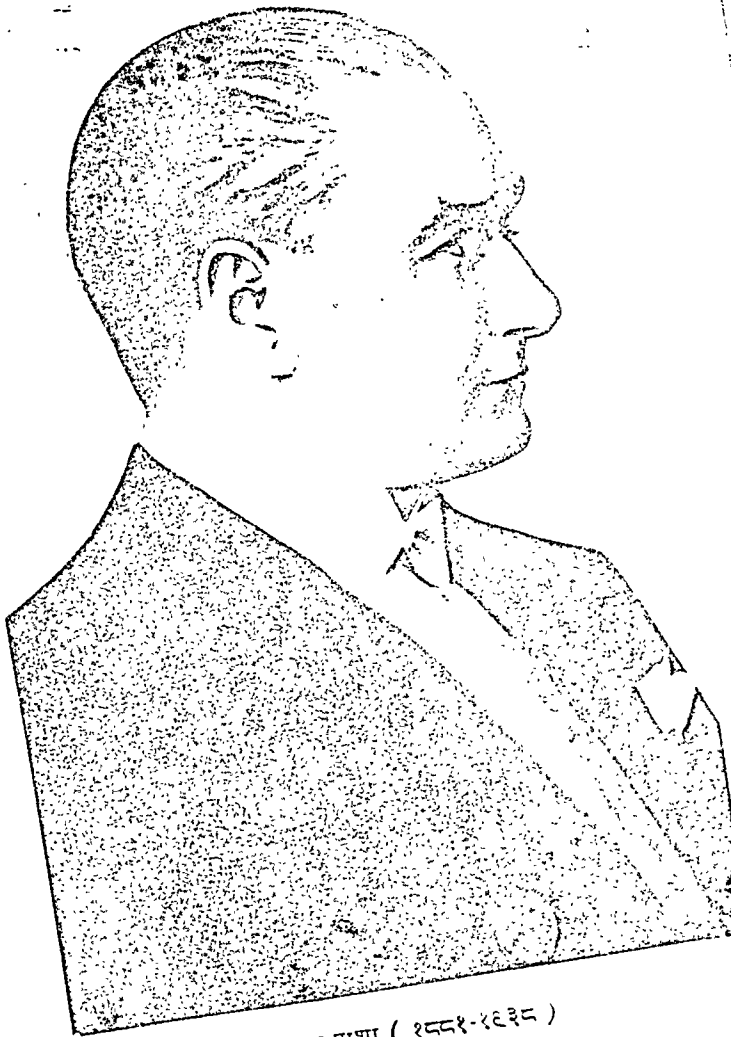
कमाल पाशा (१८८१-१९३८)

लिए टर्की की राजकीय आमदनी पर मित्रराष्ट्रों का नियन्त्रण कायम कर दिया गया।

सेव्र की इस सन्धि का परिणाम यह हुआ, कि टर्की के विशाल पर विच्छृंखल साम्राज्य का अन्त हो गया। एक करोड़ बीस लाख की आबादी के प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त हो गये, और अब उसकी जन-संख्या केवल अस्सी लाख रह गई। वह एक छोटा सा राज्य रह गया, जिसका यूरोप से सम्बन्ध नाममात्र को था, और जिसकी अधीनता में कोई भी ऐसे प्रदेश नहीं रहे थे, जहाँ किसी तुर्क-भिन्न जाति का निवास हो। पर तुर्की साम्राज्य के अन्त होने की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तुर्की सल्तनत की इतिश्री थी। टर्की के सुलतान न केवल साम्राज्य के सम्राट् थे, पर साथ ही इस्लाम के प्रधान धर्माचार्य भी थे। वे राज्य और धर्म—दोनों के प्रधान थे, और सारे मुस्लिम संसार पर उनका एक प्रकार का प्रभुत्व था। ईसाइयत के धार्मिक साम्राज्य की समाप्ति कभी की हो चुकी थी, पवित्र रोमन साम्राज्य के अन्त द्वारा यूरोप के ईसाई राजा अब धर्माध्यक्ष नहीं रहे थे। पर टर्की के सुलतान इस्लाम के धर्माध्यक्ष भी थे। सेव्र की सन्धि को सुलतान की सरकार ने स्वीकार कर लिया, पर इस समय टर्की में वास्तविक राजनीतिक शक्ति मुस्तफा कमालपाशा के हाथ में थी, जिसके नेतृत्व में अन्कोरा में एक नई तुर्की सरकार की स्थापना हो गई थी। इस समानान्तर सरकार ने सेव्र की सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया। कुछ ही समय बाद कमालपाशा के नेतृत्व में टर्की में राज्यक्रान्ति हो गई। सुलतान को राजगद्दी छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा, और यूरोप के अन्य विविध राज्यों के समान टर्की में भी रिपब्लिक की स्थापना की गई। टर्की की यह राज्यक्रान्ति बहुत महत्त्व की थी। कारण यह कि इससे न केवल सुलतान के स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन का ही अन्त किया गया था, अपितु साथ ही खलीफत (इस्लाम के धर्माचार्य की सत्ता) का भी। इस्लाम के धार्मिक इतिहास में यह बहुत बड़ी घटना

थी। पैगम्बर मुहम्मद के बाद खलीफाओं की जिस परम्परा का प्रारम्भ हुआ था, उसका अब (लगभग बारह सदी बाद) अन्त हो गया, और इस्लामी चर्च में एक भारी क्रान्ति हुई। सुलतानों के पदच्युत होने के बाद टर्की की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए मार्ग खुल गया।

२. कमाल पाशा

मुस्तफा कमाल पाशा का जन्म १८८१ में हुआ था। उसके पिता साधारण स्थिति के आदमी थे, जो पहले एक छोटी सरकारी नौकरी करते थे। बाद में उन्होंने अपना कारोबार शुरू किया। १८९० में जब उनकी मृत्यु हुई, तो कमाल पाशा की उमर केवल नौ साल की थी। वह अपने पिता का अकेला पुत्र था। पिता उसके लिये इतनी सम्पत्ति नहीं छोड गये थे, कि वह आराम से अपने दिन गुजार सकता। शुरू में उसे मजदूरी करके अपने दिन गुजारने पड़े। बाद में अपनी चाची की सहायता से वह स्कूल में दाखिल हुआ, और धीरे-धीरे कोन्स्टेन्टिनोपल के सैनिक विद्यालय में भरती हो गया। चौबीस साल की आयु में उसने सैनिक शिक्षा पूर्ण की। विद्यार्थी जीवन में उसने फ्रांस के क्रान्तिकारियों के इतिवृत्त को बड़े ध्यान से पढ़ा था। रूसो और वाल्टेयर के ग्रन्थों का उसे बड़ा शौक था। इस साहित्य को पढ़ने से उसके ध्यान में यह बात बैठ गई थी, कि टर्की की सरकार बहुत विकृत है, और क्रान्ति के बिना उसे ठीक नहीं किया जा सकता। उसके हृदय में यह बात घर कर गई थी, कि देश के उद्धार के लिये उसे राजनीति में पड़ना चाहिये, और टर्की की दशा को सुधारना चाहिये। पर सुलतान की खुफिया पुलिस बड़ी क्रियाशील थी। टर्की के शासन में अन्य कोई भी दोष क्यों न हों, पर उसके गुप्तचर बड़े चतुर थे, और वे झट इस बात का पता कर लेते थे, कि सुलतान के विरुद्ध कहाँ मन्त्रणा हो रही है। मुस्तफा कमाल के विचारों का भी उन्हें पता लग गया, और उसे गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया।

पर कमाल पाशा देर तक जेल में नहीं रहा। उसकी सैनिक योग्यता भी सुलतान की सरकार को भली-भाँति मालूम थी। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जब बालकन प्रायद्वीप में युद्ध प्रारम्भ हुए, और टर्की भी उनमें उलझ गया, तो उसे कैद से रिहा कर दिया गया, और उसे सैनिक अफसर बनाकर रणक्षेत्र में भेज दिया गया। युद्ध में उसने अपनी योग्यता का भली-भाँति परिचय दिया, और वह सैनिक क्षेत्र में अच्छी उन्नति करता गया। महायुद्ध में उसे अपनी असाधारण सैनिक प्रतिभा को प्रदर्शित करने का सुवर्णावसर हाथ लगा। गैलीपोली के युद्ध में जिस तुर्क सेना ने ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया की सेनाओं का बुरी तरह पराजय किया था, उसका सेनापति मुस्तफा कमाल पाशा ही था। दिसम्बर, १९१५ में इस विजय के कारण उसकी कीर्ति बहुत बढ़ गई, और वह टर्की का प्रधान सैनिक वीर समझा जाने लगा। जर्मनी की सैनिक क्षमता में उसे शुरू से सन्देह था। वह भली-भाँति समझता था, कि जर्मनी व उसके साथी महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों को परास्त नहीं कर सकेंगे। पर उसने सैनिक अफसर के अपने कर्तव्य में ढील नहीं होने दी, और जब तक महायुद्ध जारी रहा, वह अपने कर्तव्य का सुचारु रूप से पालन करता रहा।

पर जब महायुद्ध में टर्की परास्त हो गया, और मित्रराष्ट्रों ने सेव्र की सन्धि को सुलतान के सम्मुख पेश किया, तो सुलतान की सरकार यही समझती थी, कि उसे स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त उसके सम्मुख अन्य कोई मार्ग नहीं है। पर मुस्तफा कमालपाशा का यह विचार नहीं था। वह समझता था, कि टर्की को यह सन्धि स्वीकार नहीं करनी चाहिये। यदि आवश्यकता हो, तो युद्ध को फिर से प्रारम्भ करके भी इसका मुकाबला करना चाहिये। वह सुलतान की नीति का कड़ा आलोचक था। पहले उसे यह आशा थी, कि वह सुलतान को अपने रास्ते पर ला सकेगा। वह नहीं चाहता था, कि सुलतान को पदच्युत किया

जाय। पर जब उसने देखा, कि सुलतान अपने दरबारियों और निकम्मे अफसरों के हाथ की कठपुतली है, और उसका सुधार कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, तो वह क्रान्ति का पक्षपाती हो गया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के इतिहास से जो शिक्षायें उसने ग्रहण की थीं, उनका उसने अनुसरण किया, और इसी का यह परिणाम हुआ, कि टर्की में सल्तनत का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई।

३. टर्की में राज्यक्रान्ति

जिस समय सुलतान की सरकार सेव्र की सन्धि को स्वीकार कर रही थी, मुस्तफा कमाल पाशा अनेतोलिया में इन्स्पेक्टर-जनरल के पद पर था। टर्की के देशभक्त और राष्ट्रीय विचारों के लोग उसके चारों ओर एकत्र होने लगे थे। अनेतोलिया में एक राष्ट्रीय सभा का संगठन हो गया था। इसमें कमाल पाशा ने हिस्सा लेना शुरू किया, और शीघ्र ही वह उसका प्रधान नेता बन गया। इसी सभा की ओर से सितम्बर, १६१६ में एक अखिल तुर्की कांग्रेस का संगठन किया गया, जिसका प्रथम अधिवेशन सिवास नामक स्थान पर हुआ। कमाल पाशा समझता था, कि राज्य की वास्तविक शक्ति सर्वसाधारण जनता है। तुर्क जनता में जान है, शक्ति है और उन्नति की अभिलाषा है, यह उसका दृढ़ विश्वास था। एक बार महायुद्ध के समय, जब एक जर्मन सेनापति ने उसे कहा, कि तुर्क सैनिक तो युद्ध में साधारण गाय बैलों की तरह भाग खड़े होते हैं, तो उसने झुंझलाकर उत्तर दिया था, कि इसमें दोष सिपाहियों का नहीं है। इसके लिए जिम्मेवार वे अफसर लोग हैं, जो स्वयं सब प्रकार के अधःपतन के शिकार हैं। कमाल पाशा का विचार था, कि यदि तुर्क जनता को सही सही नेतृत्व प्राप्त हो जाय, तो वह संसार में गौरवपूर्ण स्थान शीघ्र ही प्राप्त कर सकती है। सिवास की अखिल तुर्क कांग्रेस में इसी सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि बहुत बड़ी

संख्या में एकत्र हुए थे। सुलतान की सरकार इससे बहुत चिन्तित थी। उन्होंने आज्ञा दी, कि कमाल पाशा को गिरफ्तार कर लिया जाय। पर अनेतोलिया के किसी सरकारी अफसर की यह हिम्मत नहीं हुई, कि वह कमाल पाशा पर हाथ डाल सके। सारे अनेतोलिया में इस समय विद्रोह और क्रान्ति की भावनाएँ प्रबल हो रही थीं। कमालपाशा के नेतृत्व में वहाँ एक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना की गई, जिसकी राजधानी अन्कोरा बनाई गई। कमाल पाशा की इस समानान्तर सरकार ने न केवल यह घोषणा की, कि सेव्र की सन्धि उसे स्वीकार नहीं है, अपितु ग्रीस और इटली आदि ने टर्की के जिन प्रदेशों पर अधिकार स्थापित करना शुरू किया था, उनके खिलाफ भी उसने लड़ाई छेड़ दी। सुलतान इस समय पूरी तरह से मित्रराष्ट्रों के हाथ में था। उसने उद्घोषित किया, कि अन्कोरा की सरकार के कार्यों से टर्की की न्याय्य सरकार किसी भी प्रकार सहमत नहीं है, और प्रत्येक राजभक्त तुर्क का कर्तव्य है, कि वह सुलतान का साथ दे, और अन्कोरा से कोई सम्बन्ध न रखे। पर कमाल पाशा के वीर कृत्यों के कारण तुर्क जनता उसे अपना वीर नेता मानने लगी थी, और उसके कार्यों के साथ पूरी तरह सहानुभूति रखती थी। कमाल पाशा ने ग्रीस और इटली के साथ युद्ध को जारी रखा। रशिया की बोल्शेविक सरकार ने कमाल पाशा की सरकार को स्वीकार कर लिया। इटली ने भी यह अनुभव किया, कि तुर्कों के साथ लड़ाई को जारी रखना बिलकुल व्यर्थ है। उन्होंने लण्डन में कमाल पाशा के प्रतिनिधि के साथ गुप्त रूप से यह समझौता कर लिया, कि टर्की के सब प्रदेशों से इटालियन सेनायें वापस बुला ली जावेंगी। अब अकेला ग्रीस ही ऐसा देश रह गया, जिससे अन्कोरा की सरकार युद्ध कर रही थी। यह युद्ध १९१९ से १९२१ तक निरन्तर जारी रहा। कुछ समय के लिए ग्रीक सेनायें अनेतोलिया में प्रवेश भी कर गईं, और उन्होंने यह भी प्रयत्न किया, कि अन्कोरा पर कब्जा करके कमाल पाशा की सरकार का सर्वनाश

कर दिया जाय। पर अपने इस प्रयत्न में उसे सफलता नहीं हो सकी। कमाल पाशा के साथी और सहायक मित्र इस्मत ने इनोनू के रणक्षेत्र में ग्रीक सेनाओं को बुरी तरह से परास्त किया। इस विजय के कारण ही वह आगे चलकर इस्मत इनोनू के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ग्रीस और टर्की के युद्ध में दोनों पक्षों ने एक दूसरे पर भयंकर अत्याचार किये, और लड़ाई में बड़ी बर्बरता प्रदर्शित की। इस समय यह भलीभाँति स्पष्ट हो गया था, कि टर्की में एक नई भावना और नवीन शक्ति प्रगट हो गई है, जिसका दमन कर सकना सम्भव नहीं है। फ्रांस और ब्रिटेन अब यह अनुभव करने लगे थे, कि टर्की के साथ झगड़ा जारी रखने की अपेक्षा उत्तम यह है, कि नवीन टर्की के साथ सन्धि कर ली जाय, और उसकी आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए उससे ऐसी आर्थिक सुविधायें प्राप्त कर ली जावें, जिनसे फ्रांस और ब्रिटेन के पूँजीपतियों को लाभ पहुँचे। इसी प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ, कि सेव्र की सन्धि की जगह नई सन्धि की योजना की गई, और उसके लिए स्विट्जरलैण्ड के अन्यतम नगर लोजान में एक कान्फरेंस की व्यवस्था की गई। इस कान्फरेंस में टर्की की नई सरकार के साथ सब विवादग्रस्त मामलों का नये सिरे से निबटारा किया गया।

लोजान कान्फरेंस के शुरू होने से पहले ही कमाल पाशा की सरकार टर्की की एकमात्र सरकार रह गई थी। सन् १९२२ के समाप्त होने से पहले ही सुलतान मोहम्मद टर्की से भागकर बाहर चला गया था। यद्यपि वह अब भी अपने को टर्की की राजगद्दी का अधिकारी और न्याय्य सम्राट् समझता था, पर अक्टूबर, १९२३ में अंकोरा में टर्की को एक रिपब्लिकन राज्य उद्घोषित कर दिया गया। सारे देश से प्रतिनिधि निर्वाचित होकर ग्राण्ड नेशनल एसेम्बली का अधिवेशन किया गया। एसेम्बली में सर्वसम्मति से यह निश्चय हुआ, कि टर्की में रिपब्लिकन शासन की स्थापना की जाय और मुस्तफा कमाल पाशा उसके

पहले राष्ट्रपति हों। लोकमत को दृष्टि में रखते हुए शुरू में यह व्यवस्था की गई, कि सुलतान मोहम्मद छठे का टर्की के शासन से कोई सम्बन्ध न रहे, पर उसे खलीफा के पद पर रहने दिया जाय। अभी टर्की के मुसलमान इस बात के लिए तैयार नहीं थे, कि धर्माचार्य की बारह सदी पुरानी इस पदवी को एकदम उठा दिया जाय। पर टर्की में इतनी तेजी से परिवर्तन आ रहे थे, और राज्यक्रान्ति के कारण अन्य क्षेत्रों में भी इतनी क्रान्ति हो रही थी, कि मार्च १९२४ में खिलाफत को उड़ा देने का भी फैसला कर लिया गया। राज्य को धर्म से सर्वथा पृथक् कर दिया गया, और काजियों को न्याय-सम्बन्धी जो अधिकार प्राप्त थे, वे सब उनसे छीन लिए गये।

निःसन्देह, कमाल पाशा के नेतृत्व में जो क्रान्ति हुई थी, उसने टर्की के स्वरूप को बिलकुल बदल दिया था।

४. राज्यक्रान्ति की प्रगति

सुलतान मुहम्मद छठे को राजगद्दी और खलीफत के गौरवपूर्ण पद से च्युत करके ही क्रान्ति की समाप्ति नहीं हो गई। कमालपाशा ने जिस नई भावना का प्रादुर्भाव किया था, वह टर्की के सामाजिक जीवन में भी भारी परिवर्तन ला रही थी। इस परिवर्तन का प्रधान नायक कमाल-पाशा ही था, जिसने अपने व्यक्तित्व की शक्ति से टर्की को बात की बात में आमूलचूल बदल दिया था। उसके प्रयत्नों से जिस नये टर्की का अभ्युदय हुआ, उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ थीं—

(क) रिपब्लिकन शासन प्रणाली—टर्की जैसे पुराने देश में रिपब्लिकन की स्थापना बहुत बड़ी घटना थी। वहाँ न केवल सुलतान का शासन था, पर उस पर आश्रित बहुत से दरबारी, अमीर, उमरा और कुलीन श्रेणी के लोग अपने अपने क्षेत्र में अपरिमित शक्ति और अधिकारों का उपभोग करते थे। ये सब बात की बात में उड़ा दिये

गये। सुलतान का स्थान कमाल पाशा ने लिया, जो स्वयं एक छोटे से व्यापारी का लड़का था, और जिसका बचपन मजदूरी करते हुए बीता था। रिपब्लिक के अन्य प्रधान कर्मचारी भी साधारण स्थिति के आदमी थे। कुलीन श्रेणी का स्थान अब साधारण जनता के उन लोगों ने ले लिया था, जिन पर लोगों का विश्वास था।

(ख) राष्ट्रीयता—नवीन टर्की का आधार राष्ट्रीयता थी। कमाल-पाशा का यह मन्तव्य था, कि जो टर्की में रहते हों, तुर्की भाषा बोलते हों, तुर्की संस्कृति और परम्पराओं का अनुसरण करते हों, और तुर्क आदर्शों को अपना राष्ट्रीय आदर्श मानते हों, वे सब टर्की के नागरिक समझे जाने चाहिएँ, और धर्म व नसल का कोई भेद न रखकर उन्हें तुर्क समझना चाहिए। अब तक टर्की के राज्य का आधार इस्लाम था। वह एक ऐसा राज्य था, जो धर्म पर आश्रित था। अब वह धर्म के बन्धन से मुक्त होकर पूरी तरह राष्ट्रीयता पर आश्रित हो गया।

(ग) राजसत्ता का आधार जनता है, और जनता से ही सरकार अपनी सब शक्ति प्राप्त करती है, यह सिद्धान्त टर्की के नये शासन विधान का आधार बनाया गया। अब तक यह समझा जाता था, कि सुलतान दैवी अधिकार से देश पर शासन करता है। वह धर्म का भी अधिपति है। यह सिद्धान्त अब दूर हो गया, और उसका स्थान इस आधुनिक मन्तव्य ने ले लिया, कि जनता सम्पूर्ण राजशक्ति का मूलस्रोत है, और उसी की इच्छा के अनुसार शासन होना चाहिए।

(घ) देश की आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है, कि सब व्यवसायों पर राज्य का नियन्त्रण हो। राज्य जहाँ स्वयं अनेक बड़े व्यव-सायों का संचालन करे, वहाँ रेल, तार, मोटर, खान और सार्वजनिक हित के साथ सम्बन्ध रखनेवाले सब व्यवसायों पर पूरी तरह सरकार का नियन्त्रण रहे। इस सिद्धान्त के अनुसार कपड़ा, ऊन, रेशम, लोहा

आदि के कारखाने राज्य की ओर से खोले गये, और यह यत्न प्रारम्भ हुआ, कि बड़े पैमाने पर देश की व्यावसायिक उन्नति की जाय।

(ङ) देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक है, कि क्रान्ति के सिद्धान्त को सामाजिक क्षेत्र में भी लागू किया जाय। इसमें सन्देह नहीं, कि धीरे धीरे परिवर्तन करके देश की दशा को सुधारा जा सकता है। पर कमाल पाशा की यह धारणा थी, कि धीरे धीरे परिवर्तन से कोई विशेष लाभ नहीं होता। जैसे राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति के द्वारा सदियों पुराने गन्द के ढेर को जरा सी देर में भस्म कर दिया जाता है, और नई राजसंस्था की स्थापना कर दी जाती है, वैसे ही सामाजिक क्षेत्र में भी सदियों पुरानी कुरीतियों को क्रान्ति द्वारा नष्ट किया जा सकता है। इसी मन्तव्य के अनुसार मुस्तफा कमाल पाशा ने ये व्यवस्थायें कीं :—

(१) तुर्की टोपी (फेज) और पगड़ी का पहनना कानून की दृष्टि में अपराध घोषित कर दिया गया। जिन लोगों ने इसका विरोध किया, उन्हें कड़ी सजायें दी गईं। टर्की की नई सरकार की दृष्टि में फेज का पहनना इतना बड़ा अपराध था, कि कुछ लोगों को इसके लिए दस दस साल तक की कैद का दण्ड दिया गया। टोपी और पगड़ी की जगह यूरोपियन तरीके के टोप का पहनना आवश्यक कर दिया गया। साथ ही, कमाल पाशा ने यह व्यवस्था की, कि सब तुर्क लोग यूरोपियन पोशाक पहनें, कोट पतलून धारण करें, टाई लगावें और ठीक उस तरह से रहें, जैसे पश्चिमी यूरोप के उन्नत व सभ्य लोग रहते हैं।

(२) पहले टर्की में शुक्रवार के दिन छुट्टी रहती थी। अब यह व्यवस्था की गई, कि इतवार के दिन छुट्टी रहा करे।

(३) इस्लाम के अनुसार बहु-विवाह की इजाजत थी। तुर्क लोग अनेक विवाह करते थे, और अमीर लोगों के हरम में तो बहुत सी स्त्रियाँ रहा करती थीं। अब एक से अधिक स्त्री के साथ एक समय में विवाह करना कानून के विरुद्ध करार कर दिया गया।

(४) यह व्यवस्था की गई, कि कोई स्त्री बुरका न ओढ़ सके, परदा न करे। स्त्रियाँ वैसे ही खुले तौर पर रहें, जैसे फ्रांस व ब्रिटेन में रहती हैं। उन्हें वोट का अधिकार दिया गया, और राजनीति व समाज के क्षेत्रों में उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किये गये। १९३५ के निर्वाचन में १७ स्त्रियाँ भी टर्की की प्रतिनिधि सभा में सदस्य के रूप में निर्वाचित हुई थीं।

(५) अब तक तुर्की भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती थी। पर कमालपाशा ने यह व्यवस्था की, कि अरबी लिपि का सर्वथा बहिष्कार करके रोमन लिपि का प्रचार किया जाय। सबसे पहले कमाल पाशा ने स्वयं अपने पत्रों में रोमन लिपि का प्रयोग शुरू किया। बाद में उसने अफसरों को यह आज्ञा दी, कि वे रोमन लिपि सीखें, और उसी का प्रयोग करें। उसने स्वयं अफसरों को रोमन लिपि में तुर्की भाषा लिखना सिखाया। आगे चलकर अरबी लिपि का प्रयोग सर्वथा रोक दिया गया, और रोमन का प्रयोग आवश्यक कर दिया गया। टर्की में छापेखानों को इससे बहुत नुकसान पहुँचा। अब तक वहाँ के सब छापेखाने अरबी लिपि में पुस्तकें व समाचार-पत्र छापते थे। एक साल तक वे बिलकुल बन्द रहे। रोमन में छपाई करने के लिए उन्हें नई व्यवस्था करनी पड़ी। परिणाम यह हुआ, कि ऐसा भी समय आया, जब कि साल भर में टर्की में केवल एक ही पुस्तक छपकर प्रकाशित हुई। पर धीरे धीरे वहाँ के छापेखानों ने नई मशीनें व सामान मँगा लिया, और रोमन लिपि का भलीभाँति प्रचार हो गया।

इन सब सुधारों को करते हुए कमाल पाशा का उद्देश्य यह था, कि टर्की को पूरी तरह से यूरोपियन सभ्यता व संस्कृति के रंग में रँग दिया जाय। उसका ख्याल था, कि जिस तरह पोलैण्ड, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया व अन्य यूरोपियन देश में हैं, उनकी सभ्यता व संस्कृति बहुत कुछ एक है, उनकी लिपि एक है, उनकी पोशाक व रहन-सहन एक है, उसी तरह

से टर्की को भी भाषा का भेद रखते हुए भी लिपि, पोशाक, रहन-सहन और संस्कृति की दृष्टि से अपने को पूरी तरह यूरोपियन बना लेना चाहिए। वह चाहता था, कि टर्की की गिनती अरब, ईराक, सीरिया और ईजिप्ट जैसे पिछड़े हुए देशों के साथ में न की जाय। लोग यूरोपियन देशों में उसका शुमार करें, और वह यूरोप के सदृश ही उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो। इसी दृष्टि से उसने इस बात पर एतराज नहीं किया, कि पैलेस्टाइन, मैसोपोटामिया, ईराक आदि को टर्की से पृथक् कर दिया जाय। वह समझता था, कि इन देशों की संस्कृति टर्की से अलग है, उनका टर्की से पृथक रहना ही अच्छा है। एक आधुनिक राष्ट्रीय रिपब्लिक के रूप में टर्की का विकास तभी सम्भव है, जब उसमें ऐसा कोई प्रदेश शामिल न हो, जो भाषा, नसल व सभ्यता की दृष्टि से पूर्णतया तुर्क न हो।

कमालपाशा के व्यक्तित्व व अतुल शक्ति का ही यह परिणाम था, कि ये सब क्रान्तिकारी सुधार वहाँ सम्भव हो सके। इसमें सन्देह नहीं, कि सुधार के लिए कमाल पाशा ने एकाधिकार का प्रयोग किया। उसके अपने दल के अतिरिक्त अन्य कोई दल टर्की में पनप नहीं सकता था। इस अंश में कमालपाशा के शासन का वही स्वरूप था, जो कि इटली में मुसालिनी और जर्मनी में हिटलर के शासन का था। पर भेद यह है, कि कमालपाशा ने जिस शक्ति को अपने व्यक्तित्व में केन्द्रित किया था, उसका उद्देश्य टर्की में नवजीवन का संचार करना था। टर्की में सच्चे अर्थों में जनता का राज्य स्थापित हो सके, इसके लिए ही उसे असाधारण शक्ति अपने हाथों में लेने की आवश्यकता हुई थी। एक बार कमालपाशा ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था—"यदि आज मेरी मृत्यु हो जाय, तो हजार ऐसे तुर्क हैं, जो मेरा स्थान ले लेंगे।" इसमें सन्देह नहीं, कि कमाल पाशा जिस भावना से अपना कार्य कर रहा था, हजारों तुर्कों के हृदयों में वही भावना विद्यमान थी, और वे यह भली भाँति

समझते थे, कि उनके देश का भविष्य व उन्नति इसी प्रकार के सुधारों पर निर्भर है।

कमालपाशा के नेतृत्व में टर्की ने आश्चर्यजनक उन्नति की। वह टर्की, जो महायुद्ध के समय तक यूरोप का अत्यन्त पिछड़ा हुआ व बीमार देश समझा जाता था, अब एक उन्नत और सभ्य देश बन गया। देश की उन्नति को लक्ष्य बनाकर, एक सच्चे वीर और उन्नतिशील नेता के एकमात्र नेतृत्व में कोई देश कितनी शीघ्र उन्नति कर सकता है, इसका टर्की बड़ा उत्तम उदाहरण है।

५. लोजान और मोन्त्रो की सन्धियाँ

सेव्र की सन्धि को कमाल पाशा की रिपब्लिकन सरकार ने अस्वीकार कर दिया था। वह सन्धि बिलकुल व्यर्थ हो गई थी। उस द्वारा जो प्रदेश इटली और ग्रीस ने अपने कब्जे में किये थे, उन पर टर्की का अधिकार कायम हो गया था। इस दशा में, लोजान की कान्फरेन्स में टर्की के साथ नया समझौता किया गया, जिसके अनुसार (१) थ्रेस का प्रदेश फिर टर्की को प्राप्त हुआ। (२) स्मर्ना पर भी टर्की का अधिकार स्वीकृत किया गया। (३) अनेतोलिया के जो प्रदेश इटली को दिये गये थे, वे सब और अदेलिया फिर टर्की को प्राप्त हुए। (४) सीलीसिया भी टर्की को मिला। (५) हरजाने की जो रकम टर्की को अदा करनी थी, उसमें भारी कमी की गई। (६) बोस्फोरस और डार्डनल्स के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि टर्की वहाँ कोई किलाबन्दी न कर सके, और उसमें आने-जाने का सब देशों के जहाजों को पूरा अधिकार रहे। पर इस सामुद्रिक मार्ग पर जो अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण कायम किया गया था, उसे दूर कर दिया गया, और राजनीतिक दृष्टि से इन पर टर्की के अधिकार को स्वीकार किया गया। (७) कुर्दिस्तान पर टर्की का स्वामित्व मान लिया गया। ईराक और कुर्दिस्तान की सीमा निश्चित

किये जाने का प्रश्न भविष्य के लिए स्थगित कर दिया गया। बाद में, दिसम्बर १६२५ में यह प्रश्न राष्ट्रसंघ द्वारा हल किया गया। लोजान की सन्धि द्वारा जो नई व्यवस्था हुई थी, उसके अनुसार टर्की का राज्य पहले की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत हो गया था, और उसकी जनसंख्या भी एक करोड़ तीस लाख से अधिक हो गई थी। सेव्र की सन्धि को पूर्णतया नष्ट कर उसके स्थान पर लोजान की सन्धि करना कमाल पाशा की अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारी विजय थी।

पर तुर्की नेता लोजान की सन्धि से पूर्णतया संतुष्ट नहीं थे। बोस्पोरस और डार्डनल्स के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण उन्हें अपने राष्ट्रीय गौरव के प्रतिकूल प्रतीत होता था। इसीलिए १६३६ में मोन्त्रो के समझौते द्वारा यह निश्चय हुआ, कि इस प्रदेश में टर्की अपनी इच्छानुसार किलाबन्दी कर सके। टर्की को यह अधिकार हो, कि युद्ध के समय में उभय पक्ष के जंगी जहाजों का आना जाना वह इस जलमार्ग में रोक सके। इस समझौते का परिणाम यह हुआ, कि टर्की के आन्तरिक क्षेत्र में (स्थल व जल दोनों क्षेत्रों में) किसी अन्य देश का किसी प्रकार का हस्तक्षेप व नियन्त्रण नहीं रहा। यद्यपि महायुद्ध में टर्की भी जर्मनी व आस्ट्रिया के समान परास्त देश था, पर उसके राजनीतिज्ञों ने अपनी बुद्धिमत्ता और नीतिकुशलता के कारण अपने देश को पराजय के परिणामस्वरूप कोई नुकसान नहीं होने दिया। इसके विपरीत, युद्ध के परिणामस्वरूप टर्की का प्रगतिशील और आधुनिक राज्य के रूप में अभ्युदय हुआ।

अड़तालीसवाँ अध्याय

ब्रिटिश साम्राज्य के आन्तरिक परिवर्तन

१. साम्राज्य विस्तार

महायुद्ध से ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार में बहुत सफलता मिली। टर्की और जर्मनी के साम्राज्यों के नष्ट होने से जो प्रदेश उनके आधिपत्य से मुक्त हुए, उनका बड़ा हिस्सा ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। अरब का सारा प्रदेश टर्की के अधीन था। अरब लोग राष्ट्रीयता की दृष्टि से तुर्कों से भिन्न थे। महायुद्ध के अवसर पर अँगरेजों ने अरबों की राष्ट्रीय भावना से फायदा उठाया, और उन्हें यह वचन दिया, कि युद्ध की समाप्ति पर उन्हें तुर्कों की अधीनता से मुक्त कर स्वतन्त्र कर दिया जायगा। लारेन्स नाम के एक ब्रिटिश अफसर ने इस विषय में बड़ा काम किया। उसे अरबी भाषा का अच्छा ज्ञान था। अरब वेश पहन कर वह रेगिस्तान के निवासी अरब लोगों में रहने लगा, और तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उन्हें भड़काता रहा। उसके प्रयत्नों के कारण बहुत से अरब देशभक्त मित्रराष्ट्रों के पक्ष में हो गये, और टर्की के पतन में उन्होंने पूरा सहयोग दिया।

तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत अरब के प्रदेश निम्नलिखित थे—ईराक (मैसोपोटामिया), सीरिया, पैलेस्टाइन, हज्जाज और नेज्द। इन प्रदेशों के अरब-निवासी आशा तो यह करते थे, कि महायुद्ध की समाप्ति पर वे स्वतन्त्र हो जावेंगे। मित्रराष्ट्रों और विशेषतया ब्रिटेन ने उन्हें यही भरोसा दिया था। हम राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के लिए युद्ध कर रहे हैं, और संसार का पुनः निर्माण इन्हीं आदर्शों के अनुसार करना

चाहते हैं—यह बात वे डंके की चोट के साथ कहते थे। पर अब मित्र-राष्ट्रों ने यह अनुभव किया, कि अरब के लोग बहुत पिछड़े हुए हैं, वे अभी स्वराज्य के योग्य नहीं हैं, उन्हें कुछ समय के लिए यूरोप के उन्नत राज्यों के संरक्षण में रहना चाहिए। मित्रराष्ट्र यह तो नहीं कह सकते थे, कि हम इन प्रदेशों को अपनी अधीनता में रखना चाहते हैं। किसी समय साम्राज्य विस्तार राज्यों के लिए गौरव की बात समझी जाती थी। राज्य व उनके शासक खुले तौर पर कहते थे, कि वे अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहे हैं। पर अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भाषा में परिवर्तन आ गया था। अब यह कहा जाने लगा, कि अरब जातियों के कल्याण के लिए मित्रराष्ट्र यह बोझ अपने सिर पर लेने के लिए तैयार हैं, कि कुछ समय तक उनकी उन्नति में सहयोग दें, और उन्हें अपनी संरक्षा में रखकर बाह्य और आभ्यन्तर भयों से उनकी रक्षा करें, ताकि वे निश्चिन्त होकर अपनी उन्नति करते रह सकें। इसी बात को दृष्टि में रखकर राष्ट्रसंघ ने यह व्यवस्था की, कि अरब और इसी प्रकार के जो अन्य प्रदेश टर्की व जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुए हैं, उन्हें ब्रिटेन और फ्रांस जैसे उन्नत देशों की संरक्षा में दे दिया जाय।

इस नीति के अनुसार निम्नलिखित प्रदेश (अरब में) ब्रिटिश संरक्षा में दिये गये।

(१) ईराक—इस प्रदेश में तेल के अनेक कुएँ हैं। ब्रिटेन के लिए इसका महत्त्व केवल इसके तैल कूपों के कारण ही नहीं था, अपितु भारत के विशाल साम्राज्य पर अपना आधिपत्य स्थिर रखने के लिए भी इसका बड़ा उपयोग था। महायुद्ध से पूर्व जर्मन सरकार की यही योजना थी, कि आस्ट्रिया और टर्की के साम्राज्यों को अपने प्रभाव में लाकर बर्लिन से बगदाद तक सीधा सम्बन्ध कायम कर लिया जाय, ताकि बगदाद को आधार बनाकर मौका आने पर भारत पर सुगमतासे हमला किया जा सके। जर्मनी ने इसके लिए प्रयत्न भी किया। ब्रिटेन

अड़तालीसवाँ अध्याय

ब्रिटिश साम्राज्य के आन्तरिक परिवर्तन

१. साम्राज्य विस्तार

महायुद्ध से ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार में बहुत सहायता मिली। टर्की और जर्मनी के साम्राज्यों के नष्ट होने से जो प्रदेश उनके आधिपत्य से मुक्त हुए, उनका बड़ा हिस्सा ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। अरब का सारा प्रदेश टर्की के अधीन था। अरब लोग राष्ट्रीयता की दृष्टि से तुर्कों से भिन्न थे। महायुद्ध के अवसर पर अँगरेजों ने अरबों की राष्ट्रीय भावना से फायदा उठाया, और उन्हें यह वचन दिया, कि युद्ध की समाप्ति पर उन्हें तुर्कों की अधीनता से मुक्त कर स्वतन्त्र कर दिया जायगा। लारेन्स नाम के एक ब्रिटिश अफसर ने इस विषय में बड़ा काम किया। उसे अरबी भाषा का अच्छा ज्ञान था। अरब वेश पहन कर वह रेगिस्तान के निवासी आम लोगों में रहने लगा, और तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उन्हें भड़काता रहा। उसके प्रयत्नों के कारण बहुत से अरब देशभक्त मित्रराष्ट्रों के पक्ष में हो गये, और टर्की के पतन में उन्होंने पूरा सहयोग दिया।

तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत अरब के प्रदेश निम्नलिखित थे—ईराक (मैसोपोटामिया), सीरिया, पैलेस्टाइन, हज्जाज और नेज्द। इन प्रदेशों के अरब-निवासी आशा तो यह करते थे, कि महायुद्ध की समाप्ति पर वे स्वतन्त्र हो जावेंगे। मित्रराष्ट्रों और विशेपतया ब्रिटेन ने उन्हें यही भरोसा दिया था। हम राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के लिए युद्ध कर रहे हैं, और संसार का पुनः निर्माण इन्हीं आदर्शों के अनुसार करना

चाहते हैं—यह बात वे डंके की चोट के साथ कहते थे। पर अब मित्र-राष्ट्रों ने यह अनुभव किया, कि अरब के लोग बहुत पिछड़े हुए हैं, वे अभी स्वराज्य के योग्य नही हैं, उन्हें कुछ समय के लिए यूरोप के उन्नत राज्यों के संरक्षण में रहना चाहिए। मित्रराष्ट्र यह तो नहीं कह सकते थे, कि हम इन प्रदेशों को अपनी अधीनता में रखना चाहते हैं। किसी समय साम्राज्य विस्तार राज्यों के लिए गौरव की बात समझी जाती थी। राज्य व उनके शासक खुले तौर पर कहते थे, कि वे अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहे हैं। पर अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भाषा मे परिवर्तन आ गया था। अब यह कहा जाने लगा, कि अरब जातियों के कल्याण के लिए मित्रराष्ट्र यह बोझ अपने सिर पर लेने के लिए तैयार हैं, कि कुछ समय तक उनकी उन्नति में सहयोग दे, और उन्हें अपनी संरक्षा मे रखकर बाह्य और आभ्यन्तर भयों से उनकी रक्षा करे, ताकि वे निश्चिन्त होकर अपनी उन्नति करते रह सके। इसी बात को दृष्टि मे रखकर राष्ट्रसंघ ने यह व्यवस्था की, कि अरब और इसी प्रकार के जो अन्य प्रदेश टर्की व जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुए है, उन्हें ब्रिटेन और फ्रांस जैसे उन्नत देशों की संरक्षा में दे दिया जाय।

इस नीति के अनुसार निम्नलिखित प्रदेश (अरब मे) ब्रिटिश संरक्षा मे दिये गये।

(१) ईराक—इस प्रदेश में तेल के अनेक कुएँ है। ब्रिटेन के लिए इसका महत्त्व केवल इसके तैल कूपों के कारण ही नहीं था, अपितु भारत के विशाल साम्राज्य पर अपना आधिपत्य स्थिर रखने के लिए भी इसका बड़ा उपयोग था। महायुद्ध से पूर्व जर्मन सरकार की यही योजना थी, कि आस्ट्रिया और टर्की के साम्राज्यों को अपने प्रभाव मे लाकर बर्लिन से बगदाद तक सीधा सम्बन्ध कायम कर लिया जाय, ताकि बगदाद को आधार बनाकर मौका आने पर भारत पर सुगमतासे हमला किया जा सके। जर्मनी ने इसके लिए प्रयत्न भी किया। ब्रिटेन

ने यह भलीभाँति समझ लिया था, कि उसके विशाल पूर्वी साम्राज्य की सुरक्षा के लिए जिस प्रकार स्वेज कैनाल की उपयोगिता है, वैसे ही ईराक की भी है। इसीलिए उसने ईराक पर अधिकार करके सैनिक दृष्टि से एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रदेश को प्राप्त कर लिया।

(२) पैलेस्टाइन—यद्यपि इसके बहुसंख्यक निवासी अरब थे, पर यहाँ यहूदी लोग भी अल्प संख्या में बसते थे। पैलेस्टाइन यहूदियों की धर्म भूमि थी। शुरू में वे यहाँ पर बसते थे, और यहाँ से दुनिया के अन्य हिस्सों में फैले थे। राष्ट्रीयता की भावना के विकास के कारण जर्मनी, पोलेण्ड, हंगरी आदि यूरोपियन राज्यों में यहूदियों की स्थिति बहुत खतरे में पड़ गई थी। यहूदी लोग धन, शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा आगे बढ़े हुए थे। राष्ट्रीय भावना के कारण पोल, चेक, हंगेरियन आदि लोग अपने बीच में उनकी ऊँची स्थिति को ईर्षा और प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से देखते थे। उन्हें यह पसन्द नहीं था, कि यहूदी लोग उनके बीच में रहें। इस लिए अब यहूदी लोग इस बात की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे, कि उनका भी कोई अपना देश होना चाहिए। उनके नेता डा० वीजमान की यह राय थी, कि पैलेस्टाइन का प्रदेश यहूदियों का घर होने के लिए सब से उपयुक्त है। ब्रिटिश नीतिज्ञों की इस आन्दोलन से सहानुभूति थी। कारण यह कि वे समझते थे, कि पैलेस्टाइन में यहूदियों के बस जाने से अरब में एक ऐसा प्रदेश तैयार हो जायगा, जो सुगमता से ब्रिटेन के प्रभाव में रह सकेगा।

अब पैलेस्टाइन पर भी ब्रिटेन का संरक्षण कायम किया गया। इससे ब्रिटेन को यह लाभ हुआ, कि स्वेज कैनाल पर उसका प्रभुत्व अधिक दृढ़ हो गया। मिस्र में स्वाधीनता का आन्दोलन बड़ी तेजी से चल रहा था। अब ब्रिटेन यह भरोसा नहीं रख सकता था, कि मिस्र में उसकी सेनायें सुरक्षित रूप से रह सकेंगी। पर पैलेस्टाइन के अधीन हो

जाने से ब्रिटेन वहाँ अपनी सेनायें निश्चिन्त रूप से रख सकता था, और वहाँ से स्वेज कैनाल पर अपना कब्जा कायम रखना उसके लिए बहुत सुगम था। साथ ही, हवाई जहाजों का विकास इस समय पर्याप्त रूप से हो चुका था, और ब्रिटेन से भारत, सिंगापुर, आस्ट्रेलिया आदि का हवाई सम्बन्ध रखने के लिए जरूरी था कि अरब में कहीं बड़ा हवाई अड्डा बनाया जाय। पैलेस्टाइन इस बात के लिए सबसे उपयुक्त था। पैलेस्टाइन पर अधिकार ब्रिटेन के लिए सैनिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व का था। उसे प्राप्त कर ब्रिटेन अपने विशाल पूर्वी साम्राज्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में बहुत कुछ निश्चिन्त हो गया था।

ब्रिटेन के प्रोत्साहन से यहूदी लोग लाखों की संख्या में पैलेस्टाइन में बसने शुरू हुए। वहाँ उन्होंने अनेक व्यवसाय-केन्द्रों, बन्दरगाहों और नगरों का विकास किया। यहूदियों की पूँजी और वैज्ञानिक निपुणता से पैलेस्टाइन का पिछड़ा हुआ प्रदेश कुछ ही सालों में बड़ा उन्नत और समृद्ध हो गया। जहाँ यहूदियों द्वारा पैलेस्टाइन को यह लाभ पहुँचा, वहाँ साथ ही यह नुकसान भी हुआ, कि शीघ्र ही वहाँ जातिगत विरोध की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। अरब लोग यह पसन्द नहीं करते थे, कि उनके बीच में एक विदेशी और विधर्मी जाति आकर बस जाय। इसके कारण जो जातिगत युद्ध पैलेस्टाइन में शुरू हुए, उनका उल्लेख हम यथा स्थान करेंगे।

(३) ट्रांस जॉर्डन—सीरिया के कुछ प्रदेश को लेकर ट्रांस जोर्डन का राज्य कायम किया गया। इसे भी ब्रिटेन के संरक्षण में रखा गया।

सीरिया का शेष प्रदेश फ्रांस को दिया गया। हज्जाज में स्वतन्त्र अरब राज्य कायम हुआ। मक्का और मदीना इसी प्रदेश में स्थित हैं। ये मुसलमानों के पवित्र स्थान हैं, इन्हें अरबों के अपने शासन में रखना उचित समझा गया। हज्जाज का शासक शरीफ हुसैन को नियत किया गया। पर अरब लोग इससे संतुष्ट नहीं हुए। कारण वह

इब्न सऊद को वहाँ का शासक बनाना चाहते थे। अरब के र नेता उसके पक्ष में थे। पर ब्रिटेन की इच्छा यह थी, कि हज्जाज रकार उसके प्रभाव में रहे। इब्न सऊद के शासक होने पर इसकी ावना बहुत कम थी। नेज्द अरब के विशाल रेगिस्तान का नाम यह प्रदेश तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत अवश्य था, पर वहाँ अनेक सरदार प्रायः स्वतन्त्र रूप से ही शासन करते थे। इसमें अब भी तरह से विविध अरब शेख और इमाम अपने-अपने फिरके के र स्वतन्त्र रूप से शासन करते रहे।

(४) टांगनीका—यह अफ्रीका में है। महायुद्ध से पहले यह जर्मनी अधीन था, और इसीलिए इसे जर्मन ईस्ट अफ्रीका भी कहते थे। यह ब्रिटेन के संरक्षण में आ गया। टांगनीका के प्राप्त हो जाने से ो (मिस्र में) से केप (अफ्रीका का सबसे पश्चिमी सिरा) तक ब्रिटेन अबाधित शासन कायम हो गया। टांगनीका के दो छोटे प्रदेश ल्जियम और पोर्तुगाल को दिये गये। ये प्रदेश बेल्जियन कांगो और तुर्गाल के अफ्रीकन प्रदेश के साथ लगते थे। शेष भाग टांगनीका ब्रिटेन को मिला।

(५) पश्चिमी अफ्रीका में कामरून और टोगोलैण्ड के प्रदेश ब्रिटेन और फ्रांस में बाँट दिये गये। इनका भी अच्छा बड़ा हिस्सा ब्रिटेन को मिला।

(६) जर्मनी का दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका का उपनिवेश ब्रिटिश दक्षिणी अफ्रीका को मिला। प्रशान्त महासागर में जो अनेक द्वीप जर्मनी के अधीन थे, वे जापान, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में बाँट दिये गये। इनमें से बहुत से द्वीप आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड को मिले। इनकी प्राप्ति से ब्रिटिश साम्राज्य में बहुत कुछ वृद्धि हो गई, और अनेक स्थान, जो सैनिक महत्त्व के थे, ब्रिटेन को प्राप्त हो गये।

. महायुद्ध के कारण ब्रिटिश साम्राज्य की बहुत समृद्धि हुई। इसे न

केवल नये प्रदेश ही प्राप्त हुए, अपितु अनेक ऐसे स्थान भी मिले, जिनके कारण ब्रिटेन का विशाल साम्राज्य पहले की अपेक्षा बहुत अधिक सुरक्षित हो गया।

२. आयर्लैण्ड की स्वाधीनता

आयरिश देशभक्त अपने देश को ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्र कराने के लिए जो आन्दोलन कर रहे थे, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। सारी उन्नीसवीं सदी में आयरिश लोग स्वराज्य के लिये संघर्ष करते रहे। नसल, भाषा, धर्म और रीति-रिवाज की दृष्टि से आयरिश लोग अँग्रेजों से भिन्न हैं। महायुद्ध के प्रारम्भ होने से पहले होमरूल के लिये जो बिल ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में उपस्थित किये गये थे, उन पर अन्तिम निर्णय युद्ध के कारण स्थगित कर दिया गया था। इससे आयरिश लोगों में बहुत असन्तोष था। ब्रिटिश लोगों को यह तो फिकर थी, कि आस्ट्रियन साम्राज्य की अधीनता में जो चेक, पोल, स्लोवाक और हंगेरियन जातियाँ निवास करती हैं, उन सब को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाय, पर उनके अपने साम्राज्य में जो जातियाँ अधीनस्थ रूप में रहती थीं, उनकी स्वतन्त्रता की उन्हें कोई चिन्ता न थी। आयर्लैण्ड उनके बिलकुल पड़ोस में है। वहाँ के लोग जो स्वराज्य के लिये यत्न कर रहे थे, उसे ब्रिटिश सरकार उसी तरह कुचलने में तत्पर थी, जैसे कि आस्ट्रियन सरकार चेकों व स्लोवाकों को।

इसी कारण १६१७ में आयर्लैण्ड में एक उग्र क्रान्तिकारी दल का संगठन हुआ, जिसे सिनफीन कहते थे। इस समय इंगलैण्ड का प्रधान-मन्त्री लायड जार्ज था। वह लिबरल पार्टी का था, और आयरिश होमरूल का समर्थक था। महायुद्ध का संचालन अत्यन्त कुशलता से करने के कारण ब्रिटेन पर उसका प्रभाव बहुत अधिक था। अन्य पार्टियों के लोग भी उसकी योग्यता का सिक्का मानते थे, और उसके

विचारों को आदर की दृष्टि से देखते थे। अगर लायड जार्ज बुद्धिमत्ता से काम करता, तो आयर्लैण्ड की समस्या बिना किसी खून-खराबी के हल हो जाती। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट उसकी किसी भी योजना को बहुत बड़े बहुमत से स्वीकार कर लेती। पर महायुद्ध में विजय के कारण अब लायड जार्ज ने आयरिश समस्या को बहुत तुच्छ समझना शुरू कर दिया था। उसका खयाल था, कि सिनफीन आन्दोलन को आसानी से कुचल दिया जा सकेगा। उसकी मानसिक स्थिति अब ऐसी नहीं रही थी, कि आयरिश देशभक्तों के प्रयत्नों को वह सहानुभूति के साथ देख सके। परिणाम यह हुआ, कि उसने दमननीति का आश्रय लिया। पर सिनफीन इससे दबे नहीं। १६१६ में उन्होंने स्वतन्त्र आयरिश रिपब्लिक की घोषणा कर दी। एक समानान्तर सरकार कायम कर ली गई। इस स्वतन्त्र आयरिश सरकार का अपना मन्त्रिमण्डल था, अपनी पुलिस व सेना थी, अपने न्यायालय थे और अपने कानून थे। डी वेलेरा को स्वतन्त्र आयरिश रिपब्लिक का पहला राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। इस सरकार ने ब्रिटिश अफसरों के साथ बाकायदा लड़ाई छेड़ दी। गुरीला युद्ध के तरीकों का इस्तेमाल करके ब्रिटिश सेना को उन्होंने काफी परेशान किया। सिनफीन लोगों ने इतना उग्र रूप धारण किया, कि २१ नवम्बर १६२० को ब्रिटिश सैनिक अफसरों के मकानों पर उन्होंने हमला बोल दिया। १४ अफसर गोली से उड़ा दिये गये। ये अफसर डब्लिन के बाहर प्राइवेट होटलों में रहते थे। इनके परिवार भी साथ में थे। इन अफसरों की हत्या उनकी पत्नियों की आँखों के सामने की गई थी। ब्रिटिश सेना इस समाचार से काबू से बाहर हो गई थी। उसी दिन दोपहर बाद डब्लिन में फुटबाल का एक मैच हो रहा था। इसे देखने के लिए आयरिश लोग हजारों की संख्या में एकत्र थे। ब्रिटिश सैनिकों ने इन पर हमला बोल दिया। उन्होंने खुलकर गोली चलाई। सैकड़ों निहत्थे नागरिक बुरी तरह से घायल हुए, बहुत से जान से मारे गये।

आयरिश और ब्रिटिश लोगों में विद्वेष किस हद तक बढ गया था, इसका यह घटना अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार की अन्य भी अनेक घटनाएं वहाँ निरन्तर घट रही थीं। दोनो पक्ष आतंक के उपायों का प्रयोग कर रहे थे। डबलिन के बाजारो में मैशीनगनें चक्कर काटती रहती थी। जहाँ कही वे भीड देखतीं, उन पर अन्धाधुन्ध गोली चलातीं। आयरिश लोग भी चुप नहीं बैठे थे। उनके स्वयंसेवक सिपाही जब मौका देखते, ब्रिटिश शासकों व सैनिकों पर हमला कर देते। दोनों मे से कोई भी सुरक्षित नही था। १९२०-२१ मे यह आतंक और कत्ले आम निरन्तर जारी रहे। १९२१ के अन्त तक लायड जार्ज को यह बात भली भाँति समझ मे आ गई, कि आयर्लैण्ड को कुचलने का एक ही तरीका है, कि एक बडी शक्तिशाली सेना वहाँ भेज दी जाय, जो वहाँ फौजी शासन की स्थापना करे। पर इससे भी वहाँ स्थिररूप में शान्ति कायम हो सकेगी, यह बात संदिग्ध थी। यूरोप के अन्य राज्य इस सम्बन्ध में ब्रिटिश शासन की कटु आलोचना मे लगे थे। वे कहते थे, जो ब्रिटेन संसार की अन्य पराधीन जातियों की स्वाधीनता के लिए संघर्ष करता है, वही स्वयं आयरिश लोगों पर घोर से घोर अत्याचार करने में संकोच नही करता। अमेरिका का लोकमत इस सम्बन्ध मे ब्रिटिश नीति के बहुत खिलाफ था, बहुत से आयरिश देशभक्त अमेरिका जाकर वहाँ ब्रिटिश अत्याचारो के सम्बन्ध में कटु प्रचार में लगे थे।

आखिर लायड जार्ज ने ठीक रास्ते को ग्रहण किया। सिनफीन दल के नेताओं को लन्दन निमन्त्रित किया गया, ताकि उनसे बात चीत करके किसी समझौते पर पहुँचा जा सके। आयरिश देशभक्तों का जो डेपुटेशन इस कार्य के लिए लन्दन गया, उसके नेता आर्थर ग्रीफिथ और माइकेल कालिन्स थे। सिनफीन नेता गुरीला युद्ध मे बडे प्रवीण थे, देश के लिए वे बडी से बडी कुर्बानी कर सकते थे, पर राजनैतिक वार्ता मे वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के सम्मुख बिलकुल बच्चे थे। लायड जार्ज जैसे कुशल नीतिज्ञ

पड़ोस में अपना हवाई अड्डा बनाने व सैनिक कवायद आदि करने की भी सुविधा दी गई।

४. भारत में स्वराज्य-आन्दोलन

आयर्लैंण्ड और मिस्र के समान भारत में भी महायुद्ध के समय जनता में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई। भारत में स्वतन्त्रता की अभिलाषा पहले भी विद्यमान थी। अनेक क्रान्तिकारी नेता ब्रिटिश शासन के विरुद्ध क्रान्ति की तैयारी में लगे थे। उनके अनेक गुप्त संगठन थे, और समय समय पर ब्रिटिश अफसरों पर आक्रमण कर वे अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का परिचय देते रहते थे। भारत की शिक्षित जनता में जागृति और स्वतन्त्रता की उत्कण्ठा को उत्पन्न करने के लिए नेशनल कांग्रेस भी अपना कार्य कर रही थी। युद्ध के समय इस कार्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला। महायुद्ध में भारत ने पूरी तरह ब्रिटेन के साथ सहयोग किया। लाखों नवयुवक सेना में भरती हुए और करोड़ों रुपया युद्ध की सहायता के लिए चन्दा दिया गया। ऋण की मात्रा तो अरबों में थी। मित्रराष्ट्रों के इस प्रचार ने कि वे संसार में लोकतन्त्र राज्य की स्थापना और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर राज्यों का पुनः निर्माण के लिए संघर्ष कर रहे हैं, भारत में आशा का संचार हुआ, और यहाँ के नेताओं ने तन, मन, धन से ब्रिटेन की सहायता की। पर युद्ध की समाप्ति पर उन्हें घोर निराशा का सामना करना पड़ा। शासन-सुधार के लिए जो योजना भारत-मंत्री श्री मान्टेग्यु और लार्ड चेम्सफोर्ड ने तैयार की, वह बहुत ही निराशाजनक थी। भारत में विद्रोह की प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए सरकार ने रौलट एक्ट (१६१६ में) का निर्माण किया। इसके विरुद्ध सब जगह प्रदर्शन किये गये। पर सरकार ने उन्हें बड़ी कठोरता के साथ दबा दिया। जगह जगह गोलियाँ चलाई गईं। अमृतसर में हजारों की संख्या में नागरिक लोग अपनी एक सभा कर रहे थे, उन पर मशीनगन से

गोलियाँ चलाई गईं। हजारों निहत्थे लोग बुरी तरह घायल हुए। जो लोग गोलियों के शिकार होकर मर गये, उनकी संख्या भी एक हजार से अधिक थी। इतने भयंकर हत्याकाण्ड से सारे भारत में सनसनी फैल गई, और लोग ब्रिटिश सरकार का मुकाबला करने के लिए उठ खड़े हुए। इस समय नेशनल कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी ने अपने हाथों में लिया, और स्वराज्य-प्राप्ति के लिए उन्होंने असहयोग-आन्दोलन का प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन में तीन बातें मुख्य थीं—(१) सरकारी स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार और उनकी जगह पर राष्ट्रीय शिक्षणालयों की स्थापना (२) अदालतों का बहिष्कार और (३) विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करके हाथ के कते और हाथ के बुने कपड़ों का पहनना, ताकि देश का धन विदेश में न जाने पावे, और देश आर्थिक दृष्टि से किसी विदेश पर आश्रित न रहे। सरकारी कर्मचारियों से यह भी अनुरोध किया गया, कि वे ब्रिटिश शासन से असहयोग करके अपनी नौकरियों का परित्याग कर दें, ताकि ब्रिटिश लोगों के लिए इस देश में शासन कर सकना असम्भव हो जाय। महात्मा गांधी के इस आन्दोलन से सारे भारत में जागृति उत्पन्न हो गई। हजारों देशभक्तों को गिरफ़्तार करके जेलों में डाल दिया गया। अनेक सरकारी कालिज बन्द हो गये। जनता में बहुत जोश फैल गया, और सब जगह खादी और स्वदेशी की धूम मच गई। गांधी जी को गिरफ़्तार करके उन पर मुकदमा चलाया गया, और उन्हें छः साल कैद की सजा दी गई। सरकार की दमन-नीति के कारण कुछ समय बाद असहयोग आन्दोलन शिथिल पड़ गया, पर देश में अशान्ति जारी रही। विवश होकर ब्रिटिश सरकारने १९२७ में सर जान साइमन के नेतृत्व में एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसे भारत में शासन-सुधार सम्बन्धी परामर्श देने का काम सुपुर्द किया गया। इस कमीशन के सब सदस्य अँगरेज थे। उससे यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि वह भारत की आकांक्षाओं को भली-भाँति समझ कर

कोई उचित रिपोर्ट दे सकेगा। नेशनल कांग्रेस ने उसके बहिष्कार का निश्चय किया, और किसी महत्त्वपूर्ण नेता ने उसके सम्मुख गवाही नहीं दी। साइमन कमीशन जहाँ कहीं भी गया, काले झंडों और 'साइमन वापस चले जाओ' के नारों से उसका स्वागत किया गया। साइमन कमीशन की रिपोर्ट १९३१ में प्रकाशित हुई। पर उससे भारत में किसी को भी सन्तोष नहीं हुआ। दिसम्बर, १९२९ में पंडित जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में नेशनल कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ। उसमें कांग्रेस ने सर्व-सम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकार किया, कि भारत में पूर्ण स्वराज्य स्थापित करना ही कांग्रेस का उद्देश्य है। मार्च १९३० में महात्मा गांधी ने भारत के ब्रिटिश वाइसराय के पास एक पत्र भेजा, जिसमें ग्यारह माँगें पेश की गईं। इनमें से मुख्य ये थीं, कि (१) नमक पर से कर उठा दिया जाय, (२) सेना के खर्च को घटा कर आधा कर दिया जाय, (३) सब राजनैतिक कैदियों को छोड़ दिया जाय, और (४) विदेशी माल के भारत में प्रवेश होने में रुकावटें पैदा की जायँ। महात्मा गांधी ने अपने पत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया था, कि इन माँगों के स्वीकार न होने पर सत्याग्रह का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जायगा।

वाइसराय ने महात्मा गांधी की माँगों को स्वीकार नहीं किया। इस पर उन्होंने स्वयं अपने ८१ विश्वासपात्र साथियों के साथ सत्याग्रह का श्री गणेश किया। वे नमक कानून को तोड़ने के उद्देश्य से पैदल चलकर समुद्र-तट पर गये, और अपने साथियों के साथ वहाँ गिरफ्तार कर लिये गये। महात्मा गांधी के अनुकरण में देश भर में जगह जगह पर नमक कानून तोड़ा गया, और हजारों स्त्री-पुरुषों को गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। कांग्रेस ने यह भी आन्दोलन किया, कि विदेशी कपड़े की दूकानों और शराब की भट्टियों पर धरना दिया जाय, और किसान लोग सरकार को मालगुजारी अदा न करें। शीघ्र ही सत्याग्रह-आन्दोलन सारे देश में फैल गया, और जेल जाने वाले वीर देशभक्तों

की संख्या एक लाख के लगभग पहुँच गई। सरकार ने देशभक्त सत्याग्रहियों पर कठोर अत्याचार किये। कई जगह जनता और पुलिस में मुठभेड़ भी हो गई। पर महात्मा गांधी के आन्दोलन का मुख्य तत्व अहिंसा और शान्तिमय उपायों से सरकार का विरोध करना था। वे इस बात को भली भाँति समझते थे, कि स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सर्वसाधारण जनता में जागृति और अन्याय का प्रतिरोध करने की सामर्थ्य उत्पन्न कर देना ही सबसे अधिक उपयोगी है। उनके प्रयत्न से भारत की जनता ब्रिटिश सरकार के खिलाफ उठ खड़ी हुई, और अन्त में अँगरेजों को कांग्रेस से समझौता करने के लिए विवश होना पड़ा। उन्होंने लन्डन में एक गोल मेज परिषद् का आयोजन किया, जिसमें कांग्रेस को भी अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए निमन्त्रित किया गया। कांग्रेस की ओर से अकेले महात्मा गांधी इस कान्फरेन्स में शामिल हुए। गोल मेज परिषद् के परिणामस्वरूप भारत के लिए १९३५ में एक नया शासन-विधान स्वीकृत किया गया, जिससे आंशिक रूप में स्वायत्त शासन की स्थापना की गई। वाइसराय के इस आश्वासन पर कि गवर्नर जनरल या प्रान्तीय गवर्नर जनता द्वारा निर्वाचित मन्त्रियों के काम में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, १९३७ में कांग्रेस ने नये शासन-विधान के साथ सहयोग करना स्वीकार कर लिया। १९३७ के चुनाव में कांग्रेस की सर्वत्र विजय हुई, और प्रायः सब जगह कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल कायम हुए।

महात्मा गांधी और उनके साथी नेताओं के प्रयत्नों से भारत में एक ऐसी जागृति उत्पन्न हो गई, कि ब्रिटिश शासन का वहाँ स्थिर रह सकना सम्भव नहीं रहा। ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली देश का शिकंजा जो भारत में ढीला पड़ गया, उसका प्रधान कारण जन-शक्ति का विकास था। महात्मा गांधी का प्रयत्न यही था, कि भारत की यह जनशक्ति ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़ी हो।

५. ब्रिटेन का शासन

महायुद्ध के समाप्त होने के समय ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री श्री लायड जार्ज थे। उनके मन्त्रिमण्डल में सब प्रमुख राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, क्योंकि युद्ध के अवसर पर सब दलों के लिए मिलकर काम करना आवश्यक था। युद्ध की समाप्ति पर लायड जार्ज की सरकार को अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा। ब्रिटेन के तैयार माल का मुख्य खरीदार भारत था। पर युद्ध के समय में भारत के अपने व्यवसाय भली भाँति उन्नत होने लग गये थे। बहुत सी कपड़े की मिलें वहाँ खुल गई थी। जिस समय जर्मनी ब्रिटेन के जहाजों को डुबाने में लगा था, और ब्रिटिश तैयार माल का भारत व अन्य पूर्वी देशों में आ सकना कठिन हो गया था, और ब्रिटेन के सब कारखाने युद्ध के लिए विविध प्रकार की सामग्री को तैयार करने में व्यस्त थे, जापान ने भारत व एशिया के अन्य बाजारों को अपने सस्ते माल से भर देने का अच्छा मौका पा लिया था। युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटेन ने अनुभव किया कि एशिया के बाजारों में वह जापान का मुकाबला नहीं कर सकता। वह बाजार उससे बहुत कुछ छिन गया है। ब्रिटेन का कोयला मुख्यतया इटली, हालैण्ड और स्कैण्डेनेविया को जाता था। पर अब ये देश अपनी जरूरत का कोयला फ्रांस से सस्ते दामों पर खरीद रहे थे। जर्मनी को हरजाने के रूप में बीस लाख टन कोयला हर साल फ्रांस को देना होता था। इस कोयले को वह सस्ते दामों पर और देशों को बेच देता था। इसलिए ब्रिटेन के कोयले की माँग भी बहुत कम हो गई थी। हरजाने के रूप में बहुत से जहाज ब्रिटेन ने जर्मनी से प्राप्त किये थे। इससे ब्रिटेन को जहाँ लाभ हुआ, वहाँ यह नुकसान भी हुआ, कि उसे नये जहाज बना-कर तैयार करने की जरूरत नहीं रही। जहाज बनाने के कारोबार में जो लाखों आदमी रोजगार पा रहे थे, वे बेकार हो गये। अन्दाज किया गया है, कि जहाज तैयार करने के रोजगार में जितने

आदमी लड़ाई के जमाने में काम कर रहे थे, उनका दो-तिहाई हिस्सा लड़ाई के खतम होने पर बेकार हो गया। ब्रिटेन का करोड़ों रुपया रशिया में लगा हुआ था। बोल्शेविक सरकार ने उसे अदा करने से इनकार कर दिया। ब्रिटेन की करोड़ों रुपये की पूँजी बात की बात में नष्ट हो गई। लड़ाई के समय में यूरोप के बहुत से राज्यों ने ब्रिटेन से रुपया कर्ज लिया था। इस कर्ज को वसूल करना कठिन था। पर ब्रिटेन ने अमेरिका से जो कर्ज लिया था, उसे अदा करने से वह इनकार नहीं कर सकता था। इस कर्ज की मात्रा १५०० करोड़ रुपया थी। यह स्थिति ब्रिटेन के लिए बहुत ही भयंकर थी। लड़ाई से पहले लन्डन संसार का सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। रुपये का भी वही सबसे बड़ा बाजार था। पर अब लण्डन का स्थान न्यूयार्क ले रहा था। ब्रिटेन में रुपये की कमी हो गई थी, क्योंकि उसके लिए अपने कर्जों को वसूल करना कठिन हो गया था।

१९२१ में बीस लाख से भी अधिक मजदूर इँगलैण्ड में बेकार थे। कारखानों के मालिक कहते थे, मजदूरी की दर में कमी किये बिना वे अपने खर्च पूरे नहीं कर सकते। मजदूर कहते थे, वे किसी भी प्रकार मजदूरी की दर में कमी करना स्वीकार नहीं करेंगे। लायड जार्ज की सरकार के सामने बड़ा जटिल प्रश्न यह था, कि वह लाखों बेकारों के बारे में किस नीति का अनुसरण करे, और पूँजीपतियों व मजदूरों के झगड़ों को कैसे निबटावे। बेकार मजदूरों की समस्या का हल करने के लिए व्यवस्था यह की गई, कि जब तक वे बेकार रहें, उन्हें सरकार की ओर से निर्वाह खर्च (डोल) दिये जावें। पर बीस लाख मजदूरों का गुजारा चलाने के लिए करोड़ो रुपयों की आवश्यकता थी। यह रुपया कहाँ से आये? इसके लिए सरकार ने यह उपाय किया, कि इनकम टैक्स (आय-कर) की दर बढ़ा दी गई, अनेक नये कर लगाये, और मुक्त द्वार वाणिज्य (फ्री ट्रेड) की नीति का परित्याग कर संरक्षण (प्रोटेक्शन)

नीति का प्रारम्भ किया। संरक्षण नीति का अवलम्बन इसलिए भी आवश्यक था, क्योंकि इस समय अन्य देशों (विशेषतया जापान) का तैयार माल बड़ी तादाद में ब्रिटेन के बाजारों में आने लगा था। ब्रिटेन के कारखाने इतना सस्ता माल नहीं बना सकते थे, क्योंकि वहाँ मजदूरी की दर बहुत ऊँची थी। ब्रिटेन इस समय व्यावसायिक क्षेत्र में अपने नेतृत्व को खो चुका था, अपने व्यवसायों की रक्षा के लिए उसे संरक्षण नीति का अवलम्बन करना पड़ा था।

सरकार की नई नीति से सब लोग संतुष्ट नहीं थे। परिणाम यह हुआ, कि लायड जार्ज ने इस्तीफा दे दिया, और कन्जर्वेटिव दल के नेता श्री बोनर लॉ ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। नये चुनाव में कन्जर्वेटिव पार्टी की विजय हुई। पार्लियामेंट में उनका बहुमत था। कुछ दिनों बाद बीमारी के कारण बोनर लॉ ने त्याग पत्र दे दिया, और श्री बाल्डविन प्रधान मन्त्री के पद पर अधिष्ठित हुए। बाल्डविन संरक्षण नीति का समर्थक था। उसका यह विचार था, कि ब्रिटेन की आर्थिक समस्या को हल करने का एकमात्र उपाय संरक्षण नीति ही है। पर लिबरल और मजदूर दलों के लोग इस बात से सहमत नहीं थे। कन्जर्वेटिव पार्टी के अनेक सदस्य भी संरक्षण नीति की सफलता में सन्देह रखते थे। यह मतभेद इतना अधिक बढ़ा, कि बाल्डविन ने पार्लियामेंट को भंग कर दिया। नया चुनाव मुक्तद्वार वाणिज्य और संरक्षण नीति के सवाल को सामने रखकर लड़ा गया। इसमें कन्जर्वेटिव पार्टी की पराजय हुई। १९२३ के इस नये निर्वाचन में पार्टियों की स्थिति इस प्रकार थी— कन्जर्वेटिव २३८, मजदूर दल १९१ और लिबरल दल १५९। यद्यपि सबसे अधिक संख्या अब भी कन्जर्वेटिव पार्टी की थी, पर मजदूर और लिबरल दल मिलकर उनसे अधिक संख्या में हो जाते थे। परिणाम यह हुआ, कि बाल्डविन ने त्यागपत्र दे दिया। मजदूर दल के नेता श्री रामजे मेकडानल्ड ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया, और मजदूर दल

का पहला मन्त्रिमण्डल ब्रिटेन में कायम हुआ। पर यह ध्यान रखना चाहिए, कि श्री रामजे मेकडानल्ड अपने पद पर तभी तक रह सकते थे, जब तक कि लिबरल दल का सहयोग और समर्थन उन्हें प्राप्त रहे।

१६२३ के चुनाव में मजदूर दल ने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की थी। साम्यवाद की जो लहर इस समय सारे यूरोप में व्याप्त हो रही थी, यह उसी का परिणाम था। पर रामजे मेकडानल्ड का यह पहला मन्त्रि-मण्डल देर तक कायम नहीं रह सका। चुनाव के समय पर मजदूर दल ने मतदाताओं के सम्मुख अनेक नई बातें रखी थीं। पूँजीपतियों से एक विशेष पूँजी-कर वसूल करके सरकार अपनी आर्थिक समस्या को हल कर सकेगी, मेकडानल्ड ने यह आशा दिलाई थी। पर मजदूर दल केवल वही योजना क्रिया में परिणत कर सकता था, जिससे लिबरल पार्टी सहमत हो। इस बात से मजदूर दल में बड़ी बेचैनी थी। रामजे मेक-डानल्ड का यह विचार था, कि रशिया की बोल्शेविक सरकार के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिए, ताकि यूरोप में शान्ति का मार्ग तैयार हो सके। पर लिबरल लोग रशिया के बहिष्कार को जारी रखना चाहते थे। इस दशा में मजदूर मन्त्रिमण्डल के लिए कायम रख सकना असम्भव था। अक्टूबर, १६२४ में फिर नया निर्वाचन हुआ। इस बार कन्जर्वेटिव लोग सफल हुए। उनके उम्मीदवार बड़ी संख्या में निर्वा-चित हुए। उनकी सफलता का प्रधान कारण रशिया की बोल्शेविक सरकार के सम्बन्ध में मजदूर दल की नीति ही थी।

१६२४ से १६२६ तक पाँच साल बाल्डविन का कन्जर्वेटिव मन्त्रि-मण्डल अपने पद पर कायम रहा। इस काल में उसने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। संरक्षण नीति में इस तरह के परिवर्तन किये गये, जिनसे ब्रिटेन को आयात-कर से आमदनी तो मिलती रहे, पर उसके व्यवसायों को कच्चा माल प्राप्त करने में कोई कठिनाई न हो, और तैयार माल की

कीमतें भी ब्रिटेन के बाजार में ज्यादा न बढ़ें। कन्जर्वेटिव पार्टी के शासन काल में मजदूरों की समस्या बहुत विकट होती गई। मई, १९२६ में उन्होंने आम हड़ताल कर दी। इस पर सरकार ने एक नया कानून बनाया, जिसके अनुसार आम हड़तालों को गैरकानूनी करार कर दिया गया, और ट्रेड यूनियनों के आन्दोलन में अनेक प्रकार की रुकावटें डाली गईं। इससे मजदूर श्रेणी में असन्तोष बहुत बढ़ गया।

इसी कारण १९२९ में जब पार्लियामेंट का नया चुनाव हुआ, तो कन्जर्वेटिव पार्टी की हार हो गई। सबसे अधिक सदस्य मजदूर दल के चुने गये। बाल्डविन की सरकार ने इस्तीफा दे दिया और श्री मेकडानल्ड ने एक बार फिर मजदूर दल के मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। इस बार मेकडानल्ड ने विदेशी राजनीति में विशेष दिलचस्पी ली। उसी के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि रशिया की बोल्शेविक सरकार यूरोप की राजनीति में समुचित स्थान प्राप्त करने में समर्थ हुई। मेकडानल्ड देश की आन्तरिक दशा में भी अनेक नये सुधार करना चाहता था, पर यह समय संसार के इतिहास में बड़े विकट आर्थिक संकट का था। १९३०-३१ में पदार्थों की कीमतें बहुत नीची हो गई थीं। खेती व कल-कारखानों के मुनाफे बहुत कम रह गये थे। टैक्स कम वसूल होता था। सरकार के लिए बजट को पूरा करना भी कठिन था। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि बेकार मजदूरों को भरपूर मात्रा में निर्वाह-खर्च दिया जा सके, या मजदूरों की भलाई के लिए अन्य उपयोगी काम हाथ में लिये जा सकें। इससे मजदूर दल में बहुत बेचैनी होने लगी। वे अनुभव करते थे, कि उनके नेता ठीक रास्ते पर नहीं हैं। उनमें फूट पड़ गई, और मजदूर दल के बहुसंख्यक सदस्यों ने अपने नेता का साथ देना बन्द कर दिया।

पर मेकडानल्ड का कहना था, कि आर्थिक संकट के कारण यह समय राष्ट्रीय विपत्ति का है। पार्टीबाजी के विचारों को छोड़कर इस

समय सब दलों को राष्ट्रीय हित की दृष्टि में रखकर काम करना चाहिए। उसने कन्जर्वेटिव और लिबरल दलों के नेताओं को एक मिली-जुली राष्ट्रीय सरकार बनाने का निमन्त्रण दिया। अगस्त, १९३१ में यह राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल बन गया, इसमें प्रधान मन्त्री के पद पर श्री मेकडानल्ड रहे। पर मन्त्रियों की बहुसंख्या कन्जर्वेटिव लोगों की रही, जिनमें बाल्डविन और नेविल चेम्बरलेन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अगले चुनाव में सम्मिलित राष्ट्रीय दल ने असाधारण विजय प्राप्त की। उसके अनुयायी उम्मीदवारों ने ८८ फी सदी से भी अधिक स्थान प्राप्त कर लिये। १९३१ से १९३९ तक यह राष्ट्रीय दल ही ब्रिटेन के शासन-सूत्र को सँभाले रहा। १९३५ तक मेकडानल्ड प्रधान मन्त्री के पद पर रहे। फिर १९३७ तक बाल्डविन और १९३९ तक चेम्बरलेन इस पद पर अधिष्ठित रहे। इस राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल की प्रधान शक्ति आर्थिक संकट का मुकाबला करने में लगी रही। इसमें सन्देह नहीं, कि जनता के सहयोग से ब्रिटेन की यह सरकार अपने देश की आर्थिक स्थिति को सँभालने में बहुत कुछ सफल हुई।

१९३६ में राजा जार्ज ५वें की मृत्यु हो गई, और उसका लड़का एडवर्ड आठवाँ ब्रिटेन की राजगद्दी पर बैठा। मध्य श्रेणी की एक सुशिक्षित महिला के प्रेम में पड़कर उसने उससे विवाह करना चाहा। पर ब्रिटेन का लोकमत यह नहीं सह सका, कि उनकी रानी के पद पर एक ऐसी स्त्री अधिष्ठित हो, जो राजघराने की न हो। एडवर्ड आठवें ने अपनी प्रेयसी का परित्याग करने के बजाय राजगद्दी का परित्याग करना पसन्द किया, और उसका छोटा भाई जार्ज छठे के नाम से राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

इस समय ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत विविध उपनिवेशों, अधीनस्थ राज्यों और छोटे द्वीपों व अन्य प्रदेशों में परस्पर सहयोग स्थापित करने का भी प्रयत्न किया गया। साम्राज्य के विविध अंगों के प्रतिनिधि

अनेक बार साम्राज्य की नीति का निर्णय करने के लिए एकत्र हुए और यह अनुभव किया गया, कि विशाल ब्रिटिश साम्राज्य को एक ऐसी बिरादरी के रूप में परिवर्तित कर देना चाहिए, जिसमें कि सब अंग अपने को एक समान व एक स्थिति के समझ सकें। इस प्रकार की बिरादरी के लिए 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' नाम दिया गया।

उनचासवाँ अध्याय

फ्रांस का उत्कर्ष

महायुद्ध में जर्मनी के परास्त हो जाने के बाद यूरोप में फ्रांस सबसे शक्तिशाली देश हो गया था। आस्ट्रिया-हंगरी और रशिया के साम्राज्यों के भग्नावशेषों पर जिन नये राज्यों का निर्माण हुआ था, वे सब फ्रांस को अपना परम सहायक व मित्र मानते थे। फ्रांस उनका नेतृत्व करता था, कर्ज आदि द्वारा आर्थिक सहायता देकर उनके आर्थिक पुनःनिर्माण में सहायता करता था, और अपने सैनिक अफसरों को भेज कर उनकी नई राष्ट्रीय सेनाओं का संगठन करता था। ये सब नये राज्य अपनी रक्षा के लिए फ्रांस पर भरोसा रखते थे। पोलैण्ड, चेको-स्लोवाकिया, युगोस्लाविया और हंगरी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूरी तरह से फ्रांस के अनुयायी थे।

पर फ्रांस की प्रधान समस्या आन्तरिक थी। युद्ध के समय में उसे भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। उसके जिन उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर जर्मनी ने कब्जा कर लिया था, उनकी जन-संख्या ४८ लाख के लगभग थी। लड़ाई के बाद यह जन-संख्या घट कर केवल बीस लाख रह गई थी। इस प्रदेश में जितनी इमारतें, कारखाने व अन्य मकान थे, उनमें से एक-तिहाई बिलकुल नष्ट हो गये थे। इस इलाके की कोयले व लोहे की सब खानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। खेती की जमीनें पड़ती पड़ गई थीं, उन पर जंगली घास फूस उग आये थे। खेती में काम आने वाले पशुओं का नाम व निशान भी नहीं बचा था। जिस आदमी ने इस प्रदेश को १९१४ के शुरू में देखा होगा, वह अब १९१८ में

उसकी दशा को देखकर यह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था, कि यह वही इलाका है, जो केवल चार साल पहले कितना हरा भरा, समृद्ध व वैभवपूर्ण था। युद्ध के समय में जर्मन सेनाओं ने उसे बुरी तरह उजाड़ दिया था। अब फ्रेंच सरकार के सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न यही था, कि इस प्रदेश को किस प्रकार फिर से बसाया जाय, और इसकी उजड़ी हुई दशा को फिर से ठीक किया जाय। फ्रेंच लोग जो जर्मनी से हरजाना वसूल करने के लिए इतने अधिक बेचैन थे, उसका कारण यही था कि महायुद्ध में उन्होंने भारी नुकसान उठाया था। फ्रेंच सरकार को इस प्रदेश का पुनरुद्धार करने के लिए बहुत अधिक रुपया लगाना पड़ा।

फ्रांस की पार्लियामेण्ट में इँगलैण्ड के समान दो या तीन राजनीतिक दल नहीं होते। वहाँ बहुत से छोटे-छोटे दल होते हैं, जो परस्पर मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाते रहते हैं। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर उनमें मतभेद हो जाता है, कुछ दल मन्त्रिमण्डल की नीति से असहमत होने के कारण उसका साथ छोड़ देते हैं। वह मन्त्रिमण्डल गिर जाता है, और राजनीतिक दलों में नई गुटबन्दी होकर नया मन्त्रिमण्डल कायम हो जाता है। फ्रेंच लोग इसको बुरा नहीं मानते। इसके विपरीत वे इसे ब्रिटिश पद्धति के मुकाबले में अच्छा समझते हैं। १९१६ से १९२० तक महायुद्ध के समय में फ्रांस के प्रधान मन्त्री के पद पर श्री क्लीमांशो विराजमान रहे। क्लीमांशो बहुत ही जबर्दस्त और शक्तिशाली राजनीतिज्ञ था। उसने युद्ध का बड़ी योग्यता से संचालन किया। पेरिस की सन्धि-परिषद् का वही अध्यक्ष था, और वर्साय की सन्धि उसी की कृति थी। पर १९२० में वह अपने पद से पृथक् हो गया, और श्री मिय्यरां प्रधान मन्त्री पद पर अधिष्ठित हुए। इनके समय में फ्रांस की आन्तरिक समृद्धि पर बहुत ध्यान दिया गया। अनेक नये कारखाने कायम किये गये, जिनमें नई से नई मशीनें लगाई गई। बिजली की शक्ति को उत्पन्न करने और उसका सर्वत्र प्रसार करने का विशेष रूप से उद्योग किया गया। कपड़ा, लोहा और अन्य धातुओं

के कारोबार में फ्रांस ने विशेष उन्नति की, और कुछ ही समय में इस क्षेत्र में वह ब्रिटेन का मुकाबला करने लगा। जिस प्रकार महायुद्ध के बाद ब्रिटेन में एकदम बेकारी बढ़ी और लाखों मजदूर बेकार हुए, वैसा फ्रांस में नहीं हुआ। कारण यह, कि यहाँ कल-कारखानों का नये सिरे से विकास किया गया, और युद्ध के कारण जो प्रदेश सर्वथा उजड़ गये थे, उन्हें फिर से बसाने में मजदूरों और सब प्रकार के सामान की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ी। यही कारण है, कि फ्रांस में बेकारी की समस्या ने अधिक उग्र रूप धारण नहीं किया। १६२२ में श्री मिय्यरां राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये, और प्रधान मन्त्री का पद श्री पायन्कारे ने ग्रहण किया। पायन्कारे जर्मनी से हरजाना वसूल करने के सम्बन्ध में कठोर नीति का अनुसरण करने का पक्षपाती था। उसी के निर्णयानुसार १६२३ में फ्रेंच सेनाओं ने रूर के प्रदेश पर कब्जा कर लिया। ब्रिटेन इससे बहुत असंतुष्ट हुआ, पर पायन्कारे ने इसकी कोई परवाह नहीं की। पायन्कारे की यह भी कोशिश थी, कि र्हाइनलैण्ड को जर्मनी से पृथक् करके एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय। जर्मनी और फ्रांस एक दूसरे से शत्रुता रखते थे। पायन्कारे चाहता था, कि उनके बीच में एक कमजोर राज्य की स्थापना हो जाय, ताकि युद्ध के अवसर पर फ्रांस उसे ढाल के रूप में बरत सके। पर इस प्रयत्न में फ्रांस को सफलता नहीं हुई। र्हाइनलैण्ड के निवासियों ने इस विचार को जरा भी पसन्द नहीं किया।

१६२४ के चुनाव में साम्यवादी दलों के उम्मीदवार बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। इस समय सारे यूरोप में साम्यवाद की लहर जोर पकड़ रही थी। फ्रांस पर भी उसका प्रभाव पड़ा। विभिन्न साम्यवादी दलों ने मिलकर वाम पक्ष के एक नये गुट का निर्माण किया। पायन्कारे को त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ा, और रेडिकल पार्टी के नेता श्री हेरियो ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। इस समय ब्रिटेन में भी

मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल कायम हो गया था। हेरियो का मत था, कि विदेशी राजनीति में फ्रांस को ब्रिटेन के साथ सहयोग से काम करना चाहिए। यह तभी सम्भव था, जब कि जर्मनी के साथ कठोर बरताव का परित्याग किया जाय। पायन्कारे के समय में रूर के प्रदेश पर फ्रेंच सेनाओं के कब्जा कर लेने के कारण जर्मनी में बेचैनी बहुत बढ़ गई थी। वहाँ की सरकार ने हरजाने की रकम को अदा करना बिलकुल स्थगित कर दिया था। हेरियो की सरकार ने अनुभव किया, कि जर्मनी के साथ नरम नीति का अनुसरण करना ही अधिक उपयोगी है। इसी का परिणाम यह हुआ, कि पहले रूर के प्रदेश से फ्रेंच सेनाएँ वापस बुला ली गईं, और बाद में अन्य जर्मन प्रदेशों से भी धीरे-धीरे सेनाएँ हटाई जानी शुरू की गईं। लोकार्नो की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ नया समझौता किया गया, और जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। इन सब बातों से यूरोप में शान्ति का वातावरण तैयार होने में बहुत सहायता मिली। इसी के कारण आगे चलकर १९२७ में बाधित सैनिक सेवा का काल एक साल घटा दिया गया। हेरियो की साम्यवादी सरकार यूरोप में स्थिर शान्ति की स्थापना के लिए गम्भीरता से प्रयत्न कर रही थी।

विदेशी राजनीति के क्षेत्र में वामपक्षी गुट की सरकार को बहुत सफलता हुई, पर ब्रिटेन के समान फ्रांस में भी इस समय आर्थिक संकट के चिन्ह प्रकट होने लगे थे। महायुद्ध में फ्रांस को बहुत खर्च करना पड़ा था। उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में खेती, कल-कारखाने, इमारत आदि के पुनः निर्माण में सरकार का करोड़ों रुपया खर्च हो रहा था। फ्रेंच सरकार अपनी आमदनी के लिए जर्मनी से वसूल होनेवाली हरजाने की रकम पर बहुत कुछ निर्भर रहती थी। पर लोकार्नो के समझौते द्वारा इस रकम की मात्रा बहुत कुछ कम हो गई थी। सरकार को अपना खर्च पूरा करना कठिन हो रहा था। इस समय में बजट को पूरा करने के दो ही तरीके थे, खर्च

को कम करना और टैक्सों को बढ़ाना । पर ये दोनों बातें सुगम नहीं थीं। परिणाम यह हुआ, कि सरकार ने अधिक मात्रा में पत्र मुद्रा जारी करनी शुरू की । फ्रांक की कीमत निरन्तर गिरने लगी । फ्रांस के धनिकों को अपने देश के सिक्के में विश्वास नहीं रहा । वे अपने रुपये को दूसरे देशों में भेजने लगे । विदेशी सिक्कों की मांग बहुत बढ़ गई, और फ्रांक की कीमत लगातार गिरती गई । फ्रांक की कीमत गिरने से चीजों की कीमतें बढ़ने लगी । आम जनता में इससे बहुत असन्तोष हुआ । स्थिति को काबू न कर सकने के कारण हेरियो ने त्यागपत्र दे दिया । वाम पक्ष के विभिन्न साम्यवादी दलों ने नये नये ग्रूप बना कर एक के बाद एक कई मन्त्रिमण्डल बनाये, पर किसी को भी आर्थिक संकट का सामना करने में सफलता नहीं हुई । आखिर, हेरियो और उसके रेडिकल साथियों ने साम्यवादियों का साथ छोड़ दिया, और श्री पायन्कारे के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल बना । दक्षिण, मध्य और वाम पक्षों के अनेक दल अपने भेद-भावों को भुलाकर इस मन्त्रिमण्डल में शामिल हुए । इस समय घोर आर्थिक संकट का सामना करने के लिए यह आवश्यक था, कि एक राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जाय । श्री पायन्कारे के नेतृत्व में विभिन्न दल इस समय एक हो गये थे, और उन्होंने अपना एक राष्ट्रीय सम्मिलित दल बना लिया था । श्री पायन्कारे को आर्थिक संकट का सामना करने में बहुत सफलता मिली । फ्रांक की कीमत का गिरना बन्द हो गया। महायुद्ध से पहले वह बारह आने के बराबर होता था । अब उसकी कीमत ढाई आने के बराबर रह गई थी । पर उसे और अधिक नीचे गिरने से रोक दिया गया । टैक्सों को बढ़ाने और सरकारी खर्चों को कम करने में भी राष्ट्रीय सरकारी को अच्छी सफलता मिली । उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए पायन्कारे की सरकार ने बड़ा उद्योग किया । १६२८ के चुनाव में राष्ट्रीय दल को बहुत सफलता हुई । उसके उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए । पर पायन्कारे का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था ।

१६२६ में उसने त्यागपत्र दे दिया। पर राष्ट्रीय दल अपने पद पर आरूढ़ रहा। १६३२ तक इसी दल का शासन जारी रहा। इसमें सन्देह नहीं, कि आर्थिक संकट का सामना करके फ्रांस में शान्ति और सुव्यवस्था कायम करने में राष्ट्रीय दल को अच्छी सफलता मिली।

१६३२ के चुनाव में साम्यवादी दल फिर सफल हुए। दक्षिण और मध्य पक्ष के दलों की इस बार पराजय हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि श्री हेरियो के नेतृत्व में रेडिकल पार्टी ने फिर मन्त्रिमण्डल बनाया। पर इस बार हेरियो की स्थिति सुरक्षित नहीं थी। वाम पक्ष में कम्युनिस्ट दल भी अच्छी संख्या में निर्वाचित हुआ था, और इस दल की सहायता के बिना हेरियो का अपने पद पर रह सकना सम्भव नहीं था। हेरियो कम्युनिस्टों के विचारों को बहुत उग्र समझता था, और उनके साथ उसका निर्वाह हो सकना कठिन था, दिसम्बर, १६३२ में उसने त्यागपत्र दे दिया। अगले चौदह महीनों में वाम पक्ष के पाँच मन्त्रिमण्डल एक के बाद एक करके बने और बिगड़े। पर आपस के मत भेदों के कारण कोई भी स्थिर रूप से अपने पद पर नहीं रह सका। अन्त में, परेशान होकर रेडकल पार्टी के नेता दक्षिण और मध्य पक्ष के दलों से मिल गये और १६३४ में श्री दूमेर्ग के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल कायम किया गया। उसने पोयन्कारे के राष्ट्रीय सम्मिलित दल के पद-चिन्हों का अनुसरण करने का प्रयत्न किया। पर शीघ्र ही रेडिकल पार्टी का उससे मत-भेद हो गया। दूमेर्ग चाहता था, कि फ्रांस में मन्त्रिमण्डल को स्थिरता मिले। यदि कोई मन्त्रिमण्डल यह समझे, कि देश का लोकमत उसके पक्ष में है, तो पार्लियामेण्ट का विरोध होने की दशा में उसे यह अधिकार हो, कि वह पार्लियामेण्ट को भंग करके नया चुनाव करा सके। ब्रिटेन में यही होता है। पर रेडिकल लोग इसके लिए तैयार नहीं हुए। १६३५ में दूमेर्ग ने भी त्यागपत्र दे दिया।

१६३६ के चुनाव में वाम पक्ष की पार्टियों ने मिलकर काम किया।

वाम पक्ष में इस समय तीन मुख्य दल थे—रैडिकल, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट। ये तीनों परस्पर मिलकर एक हो गये, और इन्होंने पोपुलर फ्रंट नाम से एक सम्मिलित मोरचे का निर्माण किया। इस समय यूरोप में फैसिस्ट दल जोर पकड़ रहा था। इटली और जर्मनी में फैसिज्म कायम हो चुका था। इँगलैण्ड और फ्रांस में भी फैसिज्म का सूत्रपात होने लगा था। पोपुलर फ्रंट के रूप में फ्रांस की वामपक्षी दलों की यही कोशिश थी, कि फैसिज्म को अपने देश में न आने दिया जाय, फ्रांस में लोकतन्त्रवाद को कायम रखा जाय, और ऐसे सामाजिक सुधारों को प्रारम्भ किया जाय, जिनसे कि सर्वसाधारण जनता में सन्तोष रहे। चुनाव में पोपुलर फ्रंट की शानदार विजय हुई। पार्लियामेण्ट में ६० की सदी सदस्य इस दल के निर्वाचित हो गये। सोशलिस्ट दल के नेता श्रीयुत ब्लम प्रधान मन्त्री पद पर अधिष्ठित हुए, और पोपुलर फ्रंट के मन्त्रिमण्डल ने बड़े उत्साह के साथ अपना कार्य प्रारम्भ किया।

मजदूरों को नई सरकार से यही आशा थी, कि वह उनकी दशा में सुधार करने के लिए विशेष रूप से उद्योग करेगी। फ्रांस के मजदूरों में इस समय बहुत अशान्ति और बेचैनी थी। वे जगह जगह पर हड़तालें कर रहे थे। साम्यवादी दल का मन्त्रिमण्डल बन जाने से उनका हौसला बहुत बढ़ गया था। इस समय में श्रीयुत ब्लम ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया। पूँजीपतियों और मजदूरों में समझौता कराने के लिए उसने जो प्रयत्न किये, वे वस्तुतः सराहनीय हैं। इस समझौते के अनुसार यह निश्चय किया गया कि (१) मजदूर एक सप्ताह में चालीस घण्टे काम करें, (२) साल में दो सप्ताह की सवैतनिक छुट्टी प्रत्येक मजदूर को दी जाय और (३) मजदूरी की दर में वृद्धि की जाय। ब्लम की सरकार ने देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए और भी अनेक यत्न किये। बैंक आफ फ्रांस को सरकार के अधीन कर दिया गया। अब तक इसका संचालन पूँजीपतियों के हाथ में था। पर अब यह व्यवस्था की गई, कि बैंक के

उन्होंने बड़े शौक से सुना, और साम्यवादी दल इटली में जोर पकड़ने लगा। नवम्बर १९१९ के चुनाव में उनके १५६ सदस्य पार्लियामेन्ट में चुने गये। कुल सदस्यों की संख्या ५७४ थी। २५ फी सदी से अधिक स्थानों पर अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण पार्लियामेन्ट में उनका जोर बहुत बढ़ गया। पर साम्यवादी लोग केवल वैधानिक आन्दोलन को पर्याप्त नहीं समझते थे। उन्होंने कारखानों में काम शुरू किया। जगह जगह पर हड़तालों का आयोजन किया गया। कई स्थानों पर कल-कारखानों को नुकसान पहुँचाने की भी कोशिश की गई। कुछ कारखानों पर तो उन्होंने कब्जा भी कर लिया, और मजदूरों की समितियों द्वारा उनके संचालन का प्रयत्न किया। साम्यवादी चाहते थे, कि इटली में भी रशिया के समान कम्युनिस्ट क्रान्ति हो जाय, और सर्व-साधारण किसान-मजदूर जनता का शासन स्थापित किया जाय।

पर इटली के भाग्य में कम्युनिस्ट क्रान्ति नहीं लिखी थी। वहाँ एक नये आन्दोलन का सूत्रपात हो रहा था, जिसे फैसिज्म कहते हैं। यह आन्दोलन केवल इटली तक ही सीमित नहीं रहा। धीरे-धीरे इसने यूरोप के बड़े भाग को व्याप्त कर लिया।

२. मुसोलिनी

बेनितो मुसोलिनी का जन्म १८८३ में हुआ था। उसका पिता लुहार का काम करता था, और विचारों की दृष्टि से क्रान्तिकारी व साम्यवादी था। मुसोलिनी स्वयं भी शुरू में साम्यवादी था। अपनी युवावस्था के कई वर्ष उसने स्विट्जरलैण्ड में बिताये, जहाँ वह श्रमी संघों की स्थापना में लगा रहा। निर्वाह के लिए उसने पत्रकार का पेशा अपनाया था, और इस कार्य में उसने अच्छी निपुणता प्राप्त की थी। क्रान्तिकारी विचारों के कारण वह देर तक स्विटजरलैण्ड में नहीं रह सका। सरकार की आज्ञा से उसे स्विटजरलैण्ड छोड़ने के लिए

विवश होना पड़ा, और वह इटली वापस आ गया। वहाँ भी उसने अपने क्रान्तिकारी कार्यों को जारी रखा। १६०८ में वह गिरफ्तार कर लिया गया। जेल से छूटने पर वह इटली छोड़कर ट्रेन्ट में चला गया। यह प्रदेश उस समय आस्ट्रिया के अधीन था। यहाँ उसने एक नया समाचारपत्र जारी किया। यह पत्र केवल न साम्यवादी विचारों का प्रचार करता था, पर साथ ही यह भी आन्दोलन करता था, कि राष्ट्रीयता की दृष्टि से ट्रेन्ट इटली का एक हिस्सा है, और उसे इटली में ही शामिल होना चाहिए। आस्ट्रिया की सरकार ने उसके पत्र को जब्त कर लिया, और मुसोलिनी को आस्ट्रियन साम्राज्य की सीमा से बाहर चले जाने की आज्ञा दी। अब वह फिर इटली वापस आया, और एक बार फिर साम्यवाद के प्रचार में लग गया। वह कहता था, कि लोकतन्त्रवाद से सर्वसाधारण जनता का कोई भला नहीं होता। साम्यवादी व्यवस्था ही उनकी समस्याओं का एकमात्र हल है। १६१२ में वह फिर गिरफ्तार कर लिया गया। जेल से छूटने पर उसकी स्थिति साम्यवादी दल में बहुत ऊँची हो गई, और वह साम्यवादी दल के प्रमुख पत्र का प्रधान सम्पादक बन गया।

१६१४ में महायुद्ध का प्रारम्भ होने पर साम्यवादी दल से उसका मतभेद होना शुरू हुआ। इटली का साम्यवादी दल कहता था, कि महायुद्ध में इटली को शामिल नहीं होना चाहिए। पर मुसोलिनी का विचार था, कि युद्ध में शामिल होकर इटली न केवल अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण कर सकता है, (यथा आस्ट्रिया के अधीन इटालियन प्रदेशों का पुनः प्राप्त करना) अपितु साम्यवादी व्यवस्था को भी कायम कर सकता है। वह कहता था—यह युद्ध जनता का अपना युद्ध है। यही भविष्य में एक क्रान्ति के रूप के परिवर्तित हो जायगा। साम्यवादी नेताओं की बहुसंख्या को वह अपने विचारों का अनुयायी नहीं बना सका। उसे साम्यवादी पत्र के सम्पादक का पद छोड़ना पड़ा। अब 'इटालियन

जनता' नाम से नये पत्र का प्रकाशन उसने प्रारम्भ किया। यह पत्र मिलान से प्रकाशित होना शुरू हुआ। इसकी नीति यह थी, कि इटली को महायुद्ध में शामिल होना चाहिए, और मजदूर व सर्वसाधारण जनता को उसमें उत्साह के साथ भाग लेना चाहिए। जब इटली लड़ाई में शामिल हो गया, तो मुसोलिनी स्वयं सेना में भरती हुआ, और एक साधारण सिपाही के रूप में उसने युद्ध में भाग लिया। १९१७ में वह घायल होकर वापस आया, और अपने पत्र का सम्पादन फिर से प्रारम्भ किया। इस समय रशिया में वोल्शेविक क्रान्ति हो चुकी थी। इटली के अनेक साम्यवादी इस क्रान्ति को संसार व्यापी क्रान्ति का श्रीगणेश समझ रहे थे। मुसोलिनी ने उनका विरोध शुरू किया। वह कहता था, इटली को लड़ाई में पूरे उत्साह से भाग लेना चाहिए, और इस महायुद्ध के समय में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न इटली के राष्ट्रीय हितों के सर्वथा प्रतिकूल है।

धीरे धीरे मुसोलिनी की शक्ति बढ़ने लगी। उसने एक राजनैतिक नेता का रूप धारण करना शुरू किया। बहुत से लोग उसके अनुयायी होने लगे। मार्च १९१९ में उसने अपने अनुयायियों की एक सभा या क्लब संगठित की। इसे फैसिओ कहते थे। इटालियन भाषा में फैसिओ का अर्थ है क्लब, सभा या समाज। इस फैसिओ का उद्देश्य यह था, कि रशिया के जो कम्युनिस्ट विचार इटली में फैल रहे थे, उनका विरोध किया जाय, और एक ऐसे साम्यवाद का प्रचार किया जाय, जो कि राष्ट्रीय हितों को सबसे अधिक महत्त्व देता हो। इस समय रशिया का साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय था। उसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति था। मुसोलिनी कहता था, यह इटली के राष्ट्रीय हितों के लिए विघातक है। हमें अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की जगह राष्ट्रीय साम्यवाद की आवश्यकता है। पहला फैसिओ मिलान में कायम हुआ था। अगले दो सालों में इटली के प्रायः सभी बड़े शहरों व व्यावसायिक केन्द्रों में इसी प्रकार के फैसिओ

की स्थापना की गई। इन फैसिओ में सम्मिलित मुसोलिनी के अनुयायी सब जगह कम्युनिस्टों का विरोध करते थे। यही उनका मुख्य कार्य था। फैसिओ के सदस्य फैसिस्ट और उनका मत 'फैसिज्म' कहाता था। फैसिस्ट दल इटली के राजनैतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रहा था। यही कारण है, कि एप्रिल १६२१ में जब इटालियन पार्लियामेण्ट का निर्वाचन हुआ, तो उसमें फैसिस्ट दल के भी ३५ सदस्य निर्वाचित हुए। मुसोलिनी केवल एक राजनैतिक दल का संगठन करके ही संतुष्ट नहीं हुआ। अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिए उसने एक स्वयं सेवक दल का भी संगठन किया, जिसके सदस्य एक खास पोशाक पहनते थे, सैनिक कवायद करते थे, और कठोर नियन्त्रण में रहते थे। उनका अपना झण्डा होता था, काली कमीज पहनने के कारण वे 'ब्लेक शर्ट' या काली कुड़ती कहे जाते थे। मुसोलिनी न केवल इनका नेता था, पर प्रधान सेनापति भी था। सैनिक कवायद के समय वे उसे खास फौजी तरीके से सलाम भी करते थे।

मुसोलिनी बड़े जोश से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में लगा था। वह कहता था—आज फैसिज्म एक पार्टी है, एक फौज है, एक संस्था है। पर यह काफी नहीं है। यह इटली की आत्मा बन जानी चाहिए। फैसिस्टों को सम्बोधन करके वह कहा करता था—तुम खतर-नाक बन कर जीवन बिताओ। अगर मैं आगे बढ़ता हूं, तो मेरा अनुसरण करो। यदि मैं पीछे हटता हूं, तो मुझे गोली मार दो, मैं शान्ति में विश्वास नहीं करता। जिस प्रकार माता को गर्भ धारण का कष्ट उठाना पड़ता है, वैसे ही पुरुषों को युद्ध का कष्ट उठाना चाहिए।

मुसोलिनी के शक्तिशाली नेतृत्व में फैसिस्ट पार्टी की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई। १६१६ में इटली भर में केवल २२ फैसिओ थे। १६२० में उनकी संख्या बढ़कर ११८ हो गई। तीसरे साल १६२१ में इटली में फैसिओं का जाल सा बिछ गया। उनकी संख्या २२०० तक पहुंच गई।

इसी तरह की उन्नति फैसिस्ट पार्टी के सदस्यों की संख्या में भी हुई। १९१९ में फैसिस्ट पार्टी के कुल सदस्य १७,००० थे। १९२० में वे बढ़ कर ३०,००० हो गये। १९२१ में उनकी संख्या ३,००,००० तक पहुँच गई। मुसोलिनी के अद्भुत साहस और संगठन-शक्ति का ही यह परिणाम था, कि तीन साल के थोड़े से अरसे में उसकी पार्टी इटली की सर्वप्रधान राजनैतिक शक्ति बन गई थी।

अक्टूबर १९२२ में फैसिस्ट पार्टी की एक कांग्रेस नेपल्स में हुई। इसमें ४० हजार से भी अधिक फैसिस्ट स्वयं सेवक सैनिक पोशाक में एकत्र हुए। ये सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे। नेपल्स में इन्होंने बड़ा भारी शानदार जलूस निकाला। कांग्रेस के खुले अधिवेशन में मुसोलिनी ने गरज कर घोषणा की—"या तो इटली की सरकार हमारे हाथ में आ जायगी, और नहीं तो हमें रोम के ऊपर चढ़ाई करनी होगी।" २७ अक्टूबर, १९२२ को लिबरल मन्त्रिमण्डल के वृद्ध नेता जिओलित्ती ने इस्तीफा दे दिया। उसने भली भाँति अनुभव कर लिया था, कि परिस्थिति उसके काबू से बाहर हो गई है, और मुसोलिनी का मुकाबला करना असम्भव है। अब इटली में कोई भी मन्त्रिमण्डल नहीं था। मुसोलिनी ने अपनी फैसिस्ट सेना के साथ रोम की तरफ प्रस्थान कर दिया। इटली के राजा विक्टर एमेनुएल तृतीय ने भली भाँति अनुभव कर लिया, कि मुसोलिनी का मुकाबला करना बेकार है। उसने उसे ही मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने के लिए आमन्त्रित किया।

अब मुसोलिनी इटली का प्रधान मन्त्री हो गया। पर फैसिस्ट पार्टी के संगठन कार्य को जारी रखा गया। अब भी फैसिस्ट सेना उसी प्रकार स्वयंसेवक भरती करती थी, और उनके जलूस सैनिक कवायद करते हुए सब जगह दृष्टिगोचर होते थे। मुसोलिनी भलीभाँति जानता था, कि उसकी शक्ति का मुख्य आधार फैसिस्ट पार्टी ही है। उसके संगठन व विस्तार को वह बहुत महत्त्व देता था। इसमें उसने जरा भी शिथिलता

नहीं आने दी। प्रधान मन्त्री बनकर मुसोलिनी ने साम्यवादियों के साथ बड़ा कड़ा बरताव किया। हड़तालों की जो बीमारी कारखानों में शुरू हो रही थी, उसे उसने शान्त किया। शासन में सुधार करके इटली की सरकार को उसने बहुत उन्नत और समर्थ बनाने का प्रयत्न किया।

३. फैसिस्ट शासन

नवम्बर, १९२३ में मुसोलिनी ने इटली की पार्लियामेंट में निर्वाचन-सम्बन्धी एक नया कानून पेश किया। इसके अनुसार, चुनाव में जिस पार्टी को सबसे अधिक वोट मिलें, उसके पार्लियामेंट में दो तिहाई सदस्य रहें, बाकी एक तिहाई सदस्य उन पार्टियों में उसी अनुपात से बाँट दिये जावें, जिस अनुपात में कि उन्हें वोट मिले हों। इस कानून के अनुसार पहला चुनाव एप्रिल, १९२४ मे हुआ। अब तक फैसिस्ट पार्टी इटली में बहुत शक्तिशाली हो चुकी थी। चुनाव में कुल वोट ७५ लाख के लगभग पड़े, इनमें से ४५ लाख के लगभग वोट फैसिस्ट पार्टी को मिले। पार्लियामेंट के दो तिहाई सदस्य फैसिस्ट पार्टी के हो गये। बाकी एक तिहाई सदस्य साम्यवादी, लिबरल व अन्य दलों के हुए। अब मुसोलिनी का पार्लियामेंट में एकाधिपत्य था। विरोधी दलों के लोग उसके सम्मुख सर्वथा असहाय थे। पर मुसोलिनी को इससे भी सन्तोष नहीं था। वह फैसिस्ट पार्टी के विरोधी लोगों को एक दम कुचल देना चाहता था। अपने विरोधियों के साथ उसने बड़ा कठोर बरताव किया। अनेक विरोधी नेता गिरफ्तार किये गये, बहुत से इटली से बाहर चले जाने को विवश हुए। विरोधी दलों के समाचार पत्रों पर कड़ी निगाह रखी गई। अनेक प्रेस और पत्र बन्द हो गये। इसी समय यह असम्भव हो गया था, कि कोई व्यक्ति मुसोलिनी के खिलाफ उँगली भी उठा सकता। वह इटली का डिक्टेटर बन गया था।

१९२५ से १९२८ तक इटली में अनेक नये कानून बनाये गये।

इनका उद्देश्य यह था, कि फैसिस्ट सरकार और उसके नेता के हाथ में अपरिमित शक्ति दे दी जाय, वे जो कुछ चाहें कर सकें। इन्हीं कानूनों के अनुसार उन सब राजकर्मचारियों व अफसरों को बर्खास्त किया गया, जो फैसिस्ट नहीं थे। साम्यवादी, लिबरल व राजनैतिक पार्टियों को तोड़ दिया गया। राजनैतिक अपराधियों के ऊपर मुकदमा चलाने और शीघ्र ही उनका फैसला कर देने के लिए विशेष न्यायालयों की स्थापना की गई। जो लोग राजनैतिक दृष्टि से षड्यन्त्रकारी साबित हों, उनकी सम्पत्ति को जब्त किया जाना शुरू हुआ। विरोधी समाचार-पत्रों और पुस्तकों का प्रचार रोका गया। मुसोलिनी के हाथ में सारी राजशक्ति दे दी गई। प्रान्तीय शासक सीधे उसके प्रति उत्तरदायी थे। प्रान्तीय शासकों और अन्य उच्च राजकर्मचारियों की नियुक्ति वह स्वयं करता था। १९२८ में निर्वाचन के सम्बन्ध में एक और नया कानून बनाया गया। इसके अनुसार पार्लियामेंट के सम्पूर्ण सदस्यों की सूचि फैसिस्ट पार्टी द्वारा तैयार कर ली जाती थी। मतदाताओं को केवल यह अवसर दिया जाता था, कि वे इस सम्पूर्ण सूचि के पक्ष या विपक्ष में वोट दें। लोकतन्त्र शासन का अब इटली में अन्त हो गया था। उसका स्थान अब फैसिस्ट शासन ने ले लिया था, जिसका प्रथम सिद्धान्त यह था, कि मुसोलिनी देश का डिक्टेटर या प्रधान नेता है, और उसकी आज्ञाओं को आँख मींच कर स्वीकार कर लेना सबका सर्वप्रधान कर्तव्य है। नाम को अब भी इटली मे लोकतन्त्र शासन विद्यमान था। वहाँ का वंशक्रमानुगत राजा अब भी वैध शासक था, जो पार्लियामेंट के बहुमत के नेता को प्रधान मन्त्री के पद पर नियत करता था। इटली में पार्लियामेंट अब भी बाकायदा काम कर रही थी। उसकी दोनों सभाओं—सीनेट और प्रतिनिधि सभा—के अब भी नियमपूर्वक अधिवेशन होते थे। पर वास्तविक राजशक्ति फैसिस्ट पार्टी के हाथ में थी। जिस प्रकार रशिया में कम्युनिस्ट पार्टी ही वास्तविक

सरकार थी, वैसे ही इटली के शासन का संचालन असल में फैसिस्ट पार्टी द्वारा होता था।

१९३२ में फैसिस्ट पार्टी के सदस्यों की संख्या साढ़े बारह लाख से भी अधिक होगई थी। कोई व्यक्ति तब तक फैसिस्ट पार्टी का सदस्य नहीं बन सकता था, जब तक कि वह उसके प्रति अपनी भक्ति और निष्ठा का पूरी तरह प्रमाण न दे दे। इसी लिए पार्टी की सदस्यता के प्रार्थनापत्रों पर बड़े ध्यान से विचार किया जाता था। बहुत से प्रार्थनापत्र अस्वीकृत कर दिये जाते थे। १९३३ में फैसिस्ट पार्टी की सदस्यता के लिए ६,००,००० प्रार्थनापत्र आये, पर उनमें से केवल दो लाख स्वीकृत लिए गये। शेष सबको अस्वीकृत कर दिया गया।

फैसिस्ट पार्टी की शाखायें सब जगह विद्यमान थीं। फैसिओं की कुल संख्या अब दस हजार के लगभग पहुँच गई थी। स्थानीय फैसिओ प्रान्तीय फैसिओ के सदस्यों का चुनाव करती थीं। ये प्रान्तीय शाखायें अखिल इटालियन फैसिस्ट ग्रांड कौंसिल में अपने प्रतिनिधि भेजती थीं। फैसिस्ट पार्टी का वास्तविक संचालन एक कार्यकारिणी समिति के हाथ में था, जिसके कुल सदस्यों की संख्या बीस थी। इनमें मुसोलिनी के वे साथी प्रमुख स्थान रखते थे, जिन्होंने दस साल पहले रोम के ऊपर 'आक्रमण' में उसका साथ दिया था। मुसोलिनी स्वयं इस समिति का अध्यक्ष था। इटली के शासनसूत्र का संचालन यह समिति ही करती थी। पार्लियामेंट के सदस्यों की सूचि इसी में तैयार होती थी। शासन, सेना व न्याय के विविध उच्च पदों पर किन लोगों की नियुक्ति की जाय, यह भी इसी समिति द्वारा तय होता था। इस समय इटली की असली राजशक्ति इसी समिति के हाथ में थी।

४. फैसिस्ट सिद्धान्त

इटली में जो फैसिस्ट शासन स्थापित हुआ था, उसका यूरोप के

इतिहास में बड़ा महत्त्व है। रशिया के कम्युनिस्ट यह आशा करते थे, कि उनके विचार शीघ्र ही सारे यूरोप को व्याप्त कर लेंगे। पर वे निराश हुए। इसके विपरीत, इटली में जिस फैसिस्ट व्यवस्था की स्थापना हुई, धीरे धीरे यूरोप के अधिकांश देश उसके प्रभाव में आ गये। जर्मनी, स्पेन आदि अनेक महत्त्वपूर्ण देशों में फैसिस्ट सरकारें कायम हुईं, और अन्य देशों में भी इस विचार-धारा का जोर बढ़ गया। फ्रांस, इंगलैंड, पोलैंड, चेको-स्लोवाकिया आदि कोई भी देश फैसिज्म की लहर से अछूता नहीं रहा। अतः यह आवश्यक है, कि यहाँ फैसिस्ट सिद्धान्त पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया जाय।

फैसिज्म के अनुसार फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा लोकतन्त्रवाद की जो लहर प्रारम्भ हुई, वह संसार में सच्चे अर्थों में जनता का राज्य नहीं कायम कर सकी। उसने राजाओं व कुलीन श्रेणियों के स्वेच्छाचारी व एकतन्त्र शासन का अन्त अवश्य किया, पर राजशक्ति जनता के हाथ में न आकर शिक्षित मध्यश्रेणी के हाथ में आ गई। इस श्रेणी ने जो नये शासन-विधान कायम किये, उनसे जनता को वोट का अधिकार जरूर मिल गया, पर अकेले वोट के अधिकार से राजशक्ति जनता के हाथ में नहीं आ जाती। शिक्षित लोगों में मतभेदों का विकास बहुत सुगम होता है, अतः सब देशों में विभिन्न पार्टियों का निर्माण हो गया। ये पार्टियाँ मतदाताओं को अपने काबू में करके विविध उपायों से उनके वोट प्राप्त कर लेती हैं, और फिर राजशक्ति प्राप्त करके उसका उपयोग केवल अपने स्वार्थसाधन के लिए करती हैं। इनके शासन से मध्य श्रेणी को अवश्य लाभ हुआ है, पर सर्वसाधारण जनता इनसे संतुष्ट नहीं हो सकती। यही कारण है, कि किसानों और मजदूरों में बेचैनी निरन्तर बढ़ रही है, और कम्युनिज्म की लहर का प्रारम्भ हुआ है। किसान और मजदूर राजशक्ति को प्राप्त करने के लिए उठ खड़े हुए हैं, और धनियों व गरीबों में एक श्रेणी-संघर्ष का प्रारम्भ हुआ है, जो राज्य की

स्थिरता और शक्ति के लिए अत्यन्त हानिकारक है। यदि यह संघर्ष बढ़ता गया, तो प्रत्येक राष्ट्र को इससे नुकसान उठाना पड़ेगा। लोकतन्त्र शासन में इस संघर्ष को दूर करने का कोई कई उपाय नहीं है। लोकतन्त्रवाद में व्यक्तियों को जिस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है, उसका यही परिणाम हो सकता है, कि पूँजीपति अधिक-अधिक अमीर होते जावें, और गरीबों का शोषण करने का उन्हें खुला अवसर प्राप्त होता रहे। केवल राजनैतिक समानता व कानून के सन्मुख सब के बराबर होने से गरीबों की समस्या हल नहीं हो जाती। अतः अब वैयक्तिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद का अन्त करके ऐसी व्यवस्था कायम करनी चाहिए, जिसमें सब लोगों को परस्पर सहयोग द्वारा राष्ट्रीय, समाजिक व सामूहिक उन्नति करने का अवसर मिले। कोई किसी का शोषण न कर सके और न ही श्रेणी-युद्ध की आवश्यकता हो। यह समझा जाय, कि अमीर व गरीब, पूँजीपति व मजदूर—सब एक समाज के अंग है। समाज के हितों के सन्मुख सबके हित गौण हैं। समूह की उन्नति में ही सब की उन्नति है। विभिन्न श्रेणियों व विभिन्न व्यक्तियों के हितों को सामूहिक हित के लिए कुर्बान किया जा सकता है। पर इस व्यवस्था की स्थापना सब को स्वेच्छापूर्वक कार्य करने की खुली छुट्टी देकर नहीं की जा सकती। इस की स्थापना तभी हो सकती है जब देश में केवल एक पार्टी हो, एक नेता हो। वह सबके लाभ को दृष्टि में रखकर आज्ञा प्रदान करे, सब उसे आँख मीच कर स्वीकार करें। यह एक पार्टी व एक नेता देश की सामूहिक इच्छा, सामूहिक आकांक्षा और सामूहिक शक्ति का प्रतिनिधि है। उसके अबाधित शासन में ही कोई देश ठीक प्रकार उन्नति कर सकता है। उसके बिना विभिन्न श्रेणियों के आपस के संघर्ष को किसी भी प्रकार रोका नहीं जा सकता।

फैसिज्म व्यक्तिवाद के विरुद्ध है। राज्य व्यक्ति के लिए नहीं है,

अपितु व्यक्ति राज्य के लिए है। मुसोलिनी कहा करता था—'सब चीजें राज्य में हैं, कोई चीज राज्य से बाहर नहीं है, कोई चीज या सत्ता राज्य के खिलाफ नहीं हो सकती।' राज्य को अधिकार है, कि सामूहिक हित के लिए व्यक्तियों के हित को कुर्बान कर दे। इसीलिए किसी व्यक्ति, समूह या पार्टी को यह अधिकार नहीं है, कि वह केवल अपने हित के लिए राज्य के सामूहिक हित की उपेक्षा कर सके। इसी सिद्धान्त के कारण फैसिस्ट लोग यह स्वीकार नहीं करते थे, कि मजदूरों को अपना वेतन बढ़ाने या अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए हड़ताल करने का हक है। पूँजीपति अपने रुपये को अधिक आमदनी प्राप्त करने के लिए जिस देश में चाहें या जिस प्रकार चाहें, लगा सकते हैं, यह बात भी फैसिस्टों को स्वीकार नहीं थी।

फैसिज्म लोकतन्त्रवाद के भी विरुद्ध है। १८८९ में यूरोप में जिस लोकतन्त्रवाद का प्रारम्भ हुआ था, वह बहुमत पर आश्रित था। जिस ओर बहुसंख्यक लोग हों, वही ठीक है। इसीलिए प्रत्येक राजनैतिक दल अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने और उचित अनुचित—सब प्रकार के उपायों से वोट बटोरने का प्रयत्न करता है। पर फैसिस्ट सिद्धान्त के अनुसार संख्या की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व देना चाहिये। यदि हजार मूर्ख एक बात कहते हों, तो वह मान्य नहीं हो सकती। एक ज्ञानी आदमी जो बात कहे, वह मान्य होती है। देश का सर्वमान्य नेता, जिस पर जनता का पूर्ण विश्वास हो, जो जनता की आत्मा और आकांक्षा का प्रतिनिधि हो, जो बात कहेगा, उसके मुकाबले में मूर्ख जनता की राय कोई महत्त्व नहीं रख सकती। फैसिस्ट लोग लोकमत की अपेक्षा नेता की आज्ञा को अधिक महत्त्व देते थे। पार्टीबाजी व दलबन्दी के कीचड़ से देश को मुक्त कराने का वे यही एकमात्र उपाय समझते थे, कि एक नेता का पूर्णतया अनुगमन किया जाय।

फैसिज्म साम्यवाद के विरुद्ध है। कार्ल मार्क्स ने श्रेणि संघर्ष के

जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, मुसोलिनी उससे सहमत नहीं था। फैसिस्टों के मतानुसार विभिन्न श्रेणियों में संघर्ष की बजाय परस्पर सहयोग होना चाहिए। यदि पूँजीपति और मजदूर परस्पर सहयोग से काम करें, तो उसमें राज्य की भलाई है, और राज्य की भलाई से गरीब और अमीर सब का फायदा है। यह ठीक है, कि सर्वसाधारण जनता की गरीबी दूर होनी चाहिये। पर मनुष्य का सुख-दुख केवल पैसे पर ही निर्भर नहीं है। यदि सब लोग परस्पर मिल कर राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रयत्न करेंगे, तो उससे सबको समान रूप में लाभ पहुँचेगा, और गरीब से गरीब आदमी भी समृद्धि के मार्ग पर अग्रेसर हो सकेगा। फैसिस्ट लोग यह भी नहीं चाहते, कि लोगों को आर्थिक क्षेत्र में पूरी आजादी हो। इससे तो पूँजीपतियों को गरीबों का शोषण करने की खुली छुट्टी मिल जायगी। इसके विपरीत फैसिस्ट लोग यह मानते हैं, कि व्यक्तियों की आर्थिक स्वतन्त्रता पूरी तरह से राज्य के नियन्त्रण में होनी चाहिये। यदि सरकार राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रखकर पूँजीपति व मजदूर, जमींदार और किसान—सब पर समान रूप से नियन्त्रण रखे, तो ही सबका समान रूप से उत्कर्ष हो सकता है।

फैसिज्म शान्ति के भी विरुद्ध है। महायुद्ध के बाद चिरशान्ति की स्थापना के जो प्रयत्न हो रहे थे, फैसिस्ट लोग उन्हें पसन्द नहीं करते थे। वे कहते थे, शान्ति एक ऐसे तालाब के समान है, जहाँ पानी ठहरा रहता है। उन्नति का मतलब है, आगे बढ़ना। और आगे बढ़ने का मतलब है, दूसरों को अपने पैरों के नीचे रौंदना। बिना लड़ाई के कोई जाति, समाज या राज्य अपना उत्कर्ष नहीं कर सकता। इटली बहुत लम्बे समय तक विदेशी शासन के अधीन रहा था। उसे अपना साम्राज्य बनाने का अवसर नहीं मिला था। ब्रिटेन और फ्रांस उन्नति की दौड़ में बहुत आगे बढ़ गये थे। उनकी बराबरी करने या उनसे आगे निकलने के लिए लड़ाई के सिवाय अन्य रास्ता ही कौन सा था? इसीलिए

फैसिस्ट कहते थे, हमें खतरनाक तरीके से रहने की जरूरत है। हमें सब प्रकार की कुर्बानी के लिए और सब तरह के खतरों का मुकाबला करने के लिए तैयार होना चाहिये।

शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इटली के ये फैसिस्ट सिद्धान्त सही नहीं कहे जा सकते। पर महायुद्ध के बाद, वर्साय की सन्धि द्वारा अपनी आकांक्षाएँ पूर्ण न हो सकने पर वहाँ की जनता में जो एक तरह की बेचैनी थी, उसके कारण फैसिज्म वहाँ जंगलकी आग की तरह फैल गया। मुसोलिनी ने किसी सैनिक आक्रान्ता के रूप में इटली को अपने शिकंजे में नहीं कस लिया था। उसकी स्थिति एक राष्ट्रीय वीर की, एक लोकप्रिय नेता की थी, जिसकी वाणी में जादू था, और जिसके विचारों से इटालियन जनता के हृदय की तंत्री के तार झंकृत हो उठते थे। जनता उसे अपना सच्चा नेता मानती थी। वह जो बात कहता था, वह इटालियन लोगों के हृदय में घर कर लेती थी। मुसोलिनी और उसके फैसिस्ट सिद्धान्त की सफलता व लोकप्रियता का यही रहस्य था। कुछ समय के लिए इटली के लोगों की सब आशाएँ मुसोलिनी में केन्द्रित हो गई थीं।

५. नई आर्थिक व्यवस्था

अपने सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर फैसिस्टों ने नई आर्थिक व्यवस्था का प्रारम्भ किया। वे आर्थिक क्षेत्र में पूँजीपतियों को मनमानी नहीं करने देना चाहते थे। उनका विचार था, कि प्रत्येक आर्थिक मामले में हस्तक्षेप करने व उत्पत्ति पर नियन्त्रण रखने का राज्य को पूरा-पूरा अधिकार है। कम्युनिस्टों के समान सब व्यवसायों को सीधा राज्य के अधीन कर लेना उन्हें पसन्द नहीं था। पर जो व्यवसाय देश की रक्षा के लिये उपयोगी हैं, उन पर राज्य का सीधा अधिकार होना वे आवश्यक समझते थे। इसीलिये रेलवे, लोहे के कारखाने व इसी तरह के बड़े

व्यवसाय सीधे राज्य के नियन्त्रण में कर लिए गये। उनकी आधे से अधिक पूँजी राज्य ने अपने स्वत्व में कर ली। बैंकों व विदेशी व्यापार पर भी राज्य ने अपना पूरा अधिकार जमा लिया। अन्य व्यवसायों का संचालन पूँजीपति करते थे, पर उनके लिये यह आवश्यक कर दिया गया था, कि वे मजदूरों का सहयोग पूरी तरह प्राप्त करें, और इस उद्देश्य से नीति के निर्धारण व महत्त्वपूर्ण बातों का फैसला करने के लिए मजदूरों के प्रतिनिधियों से परामर्श करते रहें। फैसिस्ट लोग श्रेणी-संघर्ष के अत्यन्त विरुद्ध थे। इसलिए उन्होंने यह व्यवस्था की, कि पूँजीपति अपनी एक सिण्डीकेट बनावें और मजदूर लोग दूसरी। जब कारखाने के मालिकों और मजदूरों में कोई मतभेद हो, किसी बात पर झगड़ा हो, तो दोनों सिण्डीकेटों का सम्मिलित अधिवेशन हो। दोनों पक्षों के लोग खुलकर सब बातों पर विचार करें, और इस प्रकार फैसला करने का प्रयत्न करें। पूँजीपतियों और मजदूरों की सिण्डीकेटें मिलकर यह तय करती थीं, कि मजदूरी की दर क्या रहे, काम करने के घण्टे कितने हों, सवैतनिक छुट्टियाँ कितनी और कब दी जावें, साप्ताहिक अवकाश का समय कितना हो, और चोट लग जाने, बीमारी व अपाहिज हो जाने की दशा में मजदूरों को क्या निर्वाह-खर्च दिया जाय। फैसिस्ट व्यवस्था में मजदूरों को हड़ताल करने की आवश्यकता नहीं थी। वे अपने लिए सब आवश्यक सुविधायें सिण्डीकेट द्वारा प्राप्त करा सकते थे। कारखानों की पृथक पृथक् सिण्डीकेटों के अतिरिक्त १३ केन्द्रीय सिण्डीकेटें थीं। इनमें से ६ पूँजीपतियों की, ६ मजदूरों की और १ विविध स्वतन्त्र पेशा करनेवाले लोगों की थीं। ये केन्द्रीय सिण्डीकेटें व्यवसाय सम्बन्धी सब महत्त्वपूर्ण मामलों को तय करती थीं। इनकी अधीनता में कुछ विशेष न्यायालय बनाये गये थे। यदि कोई मामले ऐसे हों, जिन्हें पूँजीपति और मजदूर मिल कर तय न कर सकें, तो उन्हें इन न्यायालयों के सम्मुख पेश किया जाता था। इनका फैसला सबके लिये मान्य होता था।

फैसिस्ट आर्थिक व्यवस्था में पूँजीपतियों और मजदूरों के प्रतिनिधि केवल आपस के झगड़ों को ही मिल कर नहीं निबटाते थे, अपितु परस्पर सहयोग द्वारा यह भी निश्चय करते थे, कि आर्थिक उत्पत्ति के कार्य को किस प्रकार अधिक से अधिक राष्ट्रीय हित के लिए प्रयुक्त किया जाय। साधारणतया, पूँजीपति जो भी कारोबार करते हैं, उसका उद्देश्य मुनाफा कमाना होता है। पर फैसिस्ट कहते थे, कि आर्थिक उत्पत्ति का उद्देश्य मुनाफा कमाना न होकर राष्ट्रीय हित का सम्पादन करना है। अतः उत्पत्ति के लिए ऐसी योजना बनानी चाहिये, जिससे राष्ट्र का हित हो। इन योजनाओं को तैयार करने के लिए पूँजीपतियों और मजदूरों के प्रतिनिधि एक स्थान पर एकत्र होते थे। फैसिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि उनके साथ बैठते थे, और ये सब मिल कर यह निर्णय करते थे, कि देश के हित को दृष्टि में रखते हुए कौन से कारोबार की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये, कौन सी फसल बोनी चाहिये, और कौन से कारखाने में कौन सा और किस प्रकार का माल तैयार होना चाहिये। पूँजीपति मुनाफे के खयाल से जो अन्धाधुन्ध काम करते हैं, वह फैसिस्ट व्यवस्था में सम्भव नहीं था। वहाँ सब काम योजना के अनुसार होता था, और इन योजनाओं को तैयार करने में मजदूरों का भी पूरा सहयोग रहता था। फैसिस्ट लोग समझते थे, कि उन्होंने आर्थिक समस्या का एक ऐसा हल निकाल लिया है, जो सब देशों के लिए आदर्श है। इस समय यूरोप में सब जगह पूँजीपतियों और मजदूरों में जो संघर्ष चल रहा था, उसे दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है, कि फैसिस्ट लोग अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफल हुए थे।

१९२८ में इटली में एक नया कानून पास किया गया, जिसके अनुसार प्रतिनिधि सभा के लिये सदस्यों को मनोनीत करने का काम भी इन तेरह केन्द्रीय सिण्डीकेटों के सुपुर्द कर दिया गया। ये सिण्डीकेटें उन सदस्यों की एक सूचि तैयार करती थीं, जिन्हें कि ये प्रतिनिधि सभा

का सदस्य होने के लिए उपयुक्त समझती थीं। बाद में फैसिस्ट पार्टी की ग्रांड कौंसिल इस सूची को स्वीकार करती थी, और ये ही लोग मतदाताओं द्वारा चुन लिए जाते थे।

६. फैसिज्म की प्रगति

मुसोलिनी के सुयोग्य नेतृत्व में फैसिज्म ने इटली में बहुत उन्नति की। मजदूरों की समस्या फैसिस्टों ने अच्छी तरह हल कर दी थी। यह तय कर दिया गया था, कि वे एक दिन में आठ घण्टे से अधिक काम नहीं करेंगे, सप्ताह में एक दिन उन्हें छुट्टी दी जायगी। बीमारी की दशा में उन्हें निर्वाह का खर्च मिलेगा। चोट लग जाने, अपाहिज हो जाने या बुढ़ापे की दशा में उन्हें खर्च चलाने में तकलीफ न हो, इसके लिए सबका आवश्यक रूप से बीमा किया जायगा। मजदूर इससे संतुष्ट थे। व्यवसायों के संचालन में उनका भी उतना ही हाथ था, जितना कि पूँजीपतियों का। इसलिये वे अपने को पूँजीपतियों का विरोधी न समझ कर सहयोगी मानते थे। इस सबका परिणाम यह हुआ, कि इटली में व्यावसायिक उन्नति खूब अच्छी तरह हुई।

फैसिस्ट सरकार ने शिक्षा के प्रसार पर भी बहुत ध्यान दिया। मुसोलिनी के शक्ति प्राप्त करने से पहले १९२१ में इटली में निरक्षर लोगों की संख्या २५ फी सदी से अधिक थी। १९३५ में वह घट कर २० फी सदी से भी कम रह गई। इसी समय में स्कूलों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या तीस लाख से बढ़कर ४५ लाख हो गई। बच्चों की शिक्षा में फैसिज्म के सिद्धान्तों को बहुत महत्त्व दिया जाता था। इटली के बालक-बालिकाओं को यह सिखाया जाता था, कि बड़े होकर उन्हें उत्तम फैसिस्ट बनना है। पाठ्य-पुस्तकें फैसिज्म की विचार-धारा से परिपूर्ण थीं। देशभक्ति और राष्ट्र-प्रेम पर भी फैसिस्ट लोग बहुत जोर देते थे। वे कहते थे, कि किसी समय इटली संसार का सबसे उन्नत

और समृद्ध देश था। रोम के नागरिक सारे सभ्य संसार पर राज्य करते थे। प्राचीन इटली की गौरव-गाथायें सुना कर नवयुवकों को कहा जाता था, कि एक बार फिर इटली को इसी गौरवपूर्ण स्थिति में लाना उनका कर्तव्य है। इसके लिये अपने तन, मन, धन को कुर्बान कर देना उनका प्रथम कर्तव्य है। देश-प्रेम और राष्ट्र-भक्ति बड़ी अच्छी बातें हैं। पर जब उनका अतिशय हो जाता है, जो उसका परिणाम साम्राज्य-वाद होता है। इटली के लोग भी साम्राज्यवाद की भावना से ओत-प्रोत थे। वे चाहते थे, कि फ्रांस और ब्रिटेन के समान उनका भी विशाल साम्राज्य हो। प्राचीन रोमन साम्राज्य का पुनरुद्धार उनका आदर्श था। इसीलिए उन्होंने अबीसीनिया पर आक्रमण किया। अफ्रीका में बहुत से नये प्रदेश को जीत कर उन्होंने साम्राज्यवाद की भूख को शान्त कर लिया, पर इससे जो विकट अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें उठ खड़ी हुईं, उन्होंने मुसोलिनी और उसके फैसिस्ट अनुयायियों को खाक में मिला दिया। इन सब पर हम आगे चलकर यथास्थान विचार करेंगे। मुसोलिनी ने जिस नये सिद्धान्त का विकास किया था, उसकी अतिशयता ही उसके पतन का कारण हुई।

इक्यावनवाँ अध्याय

नाजी जर्मनी

१. हिटलर का उदय

महायुद्ध में परास्त होने के बाद जर्मनी में किस प्रकार होहेन्ट्सोलर्न राजवंश के शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई, और इस नई सरकार को किन विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा, इस पर हम पहले विचार कर चुके हैं। जिस समय जर्मनी के रिपब्लिकन और साम्यवादी नेता वर्साय की सन्धि के अनुसार दी जानेवाली हरजाने की रकमों की अदायगी के बारे में सुहूलियतें प्राप्त करने के लिए मित्रराष्ट्रों से समझौते कर रहे थे, जर्मनी में एक नई शक्ति का अभ्युदय हो रहा था। इस शक्ति ने न केवल वर्साय की सन्धि को पैरों तले कुचल दिया, अपितु कुछ समय के लिए सम्राट् विलियम द्वितीय के महान् जर्मनी के स्वप्न को भी क्रिया में परिणत करके दिखा दिया। यह शक्ति हिटलर था।

हिटलर का जन्म सन् १८८९ में आस्ट्रिया में हुआ था। उसके माता पिता निम्न-मध्यश्रेणी के थे। बचपन में हिटलर को उचित शिक्षा नहीं मिल सकी। उसकी आकांक्षायें महान् थीं, पर उसके पिता के पास इतना धन नहीं था, कि उन्हें पूरा किया जा सकता। उसे चित्रकला का बड़ा शौक था। उसकी इच्छा थी, कि साधारण स्कूल की शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद आस्ट्रिया की चित्रकला एकेडमी में प्रवेश किया जाय। पर वह अपनी यह इच्छा पूर्ण नहीं कर सका। कुछ समय तक वह वियेना में रहा। वहाँ उसने इमारत बनाने वाले एक शिल्पी

के यहाँ नौकरी कर ली। १९१२ में वह म्यूनिच चला आया, और चित्र बनाकर अपना निर्वाह करने लगा। जिस समय महायुद्ध का प्ररम्भ हुआ, वह म्यूनिच में ही था। उसका जन्म आस्ट्रिया में हुआ था, और राष्ट्रीयता की दृष्टि से वह आस्ट्रियन था, पर युद्ध के शुरू होने पर वह जर्मन सेना में भर्ती हो गया। लड़ाई में उसने बड़ी योग्यता दिखाई। वीर कृत्यों के कारण उसे अनेक उच्च सैनिक सम्मान भी प्राप्त हुए। जब लड़ाई में जर्मनी की पराजय होगई, और उसके नेताओं ने मित्रराष्ट्रों के साथ सन्धि कर ली, तो वह आपे से बाहर हो गया। उसका खून खौलने लगा। वह कहता था, जर्मनी की पराजय का कारण उसके नेताओं की बुजदिली है। जर्मन सेना में अब भी इतनी शक्ति है, कि वह अपने शत्रुओं को नीचा दिखा सकती है। पर उसके नेता हिम्मत हार गए हैं। युद्ध की समाप्ति पर हिटलर ने राजनीति में प्रवेश करने का निश्चय किया। जर्मन जाति का जो घोर अपमान युद्ध में पराजय के कारण हुआ था, उसका प्रतिशोध करने के लिए एक भयंकर ज्वाला हिटलर के हृदय में जल रही थी।

१९१९ में हिटलर ने एक नई पार्टी का निर्माण किया। सेना में अनेक सिपाहियों के साथ उसकी मैत्री हो गई थी। इनके विचार हिटलर से मिलते जुलते थे। नई पार्टी का नाम नाजी (राष्ट्रीय साम्यवादी) रक्खा गया। नाजी पार्टी ने अपने कार्यक्रम में निम्नलिखित बातों को प्रमुख स्थान दिया—(१) वर्साय की सन्धि को रद्द किया जाय। (२) जर्मन भाषा बोलनेवाले जर्मन जाति के लोग जिन प्रदेशों में रहते हैं, उन सब को मिलाकर एक विशाल जर्मन राज्य की स्थापना की जाय। (३) जर्मनी के उपनिवेश उसे वापस दिए जावें। (४) सैनिक उन्नति के मार्ग में जो बाधायें वर्साय की सन्धि द्वारा उत्पन्न की गई हैं, उन्हें हटा दिया जाय; और जर्मनी अपनी सारी शक्ति सैनिक उन्नति में लगा दे। (५) यहूदी लोग जर्मन नहीं हैं। युद्ध में जर्मनी की पराजय का मुख्य कारण इन

यहूदियों की सत्ता है। जर्मनी में रहते हुए भी ये जर्मन नहीं हैं। जब इन्होंने देखा कि युद्ध के जारी रखने से इनके वैयक्तिक स्वार्थों को क्षति पहुँचती है, इन्होंने अपने प्रभाव से युद्ध को बन्द करवा दिया। यहूदियों से नागरिकता के सब अधिकार छीन लेने चाहिए। अच्छा तो यह है, कि उन्हें जर्मनी से बाहर निकाल दिया जाय। (६) जो विदेशी लोग बाहर से आकर जर्मनी में बसते हैं, उन्हें रोका जाय। (७) जो समाचार-पत्र व संस्थायें देश भक्ति की भावना के विपरीत प्रचार करती हैं उन्हें बन्द किया जाय। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की लहर यूरोप में बहुत प्रबल हो रही थी। जर्मनी में भी अनेक ऐसी संस्थायें व पत्र विद्यमान थे, जो अन्तर्राष्ट्रीयता पर बहुत बल देते थे। नाजी पार्टी इनके खिलाफ थी। (८) कम्युनिज्म व कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त राष्ट्रीय उन्नति के लिए हानिकारक हैं। देश की आर्थिक नीति का निर्णय करते हुए राष्ट्रीयता को सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिए।

हिटलर ने अपने विचारों का प्रचार बड़ी तत्परता के साथ शुरू किया। वह भाषण करने में बहुत प्रवीण था। उसकी वाणी में एक खास तरह का जादू था, जिससे सर्वसाधारण जनता बहुत प्रभावित होती थी। उसके व्याख्यानों को सुनने के लिए जनता बड़े शौक से एकत्र होती थी। जब वह वर्साय की सन्धि के खिलाफ जहर उगलता था, तो जनता में जोश फैल जाता था। लोग कहते थे, उन नेताओं को धिक्कार है, जिनके कारण जर्मनी को इतना अपमान सहना पड़ा है। हिटलर के इस प्रचार को जर्मन सरकार नहीं सह सकी। १९२३ में उसे गिरफ्तार कर लिया गया, और एक साल कैद की सजा दी गई। जेल में रहते हुए उसने अपनी वह प्रसिद्ध पुस्तक 'मेरा संघर्ष' या 'माइन काम्फ़' लिखी, जो आगे चल कर नाजियों की धर्म पुस्तक बन गई।

जेल जाने से हिटलर का नाम जर्मनी भर में फैल गया। मुकदमे के समय में अपनी सफाई देते हुए हिटलर ने अपने विचारों को बड़े विशद

रूप में प्रतिपादित किया था। समाचार पत्रों में इनका विवरण बड़े विस्तार के साथ छपता था। जेल के समय में नाजी लोग उसके मन्तव्यों का बड़े उत्साह के साथ प्रचार कर रहे थे। जब वह जेल से छूटा, तो उसकी शक्ति और भी बढ़ गई। सब जगह नाजी पार्टी की शाखायें स्थापित की गईं। स्थानीय नाजी सभायें प्रान्तीय सभाओं के लिए प्रतिनिधि चुनती थीं, और प्रान्तीय सभायें केन्द्रीय नाजी कौंसिल में अपने प्रतिनिधि भेजती थीं। नाजी पार्टी का सब जगह जाल सा फैल गया था। एक स्वयंसेवक सेना का भी संगठन किया गया, जो सैनिक पोशाक मे रहती थी। नाजी स्वयंसेवक भूरे रंग की पोशाक पहनते थे, उनकी बाहों पर लाल रंग की एक पट्टी रहती थी, जिस पर स्वस्तिक का चिन्ह अंकित होता था। हिटलर को यहूदियों से अपार द्वेष था, वह कहता था, जर्मन लोग शुद्ध आर्य जाति के हैं, यहूदी सेमेटिक जाति के हैं। आर्यों को सेमेटिक यहूदियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। प्राचीन आर्यों का जातीय चिन्ह स्वस्तिक था। यह न केवल भारत के आर्यों में, अपितु यूरोप के आर्यों में भी प्रचलित था। इसी लिए यहूदियों के खिलाफ आर्य आन्दोलन के लिए हिटलर ने स्वस्तिक को अपना चिन्ह चुना था। नाजी स्वयंसेवक दल का एक अन्य अंग था, जो पार्टी के लिए अपने प्राणों की आहुति देने के लिए सदा उद्यत रहता था। ये लोग काली पोशाक पहनते थे, और मनुष्य की खोपड़ी का चित्र उनकी पोशाक पर बना रहता था। ये लोग तूफानी सैनिक (स्टार्म ट्रूपर्स) कहलाते थे। हिटलर व अन्य नाजी नेताओं की रक्षा के लिए वे सदा उनके साथ रहते थे, और अपने विरोधियों को सबक सिखाने के लिए भी वे सदा उत्सुक रहते थे।

१९२९ में सारे यूरोप में आर्थिक संकट उपस्थित हुआ। जर्मनी भी इसके प्रभाव से नहीं बच सका। बहुत से कल-कारखाने बन्द हो गये, और पचास लाख के लगभग मजदूर बेकार हो गये। इन बेकारों में नाजियों ने अपने सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया। उनका कहना था, कि जर्मनी की

सब समस्याओं और संकटों का मूल कारण वहाँ का लोकतन्त्र राज्य है, जिसमें सब प्रकार के स्वार्थों और दलबन्दियों को मनमानी करने का यथेष्ट अवसर मिलता है। साम्यवाद का जो असर जर्मनी पर पड़ रहा है, वह राष्ट्रीय दृष्टि से विघातक है। जब तक जर्मन जनता वर्साय की सन्धि के खिलाफ विद्रोह करने के लिए न उठ खड़ी होगी, और सम्पूर्ण जर्मनों को एक सूत्र में संगठित नहीं कर लेगी, जर्मनी की समस्या हल न हो सकेगी। मुसोलिनी ने किस प्रकार इटली में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न कर दी थी, यह उदाहरण हिटलर के सामने था। जर्मनी में वह मुसोलिनी का सब प्रकार से अनुसरण करना चाहता था। धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ती गई। १९३० के चुनाव में नाजी पार्टी के १०७ सदस्य पार्लियामेण्ट में निर्वाचित हुए। कुल सदस्यों की संख्या ५७६ थी। एक नई पार्टी के लिए २० फी सदी के लगभग स्थान प्राप्त कर लेना बहुत बड़ी बात थी। इससे नाजियों की हिम्मत बहुत बढ़ गई। १९३२ में राष्ट्रपति का पुनः निर्वाचन होना था। हिटलर हिन्डनबर्ग के मुकाबले में खड़ा हुआ। कुल मिला कर जितने वोट पड़े, उनमें से ५३ फी सदी हिन्डनबर्ग को मिले, और ३७ फी सदी हिटलर को। हिन्डनबर्ग जैसे प्रतिष्ठित और सर्वमान्य नेता के मुकाबले में ३७ फी सदी वोट प्राप्त कर लेना हिटलर के लिए बहुत बड़ी बात थी। जर्मन जनता पर उसका प्रभाव कितनी तेजी से बढ़ रहा था, यह इसका ठोस प्रमाण है। १९३२ में ही पार्मियामेण्ट का फिर चुनाव हुआ। इस चुनाव में नाजियों के २३० सदस्य निर्वाचित हुए। यद्यपि पार्लियामेण्ट में उनकी बहुसंख्या अब भी नहीं हुई थी, पर अन्य पार्टियों के मुकाबले में नाजी लोग सबसे अधिक निर्वाचित हुए थे। इस समय जर्मनी में नाजी पार्टी का जोर बहुत बढ़ गया था। परिणाम यह हुआ, कि हिटलर को प्रधान मन्त्री के पद पर नियत किया गया। पर हिटलर इतने से संतुष्ट नहीं हुआ। वह चाहता था, कि पार्लियामेण्ट में उसका कोई विरोधी न रहे। नाजी पार्टी की अभी बहुसंख्या नहीं थी।

अन्य पार्टियाँ मिलकर हिटलर के प्रस्तावों को अस्वीकृत कर सकती थीं। इस कारण हिटलर ने पालियामेण्ट को बरखास्त करके नये निर्वाचन की व्यवस्था की। पालियामेण्ट के भंग होने से पहले एक ऐसी घटना हुई, जिससे हिटलर को अपने विरोधियों को बदनाम करने और कुचलने का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। पालियामेण्ट का अधिवेशन अभी समाप्त नहीं हुआ था, कि उसकी इमारत में आग लग गई। हिटलर का कहना था, कि यह आग कम्युनिस्टों की करतूत है। पालियामेण्ट में कम्युनिस्ट पार्टी के १०० सदस्य थे। हिटलर कहता था, कि ये कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी उपायों से राज्य पर कब्जा कर लेना चाहते हैं। इसीलिये उन्होंने इस भयंकर उपाय का प्रयोग किया है। बहुत से कम्युनिस्टों को गिरफ्तार कर लिया गया, सब जगह उनकी बदनामी की गई। परिणाम यह हुआ, कि नये चुनाव में ४४ फी सदी सदस्य नाजी पार्टी के चुने गये। अन्य राष्ट्रीय विचारों के सदस्यों के साथ मिलकर उनकी बहुसंख्या हो जाती थी। अब हिटलर का मार्ग साफ हो गया था। वह अब साम्यवादियों और कम्युनिस्टों का आसानी से दमन कर सकता था।

अगस्त १९३४ में राष्ट्रपति हिन्डनबर्ग की मृत्यु हो गई। उसका स्थान हिटलर ने लिया। अब हिटलर जर्मनी का प्रधानमन्त्री भी था, और राष्ट्रपति भी, सब राजशक्ति उसके हाथ में आ गई थी। म्यूनिच का वह साधारण सा चित्रकार, जो गरीबी से अपने दिन काटा करता था, अब जर्मनी का सर्वेसर्वा बन गया था। उसके हाथ में इतनी शक्ति आ गई थी, जितनी कि होहेन्जोलर्न वंश के सम्राटों के हाथ में भी नहीं थी।

२. नाजीज्म की सफलता के कारण

नाजी पार्टी की इस असाधारण सफलता के क्या कारण थे? वर्साय की सन्धि ने जर्मनी में एक प्रकार के असन्तोष और बेचैनी का वाता-

वरण उत्पन्न कर दिया था। जनता में यही भावना विद्यमान थी, कि उनका घोर अपमान हुआ है। जर्मन लोग चाहते थे, कि उनका देश फिर से वही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करे, जो महायुद्ध से पहले जर्मनी को प्राप्त था। पर महायुद्ध में परास्त होने के कारण जर्मनी के जिम्मेदार नेता अपने को असहाय अनुभव करते थे। वे भी देशभक्त थे, जर्मनी के राष्ट्रीय गौरव के पुनरुद्धार के लिए उनका हृदय भी उत्सुक था। पर नीति से काम लेने के अतिरिक्त उनके सम्मुख कोई उपाय नहीं था। उनके प्रयत्नों का ही यह परिणाम था, कि रूर को फ्रांस की सेनाओं ने खाली कर दिया था, राइनलैण्ड से मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ वापस बुला ली गई थीं, और हरजाने की रकम की अदायगी बहुत कुछ स्थगित कर दी गई थी। जर्मनी राष्ट्रसंघ का भी सदस्य हो गया था, और यूरोप की राजनीति में उसे सम्मानास्पद स्थान मिलने लग गया था। पर जर्मन जनता का घायल हृदय इतने से संतुष्ट नहीं था। जब हिटलर और उसके साथी आवेश में गरज कर यह कहते थे, कि हमें वर्साय की सन्धि के धुर्रे उड़ा देने हैं, सारे जर्मन लोगों को एक सूत्र में बाँधकर विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण करना है, और अपने खोये हुए उपनिवेशों को फिर से प्राप्त करके जर्मन साम्राज्य का पुनरुद्धार करना है, तो जर्मन जनता खुशी और जोश के मारे उछल पड़ती थी। वह समझती थी, कि जर्मनी का पुनरुद्धार हिटलर और उसके नाजी अनुयायी ही कर सकते हैं।

नाजी शक्ति के विकास का दूसरा कारण कम्युनिज्म का खतरा था। रशिया से कम्युनिज्म की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, जर्मनी पर भी उसका प्रभाव पड़ा था। वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी का बाकायदा संगठन हो गया था, और यह पार्टी पार्लियामेन्ट के चुनाव में बाकायदा हिस्सा लेती थी। १९३० के चुनाव में ८९ कम्युनिस्ट जर्मन पार्लियामेन्ट में निर्वाचित हुए थे। अगले चुनाव में उनकी संख्या बढ़कर १०० हो गई थी।

हिटलर जर्मन जनता से कहता था, ये कम्युनिस्ट राष्ट्रीयता के लिए सबसे अधिक खतरनाक हैं। यदि नाजी पार्टी का अभ्युदय नहीं हुआ, तो कम्युनिस्टों की शक्ति बढ़ जायगी, और वे राज्य पर अपना कब्जा कर लेंगे। कम्युनिस्ट लोग रशिया के हाथ में कठपुतली के समान हैं। उनके हाथ में शक्ति होने का मतलब होगा, जर्मनी का रशिया के अधीन हो जाना। कम्युनिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता को बहुत महत्त्व देता था। संसार भर के मजदूरों के हित एक हैं—यह उनका सिद्धान्त था। हिटलर कहता था, यह सिद्धान्त राष्ट्रीयता का विघातक है। जर्मन मजदूरों को जर्मनी के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार होना चाहिए। पूंजीपतियों को उसकी यह बात अच्छी लगती थी। कारखानों के मालिक समझते थे, नाजी पार्टी के विकास से कम्युनिस्टों से उनकी रक्षा हो जायगी। उन्होंने हिटलर को सब प्रकार से सहायता दी। नाजी पार्टी को अपने प्रचार-कार्य के लिए रुपये की कोई कमी नहीं रही।

आर्थिक संकट और सर्वसाधारण जनता की बेकारी ने नाजी पार्टी के उत्कर्ष में बहुत सहायता दी। हिटलर कहता था, कि जर्मन जनता की इस दुर्दशा का कारण वह सरकार है, जो साम्राज्यवादी देशों के सामने घुटने टेक चुकी है। जर्मनी के राष्ट्रीय गौरव के पुनरुत्थान के बिना यह दशा ठीक नहीं हो सकती। हिटलर कहता था—जर्मनी को अपने जीने के लिए स्थान की जरूरत है। राष्ट्रों की सीमाएँ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार नहीं बना करतीं। राष्ट्रीयता की अपेक्षा भी एक ऊंचा सिद्धान्त है, जिसे मानवीय न्याय का सिद्धान्त कहा जा सकता है। जर्मन लोग ब्रिटिश व फ्रेंच लोगों से किस बात में कम हैं। यदि इन लोगों को अपनी समृद्धि के लिए साम्राज्य की आवश्यकता है, तो जर्मनी को क्यों नहीं है? नाजी लोगों का उद्देश्य यह है, कि वे जर्मन लोगों के लिए निवासस्थान का विस्तार करें। यूराल की पर्वतमाला सब प्रकार के खनिज पदार्थों से भरपूर है, युक्रेनिया की उपजाऊ जमीन पर अनाज

की वर्षा होती है, साइबीरिया के जंगल और मैदान खाली पड़े हैं। जर्मन लोग क्यों न इन पर कब्जा करें, क्यों न इनका प्रयोग अपनी समृद्धि और उत्कर्ष के लिए करें। बेकार जर्मन मजदूर यह सुनकर खुशी के मारे नाच उठते थे। न केवल मजदूर, पर मध्यश्रेणी की सर्वसाधारण जनता भी इन विचारों में आशा की एक किरण देखती थी।

नाजी लोग यहूदियों के बहुत खिलाफ थे। उनका कहना था, कि जर्मनी के पतन का कारण यहूदी लोग हैं। महायुद्ध के समय में जर्मनी के बड़े कल-कारखाने यहूदियों के हाथ में थे। बड़े बड़े पूँजीपति प्रायः यहूदी जाति के थे। राज्य पर भी उनका बड़ा प्रभाव था। सर्वसाधारण जर्मन लोग उन्हें शोषक वर्ग में शामिल करते थे। जनता उनसे घृणा करती थी। हिटलर ने कहा, इन यहूदियों को देश निकाला मिलना चाहिए, ताकि जर्मन जाति अपने देश के आर्थिक जीवन में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सके। यह बात भी जर्मन लोगों को बहुत पसन्द आती थी। नाजी पार्टी के उत्कर्ष से उन्हें यह अनुभव होता था, कि वे घृणित यहूदियों को नीचा दिखा सकेंगे।

नाजी लोगों ने जिस स्वयंसेवक सेना का संगठन किया था, वह भी जर्मन लोगों को बहुत अच्छी मालूम होती थी। जर्मन लोग स्वभाव से वीर हैं, वे सैनिक जीवन को पसन्द करते हैं। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी की सेना बहुत कम कर दी गई थी। बहुत से जर्मन सिपाही बेकार हो गए थे। उनके लिए यह सम्भव नहीं था, कि वे किसी अन्य पेशे से अपना गुजर कर सकें। वे सैनिक होने के लिए उत्सुक थे। नाजियों की प्राइवेट सेना में वे बड़े उत्साह के साथ शामिल हुए, और उन्हें यह अनुभव हुआ, कि नाजी पार्टी के उत्कर्ष से उन्हें फिर से सैनिक जीवन प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। सैनिकों के सहयोग के कारण नाजियों को बहुत शक्ति प्राप्त हो गई थी, और उन्हें अपने विचारों को फैलाने का अनुपम अवसर हाथ लग गया था।

३. नाजी व्यवस्था

शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद हिटलर ने जर्मनी में जिस नई व्यवस्था का प्रारम्भ किया, उसका आधारभूत तत्त्व एक पार्टी और उसके एक नेता का एकतन्त्र और अबाधित शासन था। हिटलर लोकतन्त्र शासन के खिलाफ था। नाजी पार्टी के अतिरिक्त जो अन्य राजनैतिक दल जर्मनी में विद्यमान थे, उन सबको कुचल दिया गया। हिटलर की आज्ञा थी—'जर्मनी में केवल एक राजनैतिक पार्टी रहेगी, और वह पार्टी है नाजी या राष्ट्रीय साम्यवादी पार्टी।' अन्य किसी भी पार्टी को अपने विचारों को प्रकट करने, सभाएँ करने व किसी भी प्रकार से अपने मन्तव्यों का प्रचार करने का अधिकार नहीं था। प्रेस की स्वाधीनता जर्मनी में नष्ट कर दी गई। समाचारपत्रों व पुस्तकों द्वारा कोई व्यक्ति सरकार की आलोचना नहीं कर सकता था। यूनिवर्सिटियों व अन्य शिक्षणालयों पर कड़ी निगाह रखी जाती थी, कि वहाँ कोई अध्यापक ऐसे विचारों को प्रकट न करे, जो नाजी सिद्धान्तों के विपरीत हों। इसी प्रकार सिनेमाओं, नाटकों और आमोद-प्रमोद के अन्य साधनों पर नियन्त्रण रखा जाता था। रेडियो द्वारा केवल नाजी विचारों का प्रचार होता था। जिस आदमी पर नाजी विरोधी होने का सन्देह हो, उसे तुरन्त गिरफ्तार कर लिया जाता था। उस पर बाकायदा मुकदमा चलाने की भी आवश्यकता नहीं थी। जब तक नाजी नेता चाहें, उसे जेल में रखा जाता था। अनेक विशेष जेलखाने बनाये गये थे, जहाँ राजनैतिक कैदियों को बन्द किया जाता था। यहाँ इन पर भयंकर अत्याचार किये जाते थे। जिन्हें अधिक खतरनाक समझा जाता था, उन्हें गोली मार दी जाती थी। नाजी पार्टी का भी कोई सदस्य यदि हिटलर व उसकी नीति की आलोचना करे, तो उससे कठोर बरताव किया जाता था। १९३४ में नाजी पार्टी के ७७ सदस्यों को केवल इसलिए गोली से उड़ा दिया गया, क्योंकि उनका हिटलर से मतभेद था। इन लोगों

में एक ऐसा व्यक्ति भी था, जो पहले जर्मनी का प्रधान मन्त्री रह चुका था। उसे और उसकी पत्नी को उसके घर में ही गोली मार दी गई थी। नाजी लोग अपने विरोधियों के साथ किसी भी प्रकार की रियायत करने के लिए तैयार नहीं थे। वे कहते थे, उनके विरोधी जर्मन राष्ट्र के शत्रु हैं। उनके विनाश में ही देश और मातृभूमि का हित है।

पार्लियामेंट अब भी विद्यमान थी, पर उसके सदस्य केवल नाजी पार्टी के थे। नाजियों की तरफ से उन सदस्यों की एक सूची तैयार कर ली जाती थी, जिन्हें पार्लियामेंट का सदस्य बनाया जाना चाहिए। अन्य कोई राजनैतिक दल था नहीं, जो उनके मुकाबले में कोई उम्मीदवार खड़ा कर सके। नाजी पार्टी के सब उम्मीदवार सर्वसम्मति से निर्वाचित हो जाते थे। पार्लियामेंट के अधिवेशन बाकायदा होते थे। पर उनका मुख्य कार्य यह था, कि नेता की वक्तृता सुनें, और उन सब प्रस्तावों व कानूनों को उत्साह के साथ स्वीकार कर लें, जिन्हें सरकार की ओर से पेश किया गया हो। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद जिस प्रकार के लोकतन्त्र शासनों का यूरोप में प्रारम्भ हुआ था, उनका नाम व निशान भी जर्मनी में नहीं रहा था। समझा यह जाता था, कि हिटलर जर्मनी का एकमात्र नेता, अधिनायक व डिक्टेटर है। वह भली भाँति जानता है, कि जर्मन राष्ट्र के लिए कौन सी बात हितकर है। उसे आँख मीच कर स्वीकार कर लेने में ही जर्मनी का लाभ है। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मन जनता में जो एक प्रकार का असन्तोष व बेचैनी पैदा हो गई थी, उसके कारण जर्मन लोगों की सब आशाएँ हिटलर पर केन्द्रित थीं। उसके कथन को वे ईश्वरीय वाणी के समान स्वीकार करते थे।

शिक्षणालयों पर नाजी पार्टी का विशेष रूप से कब्जा था। बच्चों को जैसी शिक्षा दी जायगी, वैसा ही उनका विकास होगा। जर्मन बालक व बालिकाएँ शुरू से ही यह सीखते थे, कि जर्मन जाति संसार की सर्वोत्कृष्ट जाति है, वह संसार पर राज्य करने के लिए पैदा हुई है। वह

अपना मिशन तभी पूरा कर सकती है, जब सब जर्मन लोग एक नेता के पीछे चलें, और एक पार्टी के रूप में संगठित होकर रहें। जर्मन नसल की उत्कृष्टता और यहूदियों की नीचता का भाव उनमें कूट-कूटकर भर दिया जाता था। यही कारण है, कि जर्मनी के लोगों में यह विचार पूरी तरह से घर कर गया था, कि उन्हें अपने देश की उन्नति के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देना है। एक जाति, एक भाषा, एक संस्कृति और एक नेता—यह भाव उनके जीवन का आवश्यक अंग बन गया था।

यहूदियों के साथ नाजियों ने बड़ा क्रूर बरताव किया। यहूदियों को न वोट का अधिकार था, और न वे किसी राजकीय पद पर रह सकते थे। शिक्षणालयों में अध्यापक के पद पर वे काम नहीं कर सकते थे। उन्हें यह भी इजाजत नहीं थी, कि वे वकील, चिकित्सक या वैज्ञानिक के रूप में काम कर सकें। उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था, और उनके कार्यों पर कड़ी निगाह रखी जाती थी। बाद में नाजी लोगों का यहूदियों के प्रति बरताव और भी कड़ा हो गया। हजारों लाखों की संख्या में यहूदी लोग गिरफ्तार किए जाने लगे। बहुत से यहूदी अपने जान माल की रक्षा के लिए जर्मनी छोड़कर विदेशों में आश्रय लेने के लिए विवश हुए। जर्मनी से भाग कर शरण लेनेवालों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई, कि ये शरणार्थी लोग अन्य देशों के लिए एक विकट समस्या बन गये। इन लोगों का दोष केवल यह था, कि ये जर्मन आर्य जाति के नहीं थे। हो सकता है, कि जर्मनी के अधःपतन में कुछ यहूदियों का हाथ रहा हो। महायुद्ध में जर्मनी की जो पराजय हुई, और बाद में जो संकट जर्मन लोगों को झेलने पड़े, उनमें यहूदी लोगों का हाथ अवश्य था। पर कुछ लोगों के अपराध के लिए एक नसल को, एक सम्पूर्ण जाति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

नाजियों ने केवल यहूदियों पर ही अत्याचार नहीं किये, अपितु

रोमन कैथोलिक लोग भी उनकी क्रूर दृष्टि के शिकार हुए। जर्मनी के रोमन कैथोलिक लोग रोम के पोप को अपना गुरु समझते थे। उनके अपने पृथक् शिक्षणालय थे। कम्युनिज्म के समान रोमन कैथोलिक चर्च भी अन्तर्राष्ट्रीय है। इस चर्च के पादरियों को नाजी विचार-धारा पसन्द नहीं थी। विविध शिक्षणालयों में जिस प्रकार नाजी विचारों की शिक्षा दी जाती थी, वे उसे उचित नहीं समझते थे। इन्होंने अपनी आवाज नाजियों के खिलाफ बुलन्द की। परिणाम यह हुआ, कि हिटलर ने उनके साथ भी वही बरताव किया, जो यहूदियों के साथ किया जाता था। बहुत के कैथोलिक पादरी गिरफ्तार किये गये। जिस प्रकार इटली में फैसिज्म ने और रशिया में कम्युनिज्म ने एक नये सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया था, वैसे ही जर्मनी में नाजीज्म भी एक प्रकार का नया धर्म था। ईसाई पादरी उसे पसन्द नहीं करते थे। ये पादरी, चाहे रोमन कैथोलिक हों और चाहे प्रोटेस्टेन्ट, नाजियों के खिलाफ थे। हिटलर ने उन्हें बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया, और जेलों में बन्द कर दिया।

आर्थिक क्षेत्र में नाजियों ने फैसिस्टों का अनुसरण किया। उनका मत था, कि पूँजीपतियों और मजदूरों में विरोध के स्थान पर सहयोग और समन्वय होना चाहिए। अमीर और गरीब सबको राष्ट्रीय हित के लिए उद्योग करना है। अतः सरकार को चाहिए, कि वे कारखानों के मालिकों और मजदूरों—दोनों पर पूरा पूरा नियन्त्रण रखे। जर्मनी में भी दोनों की अलग अलग सिण्डीकेट बनाई गईं, और विवादग्रस्त मामलों का निर्णय ये सिण्डीकेटें परस्पर विचार-विनिमय द्वारा करने लगीं। वस्तुतः, इस समय जर्मनी में सब शक्ति सरकार के हाथ में थी। सरकार ही यह फैसला करती थी, कि मजदूरों को कितनी मजदूरी मिले, वे कितने घंटे काम करें, उन्हें कब छुट्टी मिले और उनके आराम के लिए क्या कुछ इन्तजाम किये जावें। मजदूरों को हड़ताल करने का हक नहीं था।

जर्मनी की उन्नति के लिए यह आवश्यक था, कि राष्ट्र की सारी शक्ति आर्थिक उत्पत्ति में लगे। यदि मजदूर पूरी तरह काम नहीं करेंगे, तो यह उत्पत्ति किस प्रकार बढ़ सकेगी। पर पूँजीपतियों को भी मुनाफा कमाने की स्वच्छन्दता नहीं थी। पूँजीपतियों का विनाश जो नहीं किया गया था, उसका कारण केवल यह था, कि राष्ट्रीय दृष्टि से उनकी सत्ता उपयोगी थी। पर वे कितना मुनाफा कमावें, और क्या कुछ उत्पत्ति करें, इस सब पर सरकार का पूरा पूरा नियन्त्रण था।

जर्मनी की राष्ट्रीय एकता को भली भाँति स्थापित करने के लिए, जनवरी, १९३४ में हिटलर ने एक नया कानून पास किया, जिसके अनुसार प्रशिया, बवेरिया, सैक्सनी आदि विभिन्न राज्यों की पार्लियामेन्टों का अन्त कर दिया गया। होहेन्ट्सोलर्न राजवंश के शासन-काल में जर्मनी के साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक छोटे-बड़े राज्य थे। रिपब्लिक की स्थापना के बाद भी इन राज्यों की सत्ता पृथक् रूप से कायम रही। जर्मन रिपब्लिक एक प्रकार का संघ राज्य था, जिसमें विविध राज्यों की अपनी अपनी सरकारें व पार्लियामेन्ट विद्यमान थीं। अब हिटलर ने उन सबका अन्त कर दिया, और इन राज्यों को जर्मन राष्ट्र के विविध प्रान्तों के रूप में परिवर्तित कर दिया। इसके कारण जर्मनी के केन्द्रीय शासन में भी कई परिवर्तन किये गये, और जर्मनी पूरी तरह से राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बँध गया।

नाजी सरकार ने जर्मनी की चौमुखी उन्नति के लिए विशेष रूप से प्रयत्न किया। शिक्षा, श्रम, नवयुवक, राजनीति, प्रचार, व्यवसाय, शिल्प आदि सबके लिए अलग-अलग मोरचे कायम किये गये। ये मोरचे पृथक् विभागों के रूप में थे, और नाजी पार्टी के विविध नेता अपने-अपने क्षेत्र में उन्नति के काम में लगे हुए थे। क्योंकि जर्मनी में अन्य राजनैतिक दल नहीं रहा था, अतः नाजी पार्टी और नाजी सरकार समझी जाती थी। पर नाजी पार्टी का संगठन पृथक् रूप

से भी विद्यमान था। उसकी स्वयंसेवक सेना और तूफानी फौज नष्ट नहीं कर दी गई थी। उनका महत्त्व बढ़ गया था, क्योंकि उन्हीं के द्वारा नाजी पार्टी सरकार पर अपना पूरा-पूरा कब्जा रख सकती थी।

४. जर्मनी का उत्कर्ष

हिटलर का जर्मन जनता पर पूरा कब्जा था। वह उसे अपना नेता मानती थी, और उसके कहने पर बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार रहती थी। हिटलर की इस सफलता का रहस्य यह था, कि उसने जर्मनी में अपार शक्ति का विकास कर उसका प्रयोग अपने देश के उत्कर्ष के लिए किया था। वर्साय की सन्धि की सर्वथा उपेक्षा कर उसने जर्मनी में सैनिकों की संख्या बढ़ाई, अस्त्र-शस्त्रों को बढ़ाने के लिए नये कारखाने खुलवाये। वह कहा करता था, जर्मनी को रोटी की जरूरत नहीं है, उसे बारूद की जरूरत है। १९३६ में उसमें र्हाइनलैण्ड की नये सिरे से किलाबन्दी शुरू कर दी। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी ने यह स्वीकार किया था, कि र्हाइनलैण्ड में कभी कोई किलाबन्दी नहीं की जायगी। पर हिटलर इस सन्धि को नफरत की निगाह से देखता था। वह इसे कोई भी महत्त्व नहीं देता था। हिटलर यह भी मानने को तैयार नहीं था, कि महायुद्ध की जिम्मेवारी जर्मनी पर है। उसने हरजाने की रकम को अदा करने से साफ साफ इनकार कर दिया था। जल और स्थल की सेना को बढ़ाकर उसने यह प्रयत्न किया, कि जिस किसी भी प्रदेश में जर्मन भाषा बोली जाती है, उन सबको मिलाकर एक विशाल जर्मन राष्ट्र का संगठन किया जाय। इसीलिए १९३८ में उसने आस्ट्रिया पर कब्जा कर लिया। चेको-स्लोवाकिया के जिन प्रदेशों में जर्मन लोग बसते थे, पहले उसने उन पर अधिकार किया, और बाद में चेको-स्लोवाकिया के अन्य भी महत्त्वपूर्ण प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। उसका यह भी प्रयत्न था, कि डान्सिग के बन्दरगाह पर फिर

से जर्मनी का कब्जा हो जाय, और पोलैण्ड को समुद्रतट तक पहुँचने के लिए जो गलियारा दिया गया था, उसे नष्ट कर दिया जाय। हिटलर जर्मनी की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए बिजली की गति से काम कर रहा था। राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत जर्मन जनता उसके कारनामों को आश्चर्य और श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। उसके अतुल प्रभाव और असाधारण शक्ति का यही रहस्य था। हिटलर के प्रयत्नों से जर्मनी एक बार फिर यूरोप का सबसे शक्तिशाली राज्य बन गया था।

बावनवाँ अध्याय

अन्य देशों पर फैसिज्म का प्रभाव

१. स्पेन में राज्य-क्रान्ति

इटली और जर्मनी में लोकतन्त्र शासनों का अन्त होकर जो एक पार्टी व एक नेता का शासन प्रारम्भ हुआ, उसका असर यूरोप के अन्य देशों पर भी पड़ा। इस समय यूरोप में दो नई विचार-धाराएँ चल रही थीं, एक कम्युनिज्म की और दूसरी फैसिज्म की। इन दोनों लहरों का प्रयत्न यह था, कि पुराने किस्म के लोकतन्त्र राज्यों का अन्त कर एक नई व्यवस्था सर्वत्र कायम की जाय। फैसिज्म की लहर स्पेन में भी सफल हुई, और यह देश भी एक नेता के शासन में आ गया। स्पेन का यह नेता फ्रांको था, और वह १९३७ में स्पेन का अधिनायक या डिक्टेटर बन गया था।

महायुद्ध में स्पेन तटस्थ रहा था। वहाँ का शासन वैध राजसत्तात्मक था। वहाँ वंशक्रमानुगत राजा पार्लियामेण्ट की सहायता से शासन करता था। पार्लियामेण्ट में जिस दल का बहुमत हो, उसके नेता को प्रधानमन्त्री बनाया जाता था, और मन्त्रिमण्डल तब तक अपने पद पर रहता था, जब तक पार्लियामेण्ट के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त रहे। महायुद्ध के समय स्पेन को व्यावसायिक उन्नति का अपूर्व अवसर मिला। उसे सेना पर खर्च करने की आवश्यकता नहीं थी, और उसका माल सुगमता से यूरोप के बाजारों में बिक सकता था। पर लड़ाई के समाप्त हो जाने पर उसके माल की माँग कम हो गई, बेकारी बढ़ने लगी, कारखानों में काम कम हो गया और पूँजीपति लोग मजदूरी की दर को कम करने

के लिए विवश हुए। इस पर मजदूरों में असन्तोष बढ़ा। हड़तालें शुरू हो गईं, और कम्युनिस्ट विचारों का प्रचार होने लगा। स्पेन में भी बाकायदा कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो गई, जो अन्य साम्यवादी दलों के साथ मिलकर देश के लिबरल व लोकसत्तात्मक शासन का अन्त करने के लिए उद्यत थी।

पर स्पेन के भाग्य में कुछ और ही लिखा था। अफ्रीका के उत्तर में मोरक्को का प्रदेश है, जिसका बड़ा भाग स्पेन के अधीन था। वहाँ के लोग समय समय पर स्पेनिश शासन के विरुद्ध विद्रोह करते रहते थे। महायुद्ध के समय मोरक्कन लोगों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना बहुत प्रबल हो गई थी। उन्होंने विद्रोह कर दिया था। इसे शान्त करने के लिए स्पेन को एक बड़ी सेना मोरक्को में रखने की आवश्यकता रहती थी; और इस सेना पर बड़ा भारी खर्च करना पड़ता था। अनुमान किया गया है, कि १६१६ से १६२६ तक दस सालों में मोरक्को पर अपना कब्जा कायम रखने के लिए स्पेन को ३०० करोड़ के लगभग रुपया खर्च करना पड़ा था। जिन स्पेनिश सिपाहियों की इस कब्जे के लिए आहुति दी जाती थी, उनकी संख्या भी १३,००० वार्षिक से कम न थी। १६२१ में मोरक्को के विद्रोह ने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया। विद्रोहियों ने स्पेन की एक पूरी फौज का सफाया कर दिया। इससे स्पेन में बड़ी बेचैनी हुई। स्पेनिश देशभक्तों ने समझा, इस सबकी जिम्मेदारी राजा अलफान्सो १२ वें पर है, जिसके कुप्रबन्ध और अनुचित नीति के परिणामस्वरूप स्पेन को इस तरह नीचा देखना पड़ा है। देशभक्तों के इस असन्तोष को साम्यवादियों और कम्युनिस्टों ने और भी बढ़ाया, और ऐसा प्रतीत होने लगा, कि स्पेन में भी राजा के खिलाफ क्रान्ति होकर रहेगी।

पर अलफान्सो ने इस विद्रोह-भावना का बुरी तरह से दमन किया। सितम्बर, १६२३ में उसने प्रीमो दी रिवेरा नाम के कुलीन सरदार को

सहायता से अपने विरोधियों को वश में कर लिया। पार्लियामेण्ट भंग कर दी गई। शासन-विधान को रद्द कर दिया गया। प्रेस पर कड़ा नियन्त्रण किया गया, ताकि कोई आदमी राजा के कार्यों की प्रतिकूल आलोचना न कर सके। सारी राजशक्ति राजा और प्रीमो दी रिवेरा के हाथ में आ गई। प्रीमो दी रिवेरा एक बड़ा कुलीन जमींदार था, वह सेना का एक उच्च सेनापति था, और मोरक्को के युद्धों में अपूर्व वीरता प्रदर्शित कर चुका था। उसका प्रयत्न यह था, कि इटली के समान स्पेन में भी एक पार्टी और एक नेता का प्रभुत्व कायम किया जाय। उसे अपने प्रयत्न में सफलता हुई। १६२३ से १६३० तक पूरे सात साल उसने स्पेन पर स्वेच्छापूर्वक शासन किया। इटली की फैसिस्ट व्यवस्था का अनुसरण कर उसने एक राष्ट्रीय दल का संगठन किया, और पूँजीपतियों व मजदूरों के झगड़े निबटाने के लिए सरकार के अधीन सिण्डीकेटों का निर्माण किया। उसने देश का शासन करने के लिए एक नया शासन-विधान तैयार कराया, जिसके अनुसार पार्लिया-मेण्ट की पुनः स्थापना की गई। पर यह प्रबन्ध पहले ही कर लिया गया, कि पार्लियामेण्ट में सदा राष्ट्रीय दल का प्रभुत्व रहे, जो प्रीमो दी रिवेरा के शासन का सदा समर्थन करता रहे। पर स्पेन में वे परिस्थितियाँ नहीं थीं, जो इटली व जर्मनी में थीं। वहाँ एक नेता की अतुल शक्ति का कारण वह उग्र राष्ट्रीय भावना थी, जिसकी पूर्ति व सफलता की आशा एक शक्तिशाली, साहसी व वीर नेता द्वारा ही हो सकती थी। प्रीमो दी रिवेरा में वह जादू भी नहीं था, जो जनता को अपने पीछे लगा सकता है। गुप्त रीति से साम्यवाद की प्रवृत्तियाँ स्पेन में प्रबल हो रही थीं। समय समय पर हड़तालें, दंगे और विद्रोह होते रहते थे। राजा भी प्रीमो दी रिवेरा की इस सत्ता से असंतुष्ट था। वह भी साजिश में लगा था। इस बीच में प्रीमो दी रिवेरा का स्वास्थ्य खराब हो गया। जनवरी, १६३० में उसने स्वयं अपने पद का परित्याग कर दिया। उसके

उत्तराधिकारी, राष्ट्रीय दल के नेता न उसके समान योग्य थे, और न पार्टी पर प्रभाव ही रखते थे।

परिणाम यह हुआ, कि उन पार्टियों ने जोर पकड़ना शुरू किया, जिनका झुकाव साम्यवाद की तरफ था। जमोरा नामक साहसी नेता के नेतृत्व में इन पार्टियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया, और अलफान्सो १२वें को राजगद्दी का परित्याग कर देने के लिए विवश किया। जमोरा ने स्पेन में रिपब्लिक की स्थापना की घोषणा कर दी। एक सामयिक सरकार बना ली गई, जमोरा उसका अध्यक्ष बना। विधान-परिषद् के चुनाव की व्यवस्था की गई, और नये शासन-विधान को तैयार किया गया। नये शासन-विधान का निर्माण लोकतन्त्र शासन के सिद्धान्तों के अनुसार किया गया था। नागरिकों के आधारभूत अधिकार पृथक् रूप से प्रतिपादित किये गये थे, और राज्य को चर्च से पृथक् कर दिया गया था। नई पार्लियामेंट में रैडिकल और साम्यवादी दलों का बहुमत था। स्पेन की नई सरकार ने देश के शासन में बहुत से सुधार किये। स्पेन के शासन पर यहाँ विस्तार से प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। पर वहाँ भी कम्युनिस्टों और साम्यवादियों का जोर निरन्तर बढ़ रहा था, और ये लोग केवल राजनीतिक क्रान्ति से ही संतुष्ट नहीं थे। वे चाहते थे, कि आर्थिक क्षेत्र में भी नई व्यवस्था कायम की जाय। इन पार्टियों ने मिलकर एक संयुक्त मोरचे का निर्माण किया, जिसे 'पोपुलर फ्रंट' कहते थे। १९३६ के नये निर्वाचन में पोपुलर फ्रंट की विजय हुई। जमोरा को त्यागपत्र देना पड़ा, और उसके स्थान पर श्री अजाना राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। पोपुलर फ्रंट की इस विजय से कम्युनिस्टों का साहस बहुत बढ़ गया। उन्होंने जगह जगह पर उपद्रव शुरू कर दिया। जिन लोगों को साम्यवाद का विरोधी समझा जाता था, उन पर अनेक प्रकार से अत्याचार किये गये। बहुत से गिरजों और मठों को आग लगा दी गई। अनेक पादरियों पर हमले भी किये गये। ऐसा प्रतीत

होता था, कि स्पेन में अराजकता छा गई है, कोई व्यवस्थित सरकार कायम नहीं रही है।

२. फ्रांको का उत्कर्ष

इस समय मोरक्को की स्पेनिश सेना का प्रधान सेनापति जनरल फ्रांसिस्को फ्रांको था। वह कम्युनिज्म का प्रबल विरोधी था। स्पेन में जो स्थिति थी, उससे वह बहुत बेचैन था। १६ जुलाई १६३६ को उसने स्पेन की सरकार के खिलाफ विद्रोह कर दिया, और बहुत बड़ी मोरक्कन सेना को साथ लेकर अफ्रीका से स्पेन के लिए प्रस्थान कर दिया। स्पेन में जो लोग साम्यवादियों के विरोधी थे, दक्षिण पक्ष के थे, उन सबको उसने सरकार के खिलाफ बगावत करने के लिए आह्वान किया। तीन चौथाई स्थल सेना और आधी नौ सेना ने उसका साथ दिया। विद्रोह की अग्नि शीघ्र ही सम्पूर्ण दक्षिण-पश्चिमी स्पेन में फैल गई। इटली के फैसिस्ट और जर्मनी के नाजी फ्रांको की पीठ पर थे। इस समय यूरोप में विचार-धारा की एकता के कारण एक प्रकार की भ्रातृत्व की अनुभूति होने लग गई थी। फैसिस्ट और नाजी लोग समझते थे, स्पेन में भी यदि एक नेता का शासन स्थापित होगा, तो उसकी सहानुभूति उनके साथ रहेगी। यूरोप में एक नये प्रकार की राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में इससे सहायता मिलेगी, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फैसिस्टों व नाजियों का प्रभाव अधिक बढ़ जायगा। अबीसीनिया की विजय के बाद पूर्वी भूमध्य सागर में इटली का प्रभुत्व बढ़ गया था, और मुसोलिनी एक बार फिर इस सागर को इटालियन झील के रूप में परिवर्तित कर देने का स्वप्न देखने लगा था। उसका खयाल था, कि यदि स्पेन में भी फैसिस्ट शासन की स्थापना हो जाय, तो वह शासन सदा इटली के अनुकूल रहेगा, और पश्चिमी भूमध्य सागर भी उसके प्रभाव में आ जायगा।

जैसे फैसिस्ट और नाजी लोग फ्रांको का समर्थन कर रहे थे, वैसे ही रशिया के कम्युनिस्ट स्पेन की साम्यवादी सरकार की सहायता कर रहे थे। अन्य देशों से भी स्वयं सेवक एकत्र होकर अपने अपने विचारों के अनुसार फ्रांको या स्पेनिश सरकार का पक्ष लेकर लड़ने के लिए अपनी सेवाएँ अर्पण करने को उद्यत हो रहे थे। संसार के इतिहास में अब एक नई प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हो रही थी। दो परस्पर विरोधी विचार धाराएँ—फैसिज्म और कम्युनिज्म—एक दूसरे के साथ टकराने को उद्यत थीं। ऐसा प्रतीत होता था, कि स्पेन के सवाल को लेकर सारे यूरोप में युद्ध की अग्नि भड़क उठेगी। इस दशा में १५ अगस्त १९३६ को ब्रिटेन ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया, कि ब्रिटेन से कोई भी युद्ध-सामग्री स्पेन न जासके, जिससे कि वह देश स्पेन के गृहकलह में किसी भी प्रकार हिस्सा न ले सके। फ्रांस ने ब्रिटेन का अनुसरण किया। ब्रिटेन और फ्रांस ने अन्य राज्यों से भी यह निवेदन किया, कि वे स्पेन में किसी भी पार्टी का पक्ष न लें, और किसी को युद्ध-सामग्री न दें। इसके लिए एक समझौता कर लिया जाय, और लन्दन में एक कमेटी इस उद्देश्य से बना ली जाय, कि वह इस समझौते का पालन सब देश भली भाँति कर रहे हैं, इस बात पर निगाह रख सके। अनेक राज्य इस प्रस्ताव से सहमत हो गये। पर इसे सफलता नहीं मिल सकी। कारण यह है कि इटली और जर्मनी खुले तौर पर फ्रांको को सब तरह की सहायता कर रहे थे, और रशिया ने स्पेनिश सरकार की सहायता में कोई कसर उठा नही रखी थी।

स्पेन में प्रवेश करके फ्रांको निरन्तर आगे बढ़ता गया। शीघ्र ही पश्चिमी स्पेन पर उसने अधिकार कर लिया। फ्रांको की सेनाएँ आगे बढ़ती हुई मैड्रिड (स्पेन की राजधानी) तक पहुँच गईं। नवम्बर १९३६ में ऐसा प्रतीत होता था, कि शीघ्र ही मैड्रिड पर फ्रांको का कब्जा हो जायगा। इस दशा में जर्मनी और इटली ने घोषणा की, कि स्पेन की

असली सरकार फ्रांको की है, और वे उसकी न्याय्य सत्ता को स्वीकृत करते हैं। बहुत सी जर्मन व इटालियन सेनाएँ अब तक फ्रांको की मदद के लिए पहुँच गई थीं। इसी तरह रशिया और यूरोप के अन्य देशों में बहुत सी स्वयंसेवक सेनाएँ इस उद्देश्य से संगठित की जा रही थीं, कि वे स्पेन पहुँचकर वहाँ की रिपब्लिकन सरकार की सहायता करें। यूरोप भर में एक प्रकार का गृह-युद्ध शुरू हो गया था, जो स्पेन की भूमि पर लड़ा जा रहा था। इस गृह-युद्ध का वृत्तान्त यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं है। १६३६ के शुरू तक फ्रांको ने सम्पूर्ण कैटोलोनिया पर अपना अधिकार कर लिया था। रिपब्लिकन सरकार की स्थिति इतनी कमजोर हो गई थी, कि राष्ट्रपति अजाना ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। २६ मार्च, १६३६ को मैड्रिड पर फ्रांको का कब्जा हो गया। रिपब्लिकन सरकार की स्थिति अब इतनी निर्बल हो गई थी, कि युद्ध को जारी रखना बेकार था। फ्रांको को अपने प्रयत्न में सफलता हो गई थी, और स्पेन में भी जर्मनी और इटली के समान फैसिस्ट शासन कायम हो गया था, जिसका संचालन पूर्णतया फ्रांको के हाथ में था।

३. अन्य राज्यों में फैसिस्ट प्रवृत्तियाँ

जर्मनी और इटली में फैसिज्म के विकास से अन्य यूरोपियन राज्यों में भी इसी प्रकार की प्रवृत्तियों का उदय हुआ। महायुद्ध के बाद यूरोप में सर्वत्र लोकतन्त्र शासनों की स्थापना हुई थी। प्रायः सब राज्यों की जनता अनेक पार्टियों में विभक्त थी, जिन्हें हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं। (१) दक्षिण पक्ष के दल—ये पुराने युग के पक्षपाती थे। यदि पुराने राजवंशों की फिर से स्थापना हो सके, तो उससे इन्हें अपार संतोष होता। जो लोग राजवंशों के पुनरुद्धार को पसन्द नहीं भी करते थे, वे भी साम्यवाद की प्रवृत्ति के विरोधी होने के कारण ऐसा शासन चाहते थे, जिसमें कुलीनों और पूँजीपतियों की सत्ता

कायम रहे, और सरकार पर उनका असर रहे। (२) वामपक्ष—इसमें विविध साम्यवादी दल अन्तर्गत थे। सबसे उग्र वामपक्षी लोग कम्युनिस्ट थे, जो रशिया के मार्ग का अनुसरण कर आर्थिक क्षेत्र में क्रान्ति और नई व्यवस्था कायम करना चाहते थे। कम्युनिस्टों के अतिरिक्त वामपक्ष में साम्यवाद के विविध सम्प्रदायों के अनुयायी अन्य दल शामिल थे, जो क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य उपायों से समाज को नये रूप में संगठित हुआ देखना चाहते थे। (३) मध्यपक्ष—इसमें वे दल सम्मिलित थे, जो फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका के समान लोकतन्त्रवाद के अनुयायी थे, और राजनैतिक क्रान्ति से ही संतुष्ट थे। उनका विश्वास था, कि राजनैतिक सुधारों से आर्थिक सुधार स्वयमेव धीरे धीरे हो जावेंगे।

कम्युनिज्म सब जगह उन्नति कर रहा था। पर उसके विपरीत, प्रतिक्रिया के रूप में फैसिज्म का प्रवेश भी सब देशों में शुरू हो गया था। आस्ट्रिया में नाजी पार्टी कायम हो गई थी। १६३८ में जब हिटलर ने आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिला कर विशाल जर्मन राज्य के अपने स्वप्न को पूरा करने का प्रयत्न किया, तो आस्ट्रियन नाजियों ने उसका साथ दिया। नाजियों के सम्मुख शुशनिग (आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री) असहाय था। उसके पहले डालफस आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री था, वह नाजियों द्वारा ही कत्ल कर दिया गया था। शुशनिग नाजियों के सम्मुख नहीं ठहर सका, और आस्ट्रिया जर्मनी के साथ मिला लिया गया।

चेको-स्लोवाकिया में भी नाजी पार्टी का संगठन हो गया था। जब हिटलर ने इस राज्य पर आक्रमण किया, तो वहाँ के नाजियों ने उसका साथ दिया। युगोस्लाविया में नाजी या फैसिस्ट पार्टी संगठित नहीं हुई, पर वहाँ के राजा अलेक्जैण्डर ने सारी राजशक्ति अपने हाथों में कर ली। १६२६ में वह युगोस्लाविया पर डिक्टेटर के रूप में शासन करने लगा। पार्लियामेण्ट भंग कर दी गई, और लोकतन्त्र शासन का अन्त

कर दिया गया। युगोस्लाविया में राजा अलेक्ज़ैण्डर के शासन का वही स्वरूप था, जो कि इटली में मुसोलिनी के शासन का था।

रूमानिया में नाजी पार्टी का बाकायदा संगठन हुआ। रूमानियन नाजी अपने को 'आयर्न गार्ड' कहते थे। वे लोग भी यहूदियों के कट्टर शत्रु थे। कुछ समय के लिए रूमानिया का शासन-सूत्र भी उनके हाथ में आ गया था। पोलैण्ड का शासन भी देर तक लोकतन्त्र सिद्धान्तों पर आश्रित नहीं रह सका। पिलसुदस्की ने वहाँ की सब राजशक्ति अपने हाथों में कर ली। लिथुएनिया में १९२८ में जनरल स्मेटोना डिक्टेटर के रूप में शासन करने लगा, और लोकतन्त्र शासन का अन्त हो गया। लैटविया और एस्थोनिया में युद्ध के बाद जो नये शासन-विधान कायम किये गये थे, १९३४ में उनका अन्त कर दिया गया, और इन देशों की राजशक्ति भी डिक्टेटरों के हाथ में आ गई। हंगरी, बल्गेरिया, अल्बेनिया और ग्रीस में भी डिक्टेटरशिप की प्रवृत्ति प्रबल हुई, और लोकतन्त्र शासन व साम्यवाद के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित की गईं। पोर्तुगाल में १९२६ में ही लोकतन्त्रवाद का अन्त हो गया था, और जनरल कर्मोना ने अपनी स्वच्छन्द सत्ता कायम कर ली थी।

महायुद्ध के बाद लोकतन्त्रवाद की जो लहर सारे यूरोप में व्याप्त हो गई थी, वह देर तक कायम नहीं रही। शीघ्र ही उसके खिलाफ प्रतिक्रिया हुई। यह प्रतिक्रिया विभिन्न देशों में विभिन्न रूपों में प्रकट हुई। अभी यूरोप के विविध राज्य लोकतन्त्र शासन के लिए अभ्यस्त नहीं हुए थे। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति को हुए सवा सदी से अधिक समय व्यतीत हो चुका था। लोकतन्त्रवाद यूरोप के लिए नया नहीं था। पर मानव-समाज एक जीती-जागती सत्ता है, उसे जल्दी नहीं बदला जा सकता। नये विचारों के अनुसार परिवर्तित होने में उसे समय लगता है।

तिरपनवाँ अध्याय

आर्थिक संकट

१. हरजाने की समस्या

महायुद्ध के कारण मित्र राष्ट्रों की धन व जन की जो भारी हानि हुई थी, उसका उत्तरदायी जर्मनी और उसके साथियों को ठहराया गया था। बेल्जियम, ब्रिटेन व अन्य राज्य, जिन्हें लड़ाई के कारण बहुत नुकसान उठाना पड़ा था, यह समझते थे कि उन्हें अपनी क्षति की पूर्ति के लिए जिस रकम की आवश्यकता है, वह सब जर्मनी और उसके साथियों से वसूल करनी चाहिए। साथ ही, लड़ाई के समय में यूरोप के विविध राज्यों को बहुत बड़ी रकमें दूसरे देशों से कर्ज लेनी पड़ी थीं। पहले अमेरिका लड़ाई में शामिल नहीं था, पर वह मित्रराष्ट्रों को भारी रकमें कर्ज में दे रहा था। शुरू शुरू में ब्रिटेन ने भी अन्य देशों को कर्ज दिये। पर ज्यों ज्यों लड़ाई अधिक उग्र रूप धारण करती गई, ब्रिटेन के लिए किसी को कर्ज दे सकना सम्भव नहीं रहा। वह स्वयं अमेरिका से भारी रकम कर्ज में लेने को विवश हुआ। लड़ाई के समाप्त होने पर स्थिति यह थी, कि यूरोप के बहुत से राज्य अमेरिका और ब्रिटेन के कर्जदार थे, और स्वयं ब्रिटेन अमेरिका का ऋणी था। इस कर्ज को कैसे अदा किया जाय? फ्रांस, बेल्जियम, इटली व अन्य राज्य यह कहते थे, कि हम कर्ज की अपनी जिम्मेदारियों को तभी पूरा कर सकते हैं, जब हमें जर्मनी व उसके साथियों से हरजाना वसूल करने का अवसर मिले। इसी कारण पेरिस की शान्ति परिषद के बाद जर्मनी, हंगरी, आस्ट्रिया और बल्गेरिया पर हरजाने की बड़ी भारी रकमें लादी गई थीं, और इनकी

अदायगी की बात उन्हें स्वीकार करनी पड़ी थी। पर सवाल यह था, कि पराजित राज्यों से यह रकम वसूल कैसे की जाय? आस्ट्रिया, हंगरी और बल्गेरिया लड़ाई के बाद बिलकुल निर्बल हो गये थे, और उनके प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र उनके हाथ से निकलकर नये स्वतन्त्र राज्यों के अधीन कर दिये गये थे। इन निर्बल राज्यों से कोई अच्छी रकम वसूल करने की आशा सर्वथा निरर्थक थी। उनकी आर्थिक अवस्था संभल जाय, इसके लिए तो उन्हें स्वयं कर्ज की आवश्यकता थी। हरजाने की अदायगी का सब बोझ जर्मनी पर पड़ गया था। जर्मनी से जो कुछ वसूल हो सके, उसे किस प्रकार मित्रराष्ट्र आपस में बाँटें, इसका फैसला कर सकना कठिन नहीं था। एक कान्फरेन्स में मित्रराष्ट्र इस समझौते पर पहुँच गये थे, कि जर्मनी से जो कुछ मिले, उसका ५२ फी सदी फ़ांस को, २२ फी सदी ब्रिटेन को, ८ फीसदी बेल्जियम को, १० फी सदी इटली को और शेष ८ फी सदी अन्य मित्रराष्ट्रों में बाँट दिया जाये। पर असली प्रश्न यह था, कि जर्मनी से क्या कुछ और किस प्रकार वसूल किया जाय।

सबसे पहले यह कोशिश की गई, कि जर्मनी माल की शकल में हरजाना अदा करे। वह अपने इंजन, कल कारखानों की मशीनें, कोयला, लोहा और इसी प्रकार का अन्य व्यावसायिक माल देकर हरजाने की अच्छी खासी रकम अदा कर सकता है। जर्मनी ने इस तरह से बहुत सा माल दिया भी। पर इसका परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी के माल से फ़ांस, ब्रिटेन व अन्य देशों के बाजार भर गये। जर्मनी से मुफ्त में आया हुआ यह माल बाजार में बहुत सस्ती कीमत पर बिकने लगा। इसके मुकाबले में अपने देश के माल का बिकना मुशकिल हो गया। परिणाम यह हुआ, कि पूँजीपतियों ने इस तरह माल की शकल में हरजाना वसूल करने के खिलाफ आवाज उठाई, और मित्रराष्ट्रों ने यह तय किया, कि हरज़ाना माल की शकल में न लेकर नकद लिया

जाय। पर जर्मनी नकदी तभी दे सकता था, जब उसके निर्यात माल की मात्रा आयात माल के मुकाबले में ज्यादा रहे। इसके बिना और कोई उपाय ऐसा नहीं था, जिससे जर्मनी हरजाने की इतनी भारी रकम को अदा कर सके। पर प्रश्न यह था, कि जर्मनी अपने माल को कहाँ बेचे? लड़ाई से पहले जर्मनी के मुख्य बाजार रशिया व मध्य यूरोप के विविध देश थे। रशिया में बोल्शेविक क्रान्ति हो चुकी थी। वह देश इस स्थिति में नहीं था, कि जर्मनी वहाँ अपना माल भेज सके। मध्य और पूर्वी यूरोप में जो नये राज्य लड़ाई के बाद कायम हुए थे, वे सब अपनी व्यावसायिक उन्नति में लगे थे। विदेशी माल के मुकाबले में अपनी व्यावसायिक पैदावार की रक्षा के लिए वे संरक्षण नीति का अनुसरण कर रहे थे, और भारी आयात-करों के कारण जर्मनी के लिए यह सम्भव नहीं था, कि उन राज्यों में अपने माल को बेच सके। जर्मनी के सब उपनिवेश उससे छिन चुके थे, इस लिए वे बाजार भी उसके हाथ से निकल गये थे। इस दशा में अधिक मात्रा में अपने माल को विदेशों में बेच कर जर्मनी के लिए हरजाना अदा करना सम्भव नहीं था। अब उसके पास यही उपाय था, कि टैक्स अधिक बढ़ाये, सरकारी खर्च कम करे, और मुद्रा का प्रसार करे। मुद्रा के प्रसार से विदेशी विनिमय में जर्मनी सिक्के की कीमत गिरेगी, सिक्के की कीमत गिरने से दूसरे देशों में जर्मनी का माल सस्ता पड़ेगा, और इस प्रकार जर्मनी के लिए यह सम्भव होजायगा, कि वह अपना माल अधिक से अधिक मात्रा में दूसरे देशों को बेच सके, और उससे जो धन उसे प्राप्त हो, वह हरजाने की अदायगी के लिए प्रयुक्त किया जाय। जर्मनी ने इसी नीति का अनुसकरण किया। जर्मनी के सिक्के मार्क की कीमत गिरने लगी, जर्मनी का माल अन्य देशों में सस्ते दाम पर बिकने लगा। हालत यहाँ तक पहुँच गई, कि ब्रिटेन, फ्रांस व अमेरिका में इतनी दूर से आया हुआ जर्मनी का माल अपने देश के माल के मुकाबले में सस्ता बिकने लगा। कल-

कारखानों के मालिकों को फिर शिकायत का मौका हुआ, उन्होंने अपने देशों की सरकारों को इस बात के लिए विवश किया, कि संरक्षण नीति का अनुसरण किया जाय, बाहर से आने वाले माल पर आयात कर लगाये जावें। संरक्षण-कर की इस दीवार के कारण जर्मन माल का विदेशों से बिकना बन्द हो गया, और पैदावार बढ़ाकर व माल को दूसरे देशों में बेच कर हरजाने की अदायगी की सब आशा नष्ट हो गई।

अब जर्मनी के पास केवल यह उपाय शेष रहा, कि वह कर्ज ले और मुद्रा का और अधिक प्रसार करे। परिणाम यह हुआ, कि मार्क की कीमत लगातार गिरती गई, और जर्मनी का आर्थिक जीवन बिलकुल अस्त व्यस्त हो गया। सिक्के की कीमत गिरने का असर किसी भी देश के आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा पड़ता है। लोग अपने धन को, अपनी बचत को बैंकों में जमा करते हैं। बैंक उसी रकम का देनदार होता है, जो उसके पास जमा की गई हो। यदि उसके पास किसी के एक हजार मार्क जमा हैं, तो वह एक हजार मार्कों का ही देनदार है। बैंक को इस बात से कोई वास्ता नहीं, कि जब उसके पास रकम जमा कराई गई थी, तो उससे कितना माल खरीदा जा सकता था, और जब वह रकम वापस दे रहा है, तो उससे क्या कुछ माल खरीदा जा सकता है। यही हालत बीमा-कम्पनियों द्वारा दी जानेवाली रकमों, सरकारी कर्ज की रकमों और अन्य देनदारियों के बारे में समझी जा सकती है। मार्क की कीमत में किस तरह कमी हुई, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। एक पौंड के पहले २० मार्क आते थे, १९२० के बीच में उनकी कीमत गिर कर २५० पहुँच गई थी। १९२२ में एक पौंड के बदले में ३४,००० मार्क खरीदे जा सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि लोगों का जो कुछ रुपया पावना था, वह सब मिट्टी हो गया। कीमतें बेहद बढ़ गईं। आम मजदूरों को जो दैनिक मजदूरी मिलती है उसमें तो कीमतों के बढ़ने के साथ साथ वृद्धि हो जाती है। पर मध्य श्रेणी के लोगों को वेतन मिलते हैं, वे

श्चित होते हैं। यदि सिक्के की कीमत गिरे और चीजों की कीमतें बढ़ें, निश्चित वेतन पानेवाले लोगों के वेतनों में यथोचित वृद्धि नहीं हो ी। जर्मनी के मध्यश्रेणी के लोगों को इस दशा से बहुत कष्ट उठाना । उनकी आमदनी तो अब आम गरीब मजदूरों के बराबर रह गई पर उनका रहन-सहन ऊँचा था। उनमें बहुत बेचैनी और असन्तोष । विदेशी लोगों के लिये जर्मनी अब स्वर्ग के समान था। कोई भी दमी पौंड, रुपया, फ्रांक या डालर जेब में डाल कर जर्मनी में आनन्द जीवन बिता सकता था। कुछ रुपयों में सारे जर्मनी की यात्रा की जा ती थी। कुछ आने प्रतिदिन पर अच्छे से अच्छे होटल में टिका जा सकता । कुछ सौ रुपयों से अच्छी जायदाद खरीदी जा सकती थी। पर नी के लोग आर्थिक दुर्दशा से परेशान थे। उनके लिए यह असम्भव कि हरजाने की अदायगी में कुछ भी दे सकें। नकद कुछ भी दे ना उनके लिए नामुमकिन था। उनके सिक्के की कीमत धूल में मिल थी, उससे किसी भी विदेशी सिक्के को खरीद सकना उनके लिए ठन था। यही समय था, जब हरजाने को न दे सकने को निमित्त बना फ्रांस ने रूर के प्रदेश पर कब्जा कर लिया। हरजाने की अदायगी समस्या को सम्मुख रह कर विशेषज्ञों की एक कमेटी नियत की , जिसके प्रधान श्री० डावस थे। इस कमेटी ने एक नई योजना ार की, जो डावस योजना कहाती है। डावस योजना-द्वारा जर्मनी अनेक सुहूलियतें प्राप्त हुई। हरजाने के रूप में दी जानेवाली वार्षिक स्त में कमी की गई, अपनी आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने के लिये र्मनी अन्य देशों से कर्ज प्राप्त कर सके, यह प्रबन्ध किया गया, और र्क की कीमत को सँभालने के लिए नई मुद्रापद्धति का सूत्रपात या गया।

डावस-योजना द्वारा जर्मनी के साथ सहयोग की जिस भावना का रम्भ हुआ, वह निरन्तर विकसित होती गई। इस समय अमेरिका

और ब्रिटेन के समान फ्रांस के राजनीतिज्ञों ने भी यह समझ लिया था, कि जर्मनी को दबाने की नीति की अपेक्षा उससे सहयोग की नीति अधिक हितकर है। इसी लिए १९२९ में एक नई योजना तैयार की गई, जिसका उद्देश्य जर्मनी के साथ पूरी तरह समझौता कर लेना था। इसके लिए अर्थशास्त्रियों की जो कमेटी नियुक्त की गई थी, उसके अध्यक्ष यंग नामक एक अमेरिकन थे। इसी लिए यह यंग-योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार यह तय किया गया कि (१) जर्मनी को हरजाने के रूप में जो कुल रकम अदा करनी है, उसे घटाकर एक तिहाई कर दिया जाय। हरजाने की नई रकम अब २५०० करोड़ रुपया निश्चित की गई। (२) इस रकम को जर्मनी ५८ सालाना किस्तों में अदा करे। (३) जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था पर किसी भी प्रकार का विदेशी नियन्त्रण न रहे। (४) मित्रराष्ट्र अपनी सेनाएँ रहाइनलैण्ड से हटा लें। यंग-योजना की इन सिफारिशों के आधार पर एक सन्धि तैयार की गई, जिस पर १९३० के शुरू में सब राज्यों ने अपने हस्ताक्षर कर दिये।

जर्मनी से वसूल की जानेवाली हरजाने की रकम में कमी करने से फ्रांस बहुत असंतुष्ट था। उसे खुश करने के लिए यह निश्चय किया गया, कि जर्मनी से जो कुछ वसूल हो, उसका ७५ फी सदी फ्रांस को दिया जाय। पुराने समझौते के अनुसार फ्रांस को हरजाने का केवल ५२ फी सदी मिलता था। अब यह मात्रा बढ़ाकर ७५ फी सदी कर दी गई थी।

यंग-योजना को स्वीकृत हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था, कि संसार-व्यापी आर्थिक संकट का प्रारम्भ हो गया। १९२९ में सब जगह कीमतें गिरनी शुरू हो गई थीं। यह प्रक्रिया १९३० और १९३१ में जारी रही। १९३१ तक कीमतें इस हद तक गिर गई थीं, कि कारखानों को भारी नुकसान होने लग गया था। व्यापार, व्यवसाय और सब प्रकार

के कारोबार में नुकसान ही नुकसान नजर आता था। कारखाने धड़ा-धड़ बन्द हो रहे थे। लाखों मजदूर बेकार हो गये थे। जर्मनी भी आर्थिक संकट के इस तूफान में फँस गया। यंग-योजना द्वारा हरजाने की जो वार्षिक किस्त तय हुई थी, (यह किस्त शुरू के सालों के लिए १५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष रखी गई थी), उसे अदा कर सकना उसके लिए असम्भव हो गया। जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों से प्रार्थना की, कि हरजाने की अदायगी के लिए फिर समय दिया जाय। आर्थिक संकट को दृष्टि में रखते हुए मित्रराष्ट्रों को उसकी यह बात माननी पड़ी। हरजाने के सम्बन्ध में विचार करने के लिए विविध राज्यों के प्रतिनिधि फिर एक वार १९३२ में एकत्र हुए। इस बार उनकी कान्फरेन्स लोजान में हुई। सब लोग यह बात भली भाँति अनुभव करते थे, कि जर्मनी के लिए हरजाने को अदाकर सकना असम्भव है। एक प्रस्ताव यह उपस्थित हुआ, कि हरजाने की कुल रकम को घटाकर २१० करोड़ रुपया तय कर दिया जाय। फ्रांस आदि इसके लिए तैयार थे, पर वे यह कहते थे, कि उन्होंने स्वयं जो रकम अमेरिका को देनी है, उसमें भी इसी हिसाब से कमी कर दी जाय। अमेरिका इसके लिए तैयार नहीं हुआ। लोजान की कान्फरेन्स असफल हो गई। पर इसके बाद न जर्मनी ने कोई हरजाना मित्रराष्ट्रों को दिया, और न अमेरिका अपने कर्ज की कोई रकम अन्य राज्यों से वसूल कर सका। जर्मनी में अब नाजी पार्टी जोर पकड़ रही थी। हिटलर ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी थी, कि वह हरजाने की कोई भी रकम अदा करने को तैयार नहीं है। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी ने जो कुछ हरजाना मित्रराष्ट्रों को देना था, उसका कोई भी अंश १९३२ के बाद जर्मन सरकार ने नहीं दिया। साथ ही साथ, अमेरिका और ब्रिटेन ने यूरोप के विविध राज्यों से जो कुछ प्राप्त करना था, वह भी उन्हें प्राप्त नहीं हो सका। हरजाने की समस्या स्वयमेव हल हो गई, और जर्मनी व यूरोप के अन्य राज्य अपनी अपनी देनदारी से

मुक्त हो गये। यूरोप की आर्थिक अवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक परिस्थिति इस समय इतनी जटिल होती जाती थी, कि हरजाने और राष्ट्रीय देनदारियों की समस्या उनके सम्मुख फिलहाल उपेक्षणीय प्रतीत होती थी।

२. अन्य आर्थिक समस्यायें

हरजाने और अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों के अतिरिक्त जो अन्य बहुत सी आर्थिक समस्यायें महायुद्ध के बाद यूरोप में उत्पन्न हुईं, उनका संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है। संसारव्यापी आर्थिक संकट को समझने में उससे सहायता मिलेगी। युद्ध के समय में करोड़ों आदमी अपने साधारण पेशों को छोड़कर सेना में भरती हुए थे, या युद्ध-सम्बन्धी अन्य कार्यों में लग गये थे। लड़ाई के खतम होने पर ये सब बेकार हो गये। न अब दफ्तरों में काम करने वाले उन क्लर्कों की जरूरत थी, जो बहुत बड़ी संख्या में लड़ाई के दिनों में भरती किये गये थे। सेनायें युद्धक्षेत्र से वापस लौट आई थीं, उनके सैनिकों को बहुत बड़ी संख्या में छुट्टी दी जा रही थी। लड़ाई के लिए सब प्रकार का सामान जुटाने के लिए जो ठेकेदार, शिल्पी व मजदूर काम कर रहे थे, वे सब अब बेकार हो गये थे। जिन कारखानों में अस्त्र-शस्त्र, बारूद, फौजी कपड़े व अन्य युद्ध-सामग्री तैयार होती थी, उनके पास काम की बहुत कमी हो गई थी। इनमें काम करनेवाले मजदूरों को छुट्टी दी जा रही थी, और पूँजीपतियों के मुनाफे घटने शुरू हो गये थे। लड़ाई के कारण सब प्रकार के कारोबार में जो एक तरह की समृद्धि हो गई थी, वह अब नष्ट हो गई थी। सब ओर नुकसान, बेकारी और असन्तोष के चिन्ह प्रगट होने लगे थे। महायुद्ध से पूर्व ब्रिटेन, फ्रांस आदि उन्नत यूरोपियन देश अपनी व्यावसायिक पैदावार का बड़ा भाग अन्य देशों में भेजते थे। एशिया, पूर्वी यूरोप और अफ्रीका के बाजार इस माल से भरे रहते थे, और इनकी बिक्री से जो रुपया प्राप्त होता था, उसके कारण ये देश बड़े अमी-

और समृद्ध बने हुए थे। पर अब इन बाजारों पर फिर से कब्जा कर सकना सुगम काम नहीं था। इसके अनेक कारण हैं। (१) पूर्वी व मध्य यूरोप में जो नये राज्य कायम हुए थे, उनमें राष्ट्रीयता की भावना बड़ी प्रबल थी। वे स्वयं अपने देश की व्यावसायिक उन्नति के लिये प्रयत्न कर रहे थे। अपने व्यवसायों की रक्षा के लिए उन्होंने संरक्षण नीति का अवलम्बन किया था। लड़ाई से पहले जर्मनी का बहुत सा माल उन प्रदेशों के बाजारों में खपता था, जिनमें कि बाद में पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया आदि राज्य कायम हुए थे। ब्रिटेन और फ्रांस भी इनमें काफी माल भेजते थे। पर अब इनके बाजार पश्चिमी यूरोप के देशों के लिए प्रायः बन्द हो गये थे। (२) बोल्शेविक क्रान्ति के कारण रशिया का बाजार भी पश्चिमी यूरोप के देशों के लिए खुला नहीं रहा था। (३) भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हो गया था। विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के आन्दोलन ने वहाँ जनता में जागृति उत्पन्न कर दी थी, और ब्रिटिश माल की खपत बहुत कम हो गई थी। (४) महायुद्ध के समय में जापान ने एशिया के बाजारों पर कब्जा कर लिया था। जापान का माल यूरोपियन माल के मुकाबले में बहुत सस्ता था। यूरोप के लिए यह सम्भव नहीं था, कि जापान के मुकाबले में एशिया के बाजारों में खड़ा हो सके। (५) महायुद्ध के समय में भारत में भी अच्छी व्यावसायिक उन्नति हुई थी। अपनी आवश्यकता का कपड़ा भारत बहुत कुछ स्वयं बनाने लगा था, और अँगरेजी कपड़े की माँग बहुत घट गई थी। (६) एशिया के अन्य देशों में भी राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। विदेशी माल पर निर्भर रहने के बजाय सब देश अपनी आवश्यकतायें स्वयं पूर्ण करने के लिए उत्सुक थे। आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त ने विदेशी व्यापार के मार्ग में बहुत सी बाधायें उपस्थित कीं, और उन देशों के लिए एक बड़ी समस्या उत्पन्न कर दी, जिनकी समृद्धि का मुख्य आधार ही विदेशी व्यापार था।

महायुद्ध के समय में धन-सम्पत्ति का जो विनाश हुआ, उसके कारण भी यूरोप में अनेक आर्थिक समस्यायें उत्पन्न हुईं। बेल्जियम और फ्रांस के बहुत बड़े इलाके लड़ाई के कारण बरबाद हो गये थे। इनके पुनरुद्धार का मतलब था, रुपये का बहुत बड़ी मात्रा में व्यय होना। यह रुपया कहाँ से आता? जो सम्पत्ति एक बार नष्ट हो जाती है, वह अपने स्वामियों के लिए एक चिन्ता की बात रहती है। उसे फिर से कमाने का यत्न तो किया ही जाता है, पर मानव समाज की सामूहिक दृष्टि से एक बार नष्ट हुई सम्पत्ति फिर लौटकर वापस नहीं मिल सकती। फ्रांस और बेल्जियम ने जर्मनी से हरजाना वसूल करके अपने नुकसान को पूरा करना चाहा। पर युद्ध ने जो विनाश किया, उसका असर मानव समाज पर पड़ना अवश्यंभावी था।

३. आर्थिक संकट का प्रादुर्भाव

१६२६ में न केवल यूरोप अपितु सम्पूर्ण संसार में आर्थिक संकट के चिन्ह प्रगट होने लगे। सिक्का सब जगह कम हो गया, कीमतें गिरने लगीं, बैंकों के लिए रुपया अदा करना कठिन हो गया। अनेक बैंक फेल हो गये, कारखानों और अन्य कारोबारों में नुकसान रहने लगा। बहुत सी कम्पनियाँ फेल हो गईं, लाखों मजदूर बेकार हो गये। माल से बाजार भरे पड़े थे, पर उन्हें खरीदनेवाला कोई न था। लोगों को सब तरह के सामान की जरूरत थी, पर उनकी जेब में खरीदने के लिए पैसा नहीं था। सरकारी आमदनी कम हो गई थी, टैक्स वसूल नहीं होते थे। सरकारी खर्च के लिए धन कहाँ से आता, राजकीय बजट सब जगह नुकसान दिखाते थे। आर्थिक संकट का यह भयावह रूप था। यह संकट किन कारणों से उपस्थित हुआ, इस पर संक्षेप से प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक संकट के कारण निम्नलिखित थे—

(१) व्यावसायिक क्रान्ति के कारण कल-कारखानों का जो बड़े

पैमाने पर विकास हुआ था, उससे छोटे कारोबारों का बड़े कारोबारों
मुकाबले में टिकना कठिन हो गया था। बड़े कारोबारों के लिए ब
पूँजी चाहिए। यह बड़ी पूँजी हर एक आदमी के पास नहीं होती। या
यह कुछ खास बड़े पूँजीपतियों के पास होती है, या इसकी व्यवस्था
बैंक करते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि आधुनिक आर्थिक व्यवस्
में सब कारोबार, सब आर्थिक उत्पत्ति और सब व्यवसाय एक के
में केन्द्रित होने की प्रवृत्ति रखते हैं। राज्यों की. आन्तरिक आर्थि
व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा या मुकाबले (कम्पीटीशन) की प्रवृत्ति नष्ट हो जा
है। सारा व्यावसायिक जीवन कुछ थोड़े से लोगों के हाथ में आ जाता है
और वे मनमानी तरीके से काम कर सकते हैं, विशेषतया उस दशा
जब कि राज्य उनकी स्वच्छन्दता में किसी प्रकार का नियन्त्रण न रखत
हो, और 'खुली आजादी' के ऊसूल का अनुसरण करता हो। इस दश
में राज्यों के आन्तरिक मुकाबले का तो अन्त हो जाता है, पर अन्तर्राष्ट्री
क्षेत्र में मुकाबला जारी रहता है। राष्ट्रसंघ ने राजनैतिक क्षेत्र में तो विवि
राज्यों में परस्पर सहयोग के लिये प्रयत्न किया, पर आर्थिक क्षेत्र
सहयोग की किसी प्रकार की कोशिश नहीं की गई। परिणाम यह हुआ
कि प्रत्येक देश स्वतन्त्र रूप से अपनी आर्थिक उन्नति के लिये तत्प
रहा। दूसरे देशों का माल अपने व्यवसायों को नुकसान न पहुँचाये
इसके लिये संरक्षण-कर लगाये गये। दूसरे देशों में अपना माल सस्त
बिक सके, इसके लिये मुद्रा का प्रसार किया गया, या कारखानों क
आर्थिक मदद दी गई, ताकि वे अपना माल लागत से भी कम खर्च
पर बेच कर दूसरे देशों का मुकाबला कर सकें। इन सब बातों से खुले
विदेशी व्यापार में अनेक बाधायें उपस्थित हुईं, और एक देश से दूस
देश में माल का आना-जाना रुक गया। आर्थिक दृष्टि से यह बात
उचित नहीं थी। इस दशा को ठीक करने के दो ही उपाय थे, या तो
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में परस्पर सहयोग स्थापित करने का प्रयत्

किया जाता और या देशों के आन्तरिक कारोबार को इस तरह सरकार की ओर से नियन्त्रित किया जाता, जिससे आर्थिक उत्पत्ति देश की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर होती और थोड़े से पूँजीपतियों को मनमानी करने का अवसर न मिलता। पर ये दोनों ही बातें नहीं की गईं।

(२) महायुद्ध के बाद संसार का बहुत अधिक सोना दो देशों में एकत्र होने लगा, अमेरिका और फ्रांस में। लड़ाई के समय में अमेरिका को व्यावसायिक उन्नति का अपूर्व अवसर हाथ लगा था। पहले सालों में वह लड़ाई में शामिल नहीं हुआ, पर अपना माल और अस्त्र-शस्त्र आदि युद्ध-सामग्री मित्रराष्ट्रों को देता रहा। जब वह लड़ाई में शामिल हो गया, तो भी युद्ध के क्षेत्र से बहुत दूर रहा। लड़ाई का कोई ध्वंसकारी असर उस पर नहीं पड़ा। उसके कल-कारखाने पूरे जोर के साथ काम करते रहे, और वह अन्य देशों को बहुत बड़ी मात्रा में माल देता रहा। अन्य देश उसके कर्जदार हो गये। इस कर्ज की मात्रा बहुत अधिक थी। मित्रराष्ट्रों को जो कर्ज अमेरिका को अदा करना था, वह ३००० करोड़ रुपये से भी अधिक था। इस सारे कर्ज को अन्य राज्य अदा नहीं कर सके। बाद में इसका बड़ा अंश रद्द कर दिया गया। पर १६३१ तक कर्ज की अदायगी में जो धन अमेरिका पहुँचा, उसकी मात्रा भी पर्याप्त थी। यह धन माल की शकल में अमेरिका को नहीं दिया जा सकता था, क्योंकि अमेरिकन व्यवसायों का मुकाबला कर सकना अन्य देशों के लिये सुगम नहीं था। जर्मनी और जापान के सस्ते माल से अपने देश के व्यवसायों की रक्षा करने के लिये अमेरिका ने भी आयात-करों का आश्रय लिया था। यह रकम अमेरिका ने सोने के रूप में ही प्राप्त की थी। फ्रांस ने लड़ाई में बहुत नुकसान उठाया था, पर जर्मनी से जो कुछ भी हरजाना वसूल हो सका, उसका आधे से अधिक भाग फ्रांस ने ही प्राप्त किया। यही कारण है, कि संसार भर का सोना खिंच खिंच कर अमेरिका और फ्रांस के पास एकत्र हो गया था। अनुमान किया गया है, कि १६३० के

अन्त में रशिया के अतिरिक्त संसार के अन्य सब देशों में जितना भी कुल सोना था, उसका ६० फी सदी अमेरिका और फ्रांस के पास था। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि अन्य सब देशों के पास सोने की बहुत कमी थी। सोना मुद्रा पद्धति का आधार होता है, और कीमतें उसी से मापी जाती हैं। सोने के कम होने का मतलब यह था, कि सिक्के की कीमत बढ़ जाय, और अन्य सब माल की कीमतें गिर जावें। १६२६ में संसार में जो आर्थिक संकट उपस्थित हुआ, उसका एक बड़ा कारण सोने और सिक्के की यह कमी भी थी।

(३) डावस योजना के बाद जर्मनी को और देशों से कर्ज लेने का अवसर दिया गया। अनुमान किया गया है, कि डावस योजना के स्वीकृत होने के बाद पाँच सालों में जर्मनी ने १३५० करोड़ रुपया विदेशों से कर्ज में प्राप्त किया था। इसका बड़ा हिस्सा अमेरिका द्वारा दिया गया था। न केवल जर्मन सरकार, अपितु जर्मन म्यूनिसिपैलिटियों, कम्पनियों और बैंकों ने भी विदेशों से कर्ज लिया। इस कर्ज के कारण जर्मनी में पूँजी व सिक्के की कोई कमी नहीं रह गई थी। जर्मनी के व्यवसाय और व्यापार में एक तरह की समृद्धि इस पूँजी से पैदा हो गई थी। इन पाँच सालों में १३५० करोड़ रुपया जर्मनी ने अन्य देशों से प्राप्त किया, और केवल ६०० करोड़ रुपया हरजाने के तौर पर अदा किया। ७५० करोड़ की उसे बचत रही। पर १६२६ में अमेरिका ने फैसला किया, कि जर्मनी को अब भविष्य में कोई कर्ज न दिया जाय। इस नीति परवर्तन के कई कारण थे। अमेरिका को अपने पहले कर्जों को वसूल करने में दिक्कतें पेश आ रही थीं। यूरोप के विभिन्न देशों में राजनैतिक परिस्थिति ऐसी थी, कि उनकी साख पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता था। इस समय तक कीमतें गिरनी शुरू हो गई थीं, सब जगह सिक्के की कमी अनुभव होने लगी थी। अमेरिका को स्वयं इस बात की आवश्यकता थी, कि अपने व्यवसायों की रक्षा के लिये संरक्षण

नीति का अवलम्बन करे। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि वह यूरोप के विभिन्न राज्यों को कर्जा देता रहे। अमेरिका के इस नीति परिवर्तन का परिणाम जर्मनी के लिये बड़ा भयंकर हुआ। वहाँ की आर्थिक व्यवस्था एक दम छिन्न भिन्न हो गई। सिक्के व पूँजी की एक दम कमी हो गई। सरकार को अपना बजट पूरा करना मुश्किल हो गया। उसके बजट में ६० करोड़ रुपये का घाटा रहा। हरजाने की जो सालाना किस्त उसे अदा करनी थी, वह १५० करोड़ थी। विदेशी कर्ज पर जो सूद उसे देना था, वह भी १०० करोड़ से ऊपर था। इतनी भारी रकमों का इन्तजाम वह कहाँ से करता? जर्मनी में घोर आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। सिक्के की कमी से कीमतें बुरी तरह गिरने लगीं। कारखानों में घाटा होने लगा। १९२९ से पहले जर्मनी से जो माल बाहर जाता था, उसकी कीमत ९०० करोड़ रुपये से अधिक थी। आर्थिक संकट के परिणामस्वरूप १९३२ में जर्मनी के निर्यात माल की कीमत ३२० करोड़ रुपया रह गई! इस दशा में बहुत से कारोबारों का बन्द हो जाना बिलकुल स्वाभाविक था। १९३२ में जर्मनी में बेकारों की संख्या ६० लाख तक पहुँच गई थी। इस भयंकर बेकारी की समस्या का हल किस प्रकार किया जाय, जर्मन सरकार के सम्मुख यह जटिल प्रश्न था। जर्मनी के समान अन्य देशों में भी बेकारी की समस्या विकट रूप धारण कर रही थी।

(४) इस स्थिति को सँभालने का एक इलाज यह हो सकता था, कि आर्थिक क्षेत्र में भी संसार के विविध राज्य परस्पर सहयोग से काम करते। फ्रांस के विदेशमन्त्री श्री ब्रियाँ ने इस समय यह विचार पेश किया, कि यूरोप के सब राज्यों को मिल कर एक संघ बना लेना चाहिए। यह संघ न केवल राजनैतिक जीवन को नियन्त्रित करे, अपितु आर्थिक जीवन पर भी निरीक्षण रखे। इसमें सन्देह नहीं, कि इस समय संसार की जो आर्थिक दशा थी, उसमें यह आवश्यक था, कि श्रम विभाग के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जाय। कौन देश क्या

माल उत्पन्न करे, उसकी मात्रा कितनी हो और उसका किस आधार पर विनिमय किया जाय—यह सब यदि एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ द्वारा निश्चय होसकता, तो यह आर्थिक संकट उपस्थित न होता। पर इस समय अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की तो बात ही क्या, राष्ट्रीय क्षेत्र में भी राजकीय नियन्त्रण का अभाव था। पूँजीपति लोग मनमानी कर रहे थे, और उनके हितों की रक्षा के लिए सरकारें संरक्षण नीति का अनुसरण कर रही थीं। व्रियाँ की बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, और यूरोपियन संघ की बात स्वप्न ही रह गई।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का इस समय इतना अभाव था, कि जब यूरोप में लाखों आदमी बेकार थे, अमेरिका ने अपने देश में आकर बसने वाले लोगों के मार्ग में बाधा उपस्थित कर दी। १९०१ से १९१० तक दस सालों में ९० लाख के लगभग आदमी यूरोप से अमेरिका में बसने के लिए गये थे। अगले दस सालों में (१९२० तक) इस तरह से अमेरिका में बसने वाले लोगों की संख्या ६० लाख थी। १९२१ के बाद यह संख्या निरन्तर घटती गई। अमेरिकन सरकार ने अनेक कानून पास किये, जिनसे अमेरिका जाकर बसने वालों की संख्या १,५०,००० वार्षिक नियत कर दी गई। परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी, इटली आदि से बहुत कम लोग अमेरिका जासके। यदि यह कानून न बने होते, तो यूरोप के लाखों बेकार इस समय अमेरिका चले जाते। इससे दो लाभ होते। (१) अमेरिका के कारखाने जो माल बहुत बड़ी मात्रा में तैयार कर रहे थे, उसके खरीदार उन्हें वहीं मिल जाते, और वहाँ आर्थिक संकट बहुत उग्र रूप धारण न कर पाता। (२) यूरोप में बेकारों की संख्या कम हो जाती। वहाँ न केवल आर्थिक संकट कम उग्र होता, अपितु इटली आदि में उपनिवेशों की स्थापना के लिए जो घोर बेचैनी पैदा हो गई, वह भी न होती। इन लाखों बेकार आदमियों को काम चाहिए था। यूरोप के देश सोचते थे, इसका सब से अच्छा उपाय यह है, कि हमारे अपने

उपनिवेश हों। वहाँ न केवल हमारे बेकार आदमी बस सकते हैं, अपितु अपनी व्यावसायिक पैदावार के लिए बाजार भी मिल सकता है।

(५) अमेरिका में सिक्के व सोने की कोई कमी नहीं थी। वहाँ तो इनकी अत्यधिक प्रचुरता थी। अमेरिका के सरकारी खजाने व बैंक सोने से भरपूर थे। वहाँ सिक्के की कीमत चढ़ने का कोई प्रश्न नहीं था। पर महायुद्ध के समय में अमेरिका की उत्पादन-क्षमता में जो असाधारण वृद्धि हुई थी, उससे तैयार हुए माल को खपाया कहाँ जाय, यह सवाल बड़ा विकट था। यह सब माल अमेरिका में नहीं खप सकता था, क्योंकि वह उसकी जरूरतों से बहुत अधिक था। इसे दूसरे देशों में ही खपाया जा सकता था। पर और देशों के पास इसे खरीदने के लिए सिक्का होना चाहिए था। यह सिक्का उनके पास था नहीं। वे अमेरिका के माल को खरीदते, तो किस प्रकार? साथ ही, राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर अन्य सब देश अपनी व्यावसायिक पैदावार को बढ़ाने में तत्पर थे। अपने व्यवसायों की रक्षा के लिए वे संरक्षण-नीति का अवलम्बन कर रहे थे। इस दशा में अमेरिका के माल की खपत मुश्किल हो गई। वहाँ आर्थिक संकट उपस्थित हुआ, सिक्के की कमी से नहीं, अपितु माल की अधिकता से। चीजों की कीमतें गिरने लगीं। १६२६ में अमेरिका में विविध चीजों की कीमतें आधी रह गई थीं। कारखानों को जबरदस्त घाटे का सामना करना पड़ा। शेयर बाजार में कीमतें गिरने लग गईं, अच्छे से अच्छे शेयर का मूल्य कायम नहीं रह सका। लोगों को जबर्दस्त नुकसान उठाना पड़ा, और बहुत सी कम्पनियों व धनिकों का तो दिवाला ही निकल गया। अमेरिका और जर्मनी में जो प्रक्रिया शुरू हुई, अन्य देश भी उससे बचे नहीं रहे। ब्रिटेन पर इस आर्थिक संकट का क्या प्रभाव पड़ा, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि १६३२ में वहाँ बेकारों की संख्या ३० लाख के लगभग पहुँच गई थी!

विश्वव्यापी अर्थ संकट पर विचार करने के लिए जून १६३३ में एक

करे, तो यह समझा जाय, कि उसने राष्ट्रसंघ के सब सदस्य-राज्यों के विरुद्ध लड़ाई प्रारम्भ की है। ऐसे समय में उस 'विद्रोही' राज्य को काबू करने के लिए राष्ट्रसंघ के पास ये उपाय थे—(१) उस विद्रोही राज्य के साथ जो भी आर्थिक या व्यापारिक सम्बन्ध अन्य राज्यों के हों, उन्हें भंग कर दिया जाय। न उसके साथ व्यापार किया जाय, न उसे कोई कर्ज दिया जाय, और न उसे कोई भी माल दिया जाय। (२) यदि इतने से भी काम न चले, तो कौंसिल का यह कर्तव्य हो, कि वह उस विद्रोही राज्य के खिलाफ सैनिक कार्रवाई करे, और इस बात की योजना तैयार करे, कि राष्ट्रसंघ में सम्मिलित विविध राज्य किस प्रकार इस सैनिक कार्रवाई में हाथ बँटा सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं, कि छोटे राज्यों के आपसी झगड़ों को निबटाने में राष्ट्रसंघ ने बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया। इनमें से कुछ का उल्लेख उपयोगी है। (१) बाल्टिक सागर में आलण्ड नाम के द्वीप हैं, उन पर किसका प्रभुत्व हो, इस सम्बन्ध में स्वीडन और फिनलैण्ड में झगड़ा हुआ। १९२० में यह मामला राष्ट्रसंघ के सम्मुख पेश हुआ, और उसकी कौंसिल ने अपना फैसला फिनलैण्ड के पक्ष में दिया। इसे दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया। (२) अपर साइलीसिया का प्रदेश पोलैण्ड को मिले या जर्मनी को, यह मामला १९२१ में राष्ट्रसंघ के सामने पेश हुआ। कौंसिल ने इस बारे में समझौता करा दिया, और अपर साइलीसिया के क्षेत्र में जर्मनी और पोलैण्ड की सीमा तय कर दी। (३) १९२५ में ग्रीस ने बल्गेरिया के ऊपर हमला किया। इस हमले का कारण सीमा सम्बन्धी कुछ झगड़े थे। राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने इस पर अपना रोष प्रगट किया, और ग्रीस को आर्थिक बहिष्कार की धमकी दी। इस पर ग्रीस ने युद्ध बन्द कर दिया, और बल्गेरिया पर हमला करनेवाली सेनाओं को वापस बुला लिया। (४) १९३२ में कोलम्बिया और पेरू (अमेरिका में) में झगड़ा हुआ। पेरू की सेनाओं ने कोलम्बिया की सीमा पर

विद्यमान एक नगर पर कब्जा कर लिया। राष्ट्रसंघ ने इस मामले में हस्तक्षेप किया। वह नगर कोलम्बिया को वापस दिला दिया गया, और पेरू ने अपनी अनुचित हरकत के लिए बाकायदा क्षमा माँग ली। इस प्रकार राष्ट्रसंघ ने विविध राज्यों के आपसी झगड़ों को निपटाने के सम्बन्ध में उपयोगी कार्य किया।

पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इन झगड़ों के दोनों पक्षों के राज्य छोटे-छोटे थे। उनका यह साहस नहीं हो सकता था, कि राष्ट्रसंघ का विरोध कर सकें। यदि राष्ट्रसंघ बड़े राज्यों के आपसी झगड़ों को भी इसी तरह से निपटा सकता, तो अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या सदा के लिए हल हो जाती। राज्यों को लड़ने की आवश्यकता न रहती, और संसार के इतिहास में एक नवयुग का प्रारम्भ हो जाता। पर जब कभी बड़े शक्तिशाली राज्यों में किसी सवाल पर झगड़ा हुआ, तो राष्ट्रसंघ ने अपने को असहाय पाया। १९२३ में पोलैण्ड ने लिथुएनिया के प्रसिद्ध नगर विल्ना पर कब्जा कर लिया। लिथुएनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की। पर फ्रांस पोलैण्ड की पीठ पर था। ब्रिटेन और इटली भी उसके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं करना चाहते थे। लिथुएनिया को मन मार कर चुप रह जाना पड़ा, और पोलैण्ड ने विल्ना पर कब्जा कायम रखा। १९२३ में ही इटली और ग्रीस में झगड़ा हो गया। अल्बेनिया और ग्रीस की सीमा को निश्चित करने के लिए एक कमीशन काम कर रहा था, जिसके कतिपय सदस्य इटालियन थे। कुछ ग्रीक क्रान्तिकारियों ने इनकी हत्या कर दी। इस पर इटली ने कोर्फू के टापू पर हमला कर दिया, और ग्रीक सरकार को हरजाने की एक बड़ी रकम अदा करने के लिए विवश किया। ग्रीस ने राष्ट्रसंघ से अपील की। पर इस मामले में इटली राष्ट्रसंघ की कोई भी बात सुनने के लिए तैयार नहीं था। उसका कहना था, कि यह इटली की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का प्रश्न है। आखिर फ्रांस और ब्रिटेन ने बीच में पड़कर समझौता कराया। इटली ने फ्रांस और ब्रिटेन के बीच बचाव

को इसलिए मान लिया, क्योंकि वे उसके समकक्ष राज्य थे, और उनके साथ उसका मैत्री सम्बन्ध था। पर राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप को सहने के लिए वह किसी भी तरह तैयार नहीं था।

मंचूरिया का प्रदेश चीन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें जापान के पूँजीपतियों ने बहुत सा रुपया लगा रखा था। जापान चाहता था, कि यह प्रदेश उसके प्रभाव में रहे। पर चीन में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो रही थी, और चीनी लोग यह नहीं चाहते थे, कि जापान किसी भी तरह उनके प्रदेश में हस्तक्षेप करे। यह झगड़ा इतना बढ़ा, कि १९३१ में जापानी सेनाओं ने मंचूरिया पर हमला कर दिया और उसकी राजधानी मुकदन पर अपना कब्जा कर लिया। इस पर चीन ने राष्ट्र-संघ से अपील की। राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने जाँच के लिए एक कमीशन भेजा, और जापान को यह आदेश दिया, कि वह अपनी सेनायें मंचूरिया से वापस बुला ले। जापान ने राष्ट्र-संघ के आदेश पर कोई ध्यान नहीं दिया। मंचूरिया को जीत कर उसे चीन से अलग कर दिया गया, और मंचूकाओ के नाम से उसे एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित किया गया। यह राज्य नाम को तो स्वतन्त्र था, पर असल में जापान के अधीन था। राष्ट्रसंघ ने अपने सदस्य राज्यों को यह आदेश दिया, कि मंचूकाओ की सत्ता को स्वीकार न करें। इस पर जापान राष्ट्रसंघ से अलग हो गया। यदि राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्यों को पूर्ण करने का उद्योग करता, तो उसे पहले जापान का आर्थिक बहिष्कार कराना चाहिये था, और यदि बहिष्कार से जापान काबू न आता, तो उसके खिलाफ सैनिक कार्रवाई की व्यवस्था करनी थी। पर राष्ट्रसंघ जापान जैसे शक्तिशाली देश के विरुद्ध कदम उठाने में संकोच करता था। असली बात तो यह है, कि बड़े राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अकेले राष्ट्रसंघ पर निर्भर नहीं रहना चाहते थे। वे संघ की उपेक्षा कर आपस में मैत्री व गुप्त सन्धियाँ स्थापित करने में तत्पर थे। इसी कारण बड़े अन्तर्राष्ट्रीय

झगड़ों को निबटाने में राष्ट्रसंघ सर्वथा असहाय रहता था। १६२८ में पेरेगुए और बोलिविया में लड़ाई हो गई। दोनों राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। लड़ाई में दोष पेरेगुए का था। जब राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने उससे जवाब तलब किया, तो जापान के समान वह भी संघ से पृथक् हो गया।

१६३५ में इटली ने अबीसीनिया पर हमला किया। दोनों राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। इधर संघ की कौंसिल में इसी बात पर बहस हो रही थी, कि इस समस्या का हल किस प्रकार किया जाय, उधर इटली ने अबीसीनिया को खतम भी कर दिया। ये सब बातें स्पष्ट करती हैं, कि राष्ट्रसंघ युद्धों को रोक कर चिर शान्ति की स्थापना के अपने उद्देश्य में सर्वथा असफल रहा। कोई राज्य केवल राष्ट्रसंघ के भरोसे अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में निश्चिन्त नहीं रह सकता था। यही कारण है, कि यूरोप के विविध राज्य अपनी सुरक्षा के लिए अन्य उपायों की ढूँढ में तत्पर थे।

राष्ट्रसंघ की इस निर्बलता और असफलता का एक मुख्य कारण यह था, कि संयुक्तराज्य अमेरिका शुरू से उसमें सम्मिलित नहीं हुआ। राष्ट्रसंघ की स्थापना का प्रधान श्रेय अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन को है। महायुद्ध में शामिल होते हुए जिन चौदह सिद्धान्तों का उन्होंने प्रतिपादन किया था, राष्ट्रसंघ की स्थापना उनमें अन्तर्गत थी। पेरिस की सन्धि परिषद में विल्सन ने प्रमुख भाग लिया था, और राष्ट्रसंघ के विधान को तैयार करने में उसका बड़ा हाथ था। पर अमेरिका की जनता ने उसके कार्य को पसन्द नहीं किया। अमेरिका में दो बड़े राजनैतिक दल हैं—डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन। विल्सन डेमोक्रेटिक पार्टी का नेता था। रिपब्लिकन पार्टी विल्सन की नीति पर भयंकर रूप से आक्षेप करने में लगी थी। उसका कहना था, वर्साय की सन्धि उन चौदह सिद्धान्तों के विपरीत है, जिनके लिए अमेरिका लड़ाई में शामिल हुआ था। विल्सन यूरोप की कूटनीति के सम्मुख झुक गया है, और इसी का यह परिणाम

हुआ है, कि वर्साय की सन्धि न्याय और औचित्य के सब सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। विल्सन के विरोधी यह भी कहते थे, कि राष्ट्रसंघ में शामिल होने का मतलब है, यूरोप के आन्तरिक झगड़ों में फँसना, और उनके लिए अमेरिका के धन और जन का विनाश करना। यूरोप के लोग तो साम्राज्यवाद के झगड़े में पड़े हैं। ब्रिटेन और फ्रांस ने महायुद्ध के बाद नये प्रदेशों को प्राप्त कर लिया है। क्या अमेरिका के धन-जन का प्रयोग इसी प्रकार के साम्राज्य विस्तार के लिए किया जाना उचित है? अमेरिका को यूरोप के झगड़ों से अलग रहना चाहिये, और राष्ट्रसंघ में सम्मिलित नहीं होना चाहिये।

दो साल तक यह झगड़ा जारी रहा। अमेरिका की सीनेट में रिपब्लिकन दल का बहुमत था। अमेरिका के शासन-विधान के अनुसार सब विदेशी सन्धियों व समझौतों का सीनेट द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है। सीनेट राष्ट्रसंघ के विधान और वर्साय की सन्धि को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होती थी। वह उसमें संशोधन करना चाहती थी, और ये संशोधन विल्सन को स्वीकार नहीं थे।

नवम्बर, १९२० में अमेरिका में राष्ट्रपति का नया निर्वाचन हुआ। इसमें रिपब्लिकन दल की विजय हुई, और उसका उम्मीदवार वारेन हार्डिंग राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुआ। रिपब्लिकन दल की यह नीति थी, कि राष्ट्रसंघ में शामिल न हुआ जाय। मार्च, १९२१ में कांग्रेस के सम्मुख भाषण देते हुए हार्डिंग ने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी, कि अमेरिका राष्ट्रसंघ से पृथक् रहेगा।

अमेरिका संसार के सबसे शक्तिशाली राज्यों में से एक है। महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय का प्रधान कारण अमेरिका का उनके पक्ष में शामिल हो जाना था। यदि वह राष्ट्रसंघ में भी शामिल रहता, और अपनी शक्ति व प्रभाव का प्रयोग यूरोप के आपसी झगड़ों को निबटाने में करता, तो सम्भवतः राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्यों में सफल हो सकता

पर रिपब्लिकन पार्टी की विजय से अमेरिका राष्ट्रसंघ से पृथक् रहा, और अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में मानव-समाज का यह पहला महत्त्वपूर्ण प्रयास यथोचित बल नहीं प्राप्त कर सका। रशिया भी १६३४ तक राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं बना। वहाँ की कम्युनिस्ट व्यवस्था यूरोप के अन्य देशों को पसन्द नहीं थी। उन्होंने रशिया का बहिष्कार किया हुआ था। रशिया का राष्ट्रसंघ से बाहर रहना इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की बड़ी भारी कमजोरी थी। फिर राष्ट्रसंघ के पास कोई ऐसा उपाय नहीं था, जिससे वह राज्यों को अपनी बात मानने के लिए विवश कर सके। राज्यों के लिए यह बहुत सुगम था, कि वे मतभेद होने पर राष्ट्रसंघ का परित्याग कर दें। जापान, इटली और जर्मनी इसी तरह संघ से पृथक् हो गये। इस दशा में यह बिलकुल स्वाभाविक था, कि यूरोप के विविध राज्य अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में अकेले राष्ट्रसंघ पर निर्भर न रहें।

२. सुरक्षा के साधनों की खोज

महायुद्ध में सबसे अधिक नुकसान फ्रांस को हुआ था। लड़ाई मुख्यतया उसी के प्रदेश में लड़ी गई थी। उसके कल-कारखाने, खानें, इमारतें और खेतीयोग्य जमीनें—सब जर्मनी के आक्रमणों का शिकार हुए थे। फ्रांस को फिकर यह थी, कि ऐसे कौन से उपाय किये जावें, जिनसे भविष्य में उसे इस तरह के संकट का सामना न करना पड़े। उसे यह भय था, कि जर्मनी फिर उस पर हमला कर सकता है। इसके लिए वह यह आवश्यक समझता था, कि (१) जर्मनी को इतना कमजोर कर दिया जाय, कि वह फिर कभी फ्रांस पर हमला करने का साहस न कर सके। यह तभी सम्भव था, जब जर्मनी अपनी सेना न बढ़ा सके। उसके अस्त्र-शस्त्र एक निश्चित सीमा तक सीमित रहें, और वह अपनी दक्षिणी सीमा पर किलाबन्दी न कर सके। इसी उद्देश्य से फ्रांस ने

र्हाइनलैण्ड पर मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का कब्जा करवाया था, और यह स्वीकृत कराया था, कि जब र्हाइनलैण्ड से विदेशी सेनाएँ वापस भी आ जावें, तब भी जर्मनी इस प्रदेश में कोई किलाबन्दी न कर सके। (२) राष्ट्रसंघ के पास अपनी सेना रहे, ताकि यदि कोई राज्य उसके निर्णय के खिलाफ लड़ाई के लिए उतारू हो, तो राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय सेना उसे काबू में ला सके। विल्सन और लायड जार्ज इससे सहमत नहीं हुए। इस पर फ्रांस ने यह पेश किया, कि अमेरिका और ब्रिटेन फ्रांस को यह गारन्टी दें, कि यदि कोई अन्य राज्य उस पर हमला करेगा, तो वे उसकी पूरी तरह से सहायता करेंगे, और उसकी राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा के लिए धन और सेना से पूरा पूरा सहयोग देंगे। ब्रिटेन और अमेरिका इसके लिए तैयार हो गये। समझौते पर पेरिस में बाकायदा हस्ताक्षर भी हो गये। पर अमेरिका का लोकमत राष्ट्रसंघ में शामिल होने के लिए भी तैयार न था। वह यह कैसे स्वीकार कर सकता था, कि फ्रांस की रक्षा के लिए अमेरिका की सेना की सहायता की गारन्टी दे दी जाय। यह सन्धि अमेरिका की सीनेट ने अस्वीकृत कर दी। ब्रिटेन ने भी यह कहकर अपने को पीछे हटा लिया, कि जब अमेरिका ही इस प्रकार की सन्धि के लिए तैयार नहीं है, तो ब्रिटेन का किसी प्रकार की गारन्टी देना व्यर्थ है।

अब यह स्पष्ट हो गया था, कि फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिए अमेरिका व ब्रिटेन पर निर्भर नहीं रह सकता। उसके नीतिज्ञों ने दूसरी व्यवस्था शुरू की। यूरोप में जो नये राज्य महायुद्ध के बाद कायम हुए थे, उन सबको यह भय था, कि जर्मनी और आस्ट्रिया फिर प्रबल न हो जावें। उनके लिए सुरक्षा का प्रश्न उतने ही महत्त्व का था, जितना कि फ्रांस के लिये। फ्रांस ने सोचा, कि यूरोप के इन नये व पुराने राज्यों के साथ सैनिक सन्धि करके एक ऐसा गुट बनाया जा सकता है, जो जर्मनी के सम्भावित भय का सामना कर सके, और जिससे यूरोप में फ्रांस की

स्थिति मजबूत हो हाय। इसी लिए १६२० में बेल्जियम से, १६२१ में पोलैण्ड से और १६२४ में चेको-स्लोवाकिया के साथ सन्धि की गई। इस बीच में चेको-स्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया ने मिलकर अपना त्रिगुट बना लिया था, जिसका उद्देश्य ही पारस्परिक सहयोग से आत्मरक्षा करना था। फ्रांस इस त्रिगुट का संरक्षक था। १६२४ में चेको-स्लोवाकिया के साथ सैनिक सन्धि करने के बाद फ्रांस ने १६२६ में रूमानिया से और १६२७ में युगोस्लाविया से भी सैनिक सन्धि की।

इस संधियों से फ्रांस के स्थिति बहुत सुरक्षित होगई। पर फ्रांस अपनी रक्षा के लिए केवल इन पर निर्भर नहीं रह सकता था। इस व्यवस्था में अनेक कमजोरियाँ थीं। महायुद्ध के बाद स्थापित हुए इन नये राज्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। ये अपनी शक्ति को तभी बढ़ा सकते थे, जब आर्थिक दृष्टि से इनकी भरपूर सहायता की जाय। फ्रांस इन्हें कर्ज देने के लिए विवश था। उसकी ओर से बड़ी रकमें इन्हें कर्ज के रूप में दी गईं, ताकि ये राज्य अपने खर्च को चला सकें, और अच्छी शक्तिशाली सेनायें तैयार कर सकें। फ्रांस ने अपने अफसरों को भी इनके पास इसलिए भेजा, ताकि वे इनकी सेनाओं को भली भाँति शिक्षा दे सकें। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि इन राज्यों की सीमायें फ्रांस से नहीं छूती थीं। पूर्वी यूरोप के ये राज्य भौगोलिक दृष्टि से फ्रांस से बहुत दूर थे। युद्ध के समय यह सुगम नहीं था, कि इनकी सेनायें फ्रांस की सहायता के लिए एकदम आ सकें। फिर, इन राज्यों की अपनी भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें थीं। अपने पड़ोसी राज्यों से इनके झगड़े बने रहते थे। सैनिक सन्धि द्वारा फ्रांस ने यह भी जिम्मा लिया था, कि इन झगड़ों में वह इनका साथ देगा। इस कारण फ्रांस की सैनिक जिम्मेवारियाँ बहुत बढ़ गई थीं। इस बीच में, इटली की राष्ट्रीय आकांक्षायें थी निरन्तर बढ़ रही थीं। वह भी यूरोप में अपना प्रमुख स्थान रखना चाहता था। फ्रांस की बढ़ती हुई शक्ति से वह बहुत चिन्तित

था। फ्रांस के मुकाबले में अपना प्रभाव रखने के लिए उसने हंगरी, आस्ट्रिया और बल्गेरिया के साथ सैनिक सन्धियाँ की। इस देशों के उत्कर्ष का मतल था, चेको-स्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया का अपकर्ष। महायुद्ध में आस्ट्रिया, हंगरी और बल्गेरिया (ये सब जर्मनी के पक्ष में होकर मित्र राष्ट्रों से लड़े थे) से वे अनेक प्रदेश छीन कर छोटे त्रिगुट के राज्यों को दे दिये गये थे, जिन पर वे अपना न्याय्य अधिकार समझते थे। फ्रांस को इस स्थिति का भी सामना करना था। इटली की आकांक्षाओं के कारण उसके लिए यह और अधिक आवश्यक होगया था, कि वह अपनी सुरक्षा के लिए केवल सैनिक सन्धियों पर आश्रित न रह कर अन्य साधनों की भी खोज करे।

अब फ्रांस के नीतिज्ञों का ध्यान फिर राष्ट्रसंघ की ओर गया। वे समझते थे, कि संघ के विधान में दो बड़ी कमियाँ हैं। (१) उसमें यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं किया गया, कि किस राज्य को 'विद्रोही' करार दिया जायगा, और (२) विद्रोही राज्य को काबू में रखने के लिए किन उपायों का निश्चित रूप से अवलंबन किया जा सकेगा। फ्रांस के नीतिज्ञ समझते थे, कि यदि इन बातों को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया जाय, तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी स्थिति सुरक्षित हो सकती है। इसी उद्देश्य से उन्होंने संघ के अन्य राज्यों के साथ बातचीत शुरू की, और जिनीवा प्रोटोकोल का निर्माण हुआ। इस प्रोटोकोल द्वारा यह स्पष्ट किया गया, कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े में जब कोई राज्य पंचायती फैसले को मानने से इन्कार करेगा, या संघ की कौंसिल द्वारा किये गये सर्वसम्मत निर्णय के खिलाफ चलेगा, तो उसे 'विद्रोही' समझा जायगा। और प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करनेवाले प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य होगा, कि विविध राज्यों की भौगोलिक स्थिति व सैनिक क्षमता को दृष्टि में रखते हुए जिस राज्य को सैनिक कार्यवाई के सम्बन्ध में जो काम सुपुर्द किया जाय, वह उसे बिना किसी ननुनच के पूरा करे। जिनीवा प्रोटोकोल तैयार

तो हो गया, पर ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली देश इससे संतुष्ट नहीं हुए। ब्रिटेन समझता था, कि इस प्रोटोकोल से उसे यूरोप के झगड़ों में व्यर्थ ही अपने धन व जन का विनाश करना होगा। यूरोप में फ्रांस की प्रभुता है। राष्ट्रसंघ में भी उसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। बेल्जियम, पोलैण्ड, चेको-स्लोवाकिया आदि राज्य हर मामले में उसका साथ देते हैं। यदि फ्रांस के नेतृत्व में राष्ट्रसंघ ने किसी राज्य को 'विद्रोही' ठहरा दिया, तो ब्रिटेन को उसके खिलाफ सैनिक कार्रवाई करने के लिए विवश किया जायगा। ब्रिटेन इसके लिए तैयार नहीं था। उसने प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया, और फ्रांस का यह सब प्रयत्न धूल में मिल गया।

राष्ट्र संघ द्वारा अपनी सुरक्षा के प्रयत्न में निराश होकर फ्रांस ने एक बिलकुल नई नीति का आश्रय लिया। १९२५ में फ्रांस के पर राष्ट्र सचिव श्री ब्रियाँ थे। ब्रियाँ बहुत ही कुशल व बुद्धिमान् व्यक्ति था। उसने सोचा, कि फ्रांस को सबसे अधिक खतरा जर्मनी से ही है। उसी के भय से उसे इतना अधिक चिन्तित रहना होता है। क्यों न जर्मनी के साथ ही एक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि कर ली जाय, जिससे दोनों राज्य एक दूसरे की सीमा को स्वीकार करने और एक दूसरे पर आक्रमण न करने के बारे में समझौता कर लें। इस समय इस प्रकार की सन्धि के लिए वातावरण अनुकूल था। हरजाने की अदायगी के बारे में डावस योजना के अनुसार जर्मनी से समझौता हो चुका था, और रूर के प्रदेश से फ्रेंच सेनायें वापस बुलाई जा चुकी थीं। जर्मनी और फ्रांस के सम्बन्धों की कटुता बहुत कुछ कम हो चुकी थी। इस समय फ्रांस के प्रधानमन्त्री श्री हेरियो थे। वे और ब्रियाँ दोनों इस बात के लिए उत्सुक थे, कि देश की सुरक्षा के लिए जर्मनी के साथ समझौता कर लिया जाय। उनके प्रयत्नों का परिणाम लोकार्नो की सन्धि थी। यह सन्धि १९२५ में हुई थी, और इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

लोकार्नो की सन्धि से फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्ध पहले की अपेक्षा

बहुत अधिक मधुर हो गये थे। दोनों देशों ने यह समझौता कर लिया था, कि वे एक दूसरे की सीमाओं को स्वीकार करते हैं, और एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे। यह समझौता फ्रांस और जर्मनी में तो हो गया था, पर जर्मनी और पोलैण्ड और जर्मनी और चेको-स्लोवाकिया के बीच में नहीं हुआ था। यदि जर्मनी अपनी पूर्वी सीमा को अनुचित समझ कर पोलैण्ड व चेको-स्लोवाकिया पर आक्रमण करे, तो सैनिक सन्धियों के आधार पर फ्रांस के लिए उनकी सहायता करना आवश्यक था। लड़ाई शुरू होने की अधिक सम्भावना जर्मनी की पूर्वी सीमा पर ही थी। ऐसे किसी युद्ध में फ्रांस के लिए तटस्थ रह सकना असम्भव था। इस दृष्टि से लोकार्नो की सन्धि से फ्रांस की सुरक्षा की समस्या हल नहीं हो पाती थी। अतः श्री ब्रियाँ ने सुरक्षा की खोज को जारी रखा, और एप्रिल, १९२७ में अमेरिका के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा, कि वे दोनों देश आपस में चिरमैत्री की सन्धि कर लें। फ्रांस और अमेरिका के पारस्परिक सम्बन्ध बिलकुल मधुर थे, उनमें आपस में किसी भी प्रश्न पर झगड़ा होने की कोई सम्भावना नहीं थी। इस दशा में यह मैत्री की सन्धि व्यर्थ सी थी। अतः अमेरिका के विदेश मन्त्री श्री कैलोग ने फ्रांस को यह परामर्श दिया, कि संसार के सब प्रमुख राज्य परस्पर मिलकर एक स्थान पर एकत्र हों, और यह निश्चय करें, कि वे आपस के झगड़ों को निपटाने के लिए कभी युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे। फ्रांस के लिए यह प्रस्ताव बहुत आकर्षक था। इससे उसकी सुरक्षा की समस्या बहुत कुछ हल हो जाती थी।

कैलोग के प्रस्ताव के अनुसार अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और जापान के प्रतिनिधि २७ अगस्त, १९२८ को पेरिस में एकत्र हुए। इन छः प्रमुख राज्यों के अतिरिक्त बेल्जियम, पोलैण्ड और चेको-स्लोवाकिया के प्रतिनिधि भी इस सम्मेलन में शामिल हुए। इन नौ राज्यों ने मिलकर एक पैक्ट (समझौता) पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार

उन्होंने निश्चय किया, कि वे अपनी राष्ट्रीय नीति में युद्ध को कोई स्थान नहीं देंगे, और अपने झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे। यह पैक्ट इतिहास में पेरिस पैक्ट या ब्रियाँ-कैलोग पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर हस्ताक्षर करने के लिए अन्य राज्यों को भी निमन्त्रण दिया गया, और धीरे धीरे ६५ राज्यों के इस पर हस्ताक्षर हो गये। उस समय (१६२८ में) राष्ट्रसंघ के कुल सदस्यों की संख्या ५८ थी। पेरिस पैक्ट पर हस्ताक्षर करनेवाले राज्यों की संख्या राष्ट्रसंघ के सदस्यों से भी अधिक थी। कुछ समय के लिए इस पैक्ट से संसार में आशा का बहुत संचार हुआ। लोग समझने लगे, अब युद्धों का अन्त होकर चिरशान्ति का युग आ गया है।

पर प्रश्न यह था, कि पेरिस पैक्ट में संसार के विविध राज्यों ने युद्ध के बहिष्कार का संकल्पमात्र किया था। यदि कोई राज्य युद्ध शुरू करे, तो उसे रोका कैसे जाय, इस सम्बन्ध में पेरिस पैक्ट द्वारा कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। राष्ट्रसंघ ने अपनी नीति में युद्ध का सर्वथा बहिष्कार बेशक नहीं किया था, पर उसके विधान में इस बात की व्यवस्था अवश्य विद्यमान थी, कि युद्ध शुरू करनेवाले राज्य के खिलाफ अन्य राज्य मिलकर कार्रवाई कर सकें। उचित तो यह था, कि जिनीवा प्रोटोकोल द्वारा दिखाये गये मार्ग के अनुसार इस व्यवस्था को अधिक दृढ़ और स्पष्ट किया जाता। केवल संकल्प से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल नहीं किया जा सकता। कुछ राज्यों ने यह प्रयत्न फिर शुरू किया, कि पेरिस पैक्ट के निर्णयों के अनुसार राष्ट्रसंघ के विधान में संशोधन किया जाय, और युद्ध का सर्वथा बहिष्कार करते हुए लड़ाई शुरू करने वाले राज्य को यथोचित दण्ड देने की समुचित व्यवस्था की जाय। १६२६ में इसके लिए एक प्रस्ताव भी राष्ट्रसंघ के सम्मुख उपस्थित किया गया। उस पर बहस तो बहुत हुई, पर निर्णय कुछ नहीं हुआ।

इसी बीच में जर्मनी में राष्ट्रीय चेतना फिर उत्पन्न होने लग गई

थी। घायल जर्मनी बहुत कुछ स्वस्थ हो गया था, और उसके नेता अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण करने का फिर से स्वप्न लेने लगे थे। नाजी दल जोर पकड़ रहा था, और हिटलर वर्साय की सन्धि के धुर्रे उड़ा देने की बात खुले तौर पर कहने लग गया था। फ्रांस के कूटनीतिज्ञ भली भाँति अनुभव करने लगे थे, कि राष्ट्रसंघ द्वारा वे अपनी सुरक्षा की समस्या का हल नहीं कर सकते। वे लोकार्नो की सन्धि और पेरिस पैक्ट के शुभ संकल्पों पर निर्भर रहने की अपेक्षा सैनिक सन्धियों को अधिक महत्त्व देने लगे। पोलैण्ड, चेको-स्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया से दुबारा सैनिक सन्धियाँ की गईं, और यह प्रयत्न किया गया कि इटली भी उनके साथ शामिल हो जाय। इटली के अबीसीनिया पर आक्रमण के समय फ्रांस जो उसके खिलाफ किसी प्रकार की कार्रवाई करने के लिए तैयार नहीं हुआ, उसका यही मूलकारण था।

३. निःशस्त्रीकरण की समस्या

महायुद्ध के बाद सब राज्यों ने यह अनुभव किया था, कि अस्त्र-शस्त्रों और सेना में वृद्धि से न केवल सरकारी आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा लड़ाई की तैयारी में खर्च हो जाता है, अपितु चिरशान्ति का वातावरण उत्पन्न होने में भी बड़ी बाधा उपस्थित होती है। इसलिए पेरिस की सन्धि परिषद् (१९१९) में उन्होंने यह व्यवस्था की थी, कि (१) जर्मनी और उसके साथियों की सेना में कमी की जाय, और यह तय कर दिया जाय, कि जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और बल्गेरिया अधिक से अधिक कितनी सेना रख सकें। (२) परास्त राज्यों की सेनाओं को कम करने का प्रयोजन यह है, कि अन्य राज्य भी अपनी सेनाएँ कम कर सकें। जब जर्मनी और उसके साथियों की तरफ से लड़ाई का खतरा कम हो जायगा, तो फ्रांस, पोलैण्ड, ब्रिटेन आदि के लिए यह सम्भव हो सकेगा, कि वे आपस में सहयोग से अपनी सेनाएँ भी कम करने का निश्चय कर सकें।

(३) स्थायी शान्ति के लिए यह आवश्यक है, कि विविध राज्य अपनी सेनाएँ केवल उतनी ही रखें, जितनी कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अनिवार्य हों। राष्ट्रसंघ इस सम्बन्ध में योजना तैयार करे, कि विविध राज्यों की अधिकतम सेनाएँ कितनी हों।

अब प्रश्न यह था, कि सेनाओं की कमी के इस उद्देश्य को पूरा कैसे किया जाय? सब राज्य यह समझते थे, कि उनकी सेना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अनिवार्य है, उसमें किसी भी प्रकार से कमी नहीं की जा सकती। पर दूसरे राज्य की सेना आवश्यकता से अधिक है। ब्रिटेन कहता था, फ्रांस और पोलैण्ड को अपनी सेनाओं में कमी करनी चाहिए। फ्रांस इसका उत्तर यह देता था, हम सेना में कमी करने को तैयार हैं, पर ब्रिटेन को पहले यह गारन्टी देनी चाहिए, कि यदि जर्मनी फ्रांस या पोलैण्ड पर हमला करे, तो ब्रिटेन उनकी मदद करेगा। फ्रांस यह भी कहता था, कि ब्रिटेन को इतनी बड़ी नौ सेना की क्या आवश्यकता है? सेनाएँ शान्ति के लिए बेशक खतरनाक हैं, पर उनका अभाव या कमी राष्ट्रीय दृष्टि से और भी अधिक खतरनाक है। यदि फ्रांस और पोलैण्ड अपनी सेनाएँ कम कर लें, तो इसका क्या भरोसा है, कि जर्मनी वर्साय की सन्धि को ठुकरा नहीं देगा? राष्ट्रीय सुरक्षा की इससे ज्यादा अच्छी गारन्टी क्या हो सकती है, कि प्रत्येक राज्य अपनी सेना को सदा तैयार रखे, और उसके ऊपर यदि कोई अन्य राज्य हमला करे, तो हथियार से उसका मुकाबला करे?

इस मनोवृत्ति के होते हुए भी अस्त्र-शस्त्रों और सेना में कमी करने के लिए अनेक उद्योग हुए। १९२१-२२ में वाशिंगटन में नौ सेना के सम्बन्ध में एक कान्फरेन्स हुई, जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें इस बात पर विचार हुआ, कि जंगी जहाजों की संख्या को किस प्रकार नियन्त्रित किया जाय। वाशिंगटन कान्फरेन्स में यह निर्णय किया गया, कि अगले दस साल तक

विविध राज्यों के बड़े जंगी जहाजों में यह अनुपात कायम रखा जाय— अमेरिका ५, ब्रिटेन ५, जापान ३, फ्रांस १.६७ और इटली १.६७। बड़े जंगी जहाजों के बारे में सब राज्यों में फैसला हो गया। अमेरिका चाहता था, कि इसी तरह का फैसला छोटे जंगी जहाजों के सम्बन्ध में भी हो जाय। पर ब्रिटेन इसके लिए तैयार नहीं था। उसका कहना था, कि सातों समुद्रों में विस्तीर्ण विशाल ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए छोटे जंगी जहाजों के विषय में किसी भी प्रकार की मर्यादा को स्वीकार कर सकना उसके लिए सम्भव नहीं है। ब्रिटेन चाहता था, कि पनडुब्बियों और सामुद्रिक सुरंगों का प्रयोग बिलकुल रोक दिया जाय, पर फ्रांस इसके लिए तैयार नहीं था। पिछले महायुद्ध में जर्मनी की पनडुब्बियों की असाधारण क्षमता को दृष्टि में रखते हुए फ्रांस उनका परित्याग करने के लिए उद्यत नहीं था। वाशिंगटन कान्फरेन्स से यह लाभ अवश्य हुआ, कि नौ सेना में वृद्धि करने की जो होड़ राज्यों में चल रही थी, वह कम से कम दस साल के लिए बन्द हो गई। पर ब्रिटेन ने छोटे जंगी जहाजों को बनाना बन्द नहीं किया। अन्य राज्यों को उससे यह सख्त शिकायत थी।

१९२७ में जिनीवा में दूसरी नौ सेना कान्फरेन्स हुई। इसमें यह सवाल पेश हुआ, कि ब्रिटेन जिस प्रकार अपने छोटे जंगी जहाजों में निरन्तर वृद्धि कर रहा है, उसे रोकना चाहिये। पर कोई निर्णय नहीं हो सका। १९३० में अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली के प्रतिनिधि तीसरी बार लण्डन में एकत्र हुए। इसमें ये निर्णय किये गये कि (१) वाशिंगटन में जो समझौता १९२१-२२ में दस साल के लिए किया गया था, उसकी मियाद १९३६ तक बढ़ा दी जाय, और (२) ब्रिटेन के छोटे जंगी जहाज अमेरिका के मुकाबले में जिस हद तक अधिक हैं, उसी हद तक अमेरिका अपने बड़े जंगी जहाज ब्रिटेन के मुकाबले में अधिक रख सके। लण्डन कान्फरेन्स में जापान ने यह मांग पेश की, कि

उसे अपनी नौ सेना को ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर करने का अधिकार दिया जाय। अन्य राज्य इसके लिये तैयार नहीं हुए। इस सवाल पर बहुत बहस हुई। अन्त में, यह स्वीकार किया गया, कि यदि कोई राज्य अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए नौ सेना में वृद्धि करना चाहे, तो उसे यह करने का अधिकार हो। इसका मतलब यह था, कि राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर प्रत्येक राज्य अपनी नौ सेना को मनमानी तरीके से बढ़ा सकता था। जापान इस समय अपनी शक्ति को बड़ी तेजी के साथ बढ़ा रहा था। १९३४ में उसने अन्य राज्यों को साफ-साफ कह दिया, कि या तो सब राज्य यह स्वीकार कर लें, कि जापान को ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर नौ सेना रखने का अधिकार है, अन्यथा वह अपने को इस सम्बन्ध में किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अधीन नहीं समझेगा। जापान के इस नोटिस का परिणाम यह हुआ, कि नौ सेना के सम्बन्ध में विविध राज्यों में कोई समझौता कायम नहीं रहा। सब यथेष्ट रूप से अपने जंगी जहाजों को बढ़ाने में लग गये। इस सम्बन्ध में उनमें एक प्रतिस्पर्धा सी उत्पन्न हो गई। १९३७ के बाद तो ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, फ्रांस और इटली अपनी राष्ट्रीय आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा जंगी जहाजों के निर्माण में खर्च करने लग गये। इस काल में विविध राज्यों की नौ सेना इतनी अधिक बढ़ गई, जितनी कि पहले कभी नहीं थी।

स्थल सेना की कमी के लिए १९२५ में राष्ट्रसंघ ने एक कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन को यह काम सुपुर्द किया गया था, कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से किस राज्य को कितनी सेना और अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता है, और किस राज्य के पास कितनी सैनिक शक्ति विद्यमान है, इस सम्बन्ध में रिपोर्ट तैयार करे, ताकि इस रिपोर्ट के तैयार होने पर निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स की आयोजना की सके। पाँच साल तक कमीशन अपना काम करता रहा। यह निश्चय

कर लेना तो बहुत सुगम था, कि किस राज्य के पास कितनी सेना व कितने अस्त्र-शस्त्र विद्यमान हैं। पर प्रश्न यह था, कि स्थिर सेना के अतिरिक्त राज्यों के पास सम्भावित सेनायें भी तो हैं। बाधित सैनिक शिक्षा और बाधित सैनिक सेवा की पद्धतियों के कारण फ्रांस और पोलैण्ड जैसे राज्य युद्ध के समय पर लाखों आदमियों को बात की बात में लड़ाई के मैदान में ला सकते थे। जो हवाई जहाज अब सवारी ले जाने या माल ढोने के काम में आ रहे थे, उन्हें थोड़े से समय में जंगी हवाई जहाजों के रूप में परिवर्तित किया जा सकता था। कितने ही कारखाने भी सुगमता से अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए भी प्रयुक्त किये जा सकते थे। कमीशन को इन पर भी विचार करना था। राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से किस राज्य के पास कितनी सेना होनी चाहिये, इसका निर्णय करना भी आसान नहीं था। अनेक राज्यों की राष्ट्रीय आकांक्षायें उग्र रूप धारण कर रही थीं, उन सबको दृष्टि में रखते हुए यह समस्या अधिक जटिल हो गई थी।

पाँच साल की निरन्तर मेहनत के बाद इस कमीशन की रिपोर्ट तैयार हुई। इसमें यह सिफारिश की गई, कि स्थल, जल और वायु की सेनाओं में कितने आदमी अधिक से अधिक होने चाहिये, यह बात प्रत्येक राज्य के लिए तय कर दी जाय। कौन राज्य अधिक से अधिक कितना खर्च अस्त्र-शस्त्रों पर कर सके, यह भी निश्चित हो जाय। जहरीली गैसों और रासायनिक द्रव्यों को लड़ाई में इस्तेमाल न किया जाय और एक स्थिर कमीशन इस उद्देश्य से बना दिया जाय, जो निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में विविध राज्यों की गतिविधि का निरीक्षण करता रहे। पर किस राज्य की सेना कितनी रहे, इस सम्बन्ध में इस कमीशन ने कोई बात तय नहीं की। इसने केवल उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिनका अनुसरण करके विविध राज्य निःशस्त्रीकरण के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं।

१९३२ में राष्ट्रसंघ की ओर से निःशस्त्रीकरण कान्फ्रेन्स का आयो-

जन किया गया। यह कान्फरेन्स जिनीवा मे हुई, और इसमे राष्ट्रसंघ के सब सदस्य-राज्यो ने अपने अपने प्रतिनिधि भेजे। अमेरिका और रशिया राष्ट्रसंघ के सदस्य नही थे, पर उनके प्रतिनिधि भी इस कान्फरेन्स मे सम्मिलित हुए। इंगलैण्ड के प्रतिनिधि श्री हैन्डरसन ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। निःशस्त्रीकरण की समस्या पर विचार शुरू हुआ। फ्रांस का कहना था, कि सेना व हथियारो में कमी तभी की जा सकती है, जब राष्ट्रसंघ एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना व पुलिस का संगठन करे, जिसके हाथो मे विविध राज्यो की सुरक्षा की जिम्मेवारी रहे। ब्रिटेन और अमेरिका इससे सहमत नही हो सके। ब्रिटेन ने प्रस्ताव किया, कि जिन अस्त्र-शस्त्रो का उपयोग केवल आत्म-रक्षा के लिए किया जाता है, उनके सम्बन्ध मे कोई मर्यादा निश्चित न की जाय। पर जो हथियार दूसरे देशो पर हमला करने के लिए प्रयोग मे आते है, उनकी मात्रा कम कर दी जाय। अब सवाल यह था, कि कौन से हथियार आत्म-रक्षा के लिए है, और कौन से आक्रमणकारी। ब्रिटेन और अमेरिका कहते थे, पनडुब्बियाँ आक्रमण-कारी हथियार है, और जंगी जहाज रक्षा करने वाले। दूसरे देश कहते थे, यह बिलकुल गलत है। आखिर, इसका फैसला करने के लिए विशेषज्ञो की उपसमितियाँ नियत की गई। पर वे किसी भी प्रश्न पर सहमत नही हो सकी। बहुत वाद-विवाद के बाद २० जुलाई, १९३२ को जिनीवा कान्फरेन्स में एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया, जिसमे यह कहा गया था कि (१) हवाई गोलाबारी को रोका जाय। किस देश के पास कितने हवाई जंगी जहाज हो, यह परस्पर समझौते से तय किया जाय और सवारी आदि के काम आनेवाले हवाई जहाजो की संख्या पर भी नियन्त्रण रखा जाय। (२) भारी तोपो और टैंको के सम्बन्ध मे यह व्यवस्था की जाय, कि एक खास वजन से ज्यादा की तोपे व टैंक न बनाये जा सके। (यह खास वजन क्या हो, यह तय नही किया गया।) (३) रासायनिक लडाई को बन्द किया जाय। ४१ राज्यो के प्रतिनिधियो ने इस प्रस्ताव के पक्ष मे

वोट दिया। आठ राज्यों ने विपक्ष में वोट दिया, और दो राज्य (जर्मनी और रशिया) तटस्थ रहे। जर्मनी के प्रतिनिधि का कहना था, कि जिस प्रकार वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी की सेना पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे, उसी प्रकार और उसी हिसाब से अन्य राज्यों की सेना और हथियारों पर भी प्रतिबन्ध लगने चाहिये, और जर्मनी को भी सेना व अस्त्र-शस्त्र बढ़ा सकने की खुली छुट्टी मिल जानी चाहिये।

इस बीच में जर्मनी मे नाजी सरकार कायम हो गई, हिटलर डिक्टेटर हो गया। उसने उद्घोषणा की, कि जर्मनी का जिनीवा की कान्फरेन्स से कोई सम्बन्ध नहीं है, और जर्मनी सरकार को यह पूर्ण अधिकार है, कि वह अपने राष्ट्रीय गौरव और सुरक्षा को दृष्टि में रख कर स्वच्छन्द रूप से सेना और अस्त्र शस्त्र मे वृद्धि कर सके। जर्मनी ने जिनीवा कान्फरेन्स का जो बहिष्कार किया, उससे निःशस्त्रीकरण के प्रश्न को बहुत धक्का लगा। इस सारे सवाल की जड़ ही जर्मनी और फ्रांस की प्रतिस्पर्धा और विद्वेष-भावना थी। जब जर्मनी कान्फरेन्स से अलग हो गया, तो बाकी सब बातों पर विचार व्यर्थ होगया। जिनीवा कान्फरेन्स के अधिवेशन १९३४ के अन्त तक होते रहे। उनमें लम्बे चौड़े विचार भी चलते रहे। पर परिणाम कुछ नहीं हुआ। इटली और जर्मनी इस समय सेनायें बढ़ाने और युद्ध की तैयारी में तत्पर थे। उनकी देखादेखी फ्रांस, पोलैण्ड और यूरोप के अन्य छोटे राज्य भी लड़ाई की तैयारी में लग गये थे। प्रशान्त महासागर में सम्भावित संघर्ष को दृष्टि में रखकर जापान और अमेरिका अपनी नौशक्ति को बढ़ाने की फिक्र में थे। इस वातावरण में निःशस्त्रीकरण पर बात करना भी बेकार था। ऐसे समय में राष्ट्रीय सुरक्षा का एक ही साधन था, लड़ाई की तैयारी और शस्त्रों में वृद्धि। संसार के सब राज्य इसी उपाय की साधना में जी-जान से लग गये थे।

राष्ट्रसंघ की शक्ति अब क्षीण हो गई थी। मंचूरिया में जापान ने उसका उल्लंघन कर दिया था, और अबीसीनिया पर इटली ने। राष्ट्रसंघ

इन्हें इस कार्य से नहीं रोक सका। अब सब राज्यों को यह समझ आगया था, कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या बहुत विकट हो गई है। यही कारण है, कि १९३६ में ब्रिटेन की सरकार के घोषणा की थी—"संसार वर्तमान दशा में इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है, कि ब्रिटेन की भी आत्मरक्षा के अपने साधनों पर विचार करे, और यह व्यवस्था करे, कि ये साधन इतने मजबूत हो जावें, कि उनसे न केवल आत्मरक्षा की जा सके, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ब्रिटेन की जो जिम्मेवारियाँ हैं, उन्हें भी पूरा किया जा सके।"

यूरोप के इतिहास में पारस्परिक सहयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने का जो प्रयत्न राष्ट्रसंघ द्वारा शुरू हुआ था, अब उसकी इतिश्री हो गई थी।

पचपनवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय मात्स्यन्याय

१. जापान और चीन

उग्र राष्ट्रीयता, आर्थिक संकट और नाजी शक्ति के विकास से राष्ट्रसंघ किस प्रकार निर्बल हो गया था, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर अग्रेसर होने का जो प्रयत्न संसार के विविध राज्यों ने किया था, वह असफल हो गया, और एक बार फिर संसार अन्तर्राष्ट्रीय मात्स्यन्याय का अनुसरण करने लगा। आपस के झगड़ों का निर्णय परस्पर विचार-विनिमय और सहयोग द्वारा करने के स्थान पर शक्तिशाली राज्यों ने सैनिक कार्रवाई का आश्रय लिया, और जगह जगह पर युद्ध की अग्नि भड़क उठी। यही अग्नि धीरे धीरे सुलगती हुई आगे चलकर एक ऐसे विश्वसंग्राम में परिणत हो गई, जिसके प्रभाव से संसार का कोई भी देश पूरी तरह से नहीं बच सका। इस अध्याय में हम इसी 'मात्स्यन्याय' पर प्रकाश डालेंगे।

चीन के विभिन्न प्रदेश अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान के प्रभावक्षेत्रों के अन्तर्गत थे। इन देशों ने चीन के प्रदेशों को किस प्रकार अपने प्रभाव क्षेत्र में किया, इस पर हम पहले विचार कर चुके हैं। उत्तरी चीन में मंचूरिया का प्रदेश जापान के प्रभाव में था। वहाँ की रेलवें जापान के पास ठेके पर थीं, और वहाँ जापानियों ने करोड़ों रुपया लगा कर अनेक कल-कारखानों का विकास किया था। जापान चाहता था, कि मंचूरिया में ऐसी सरकार कायम रहे, जो उसके खिलाफ न जाय और उसके प्रभाव में रहे। पर इस समय चीन में राष्ट्रीयता की भावना

बहुत प्रबल थी, चियांग-केई शेक के नेतृत्व में चीन का राष्ट्रीय दल अपने देश की एकता और राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील था। चीनी लोग चाहते थे, कि मंचूरिया विशाल चीन का एक अंग बना रहे, और किसी भी प्रकार का विदेशी प्रभाव वहाँ पर न रह जाय। पर जापान मंचूरिया पर कब्जा रखना अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से आवश्यक समझता था। करोड़ों रुपये की जो जापानी पूँजी वहाँ लगी हुई थी, उसकी रक्षा का सवाल था। साथ ही, अपने माल को खपाने के लिए जापान एक ऐसे बाजार की जरूरत समझता था, जहाँ उसे आयात-करों और संरक्षण नीति का डर न हो। ब्रिटेन, भारत, यूरोप, अमेरिका—सब जगह इस समय संरक्षण नीति का अनुसरण किया जा रहा था। जापान का माल बिक सकने में दिक्कतें उपस्थित की जा रही थीं। जापान के कल-कारखाने बन्द होने लगे थे, वहाँ के मजदूर बेकार हो रहे थे। जापान की आबादी में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। १८४६ में उसकी आबादी २,६०,००,००० थी। १६२० में वह बढ़कर ५,६०,००,००० पहुँच गई थी। इसके बाद भी वह निरन्तर बढ़ती जा रही थी। हर साल ६ लाख के लगभग मनुष्य जापान में बढ़ जाते थे। १६३१ में जापान के निवासियों की संख्या ६,५०,००,००० से भी ऊपर पहुँच गई थी। इस बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए जापान को जगह चाहिए थी। अमेरिका में जापानियों का अच्छी संख्या में बसना रोक दिया गया था। जापानी नेता कहते थे, मंचूरिया पर कब्जा कर लेने से ये सब समस्याएँ हल हो जायेंगी।

१८ सितम्बर, १६३१ को जापान ने मंचूरिया पर हमला कर दिया। चीन उसका मुकाबला नहीं कर सका। शीघ्र ही मंचूरिया विजय कर लिया गया, और मंचूकाओ के नाम से वहाँ एक नया राज्य स्थापित किया गया। चीन के पदच्युत राजवंश के एक व्यक्ति को इसका सम्राट् बनाया गया, और नाम को यद्यपि मंचूकाओ एक पृथक्

और स्वतन्त्र राज्य था, पर वस्तुतः वह पूरी तरह से जापान के अधीन था। चीन ने राष्ट्रसंघ से अपील की। लार्ड लिटन के नेतृत्व में एक कमीशन की नियुक्ति हुई, जो सारे मामले की जाँच करके अपनी रिपोर्ट पेश करे। कमीशन की रिपोर्ट यह थी, कि जापान ने बिना उपयुक्त कारण के मंचूरिया पर हमला किया था। इस समय राष्ट्रसंघ के लिए उचित यह था, कि जापान के खिलाफ आर्थिक बहिष्कार की नीति का अनुसरण करता। रशिया इस बात से चिन्तित था, कि जापान ने चीन के उत्तरी प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया है। अमेरिका भी प्रशान्त महासागर में बढ़ती हुई जापान की शक्ति को चिन्ता की दृष्टि से देखता था। इस दशा में राष्ट्रसंघ की बहिष्कार की नीति अवश्य सफल हो सकती थी। पर ब्रिटेन सुदूरपूर्व में जापान से झगड़ा मोल लेना नहीं चाहता था। राष्ट्रसंघ ने जापान के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की। केवल एक प्रस्ताव द्वारा जापान के कार्य की निन्दा कर दी गई, जिसका उत्तर जापान ने यह दिया कि उसने राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रसंघ की यह बड़ी भारी कमजोरी थी। छोटे राज्यों के झगड़ों को वह निबटा सकता था, पर जब जापान जैसे शक्तिशाली देश को काबू करने का प्रश्न आया, तो वह सर्वथा असमर्थ पाया गया।

जापान केवल मंचूरिया पर कब्जा करके ही संतुष्ट नहीं हुआ। वह भली भाँति समझ गया था, कि राष्ट्रसंघ उसके मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता। चीन का विशाल प्रदेश उसके सामने विद्यमान था। वह उसके विभिन्न प्रदेशों पर अधिकार करके साम्राज्यवाद की अपनी भूख को शान्त करना चाहता था। ८ जुलाई, १९३७ को उसने चीन के साथ लड़ाई छेड़ दी। इस लड़ाई के शुरू होने का कारण क्या था, यह प्रश्न महत्त्व का नहीं है। जब कोई देश लड़ने के लिए तुला हुआ हो, तो कारण ढूँढ़ लेना जरा भी कठिन नहीं होता। लुकूचिओ नाम के स्थान

पर जापान और चीन के सैनिकों में एक साधारण मुठभेड़ हो गई। इसे निमित्त बनाकर जापानी सेनाओं ने चीन के ऊपर हमला कर दिया। १६३७ के अन्त होने से पहले ही नानकिंग पर जापान का अधिकार हो गया, और समुद्रतट से लगाकर वहू तक, सारा यांगट्सी का प्रदेश जापानियों के कब्जे में चला गया। चीनी सेनाओं के लिए जापान की शक्ति का मुकाबला कर सकना सुगम नहीं था। पर जापानी आक्रमण का यह लाभ अवश्य हुआ, कि कुछ समय के लिए चीनी लोग आपस के झगड़ों को भुलाकर चियांग केई शेक के नेतृत्व में एक हो गये, और उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो उठी।

चीन ने फिर राष्ट्रसंघ से अपील की। पर इस समय तक राष्ट्रसंघ की स्थिति बिलकुल बलहीन हो चुकी थी। एक प्रस्ताव द्वारा संघ के सदस्यों ने जापान के कार्य की निन्दा अवश्य कर दी, पर प्रस्ताव-मात्र से चीन की रक्षा नहीं हो सकती थी, और इससे अधिक कुछ कर सकना राष्ट्रसंघ की ताकत में नहीं था। जापान ने चीन के खिलाफ लड़ाई जारी रखी। उसकी सेनाएँ निरन्तर आगे बढ़ती गईं। समुद्रतट के सब महत्त्वपूर्ण चीनी नगरों पर उसका कब्जा हो गया, और चीनी सेनाएँ गुरीला-युद्ध का आश्रय लेकर संघर्ष को जारी रखने के लिए विवश हो गईं।

इसी बीच में जापान ने जर्मनी और इटली के साथ एक सन्धि की, जिसका उद्देश्य परस्पर मिलकर रशिया के कम्युनिज्म का मुकाबला करना था। जापान के साथ सन्धि कर लेने के कारण यूरोप में जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत मजबूत हो गई थी। अब जापान ने यह भी कहना शुरू कर दिया था, कि सुदूरपूर्व की सुरक्षा के लिए उसकी जिम्मेवारी विशेष है, और पृथिवी के इस क्षेत्र में शान्ति कायम रखना उसका प्रथम कर्तव्य है।

२. इटली का साम्राज्य-विस्तार

महायुद्ध के बाद वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी के अफ्रीकन उप-

निवेशों का जिस प्रकार बँटवारा हुआ था, उससे इटली बहुत असंतुष्ट था। वह समझता था, कि फ्रांस और ब्रिटेन ने तो अफ्रीका में अनेक नये प्रदेश प्राप्त कर लिये हैं, पर उसे अफ्रीका में अपने साम्राज्य विस्तार का कोई अवसर नहीं दिया गया। मुसोलिनी के उत्कर्ष से इटली में जिस नई शक्ति और राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा का संचार हुआ था, उस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। अफ्रीका के विशाल महाद्वीप में केवल दो स्वतन्त्र राज्य थे, अबीसीनिया और लिबेरिया। मुसोलिनी समझता था, अबीसीनिया पर उसे कब्जा कर लेना चाहिए। इसके दोनों ओर के प्रदेश, सोमालीलैण्ड और अरिट्रिया इटली के अधीन थे। यदि अबीसीनिया पर भी उसका कब्जा हो जाय, तो अफ्रीका में इटली का अच्छा बड़ा साम्राज्य कायम हो जायगा, और उसे न केवल अपने तैयार माल को बेच सकने का बाजार हाथ लग जायगा, अपितु उसकी बढ़ती हुई आबादी को बसने के लिए भी बहुत बड़ा क्षेत्र भी प्राप्त हो जायगा। मुसोलिनी अबीसीनिया से झगड़ा मोल लेने के लिए तुला हुआ था। दिसम्बर, १९३४ में अबीसीनिया की सीमा पर इटालियन और अबीसीनियन सेनाओं में मुठभेड़ हो गई। कुछ इटालियन सैनिक मारे गये। मुसोलिनी तो इस प्रकार के मौके की प्रतीक्षा में ही था। उसने तुरन्त अबीसीनिया पर हमला कर दिया।

इटली राष्ट्रसंघ का प्रमुख सदस्य था। उसका एक प्रतिनिधि अपने अधिकार से संघ की कौंसिल का सदस्य होता था। उसे चाहिए यह था, कि अपने झगड़े का निबटारा राष्ट्रसंघ द्वारा कराता। अबीसीनिया भी संघ में शामिल था। जब संघ के दो सदस्यों में कोई झगड़ा हो, तो उसका निबटारा पंचायती तरीके से कराना उनका कर्तव्य था। पर इटली ने अपनी जिम्मेवारियों की कोई परवाह नहीं की। वह साम्राज्य विस्तार के लिए अवसर ढूँढ रहा था, उसकी सेनाएँ बड़ी संख्या में भूमध्यसागर को पार कर अरिट्रिया और सोमालीलैण्ड

पहुँचने लगीं। शीघ्र ही इन सेनाओं ने अबीसीनिया में प्रवेश शुरू कर दिया।

अबीसीनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की। मामला संघ की कौंसिल के सम्मुख पेश हुआ। बहुत वादविवाद के बाद यह तय हुआ, कि (१) कोई राज्य इटली को अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री न बेचे। (२) इटली के तैयार माल का बहिष्कार किया जाय, और (३) इटली को कर्ज के रूप में कोई रकम न दी जाय। इसमें सन्देह नहीं, कि राष्ट्रसंघ ने आर्थिक बहिकार के शस्त्र का प्रयोग करके इटली को काबू करने का प्रयत्न सचाई के साथ किया। पर अबीसीनिया जैसे निर्बल देश को विजय करने के लिए इटली को न और देशों से हथियार खरीदने की जरूरत थी, और न ही उसे रुपया कर्ज पर लेने की कोई आवश्यकता थी। उसका माल अन्य देश न खरीदें, इसकी भी वह उपेक्षा कर सकता था। उसने निश्चय किया, कि अपनी सारी शक्ति को अबीसीनिया के ऊपर आक्रमण करने में लगा दिया जाय, ताकि इस मामले का जल्दी ही निबटारा हो जाय। यदि इस समय राष्ट्रसंघ यह निर्णय करता, कि इटली को विद्रोही मान कर उसके खिलाफ सैनिक कार्रवाई की जाय, तो उसे अवश्य काबू किया जा सकता था। पर इतना साहस राष्ट्रसंघ में नहीं था। इटली की सेनायें अबीसीनिया में आगे बढ़ती गईं। इटली की उन्नत और नये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेनाओं के सामने अबीसीनियन सेनाओं का टिक सकना असम्भव था। कुछ ही समय में अदिस अबाबा (अबीसीनिया की राजधानी) पर कब्जा कर लिया गया, और वहाँ का सम्राट् आत्मरक्षा के लिए राजधानी से भाग जाने को विवश हुआ। मई, १९३६ तक इटली ने सम्पूर्ण अबीसीनिया पर अपना अधिकार कायम कर लिया था, और विशाल अफ्रीकन साम्राज्य का मुसोलिनी का स्वप्न सर्वांश में पूर्ण हो गया था। अब इटली का आर्थिक बहिष्कार व्यर्थ था। अपने आप ही उसकी समाप्ति हो गई।

राष्ट्रसंघ इटली के खिलाफ सैनिक कार्रवाई नहीं कर सका, इसके कई कारण थे। जर्मनी और जापान इस समय तक संघ से अलग हो चुके थे। रशिया संघ का सदस्य था, पर अपनी भौगोलिक परिस्थिति के कारण सैनिक कार्रवाई में हिस्सा नहीं ले सकता था। केवल ब्रिटेन और फ्रांस ऐसे देश थे, जो इस मामले में हस्तक्षेप कर सकते थे। पर फ्रांस ने कुछ ही समय पहले इटली के साथ घनिष्ठ मित्रता की सन्धि की थी। नाजी शक्ति के विकास के कारण जर्मनी इस समय बहुत प्रबल हो गया था। हिटलर की योजना यह थी, कि आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का अन्त कर उसे विशाल जर्मन राज्य का एक अंग बना लिया जाय। इसके लिए यत्न शुरू हो गया था, और आस्ट्रिया में बाकायदा नाजी पार्टी का संगठन कर लिया गया था। ये आस्ट्रियन नाजी अपनी लोकतन्त्र सरकार की उपेक्षा कर स्वच्छन्द वृत्ति पर उतरे हुए थे। ऐसा प्रतीत होता था, कि आस्ट्रिया देर तक जर्मनी से अलग नहीं रह सकेगा। चेको-स्लोवाकिया और पोलैण्ड में निवास करनेवाले जर्मन लोगों में भी नाजिज्म का प्रचार तेजी से बढ़ रहा था। जर्मनी की इस बढ़ती हुई शक्ति से फ्रांस और इटली दोनों चिन्तित थे। फ्रांस इसलिए चिन्तित था, कि जर्मनी की सेनाएँ यदि यूरोप में फिर से प्रबल हो गईं, तो उनका सबसे पहला हमला उसी पर होगा। हिटलर ने अपनी पुस्तक 'मेरा संघर्ष' में साफ लिख दिया था, कि फ्रांस जर्मनी का असली शत्रु है। इटली नाजिज्म के इस उत्कर्ष से इसलिए चिन्तित था, कि यदि आस्ट्रिया और जर्मनी एक हो गये, तो दक्षिणी टाइरोल पर इटली का कब्जा नहीं रह सकेगा। इस प्रदेश की बहुसंख्या जर्मन जाति की थी। महायुद्ध से पहले यह आस्ट्रिया का अंग था। पर सैनिक व व्यापारिक दृष्टि से इटली इस पर अपना कब्जा चाहता था, और महायुद्ध के बाद वह अपने उद्देश्य में सफल हुआ था। इस समय फ्रांस और इटली दोनों का हित इस में था, कि वे नाजियों को आस्ट्रिया पर कब्जा न करने दें। इसी लिए उन्होंने परस्पर मित्रता की सन्धि की थी। फ्रांस

के विदेश मन्त्री श्री लवाल ने मुसोलिनी को गुप्त रूप से यह आश्वासन भी दे दिया था, कि इटली के साम्राज्य विस्तार में फ्रांस किसी प्रकार की बाधा नहीं डालेगा। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि फ्रांस इटली के खिलाफ सैनिक कार्रवाई में शामिल हो सकता। यदि ब्रिटेन इस समय इटली के साथ उलझता, तो स्वेज कैनाल का मार्ग उसके लिए अवश्य अवरुद्ध हो जाता। स्वेज का खुले रहना ब्रिटेन के लिए कितना जरूरी है, इस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं। इटली के साम्राज्य विस्तार से ब्रिटेन के अपने हितों को कोई विशेष नुकसान नहीं पहुँचता था। कम से कम, उस समय ब्रिटिश राजनीतिज्ञ यही समझते थे। उन्होंने भी यही उचित समझा, कि अबीसीनिया का पक्ष लेकर इटली का अकेले विरोध न किया जाय। पर फ्रांस और ब्रिटेन के इस रुख का परिणाम यह हुआ, कि राष्ट्रसंघ की शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। अब यह बिलकुल स्पष्ट हो गया, कि संघ में इतना दम नहीं है, कि वह किसी भी 'विद्रोही' राज्य के खिलाफ कोई भी सैनिक कार्रवाई कर सके।

२. आस्ट्रियन रिपब्लिक का अन्त

आस्ट्रिया की एक तिहाई आबादी वीएना में बसती थी। इनमें मजदूरों की संख्या बहुत अधिक थी, और राजनैतिक दृष्टि से ये साम्यवाद के अनुयायी थे। वीएना में साम्यवाद का जोर था, और इसी लिए वहाँ की म्यूनिसिपैलिटी पर साम्यवादियों का कब्जा था। पर आस्ट्रिया के शेष प्रदेशों के निवासी मुख्यतया कृषिजीवी और पुराने विचारों के थे। रोमन कैथोलिक धर्म का उन पर बड़ा असर था, और वे साम्यवादियों की नास्तिकता को बिलकुल पसन्द नहीं करते थे। इस दशा में आस्ट्रिया में दो मुख्य राजनैतिक पार्टियाँ थीं, साम्यवादी और क्रिश्चयन कैथोलिक पार्टी। दोनों पार्टियों के अपने अपने स्वयंसेवक दल थे।

ये फौजी पोशाक पहनते थे, और हथियार बाँध कर रहते थे। वीएना पर साम्यवादियों का कब्जा था, पर रिपब्लिक का शासन क्रिश्चियन कैथोलिक पार्टी के हाथ में था। दोनों पार्टियों में घोर संघर्ष रहता था, और उनके स्वयंसेवक दल भी समय-समय पर आपस में टकराते रहते थे। आस्ट्रिया की राजनीति में इटली को बहुत दिलचस्पी थी। दोनों देशों की सीमायें आपस में मिलती थीं, और आस्ट्रिया में किस दल का शासन है, इटली इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। मुसोलिनी क्रिश्चियन कैथोलिक दल का पक्षपाती था, और इस दल के लोग इटली की सहायता का पूरी तरह से भरोसा रखते थे। पर जर्मनी में नाजी पार्टी के अभ्युदय के साथ-साथ आस्ट्रिया में भी नाजी पार्टी का संगठन हुआ। जर्मन राष्ट्रीयता की भावना उग्र रूप धारण करने लगी, और आस्ट्रिया में उन लोगों का जोर बढ़ने लगा, जो जर्मन जाति को एक सूत्र में संगठित करके एक विशाल जर्मन राज्य का स्वप्न देखते थे।

२० मई १६३२ को डा० डालफस आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री बना। वह क्रिश्चियन कैथोलिक दल का था और फैसिस्ट विचारधारा का अनुयायी था। मुसोलिनी का अनुसरण कर उसने आस्ट्रियन पार्लियामेंट को बर्खास्त कर दिया, और स्वयं कानून बनाकर देश का शासन शुरू किया। उसकी आकांक्षा यह थी, कि इटली के समान आस्ट्रिया में भी फैसिस्ट व्यवस्था की स्थापना कर दी जाय। साम्यवादियों से उसका विरोध होना स्वाभाविक था। फरवरी १६३४ में इस विरोध ने बड़ा उग्ररूप धारण किया। डालफस की सरकार ने वीएना के साम्यवादियों के खिलाफ लड़ाई छेड़ दी। मजदूरों ने डट कर मुकाबला किया। एक हजार से अधिक साम्यवादी इस लड़ाई में मारे गये। उनके नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। बहुतों पर मुकदमे चलाये गये। अदालत ने ६ साम्यवादी नेताओं को फाँसी की सजा दी, जेल की सजा पानेवाले साम्यवादियों की संख्या सैकड़ों में थी। डालफस अपने विरोधी साम्यवादी

दल को कुचलने में सफल हो गया, पर अन्त में यही बात उसके पतन का कारण हुई। डालफस नहीं समझता था, कि नाजी पार्टी के रूप में जिस नई शक्ति का आस्ट्रिया में उदय हो रहा है, वह उसकी अपनी पार्टी के लिए साम्यवादियों की अपेक्षा बहुत अधिक भयंकर है। यदि वह साम्यवादियों के सहयोग से आस्ट्रियन स्वतन्त्रता और रिपब्लिक की रक्षा के लिए उद्योग करता, तो अपने देश की बहुत भलाई कर सकता। पर उसमें इतनी दूर-दृष्टि नहीं थी।

साम्यवादियों को कुचल कर डालफस ने नाजी पार्टी के खिलाफ कार्रवाई शुरू की। नाजी दल को गैर-कानूनी उद्घोषित कर दिया गया। पर जर्मन नाजी अपने आस्ट्रियन साथियों की हर प्रकार से सहायता करने को उद्यत थे। वे उन्हें अस्त्र-शस्त्र और अन्य युद्ध-सामग्री भेजते रहे। नाजी पार्टी गुप्त रूप से अपना काम करती रही। जुलाई १९३४ में कुछ नाजी वीएना के सरकारी दफ्तर में घुस गये और वहाँ उन्होंने डालफस को कतल कर दिया। आस्ट्रिया के घायल प्रधान मन्त्री पर इन नाजियों ने इसलिए पहरा दिया, कि कोई चिकित्सक उसके इलाज के लिए न आ सके, और वह अपने जख्मों से कराह-कराह कर मर जाय। जिन लोगों ने डालफस का कतल किया था, आगे चलकर नाजियों ने उन्हें शहीद बना दिया, और उन्हें जर्मन राष्ट्र का सच्चा सेवक उद्घोषित किया।

डालफस के बाद शुशनिग आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री बना। वह भी क्रिश्चियन कैथोलिक पार्टी का था, और मुसोलिनी के फैसिस्ट सिद्धान्तों पर विश्वास रखता था। उसने डालफस की नीति को जारी रखा। पर इस बीच में आस्ट्रियन नाजी दल निरन्तर जोर पकड़ता जाता था। नाजी लोग अब खुले तौर पर सैनिक कवायद करते थे। समय-समय पर उनके जलूस निकलते थे, और अपने विरोधियों पर हमला करने में भी वे संकोच नहीं करते थे। जर्मनी और आस्ट्रिया की सीमा इन नाजियों का

प्रधान गढ़ थी, वहाँ से निकलकर नाजी लोग आस्ट्रिया के सरकारी अफसरों व पुलिस पर आक्रकण करते रहते थे। स्थिति शुशनिग के काबू से बाहर होती जाती थी। आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिलकर एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण होना चाहिए, यह विचार निरन्तर जोर पकड़ता जा रहा था। आखिर, ६ मार्च १६३८ को शुशनिग ने घोषणा की, कि इस सवाल पर लोकमत लिया जायगा, और यदि लोकमत द्वारा यही तय हुआ, कि आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिल जाना चाहिए, तो वह इसे सहर्ष स्वीकार कर लेगा। पर हिटलर इसके लिए तैयार नहीं हुआ। उसका कहना था, कि इस प्रश्न पर लोकमत लेना बिलकुल व्यर्थ है। जर्मन सेनाएँ सदलबल आस्ट्रिया की सीमा पर एकत्र हो रही थीं। शुशनिग ने परेशान होकर ११ मार्च १६३८ को त्यागपत्र दे दिया। नाजी पार्टी के नेता डा० सेस्स-इन्कुअर्ट ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया, और हिटलर के पास एक तार भेजा, जिसमें कहा गया था, कि आस्ट्रिया में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने के लिए जर्मन सेनाओं को सहायता की तुरन्त आवश्यकता है। इस समय आस्ट्रिया में न कहीं विद्रोह हो रहे थे, और न किसी अन्य प्रकार की ही अव्यवस्था थी। पर नाजियों को आस्ट्रिया पर कब्जा करने के लिए एक बहाने की आवश्यकता थी। १२ मार्च १६३८ को जर्मन सेनाओं से साथ हिटलर ने आस्ट्रिया में प्रवेश किया। इस सेना के साथ-साथ आकाश में जंगी हवाई जहाज चल रहे थे। किसकी हिम्मत हो सकती थी, कि जर्मन सेनाओं का मुकाबला कर सके। बिना किसी विरोध के हिटलर की नाजी सेनाओं ने आस्ट्रिया में प्रवेश कर लिया। बीस साल की आयु की आस्ट्रियन रिपब्लिक का अन्त हो गया।

क्रिश्चयन कैथोलिक और साम्यवादी दलों के सब प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिये गये। शुशनिग और उसके साथी अन्य मन्त्रियों को कैद कर लिया गया। नाजी पार्टी के नवयुवक वीएना के बाजारों में चक्कर

काटते हुए फिरने लगे। वे जिसे चाहते, पकड़ लेते थे। जिस किसी पर भी उन्हें नाजी विरोधी होने का सन्देह था, उन सब को पकड़ कर वे जेल में बन्द कर रहे थे। वीएना में हाहाकार मच गया था। यहूदियों के साथ नाजियों ने बड़ा क्रूर बरताव किया। उनके घरों को लूट लिया गया। बहुतों को पकड़ कर बाजार में पीटा गया। सात हजार के लगभग यहूदियों ने आत्महत्या करके घोर अपमान से अपनी रक्षा की।

हिटलर का कहना था, कि आस्ट्रिया और जर्मनी को मिला कर एक होना चाहिए या नहीं, इस प्रश्न पर लोकमत लेने का उपयुक्त समय अब है। शुशनिग ने जिस लोकमत का प्रस्ताव किया था, वह कभी निष्पक्ष नहीं हो सकता था। इसी लिए उस समय लोकमत लेना बिलकुल व्यर्थ था। १० एप्रिल १९३८ को लोकमत लिया गया। ९९ फी सदी वोट नाजिओं के पक्ष में आये। यहूदियों को वोट का अधिकार नहीं दिया गया था। अन्य लोगों के लिए भी नाजियों के खिलाफ वोट देने का मतलब था, मौत या जेल। इस दशा में एक फी सदी वोट भी नाजियों के विरुद्ध आ सके, यह आश्चर्य की बात है। अब हिटलर यह कह सकता था, कि आस्ट्रियन जनता जर्मन एकता के पक्ष में थी, और शुशनिग का शासन सब लोकतन्त्र सिद्धान्तों के खिलाफ था।

मुसोलिनी यह नहीं चाहता था, कि आस्ट्रिया और जर्मनी मिलकर एक हो जावें। इसी लिए वह डालफस और शुशनिग का समर्थक था। पर हिटलर ने उसे यह कह कर संतुष्ट कर दिया, कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से आस्ट्रिया और जर्मनी का एक होना ही ठीक है, और जर्मनी इटली की सीमा में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने का इरादा नहीं रखता। यूरोप की राजनीति में इटली और जर्मनी इस समय एक दूसरे के बहुत नजदीक आ गये थे, और उनका एक जबर्दस्त गुट बन गया था। मुसोलिनी ने आस्ट्रिया के प्रश्न पर चुप रहना ही उचित समझा। पर यूरोप के अन्य राज्यों में इससे एक बेचैनी सी फैल गई, और भावी भयं-

कर युद्ध के चिन्ह सबको स्पष्ट रूप में दिखाई देने लगे। हिटलर अब इस स्थिति में था, कि मध्य यूरोप में अपनी मनमानी कर सके।

३. चेकोस्लोवाकिया का अन्त

महायुद्ध के बाद यूरोप में जिन नये राज्यों की स्थापना हुई थी, चेको-स्लोवाकिया उनमें प्रमुख था। इस नई रिपब्लिक में मुख्यतया तीन जातियों का निवास था, चेक, स्लोवाक और जर्मन। चेक और स्लोवाक नसल की दृष्टि से एक थे, उनकी भाषा भी एक दूसरे से बहुत कुछ मिलती थी। पर सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से उनमें बहुत भिन्नता थी। स्लोवाक लोग जिन प्रदेशों में रहते थे, वे पहले हंगरी के अधीन थे। उनमें व्यवसायों का विकास बहुत कम हुआ था। चेक लोगों का प्रदेश आस्ट्रिया के अधीन था, जर्मन जाति के सम्पर्क से वे विज्ञान और व्यवसाय में अच्छी उन्नति कर चुके थे। चेको-स्लोवाकियन सरकार में चेक लोगों की प्रभुता थी। पर स्लोवाक चेक लोगों की प्रभुता को पसन्द नहीं करते थे। उनकी आकांक्षा यह थी, कि उनका अपना पृथक् स्वतन्त्र राज्य कायम हो जाय। या, कम से कम चेको-स्लोवाकिया के राज्य के अन्तर्गत ही उनकी पृथक् आन्तरिक स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली जाय। पर स्लोवाक लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक जटिल समस्या जर्मनों की थी। चेको-स्लोवाकिया में बसने वाले जर्मनों की संख्या ३८ लाख के लगभग थी। ये सारे राज्य में फैले हुए थे, पर इनका मुख्य निवासस्थान सुडटनलैएड था। यह प्रदेश जर्मनी के साथ लगता था, और इस में जर्मनों की संख्या ५० फी सदी के लगभग थी। पुराने जमाने में जर्मन लोग इस देश के शासन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। आस्ट्रियन लोग स्वयं जर्मन जाति के हैं, अतः इन प्रदेशों पर शासन करने के लिए वे जिन लोगों को नियत करते थे, वे मुख्यतया जर्मन जाति के ही होते थे। चेक राष्ट्रीयता के विकास के कारण अब देश के शासन में जर्मनों

का यह प्रमुख स्थान नहीं रह गया था। वे लोग इस बात से बहुत असंतुष्ट थे। चेको-स्लोवाकिया में बसनेवाले जर्मन लोग विद्या और विज्ञान-की दृष्टि से बहुत उन्नत थे। उनके अपने विद्यालय और विश्व-विद्यालय थे, जहाँ सब शिक्षा जर्मन भाषा के माध्यम द्वारा दी जाती थी। खास प्राग (चेको-स्लोवाकिया की राजधानी) में उनकी अपनी अलग यूनिवर्सिटी थी। जर्मन साहित्य बहुत उन्नत है। चेक और स्लावाक भाषाओं का साहित्य जर्मन साहित्य की अपेक्षा बहुत पिछड़ा हुआ था। अतः जर्मन लोग चेकों और स्लावाकों के मुकाबले में अपने को बहुत ऊँचा समझते थे। वे अनुभव करते थे, कि चेको-स्लोवाकिया का पृथक् राज्य बन जाने के कारण उनकी स्थिति बहुत हीन हो गई है।

जब जर्मनी में नाजी पार्टी ने जोर पकड़ा, तो उसका असर चेको-स्लोवाकिया के जर्मनों पर भी पड़ा। उनमें यह इच्छा प्रबल होने लगी, कि हमें विशाल जर्मन राज्य का एक अंग बनकर रहना चाहिए। अतः सुडटनलैण्ड में नाजी पार्टी का संगठन किया गया। इसका जर्मनी की नाजी पार्टी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। सुडटन जर्मनों के आन्दोलन का सरकार पर बहुत असर पड़ा। १६३७ में चेको-स्लोवाकिया की सरकार ने यह घोषणा की, कि वह सुडटन जर्मनों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए निम्नलिखित बातों को स्वीकार करती है—(१) सरकारी नौकरियों में जर्मनों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से स्थान दिये जावें। (२) जर्मन भाषा को चेको-स्लोवाकिया की अन्यतम सरकारी भाषा स्वीकार किया जाय। (३) सुडटनलैण्ड की शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी संस्थाओं को सरकारी सहायता दी जाय, और यह सहायता उनकी आबादी के अनुपात से हो। (४) सुडटनलैण्ड में सार्वजनिक हित के कार्यों पर भरपूर खर्च किया जाय। पर इस घोषणा से सुडटन जर्मनों को सन्तोष नहीं हुआ। इस समय उनकी माँग यह थी, कि सुडटनलैण्ड को चेको-स्लोवाकिया के अन्तर्गत एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित

कर दिया जाय, जो आन्तरिक शासन में पूरी तरह स्वतन्त्र हो, और चेको-स्लोवाकिया के अन्तर्गत एक नया पृथक् नाजी राज्य कायम हो जाय।

इस समय तक आस्ट्रिया पर हिटलर का कब्जा हो गया था। इससे नाजियों की हिम्मत बहुत बढ़ गई थी। सुडटन नाजी पार्टी भी बहुत जोर पकड़ रही थी, और उसका नेता हेनलाइन अपने आन्दोलन को अधिक अधिक उग्र करता जाता था। १२ सिम्तबर १६३८ को हिटलर ने एक भाषण देते हुए कहा—"जैसे सब जातियों और राष्ट्रों को स्वभाग्यनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार अपने बारे में स्वयं फैसला करने का अधिकार होता है, वैसे ही सुडटनलैण्ड को भी होना चाहिए। यदि सुडटन लोग अपनी ताकत से अपना यह अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते, तो हम इस बारे में उनकी मदद करने को तैयार हैं।" दो दिन बाद १४ सितम्बर, १६३८ को हेनलाइन ने उद्घोषित किया, कि उसकी पार्टी का उद्देश्य सुडटनलैण्ड को जर्मनी के साथ सम्मिलित करना है। प्रत्येक सुडटन का कर्तव्य है, कि वह जर्मन सरकार को अपनी न्याय्य सरकार समझे, और चेको-स्लावाकिया के प्रति कोई भक्ति न रखे। हिटलर के भाषण से प्रोत्साहित होकर ही हेनलाइन ने यह घोषणा की थी। चेको-स्लोवाकियन सरकार ने इस पर कड़ी कार्रवाई करने का निश्चय किया। हेनलाइन की नाजी पार्टी को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया, और उसके अनेक अनुयायियों को गिरफ्तार किया गया। सरकार की इस कार्रवाई का अच्छा फल हुआ। नाजी पार्टी दब गई, और हेनलाइन ने अपनी यह राय प्रकट की, कि सुडटनलैण्ड के नाजियों को उग्र नीति का परित्याग कर समझौते की नीति का अनुसरण करना चाहिए, और चेको-स्लोवाकिया से पृथक् होने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

पर हिटलर इस समय चुप नहीं बैठा था। जर्मनी में नाजी समाचार-पत्रों, सभाओं और रेडियो द्वारा चेको-स्लोवाकिया के खिलाफ जहर उगला जा रहा था। जर्मन लोग कहते थे, सुडटनलैण्ड की बहुसंख्या

जर्मन है, वे जर्मनी से मिलना चाहते हैं, चेकोस्लोवाकियन सरकार उनकी राष्ट्रीय आकांक्षा का जबर्दस्ती दमन कर रही है, सुडटन जर्मनों पर घोर अत्याचार किये जा रहे हैं। जर्मनी के लिए यह असम्भव है, कि अपने राष्ट्र-बन्धुओं पर इस प्रकार के अत्याचार होते हुए देख सके। यूरोप में युद्ध के बादल तेजी से घिर रहे थे। वातावरण में एक बेचैनी सी पैदा हो गई थी। ऐसा प्रतीत होता था, कि हिटलर की सेनाएँ शीघ्र ही चेको-स्लोवाकिया पर आक्रमण कर देंगी। फ्रांस और रशिया की चेको-स्लोवाकिया के साथ सैनिक सन्धि विद्यमान है, इस सन्धि के अनुसार फ्रांस और रशिया सैनिक कार्रवाई द्वारा उसकी सहायता करेंगे। यूरोप में युद्ध का ज्वालामुखी फिर एक बार आग उगलने लगेगा। इस स्थिति में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्रीयुत चेम्बरलेन ने यह उचित समझा, कि वे जर्मनी जाकर स्वयं हिटलर से बातचीत करें। यदि कोई समझौता हो सके, शान्तिमय उपायों द्वारा सुडटनलैण्ड का फैसला किया जा सके, तो अच्छा है। १५ सितम्बर, १९३८ को बरख्टेसगाडन नामक स्थान पर हिटलर और चेम्बरलेन की भेंट हुई। हिटलर ने कहा—'जर्मनी केवल यह चाहता है, कि सुडटनलैण्ड के निवासियों को अपने भाग्य का निर्णय स्वयं करने का अवसर दिया जाय। यदि वे बहुमत से यही फैसला करें, कि उन्हें जर्मनी के साथ मिलना है, तो सुडटनलैण्ड को जर्मनी के साथ मिला दिया जाय।' साथ ही हिटलर ने यह भी कहा, कि सुडटन लोगों की समुचित और न्याय्य राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए जर्मनी सब प्रकार से उनकी सहायता करने को तैयार है। हिटलर के दृष्टिकोण को भली भाँति समझ कर चेम्बरलेन इँगलैण्ड वापस लौट आया। उसने अपनी राय कायम कर ली थी। उसका विचार था, कि सुडटनलैण्ड का जर्मनी से मिल जाना ही उचित है। जर्मन लोगों की इतनी बड़ी संख्या में सत्ता चेको-स्लोवाकिया के लिए सदा निर्बलता का निमित्त रहेगी। यदि इन जर्मन प्रदेशों को अलग कर दिया जाय, तो

यह बात चेको-स्लोवाकिया के लिए भी हितकर होगी। फ्रेंच सरकार से भी इस बारे में बातचीत की गई। ब्रिटेन और फ्रांस ने मिलकर एक नई योजना तैयार की, जिसके अनुसार यह फैसला किया गया कि (१) चेको-स्लोवाकिया के अन्तर्गत जिन प्रदेशों में जर्मनों की आबादी ५० फी सदी से अधिक हो, उन सबको जर्मनी को दे दिया जाय। (२) फ्रांस और चेको-स्लोवाकिया और रशिया और चेको-स्लोवाकिया के बीच में जो सैनिक सन्धियाँ विद्यमान हैं, उन्हें रद्द करके एक नया अन्तर्राष्ट्रीय समझौता किया जाय, और सब राज्य मिलकर यह गारन्टी दें, कि चेको-स्लोवाकिया की नई सीमाएँ अनुलङ्घनीय समझी जावेंगी। ब्रिटेन इस गारन्टी में फ्रांस और रशिया के साथ सम्मिलित होने को उद्यत था। यह योजना चेको-स्लोवाकिया की सरकार के सम्मुख पेश की गई। रात के दो बजे वहाँ के राष्ट्रपति डा० बेनस को सोते से जगाया गया। सुबह होने से पहले मन्त्रिमण्डल की बैठक बुलाई गई। चेको-स्लोवाकियन सरकार के सम्मुख अन्य उपाय ही क्या था? जिन मित्रों की सहायता का वह भरोसा कर सकती थी, वे ही उसे नई योजना को स्वीकार करने के लिए विवश कर रहे थे। उसने फ्रांस और इँगलैण्ड की योजना को स्वीकार कर लिया, और श्री० चेम्बरलेन बड़ी आशा के साथ एक बार फिर हिटलर से मिलने के लिए जर्मनी गये। गोडसबर्ग नामक स्थान पर दोनों की भेंट हुई। पर इस मुलाकात से चेम्बरलेन की सब आशाएँ धूल में मिल गईं। हिटलर फ्रांस और ब्रिटेन की नई योजना को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। उसका कहना था, कि जिन प्रदेशों में जर्मन लोगों की आबादी ५० फी सदी से अधिक है, केवल उनको ही जर्मनी को देने से काम नहीं चलेगा। ऐसा प्रदेश तो केवल सुटडन-लैण्ड है। पर उससे भी आगे जिन प्रदेशों में जर्मन लोग काफी संख्या में बसते हैं, वे सब जर्मनी को मिलने चाहिएँ। साथ ही, इन सब प्रदेशों में चेको-स्लोवाकिया ने जो किलाबन्दी कर रखी है, जो अस्त्र-शस्त्र व

युद्ध-सामग्री विद्यमान है, जो कल-कारखाने व मशीनरी हैं, वह सब भी पूर्ण रूप से जर्मनी को प्राप्त होनी चाहिए। चेम्बरलेन ने हिटलर की माँग चेको-स्लोवाकियन सरकार तक पहुँचा दी। पर डा० बेनस और उसके साथियों का कहना था, कि यह माँग तो फ्रांस और ब्रिटेन की योजना से बहुत अधिक है। जर्मनी की सीमा पर चेको-स्लोवाकिया ने जबर्दस्त किलाबन्दी कर रखी थी। इसमें उसने करोड़ों रुपये खर्च किये थे, उसके सब अस्त्र-शस्त्र वहीं पर विद्यमान थे। चेको-स्लोवाकिया के सब बड़े कारखाने इन्हीं प्रदेशों में थे। स्कोडा का प्रसिद्ध कारखाना, जो बहुत बड़ी मात्रा में हथियार तैयार करता था, इन्हीं प्रदेशों में स्थित था। ये सब जर्मनी को सुपुर्द कर देने के बाद चेको-स्लोवाकिया के पास क्या बचता था, जिस पर वह आत्मरक्षा के लिए भरोसा कर सके। हिटलर की इस नई माँग को स्वीकार करने का मतलब यह था, कि जर्मन सेनाएँ चेको-स्लोवाकिया में उस हद तक बढ़ आवें, कि आगे उन्हें रोकने के लिए चेक लोगों के पास कोई साधन न रहे। उन्होंने इसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया। चेक सेनाओं को तैयार होने का हुक्म दे दिया गया। सारे यूरोप में सनसनी फैल गई। ऐसा प्रतीत होने लगा, कि अब युद्ध की आग भड़कने ही वाली है। ब्रिटेन में आत्मरक्षा की तैयारी शुरू हो गई। लन्डन के पार्कों में खाइयाँ खुदने लग गईं, और लोग बड़े शौक से रेत भरने के थैले और जहरीली गैस से बचाव करने की नकाबें खरीदने लगे। इन चीजों की कीमतें बाजार में एकदम चार-पाँच गुना बढ़ गईं।

इस बीच में जर्मन लोग भी चुप नहीं बैठे थे। नाजी सैनिकों की टोलियाँ सुडटनलैण्ड में घुसनी शुरू हो गई थीं। ये जहाँ भी जाती थीं, यहूदियों को पकड़ती थीं, और अपने विरोधियों पर क्रूर से क्रूर अत्याचार करती थीं। बर्लिन की एक सभा में भाषण करते हुए हिटलर ने गरज कर कहा था—"चेको-स्लोवाकिया एक धोखा है, झूठ है, इस

सब धोखे की जड़ बेनस है। हजारों जर्मन वहाँ जेल में पड़े सड़ रहे हैं, उन पर जुल्म किये जा रहे हैं। बेनस झूठा है, दगाबाज है।"
फ्रांस और ब्रिटेन समझ रहे थे, कि अब हिटलर चेको-स्लोवाकिया पर आक्रमण किये बिना नहीं रहेगा। फ्रांस को चेक लोगों की मदद के लिए लड़ाई में आना पड़ेगा, और ब्रिटेन भी युद्ध से अलग नहीं रह सकेगा। सेनाओं को तैयार रहने का आदेश दे दिया गया था। पर चेम्बरलेन को आशा थी, कि अब भी हिटलर से समझौता हो सकता है। उसने मुसोलिनी से सम्पर्क कायम किया, और एक कान्फरेन्स की आयोजना की। २६ सितम्बर, १६३८ को चेम्बरलेन, हिटलर, मुसोलिनी और दिलादिये (फ्रांस का प्रधानमन्त्री) म्यूनिच में एकत्र हुए, और चेको-स्लोवाकिया की समस्या पर विचार करना प्रारम्भ हुआ। इस कान्फरेन्स में हिटलर की उन सब माँगों को पूर्ण रूप से स्वीकृत कर लिया गया, जिन्हें कि उसने गोडसबर्ग में चेम्बरलेन के सम्मुख प्रस्तुत किया था। चेको-स्लोवाकिया के प्रतिनिधियों को कान्फरेन्स में सम्मिलित नहीं किया गया था। जब सब बातों पर फैसला हो गया, तो उन्हें बुलाया गया और फैसला सुना दिया गया। डा० बेनस की सरकार के लिए यह असम्भव था, कि अपने देश के लिए इतने अपमानजनक निर्णय को स्वीकार कर लें। विरोध की शक्ति उनमें नहीं थी, उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। जनरल सिरोवी के नेतृत्व में नई चेक सरकार का निर्माण हुआ। १ अक्टूबर, १६३८ को जर्मन सेनाएँ चेको-स्लोवाकिया में प्रविष्ट होनी शुरू हो गईं। इन सेनाओं का उद्देश्य यह था, कि उन सब प्रदेशों पर जल्दी से जल्दी कब्जा कर लें, जिन्हें म्यूनिच के फैसले के अनुसार जर्मनी को दिया गया था।

हिटलर कहता था, 'अब विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण हो गया है। विविध देशों में बसनेवाले जर्मन लोग एक सूत्र में संगठित हो गये हैं, और वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ जो अन्याय हुआ था,

उसका प्रतिशोध हो गया है। अब जर्मनी को यूरोप में किसी अन्य प्रदेश को प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं है। जर्मनी किसी ऐसे प्रदेश पर अपना कब्जा नहीं करना चाहता, जहाँ जर्मन-भिन्न लोगों का निवास हो। अपने एक भाषण में उसने कहा था—"मैंने श्री चेम्बरलेन को यह भरोसा दिया है, और इसे मैं यहाँ फिर दोहराता हूँ, कि ज्यों ही यह (चेको-स्लोवाकिया की) समस्या हल हो जायगी, जर्मनी के सम्मुख यूरोप में किसी अन्य प्रदेश की समस्या शेष नहीं रहेगी। इसके बाद चेक लोगों के राज्य में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं रहेगी, इस बात की मैं गारन्टी देता हूँ। चेक लोगों से अब मेरा कोई विरोध नहीं रहेगा।"

अब चेको-स्लोवाकिया का राज्य घट कर बहुत छोटा रह गया था। सुडटनलैण्ड और उसके साथ के प्रदेश जर्मनी के हाथ में आ गये थे। पूर्व में टेशन का प्रदेश पोलैण्ड ने ले लिया था। टेशन में पोल लोग काफी संख्या में बसते थे। पोलैण्ड का दावा था, कि इस पर उसका अधिकर होना चाहिए। चेको-स्लोवाकियन सरकार की यह हिम्मत नहीं थी, कि पोलैण्ड का विरोध कर सके। उसने सिर झुका दिया। टेशन में कोयले की बहुत सी खानें हैं। व्यवसाय का यह महत्त्वपूर्ण केन्द्र अब चेक लोगों के हाथ से निकल गया। दक्षिण की ओर रुथेनिया के प्रदेश में दस लाख के लगभग मगयार लोग बसते थे। हंगरी का दावा था, कि यह सारा प्रदेश उसे मिलना चाहिए। चेको-स्लोवाकिया ने हंगरी के सम्मुख घुटने टेक दिये। रुथेनिया पर हंगरी ने कब्जा कर लिया। स्लोवाक लोग शुरू से यह चाहते थे, कि उनके प्रदेश को एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, चेकों के साथ रहना उन्हें पसन्द नहीं था। अब उनकी भी माँग स्वीकार कर ली गई, और स्लोवाकिया को चेको-स्लोवाकिया के अन्तर्गत एक पृथक् राज्य बना दिया गया। जर्मन नाजियों ने इसमें अपना प्रचार जारी रखा, और धीरे धीरे इसे जर्मनी के प्रभाव में कर लिया।

म्यूनिच में हिटलर की सब माँगें मंजूर कर ली गईं थीं। पर यह फैसला नहीं किया गया था, कि जर्मनी और चेको-स्लोवाकिया के बीच में नई सीमा कौन सी हो। यह काम एक कमीशन के सुपुर्द किया गया था, जिसमें फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, इटली और चेको-स्लोवाकिया के प्रतिनिधि रखे गये थे। यह कमीशन अपना काम कर रहा था। पर जर्मनी को इसकी कोई परवाह नहीं थी। उसकी सेनाएँ चेको-स्लोवाकिया में निरन्तर आगे बढ़ती जाती थीं। उन्होंने बहुत से ऐसे प्रदेशों व नगरों पर भी कब्जा कर लिया था, जिनकी आबादी प्रधानतया चेक जाति की थी। पर हिटलर इतने से भी संतुष्ट नहीं था। मार्च, १९३९ में स्लोवाकिया के मंत्रिमण्डल को केन्द्रीय चेको-स्लोवाकियन सरकार ने बर्खास्त कर दिया। कारण यह था, कि स्लोवाकिया का यह मंत्रिमण्डल अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र राज्य कायम करने का उद्योग कर रहा था। स्लोवाकिया के पदच्युत प्रधान मंत्री ने हिटलर से अपील की। जर्मनी को और चाहिए ही क्या था? तुरन्त स्लोवाकिया पर कब्जा कर लिया गया। चेको-स्लोवाकिया का राष्ट्रपति हिटलर से मिलने के लिए बर्लिन गया। वहाँ उसके सामने यह बात रखी गई, कि प्राग और अन्य नगरों में बसने-वाले जर्मनों की जान व माल सुरक्षित नहीं है। अतः सम्पूर्ण चेको-स्लोवाकिया का शासन जर्मनी के नियन्त्रण में कर लिया जाना आवश्यक है। इस बीच में जर्मन सेनाएँ प्राग की ओर बढ़नी शुरू हो गई थीं। राष्ट्रपति हचा विवश था। उसने हिटलर के सम्मुख घुटने टेक दिये, और सम्पूर्ण चेको-स्लोवाकिया पर जर्मनी का कब्जा कायम हो गया। लगभग बीस साल पूर्व जिस स्वतन्त्र चेकोस्लोवाकियन रिपब्लिक की स्थापना हुई थी, अब उसकी इतिश्री हो गई।

चेको-स्लोवाकिया का इस दुर्दशा के साथ अन्त बहुत खेदजनक था। महायुद्ध के समय में चेक लोगों ने अनुपम देशभक्ति का परिचय दिया था। जर्मनी और आस्ट्रिया के पराजय में उनका कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण था।

उन्होंने अपने राज्य में लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार शासन करने का प्रयत्न किया। इसमें उन्हें सफलता भी हुई। पर उनके राज्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी, कि उसमें अनेक जातियों के लोग बसते थे। जर्मन राष्ट्रीयता के सम्मुख चेकों का यह राज्य नहीं टिक सका।

४. अल्बेनिया पर इटली का कब्जा

राष्ट्रसंघ की सर्वथा उपेक्षा कर इटली ने अबीसीनिया को अपने अधीन कर लिया था। पर मुसोलिनी को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। जब उसने देखा, कि जर्मनी आस्ट्रिया और चेको-स्लोवाकिया पर कब्जा कर चुका है, और यूरोप के अन्य राज्य उसके सम्मुख सर्वथा असहाय हैं, तो उसकी भी हिम्मत बढ़ी। १६३६ के शुरू में ही इटली ने अल्बे-निया के बन्दरगाहों पर हमला शुरू कर दिया, और थोड़े से समय में सारे देश पर कब्जा कर लिया। अब एड्रियाटिक सागर के पूर्वी तट पर भी इटली का अधिकार हो गया था, और मुसोलिनी को प्राचीन रोमन साम्राज्य के विलुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने का अपना स्वप्न पूरा होता प्रतीत होता था।

महायुद्ध के बाद मेमल का बन्दरगाह (बाल्टिक समुद्रतट पर) लिथुएनिया को मिला था। यहाँ भी जर्मन लोग बड़ी संख्या में बसते थे। चेको-स्लोवाकिया पर कब्जा करने के कुछ ही दिन पीछे जर्मनी ने इस पर भी अपना अधिकार कर लिया।

अब यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई नियम व मर्यादा बाकी नहीं रही थी। राष्ट्रसंघ बिलकुल निर्बल हो गया था। इस अन्तर्राष्ट्रीय 'मात्स्य न्याय' में शक्तिशाली राज्य निर्बल राज्यों को हड़पने के लिए उद्यत थे, और उनके मार्ग में बाधा डालने की शक्ति किसी में नहीं थी।

छप्पनवाँ अध्याय

विश्वसंग्राम का श्रीगणेश

१. युद्ध की तैयारी

फैसिस्ट और नाजी शक्तियों के अभ्युदय के बाद यह स्पष्ट हो गया था, कि वर्साय की सन्धि पर आश्रित यूरोप की व्यवस्था कायम नहीं रह सकेगी। राष्ट्रसंघ सर्वथा बलहीन हो गया था, और शक्तिशाली राज्य उसके आदेशों की जरा भी परवाह किये बिना अपने साम्राज्य-विस्तार में लगे थे। इस दशा में यूरोप के विविध राज्यों के लिए यह अनिवार्य हो गया था, कि वे आत्मरक्षा के लिए अन्य उपायों का अवलम्बन करें। ये उपाय दो ही हो सकते थे। वे युद्ध की तैयारी करें, अस्त्र-शस्त्रों को बढ़ावें, सम्पूर्ण जनता को सैनिक शिक्षा दें, और सब प्रकार की युद्ध-सामग्री को अधिक से अधिक मात्रा में एकत्र करें। दूसरा उपाय यह था, कि विविध राज्य आपस में मिलकर गुट बनावें, ताकि उनमें से किसी पर हमला होने पर अन्य राज्य उसकी सहायता के लिए लड़ाई में शामिल होने के लिए विवश हों।

राष्ट्रसंघ युद्धों को रोकने में असमर्थ था, इसी लिए निःशस्त्रीकरण के लिए जो भी प्रयत्न हुए, इस उद्देश्य से जो अनेक सम्मेलन बुलाये गये, वे पूर्णतया सफल नहीं हो सके। विविध राज्यों ने युद्ध की तैयारी के अपने प्रयत्नों को जारी रखा, और अस्त्र-शस्त्रों की वृद्धि के लिए राज्यों में होड़ चलती रही। गत महायुद्ध (१६१४-१८) में बेल्जियम और फ्रांस की सीमा को जर्मनी ने बड़ी सुगमता से पार कर लिया था, अतः भावी आक्रमणों से अपनी सीमा को सुरक्षित रखने के लिए इन देशों ने भारी

किलाबन्दी की। फ्रांस ने अपनी उत्तरी सीमा पर करोड़ों रुपया खर्च करके किलों की एक शृंखला तैयार की, जो 'मैगिनो लाइन' कहाती है। यह लाइन स्विट्जरलैण्ड की सीमा पर बास्ल नामक नगर से शुरू होकर जर्मनी की सीमा के साथ साथ इँगलिश चैनल के तट पर डनकर्क तक चली गई थी। इस सीमा पर जहाँ कहीं टीले व पहाड़ियाँ हैं, उनके साथ सैनिक इंजीनियरों ने बड़ी कुशलता के साथ अनेक प्रकार की किलाबन्दियाँ तैयार की थीं। खुले मैदानों में भी जमीन की सतह से १०० से १५० फुट तक नीचे विशाल किले बनाये गये थे। इनमें सैनिकों के निवास, भोजन आदि का समुचित प्रबन्ध था। बड़ी-बड़ी पलटनें जमीन के नीचे बने हुए इन किलों में रह सकती थीं। वहाँ आने-जाने के लिए सड़कें मौजूद थीं। सब जगह बिजली की रोशनी व शक्ति विद्यमान थी। बड़ी बड़ी तोपें, अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री वहाँ भारी मात्रा में एकत्र की गई थी। घायल सैनिकों के इलाज के लिए जमीन के नीचे ही बड़े-बड़े अस्पताल बनाये गये थे। ऊपर से देखकर कोई यह नहीं कह सकता था, कि जमीन के नीचे इतने बड़े दुर्ग व छावनियाँ विद्यमान हैं। ऊपर से केवल काँटेदार तारों के ढेर व कहीं-कहीं टीले ही नजर पड़ते थे। यदि शत्रु आक्रमण करे, और ऊपर के प्रदेश पर कब्जा कर ले, तो भी जमीन के नीचे बसनेवाली ये सेनाएँ उससे महीनों तक लड़ सकती थीं। वहाँ उनके लिए न केवल युद्ध-सामग्री अपितु भोजन-सामग्री भी इतनी अधिक मात्रा में एकत्र कर दी गई थी, कि वह महीनों तक खतम नहीं हो सकती थी। जमीन के नीचे के इन किलों को इस्पात, सीमेण्ट और कंक्रीट से इतना मजबूत बनाया गया था, कि तोपों व बम्मों से उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता था। १९१४-१८ के महायुद्ध में फ्रांस और जर्मनी में जो लड़ाई हुई थी, उसमें सेना खाइयों व खन्दकों में बैठकर लड़ाई लड़ती थी। पर उसे अपर्याप्त समझकर संसार के सर्वोत्कृष्ट व सर्वाधिक कुशल सैनिक इंजीनियरों ने बहुत सोच-समझकर मैगिनो लाइन की यह किलाबन्दी तैयार

की थी। बेल्जियम ने भी अपनी सीमा पर इसी तरह की किलाबन्दी बनाई थी। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद सेनाध्यक्षों ने अपने देश की रक्षा के लिए इस प्रकार की किलाबन्दियों को सर्वोत्तम साधन माना था। इसीलिए न केवल फ्रांस और बेल्जियम ने, अपितु फिनलैण्ड व चेकोस्लोवाकिया आदि अन्य देशों ने भी सम्भावित आक्रमणों से अपनी राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा के लिए इसी प्रकार की किलाबन्दियाँ की थीं।

हिटलर ने जर्मनी में शक्ति प्राप्त करके मैगिनो लाइन के साथ साथ प्रायः समानान्तर रूप से किलाबन्दियों की एक श्रृंखला तैयार कराई थी, जिसे सीगफ्रीड लाइन कहा जाता है। मैगिनो लाइन और सीगफ्रीड लाइन के बीच में तीन मील से दस मील तक का अन्तर था, और मध्यवर्ती प्रदेश सर्वथा गैर आबाद था। कोई भी मनुष्य इस प्रदेश में निवास करने का साहस नहीं कर सकता था। दोनों पक्षों ने अपने देशों की रक्षा के लिए हजारों एकड़ जमीन को काँटेदार तार के ढेरों से ढक दिया था, और बीच बीच में बारूदी सुरंगों का जाल सा बिछा दिया था, जिससे बच कर किसी टैंक या मोटर आदि की जा सकना कठिन था।

शक्ति प्राप्त करने के बाद हिटलर ने वर्साय की सन्धि को ठुकरा दिया था। वह जानता था, कि जर्मनी तब तक अपना उत्कर्ष नहीं कर सकता, जब तक कि वर्साय की सन्धि के सब अन्यायों का प्रतिशोध न हो जाय। उसकी सम्मति में इसका केवल एक उपाय था, और वह था युद्ध। इसीलिए उसने अपनी सब शक्ति को युद्ध की तैयारी में लगा दिया था। उसका विचार था, कि लड़ाई में विजय के लिए यह आवश्यक है, कि आर्थिक दृष्टि से जर्मनी को पूर्णतया आत्म-निर्भर बना दिया जाय। उसने खेती की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया, ताकि भोजन-सम्बन्धी अपनी आवश्यकताओं को जर्मनी स्वयं उत्पन्न कर सके। बाहर से अनाज बिलकुल न मँगाना पड़े। जो चीजें जर्मनी में नहीं पैदा होतीं, विज्ञान की सहायता से उनके स्थानापन्न तैयार किये गये। रबर, कपास, पेट्रोल आदि

बहुत सी वस्तुएँ जर्मनी में नहीं होतीं। जर्मनी के वैज्ञानिक इस काम में जुट गये, कि ऐसी वस्तुएँ तैयार करें, जो रबर आदि की जगह प्रयुक्त हो सकें। उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता हुई, और हिटलर ने जर्मनी को इस स्थिति में पँहुचा दिया, कि विश्वसंग्राम के समय में विदेशी व्यापार के रुक जाने से उसे कोई विशेष नुकसान नहीं हुआ। युद्ध-सामग्री की तैयारी करने के लिए हिटलर ने विशेष उद्योग किया। वह कहा करता था—जर्मनी को मक्खन या रोटी की अपेक्षा अस्त्र-शस्त्रों की अधिक आवश्यकता है। इसीलिए उसने जर्मनी की सारी शक्ति अस्त्र-शस्त्रों को तैयार कराने में लगा दी। परिणाम यह हुआ, कि विश्वसंग्राम के शुरू होने पर जर्मनी के पास दस हजार से ऊपर जंगी हवाई जहाज और अनगिनत टैंक विद्यमान थे। ब्रिटेन, फ्रांस और उनके साथियों के पास सब के मिलाकर भी इतने हवाई जहाज या टैंक नहीं थे। सड़कों और यातायात के साधनों पर भी हिटलर ने विशेष ध्यान किया, ताकि लड़ाई के समय सेनाओं व युद्ध-सामग्री के आने जाने में सुविधा रहे। जर्मनी की ये सड़कें असाधारण रूप से चौड़ी व उत्कृष्ट थीं, और यूरोप का अन्य कोई देश इस विषय में उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। हिटलर न केवल बड़ी संख्या में सैनिकों की भरती में लगा था, अपितु सारी जनता को सैनिक शिक्षा देना उसने अपना ध्येय बना लिया था। छोटे छोटे जर्मन बालक भी सैनिक कवायद करते थे, और लड़ाई में हिस्सा लेने के लिए अपने को तैयार कर रहे थे।

वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी को सर्वथा कुचलकर भी फ्रांस ने कभी यह नहीं समझा था, कि आत्मरक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्रों व सैनिक शक्ति की वह उपेक्षा कर सकता है। इसीलिए वह अस्त्र-शस्त्रों की तैयारी में व्यस्त रहा। १९३१ में यह स्थिति थी, कि वायु सेना में वह संसार में सर्वप्रथम स्थान रखता था। अमेरिका, जापान, इटली और ब्रिटेन इस क्षेत्र में उससे पीछे थे। वायुशक्ति की दृष्टि से ब्रिटेन का स्थान पाँचवाँ

था। न केवल वायुशक्ति में, अपितु सैनिक तैयारी के अन्य क्षेत्रों में भी ब्रिटेन बहुत पीछे था। १९२६-२७ में ब्रिटेन ने सैन्य-शक्ति पर १७५ करोड़ के लगभग रुपया खर्च किया था। आगामी वर्षों में इसे बढ़ाने के स्थान पर उसने इसमें कमी कर दी थी। १९३०-३१ में सैन्यशक्ति पर ब्रिटेन का वार्षिक खर्च १७५ करोड़ से घट कर १५० करोड़ के लगभग रह गया था। नाजी शासन के स्थापित होजाने के बाद सैनिक तैयारी में जर्मनी सबसे आगे बढ़ गया। १९३५ में यह स्थिति थी, कि जर्मनी १५०० हवाई जहाज प्रति वर्ष नये तैयार करने लगा था। इस साल में ब्रिटेन ने केवल १०० नये हवाई जहाज तैयार किये थे। पर १९३६ में ब्रिटेन ने इस कमी को पूरा करने के लिए विशेष रूप से ध्यान देना शुरू किया। सैनिक खर्च को बढ़ाया गया, और जब यह अनुभव किया गया, कि सालाना बजट में टैक्सों की आमदनी से इतनी गुँजाइश नहीं है, कि सैन्यशक्ति पर भरपूर खर्च किया जासके, तो राष्ट्रीय ऋण द्वारा रुपया प्राप्त करने की कोशिश की गई। सेना पर किये जाने वाले इस खर्च की मात्रा निरन्तर बढ़ती गई। १९३७-३८ में ब्रिटेन ने युद्ध की तैयारी पर ३२० करोड़ के लगभग रुपया खर्च किया। १९३८-३९ में यह रकम बढ़ा कर ६०० करोड़ कर दी गई। १९३९-४० में इसमें और भी वृद्धि हुई, और ब्रिटेन का सैनिक व्यय ७५० करोड़ रुपये तक पहुँच गया।

ब्रिटेन और जर्मनी के समान यूरोप के अन्य देश भी इस समय सैन्य वृद्धि और युद्ध की तैयारी में जी-जान से लग गये थे। उन्हें स्पष्ट नजर लगा था, कि युद्ध अवश्यम्भावी है, और उसके लिए तैयार रहने में ही उनका हित है।

२. नई गुटबन्दियाँ

१९१९ में पेरिस की सन्धि-परिषद् द्वारा यूरोप का जिस प्रकार पुनः निर्माण किया गया था, उससे जर्मनी, इटली और जापान विशेष रूप से असंतुष्ट थे। उन्होंने वर्साय की सन्धि की उपेक्षा कर किस प्रकार

अन्य प्रदेशों को अधिगत करना व अस्त्र-शस्त्र में वृद्धि करना शुरू कर दिया था, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से यूरोप के विविध राज्यों में तहलका सा मच गया था। पश्चिम में फ्रांस और पूर्व में रशिया जर्मनी की शक्ति से विशेषतया चिन्तित थे। दोनों का हित इस बात में था, कि जर्मनी के विस्तार का मिलकर मुकाबला करें। इसीलिए फ्रांस ने यह कोशिश की, कि रशिया राष्ट्रसंघ का सदस्य हो जाय। १९३४ में रशिया राष्ट्रसंघ में शामिल हो गया। पर इतने से जर्मनी के खिलाफ अपनी रक्षा करने का सवाल हल नहीं हुआ। फ्रांस और रशिया ने यह भी कोशिश की, कि वे मिलकर आपस में एक समझौता कर लें, जिसके अनुसार उनमें से किसी पर यदि जर्मनी हमला करे, तो दूसरा उसका साथ दे। वे चाहते थे, कि ब्रिटेन भी इस समझौते में शामिल हो जाय। ब्रिटेन को राजी करने के लिए उन्होंने समझौते को इस रूप में पेश किया, कि फ्रांस, रशिया, ब्रिटेन और जर्मनी मिलकर यह समझौता करें, कि यदि उनमें से किसी पर कोई अन्य राज्य हमला करे, तो वे मिलकर उसका मुकाबला करें। उन दिनों ब्रिटेन जर्मनी के प्रति मित्रता का भाव रखने के लिए बहुत उत्सुक था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का विचार था, कि यूरोप में राजशक्तियों का समुचित समुतुलन कायम रखने के लिए जर्मनी का शक्तिशाली होना आवश्यक है। समझौते का जो रूप रखा गया था, जर्मनी उससे अनेक अंशों में असहमत था। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन और जर्मनी उसमें शामिल नहीं हुए। मई, १९३५ में फ्रांस और रशिया ने मिलकर इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। इन दोनों शक्तिशाली राज्यों का गुट तैयार हो गया, और बढ़ती हुई नाजी शक्ति का मुकाबला करने के लिए ये दोनों राज्य परस्पर संगठित हो गये। पोलैण्ड, चेको-स्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया की पहले ही फ्रांस से पारस्परिक सहायता की सन्धि थी। अब फ्रांस के इस गुट में रशिया भी शामिल हो गया।

१६३६ तक जर्मनी, जापान और इटली में भी परस्पर एक दूसरे की सहायता करने लिए समझौता हो गया। इस रोम-बर्लिन और बर्लिन-टोकियो गुट की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इस समय संसार के प्रमुख राज्य दो गुटों में बँट गये थे। एक गुट का नेता जर्मनी था, और दूसरे का फ्रांस। इन गुटों का आधार दो बातें थीं। एक तो विचारों व आदर्शों की समानता, और दूसरी हितों की एकता। इटली, जर्मनी और जापान फैसिज्म के अनुयायी थे। उनमें एक ग्रुप व एक पार्टी का प्रभुत्व था, वे अपने साम्राज्यों के विस्तार के लिए उत्सुक थे। उनको वर्साय की सन्धि से समान रूप से शिकायत थी, और उसका उल्लंघन करके अपनी शक्ति को बढ़ाने में उनका एक समान हित था। इसके विपरीत फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि राज्यों को पेरिस की सन्धि-परिषद् द्वारा किये गये निर्णयों से बहुत लाभ पहुँचा था। उन निर्णयों को कायम रखने में उन सबका फायदा था। साथ ही, वे सब लोकतन्त्र शासन के पक्षपाती थे। रशिया में कम्युनिस्ट शासन होने के कारण उसकी सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था लोकतन्त्र राज्यों से भिन्न थी। पर उसका हित इसी बात में था, कि जर्मनी, इटली व जापान का उत्कर्ष न होने पावे। इसीलिए उसने फैसिस्ट शक्तियों के खिलाफ फ्रांस व उसके साथियों के पक्ष में होना स्वीकार किया। १६३६ के अन्त तक ब्रिटेन और अमेरिका इन गुटों में शामिल नहीं हुए थे। पर ब्रिटेन के लिए देर तक यूरोप की राजनीति के दांव-पेंचों से अलग रहना सम्भव नहीं रहा। १६३६-३७ में यूरोप में युद्ध के बादल घिरने शुरू हो गये थे। स्पेन में फ्रांको के उत्थान के कारण सम्पूर्ण यूरोप में सनसनी छा गई थी। फ्रेंच लोगों की आकांक्षा थी, कि स्पेन के गृह-कलह में फ्रांको के विरुद्ध वहाँ की रिपब्लिकन सरकार की सहायता करें। जर्मनी और इटली खुले तौर पर फ्रांको की मदद कर रहे थे। पर ब्रिटेन यही उचित समझता था, कि इस झगड़े में तटस्थता की नीति का अनुसरण किया जाय। फ्रांस के प्रधान मन्त्री श्री ब्लम ने इस

मामले में ब्रिटेन का अनुसरण करना उचित समझा। १६३७ और १६३८ में ब्रिटेन की यही कोशिश रही, कि, यूरोप के किसी गुट शामिल न हुआ जाय। पर जर्मनी और इटली की नीति जो रूप धारण करती जाती थी, उससे ब्रिटेन का रुख फ्रांस की तरफ होना स्वाभाविक था। अबीसीनिया के विजय के बाद इटली की यह आकांक्षा थी, कि पूर्वी भूमध्यसागर पर उसका प्रभुत्व हो जाय और स्वेज की नहर के इन्तजाम में भी उसका हाथ रहे। ब्रिटेन यह सहन नहीं कर सकता था। भूमध्यसागर व स्वेज की नहर पर किसी अन्य राज्य का कब्जा वह किसी भी दशा में स्वीकार नहीं कर सकता था। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन का रुख इटली के खिलाफ हो गया। इसी बीच में, जर्मनी ने आस्ट्रिया और चेकोलोवाकिया का विजय किया। गत महायुद्ध (१६१४-१८) के बाद यूरोप में जो व्यवस्था कायम हुई थी, उसके अनुसार फ्रांस और ब्रिटेन का कर्तव्य था, कि जर्मनी को चेको-स्लावाकिया का विजय करने में बाधा उपस्थित करें। पर ब्रिटेन की नीति यही थी, कि मध्य यूरोप के झगड़ों में उसे नहीं पड़ना चाहिए। श्री चेम्बरलेन ने यही यत्न किया, कि फ्रांस भी इस मामले में हस्तक्षेप न करे। परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी अपना विस्तार करता गया और किसी यूरोपियन राज्य ने उसके मार्ग में बाधा नहीं डाली।

पर ब्रिटेन के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह देर तक यूरोप के झगड़ों में तटस्थता की नीति पर स्थिर रह सके। आस्ट्रिया और चेकोस्लो-वाकिया का अन्त करके भी हिटलर की साम्राज्य पिपासा शान्त नहीं हुई थी। उसने शीघ्र ही लिथुएनिया और पोलैण्ड की तरफ कदम बढ़ाया। अब स्थिति ऐसी हो गई थी, कि ब्रिटेन को अपनी तटस्थता की नीति का परित्याग कर जर्मनी के खिलाफ फ्रांस के पक्ष में शामिल होने के लिए विवश होना पड़ा।

चेको-स्लोवाकिया पर कब्जा करने के कुछ ही दिन बाद हिटलर ने लिथुएनिया को यह अल्टिमेटम दिया, कि मेमल के बन्दरगाह और

उसके समीपवर्ती प्रदेश को जर्मनी के सुपुर्द कर दे। २१ मई, १९३९ को इस प्रदेश पर जर्मनी का अधिकार हो गया। बाल्टिक सागर के तट पर विद्यमान इस बन्दगाह की किलाबन्दी शुरू कर दी गई, और जर्मनी ने वहाँ अपना सैनिक कब्जा कायम कर लिया। मेमल के बाद अब पोलैण्ड की बारी थी। हिटलर की तरफ से पोलैण्ड की सरकार के सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया, कि डान्सिग का बन्दरगाह जर्मनी को दे दिया जाय, और पोलैण्ड के पास समुद्रतट तक पहुँने के लिए जो गलियारा है, और जिसके कारण जर्मनी दो टुकड़ों में विभक्त हो गया है, उसके बीच में से एक प्रदेश जर्मनी को दे दिया जाय, ताकि जर्मनी के दोनों खण्ड आपस में सम्बद्ध हो जावें। पोल सरकार ने इन प्रस्तावों को मानने से इनकार कर दिया।

अब ब्रिटेन को इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा था, कि हिटलर की जबान की कोई कीमत नहीं है। आस्ट्रिया और चेको-स्लोवकिया पर कब्जा करके ही उसकी भूख शान्त नहीं हो गई है। शीघ्र ही पोलैण्ड की भी वही गति होगी, जो कुछ दिन पहले चेको-स्लोवाकिया की हुई थी। अब ब्रिटिश सरकार ने दुविधा का परित्याग कर स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की, कि यदि कोई ऐसी कार्रवाई की गई, जिससे पोलैण्ड की स्वाधीनता और स्वतन्त्र सत्ता खतरे में पड़ती हो, तो ब्रिटेन अपनी सब शक्ति पोलैण्ड की सहायता में लगा देगा। यह घोषणा ३१ मार्च, १९३९ को की गई थी। फ्रांस पहले ही पोलैण्ड की सहायता के लिए वचनबद्ध था। जर्मनी के अनुकरण में इटली ऐंड्रियन सागर को पार करके अपनी शक्ति का विस्तार करने में लगा था। अल्बेनिया पर उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। अब उसकी इच्छा यह थी, कि और आगे बढ़कर रूमानिया और ग्रीस को भी अपने कब्जे में किया जाय। १३ एप्रिल, १९३९ को ब्रिटेन ने रूमानिया और ग्रीस को भी यह गारण्टी दी, कि यदि कोई देश उनकी स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न करेगा, तो ब्रिटिश

सेना उसका मुकाबला करेगी। अब यह स्पष्ट था, कि जर्मनी या इटली के किसी भी सैनिक कार्रवाई के शुरू करने पर ब्रिटेन लड़ाई में शामिल होने से बच नहीं सकेगा। फ्रांस भी इस गारण्टी में ब्रिटेन के साथ था।

पर प्रश्न यह है, कि ब्रिटेन और फ्रांस पोलैण्ड व रूमानिया की सहायता किस प्रकार कर सकते थे? भौगोलिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं था, कि स्थल व जल सेनाओं द्वारा इन राज्यों को सहायता पहुँचाई जा सके। ग्रीस की सहायता के लिए जलमार्ग द्वारा सेनाएँ अवश्य भेजी जा सकती थीं, पर पोलैण्ड व रूमानिया की रक्षा के लिए वायुमार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। हाँ, यदि रशिया भी इस गारन्टी में ब्रिटेन व फ्रांस से साथ सम्मिलित होता, तो उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी, कि उसकी सेनाएँ तुरन्त इन राज्यों की रक्षा के लिए पहुँच सकती थीं। फ्रांस और रशिया में घनिष्ठ मित्रता थी। दोनों को नाजी जर्मनी का समान रूप से भय था। १९३५ में उनमें यह सन्धि भी हो चुकी थी, कि किसी अन्य राज्य द्वारा आक्रमण किये जाने की दशा में वे एक दूसरे की सहायता करें। अतः फ्रांस की यह कोशिश थी, कि पोलैण्ड की रक्षा करने की गारण्टी में रशिया भी शामिल हो जाय। ब्रिटेन भी यही चाहता था। १५ एप्रिल, १९३९ को ब्रिटिश सरकार ने रशिया से यह प्रश्न किया, कि क्या वह पोलैण्ड और रूमानिया की रक्षा की गारण्टी में शामिल होने को तैयार है? रशिया ने यह जवाब दिया, कि इस प्रकार की गारण्टी में उसके सम्मिलित होने के दो परिणाम होंगे। पहला यह, कि पोलैण्ड और रूमानिया की रक्षा का सब भार उसी के ऊपर आ जायगा। दूसरा यह, कि केवल दो राज्यों की रक्षा की गारण्टी का मतलब यह समझा जायगा कि यूरोप के कतिपय राज्यों ने मिलकर गुटबन्दी कर ली है, और इस प्रकार की गुटबन्दी से यूरोप की राजनैतिक स्थिति अधिक जटिल हो जायगी। अतः उत्तम यह होगा, कि फ्रांस, ब्रिटेन और रशिया मिलकर एक ऐसा समझौता करें, जिससे वे न केवल पोलैण्ड

और रूमानिया की रक्षा की उत्तरदायित्व अपने ऊपर लें, अपितु अन्य छोटे राज्यों को भी इस गारण्टी में शामिल करें। रशिया विशेष रूप से इस बात के लिए उत्सुक था, कि लिथुएनिया, लैटविया और एस्थोनिया की रक्षा का भार भी तीनों देश अपने ऊपर लें, और साथ ही काला सागर के तटवर्ती जो अनेक छोटे राज्य हैं, उन सबकी रक्षा की भी उत्तरदायिता ली जाय। पर ब्रिटेन को रशिया का यह प्रस्ताव पसन्द नहीं था। उसका खयाल था, कि रशिया की इच्छा बाल्टिक और काला सागर के तटवर्ती राज्यों को अपने प्रभाव में ले आने की है, और इसी लिए उसने यह प्रस्ताव पेश किया है।

इसी बीच में जर्मनी की कूटनीति भी अपना काम कर रही थी। हिटलर ने बाल्टिक सागर के तटवर्ती चारों राज्यों—लिथुएनिया, लैटविया, एस्थोनिया और फिनलैण्ड को यह विश्वास दिलाया, कि जर्मनी का इरादा उनकी स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करने का नहीं है। वह उनके साथ ऐसा समझौता करने को तैयार है, जिससे जर्मनी उन्हें इस बात का पूरा भरोसा दिला देगा, कि उन पर कोई आक्रमण नहीं किया जायगा। अगस्त, १९३९ में जर्मनी का कुशल विदेश-मन्त्री रिबनट्राप रशिया गया, और वहाँ जाकर उसने यह प्रयत्न किया, कि सोवियट यूनियन के साथ भी इसी प्रकार का समझौता कर लिया जाय। अब तक रशिया को यह विश्वास हो चुका था, कि ब्रिटेन के साथ उसकी कोई सन्धि सुगमता से नहीं हो सकती। ब्रिटेन रशिया की प्रत्येक बात को सन्देह की दृष्टि से देखता था, और ब्रिटिश जनता के हृदय में यह बात बैठी हुई थी, कि सोवियट यूनियन की कम्युनिस्ट सरकार यूरोप व संसार की शान्ति व व्यवस्था के लिए बाधक है। विशेषतया, ब्रिटेन की कन्जर्वेटिव पार्टी के नेता रशिया को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। श्री० चेम्बरलेन और उनके साथियों का अब तक भी यह विचार था, कि हिटलर जर्मनी में जो कुछ कर रहा है, उसे सर्वथा न्याय-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। नाजी लोगों

को अपने देश की राष्ट्रीय उन्नति का पूरा अधिकार है, और हिटलर के नेतृत्व में जो शक्तिशाली जर्मनी विकसित हो रहा है, वह न केवल यूरोप के शक्तिसंतुलन में सहायक होगा, अपितु रशिया के कम्युनिस्ट खतरे से भी पश्चिमी दुनिया का बचाव कर सकेगा। अतः ब्रिटिश राजनीतिज्ञ रशिया के साथ समझौता करने में टालमटोल करते रहे। जर्मनी ने इस स्थिति से फायदा उठाया, और २३ अगस्त, १६३६ को रशिया और जर्मनी में सन्धि हो गई। इस सन्धि द्वारा दोनों देशों ने यह वायदा किया, कि वे एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे। रशिया के साथ इस सन्धि को कर लेने के बाद जर्मनी को यह भरोसा हो गया था, कि यदि उसने पोलैण्ड पर आक्रमण किया, तो उसके मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकेगी। वह अपनी पूर्वी सीमा की तरफ से सर्वथा निश्चिन्त हो गया था। ब्रिटेन जर्मनी के खिलाफ पोलैण्ड की सहायता करने के लिए तो उद्यत था, पर रशिया के साथ कोई समझौता करते हुए उसे उत्साह नहीं होता था। वह जर्मनी की अपेक्षा रशिया को अपने लिए अधिक खतरनाक समझता था। ब्रिटेन की इसी दुविधापूर्ण नीति का यह परिणाम हुआ, कि जर्मनी और रशिया ने परस्पर मिल कर अनाक्रमण की सन्धि कर ली।

रशिया और जर्मनी में सन्धि हो जाने पर ब्रिटेन ने एक बार फिर यह कोशिश की, कि पोलैण्ड के प्रश्न को हल करने के लिए शान्तिमय उपायों का अवलम्बन किया जाय। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री चेम्बरलेन ने हिटलर को पत्र लिखा, कि पोलैण्ड का कोई ऐसा सवाल नहीं है, जिसे परस्पर बातचीत करके हल न किया जा सके। चेम्बरलेन के बहुत जोर देने पर २८ अगस्त, १६३६ को हिटलर इस बात के लिए तैयार हो गया, कि पोलैण्ड के प्रतिनिधियों से बातचीत करे, और सब विवादग्रस्त मामलों को विचार विनिमय द्वारा निबटाने का प्रयत्न करे। पर उसने यह शर्त साथ लगा दी, कि पोल सरकार के प्रतिनिधियों को ३० अगस्त तक

बर्लिन पहुँच जाना चाहिये। पर यह सम्भव नहीं था, कि इतनी जल्दी पोल प्रतिनिधि पूर्ण अधिकारों को लेकर बर्लिन आ सकते। वस्तुतः, हिटलर पोलैण्ड के सम्बन्ध में उसी नीति का अनुसरण करना चाहता था, जो उसने आस्ट्रिया और चेको-स्लोवाकिया के सम्बन्ध में बरती थी। शान्तिमय उपायों से पोलैण्ड के सवाल को हल कर सकना सम्भव नहीं था। यह स्पष्ट था, कि जर्मनी पोलैण्ड पर आक्रमण करेगा। इस स्थिति में ब्रिटेन और फ्रांस उसकी सहायता के लिए वचनबद्ध थे। रशिया के प्रति ब्रिटेन में जो सन्देह व विरोध की भावना थी, उसके कारण विशाल सोवियट शक्ति जर्मनी के विस्तार के विरुद्ध ब्रिटेन और फ्रांस के साथ शामिल नहीं हो सकी थी। जर्मनी की कूटनीति ब्रिटेन पर विजय पा गई थी।

३. युद्ध का श्रीगणेश

हिटलर ने पोलैण्ड से जो माँगें की थीं, पोल सरकार ने उन्हें स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। हिटलर का कहना था, कि डान्सिग राष्ट्रीयता और भूगोल की दृष्टि से जर्मनी का अंग है। वहाँ के बहुसंख्यक निवासी जर्मन हैं, और वह चिरकाल से जर्मनी के अन्तर्गत रहा है। उसे जर्मनी से पृथक् रखना सर्वथा अनुचित और न्याय विरुद्ध है। साथ ही, डान्सिग तक पहुँचने के लिए जर्मनी के बीच में से एक गलियारा पोलैण्ड को दे देना किसी भी प्रकार न्याय्य नहीं समझा जा सकता। गलियारे का यह प्रदेश जर्मनी का अंग है, और उसे पोलैण्ड को दे देने से जर्मनी दो टुकड़ों में विभक्त हो गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने के लिए सुविधा मिलनी चाहिये। पर यह सुविधा देने के लिए जर्मनी का अंगभंग कर देना किसी भी प्रकार उचित नहीं माना जा सकता। निःसन्देह, हिटलर की युक्ति में बल था। वर्साय की सन्धि द्वारा की गई यह व्यवस्था उचित नहीं थी, और इसका प्रतिशोध होना आवश्यक था। पर अच्छा होता, कि हिटलर इसके लिए बातचीत व

शान्तिमय उपायों का अवलम्बन करता। पर पोलैण्ड को अपनी शक्ति पर भरोसा था। उसे यह भी मालूम था, कि फ्रांस और ब्रिटेन उसकी पीठ पर हैं। हिटलर भी शान्तिमय उपायों की अपेक्षा बल प्रयोग को अधिक महत्त्व देता था। उसे विश्वास था, कि जिस प्रकार आस्ट्रिया और चेको-स्लोवाकिया शक्ति द्वारा जीत लिये गये हैं, और ब्रिटेन व फ्रांस उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं डाल सके, वैसे ही अब वह पोलैण्ड को भी घुटने टेक देने के लिए विवश कर सकेगा। उसने पोलैण्ड के प्रति भी उग्र नीति का अवलम्बन किया। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट, रोम के पोप व बेल्जियम के राजा ने हिटलर से अपील की, कि वह युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों से पोलैण्ड की समस्या को हल करे। पर हिटलर ने उनकी एक न सुनी। बर्लिन में स्थित पोल राजदूत ने ३० अगस्त, १६३६ को यह कोशिश की, कि वारसा में पोल सरकार के साथ टेलीफोन पर बातचीत करे। पर टेलीफोन की तार काट दी गई थी। हिटलर ने यह निश्चय कर लिया था, कि पोलैण्ड के साथ शक्ति का प्रयोग किया जाय। १ सितम्बर, १६३६ को जर्मन सेनाओं ने प्रातःकाल ५¾ बजे पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। यह विश्वसंग्राम का श्रीगणेश था।

४. युद्ध के कारण

१६१८ में यूरोप में महायुद्ध की समाप्ति हुई थी। उसके केवल ३१ साल बाद १६३६ में युद्ध की अग्नि ने फिर सारे यूरोप को व्याप्त कर लिया। १६३६-४५ का यह युद्ध केवल यूरोप तक सीमित नहीं रहा। धीरे धीरे इसने विश्वव्यापी संग्राम का रूप धारण कर लिया। इस युद्ध के कारणों पर संक्षेप से प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है।

(१) विश्वसंग्राम का आधारभूत कारण इतिहास की पुरानी और नई प्रवृत्तियों का शाश्वत संघर्ष था। १६१४-१८ के महायुद्ध ने यूरोप से एकतन्त्र शासन और साम्राज्यवाद का अन्त कर लोकतन्त्र शासन और

राष्ट्रीयता के आधार पर निर्मित राज्यों की स्थापना कर दी थी। पर मानवजाति किसी नई व्यवस्था को सुगमता से स्वीकार नहीं कर लेती। फ्रांस में राज्यक्रान्ति द्वारा लोकतन्त्र शासन कायम हुआ था, पर उसके खिलाफ कई बार प्रतिक्रिया हुई। पहले नैपोलियन के रूप में, फिर वीएना की कांग्रेस द्वारा और फिर नैपोलियन तृतीय के राजसिंहासनरूढ़ होने से फ्रांस में लोकतन्त्र शासनों का अन्त हुआ। लगभग एक सदी के निरन्तर संघर्ष के बाद फ्रांस में स्थिर रूप से लोकतन्त्र शासन कायम हो सका। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली में महायुद्ध द्वारा एकतन्त्रशासनों का अन्त होकर लोकतन्त्र की स्थापना की गई थी। पर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। यह प्रतिक्रिया नाजीज्म और फैसिज्म के रूप में प्रगट हुई। एक बार फिर इन देशों में एक व्यक्ति या ग्रुप का शासन कायम हुआ। इतिहास की प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिए दब गईं। पर ये सदा के लिए दबी नहीं रह सकती थीं। विश्व-संग्राम ने इन पुरानी प्रवृत्तियों का अन्त कर इटली, जापान और जर्मनी में एक व्यक्ति या एक ग्रुप के शासन को समाप्त किया और लोकतन्त्रवाद के लिए मार्ग को तैयार कर दिया।

(२) विश्व-संग्राम का दूसरा कारण साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति थी। ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के विशाल साम्राज्यों के मुकाबले में जर्मनी, जापान और इटली अपने को बहुत हीन अनुभव करते थे। ये राज्य विज्ञान, व्यवसाय और सैन्यशक्ति की दृष्टि से ब्रिटेन व फ्रांस की तुलना में कम नहीं थे। पर इनके पास साम्राज्यों का अभाव था। वे अनुभव करते थे, कि हमें भी अपने तैयार माल के लिए बाजार चाहिए, अपनी बढ़ती हुई आबादी के बसने के लिए स्थान चाहिये और ब्रिटेन के समान संसार में हमारा भी प्रभुत्व होना चाहिये। कुछ देशों के पास तो साम्राज्य हों और अन्यों के पास न हों, यह बात स्वाभाविक व उचित नहीं थी। विश्वसंग्राम ने साम्राज्यवाद का अन्त किया। यद्यपि जर्मनी और उसके साथी युद्ध में

परास्त हुए, पर इस संग्राम ने संसार में वह शक्ति उत्पन्न कर दी, जिसके कारण साम्राज्यों का टिक सकना सम्भव नहीं रहा।

(३) वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ अन्याय हुआ था। पेरिस की सन्धि-परिषद् द्वारा यूरोप की जो नई व्यवस्था कायम हुई थी, उसमें १९१४-१८ के परास्त देशों के साथ बहुत कुछ अन्याय किया गया था। इटली और जापान भी उससे असंतुष्ट थे। वर्साय की इन भूलों का प्रतिशोध शान्तिमय उपायों से नहीं हो सका। उसके लिए युद्ध का आश्रय लेना आवश्यक हो गया।

(४) विश्वसंग्राम का तात्कालिक कारण जर्मनी का पोलैण्ड पर आक्रमण था। पर यदि यह आक्रमण न भी होता, तो भी संसार में लोकतन्त्रवाद और अधिनायकवाद (डिक्टेटरशिप) का साथ साथ रह सकना सम्भव न होता। किसी न किसी प्रश्न पर उनमें लड़ाई छिड़ती ही। वस्तुतः, विश्वसंग्राम में दो प्रवृत्तियों व दो आदर्शों के बीच में संघर्ष चल रहा था। एक प्रवृत्ति वह थी, जिसे फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने पैदा किया था। दूसरी प्रवृत्ति उसकी प्रतिक्रिया के रूप में थी, जिसके प्रतिनिधि हिटलर और मुसोलिनी थे।

सत्तावनवाँ अध्याय

विश्वसंग्राम का इतिवृत्त

१. पोलैण्ड का अन्त

एक सितम्बर, १९३९ को प्रातःकाल विश्वसंग्राम का श्रीगणेश हुआ। जर्मनी के बीच में से, डान्सिग के बन्दरगाह तक पहुँचने के लिए पोलैण्ड को जो गलियारा दिया गया था, उस पर उत्तर और दक्षिण, दोनों ओर से आक्रमण किया गया। वारसा व अन्य पोल नगरों पर हवाई जहाजों द्वारा गोलाबारी की गई। हवाई जहाज के अड्डों, रेलवे स्टेशनों व प्रमुख कारखानों पर वायुमार्ग से हमला किया गया। डान्सिग के बन्दरगाह पर समुद्र द्वारा आक्रमण हुआ। जर्मनी की जल, स्थल व वायुसेना एक साथ मिलकर पोलैण्ड को कुचल डालने के लिए आगे बढ़ने लगी। पोलैण्ड के लिए यह असम्भव था, कि जर्मनी की शक्तिशाली सेनाओं का मुकाबला कर सकता। यद्यपि उसके सैनिकों की संख्या दस लाख से ऊपर थी, पर ये नये वैज्ञानिक साधनों व उत्कृष्ट अस्त्र शस्त्रों से सज्जित नहीं थे। पोलैण्ड की सेना जर्मनी के सम्मुख नहीं टिक सकी। चार दिन की लड़ाई के बाद, ५ सितम्बर को सम्पूर्ण साइलीशिया पर जर्मनी का कब्जा हो गया। दो सप्ताह में जर्मन सेनाएँ वारसा तक पहुँच गईं।

फ्रांस और ब्रिटेन ने पोलैण्ड को यह आश्वासन दिया हुआ था, कि जर्मनी द्वारा आक्रमण होने की दशा में ये देश उसकी पूरी तरह सहायता करेंगे। इसी कारण, एक सितम्बर को लड़ाई शुरू होने पर लण्डन और पेरिस से जर्मनी को यह अल्टिमेटम दिया गया था, कि पोलैण्ड पर

जिन सेनाओं ने हमला किया है, उन्हें तुरन्त वापस बुला लिया जाय। जर्मनी ने इस अल्टिमेटम की कोई परवाह नहीं की। परिणाम यह हुआ, कि ३ सितम्बर को फ्रांस और ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। पोलैण्ड की सहायता करने के दो ही तरीके थे। एक तो यह, कि हवाई जहाजों द्वारा जर्मनी पर हमला किया जाय, और दूसरा यह कि जर्मनी की पश्चिमी सीमा पर लड़ाई छेड़ दी जाय। पोलैण्ड को यही आशा थी, कि फ्रांस और ब्रिटेन तुरन्त ही जर्मनी के खिलाफ सैनिक कार्रवाई शुरू कर देंगे। पर उसे निराश होना पड़ा। ब्रिटेन व फ्रांस की वायु-सेना ने किसी भी प्रकार उसकी सहायता नहीं की, और न ही इस पैमाने पर पश्चिमी सीमा पर लड़ाई शुरू हुई, जिससे जर्मन सेनाओं को पोलैण्ड पर हमला करने में कुछ ढील देने की आवश्यकता हो।

इसी बीच में, जब कि जर्मन सेनायें वारसा को तहस नहस करने में लगी थीं, १७ सितम्बर को प्रातः ४ बजे रशियन सेनाओं ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। रशिया समझता था, कि युक्रेनिया का जो प्रदेश पोलैण्ड की अधीनता में है, वह अनुचित है, और उसे स्वतन्त्र करके युक्रेनिया के साथ मिला देना चाहिए। उसने सोचा, कि पोलैण्ड शीघ्र ही जर्मनी के हाथ में चला जायगा, और फिर इस प्रदेश को प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रहेगा। पाँच दिन में रशियन सेनाओं ने इस सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उधर जर्मन सेनायें भी निरन्तर आगे बढ़ रही थीं। वारसा देर तक उनके सम्मुख नहीं टिक सका। उसने घुटने टेक दिये, और पोलैण्ड की स्वतन्त्रता का अन्त हो गया।

पर पोल लोगों ने अपनी पराधीनता को स्वीकार नहीं किया। फ्रांस में स्वतन्त्र पोल सरकार का संगठन किया गया। जनरल सिकोर्स्की इसका प्रधानमन्त्री बना। जो पोल सेना नष्ट होने या जर्मनी के हाथ में पड़ने से बच गई थी, उसका फ्रांस में ही पुनः संगठन किया गया। इसमें

एक लाख के लगभग सैनिक थे। परास्त हो जाने के बाद भी पं
लोगों ने जर्मनी से संघर्ष को जारी रखा।

पोलैण्ड पर कब्जा कर हिटलर ने फ्रांस और ब्रिटेन से अपील
कि अब लड़ाई को जारी रखना व्यर्थ है। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी
साथ जो अन्याय हुआ था, अब उसका पूर्णरूप में प्रतिशोध हो गया
अब युद्ध से किसी का लाभ नहीं है। हालैण्ड की रानी और बेल्जियम
राजा ने भी ब्रिटेन के राजा ज्यार्ज छटे को यह संदेश भेजा, कि वे ल
को रोकने में मध्यस्थता करने को उद्यत हैं। पर अब फ्रांस और ब्रिटेन
हिटलर का जरा भी विश्वास नहीं रहा था। उन्होंने सन्धि व सुलह
बात सुनने से भी इन्कार कर दिया। पोलैण्ड का अन्त तो एक महीने
लगभग में ही हो चुका था। पर अभी लड़ाई पूरी तरह भड़की नहीं थ
दोनों पक्षों से कभी कभी हवाई हमले होते रहते थे, और कहीं कहीं स
में भी मुठभेड़ हो जाती थी। पर जर्मनी की पश्चिमी सीमा पर अ
शान्ति थी, और दोनों पक्ष अपना बल प्रदर्शित करने के उपयुक्त अव
की प्रतीक्षा में थे।

२. फिनलैण्ड पर रशियन आक्रमण

रशिया केवल पूर्वी पोलैण्ड पर अपना अधिकार जमा कर ही स
नहीं हुआ। वह विश्व-संग्राम की भावी प्रगति को दृष्टि में रखकर अ
स्थिति को सुरक्षित करना चाहता था। इस समय वह लड़ाई में शा
नहीं था। पर जर्मनी की नाजी शक्ति जिस प्रकार यूरोप को अपने च
में करती जाती थी, उससे उसका आशंकित होना सर्वथा स्वाभाविक
बाल्टिक समुद्रतट पर एस्थोनिया, लैटविया, लिथुएनिया और फिनलैण
ये चार राज्य स्थित थे। रशिया की अपनी सुरक्षा की दृष्टि से इ
बड़ा महत्त्व था। पहले ये रशियन साम्राज्य के ही अन्तर्गत थे।
पोलैण्ड पर कब्जा कर लेने के बाद, २८ सितम्बर को रशिया ने ए

निया के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार एस्थोनिया ने अपने देश के अनेक सामुद्रिक व हवाई अड्डे सैनिक प्रयोग के लिए रशिया को देने स्वीकार कर लिए। साथ ही, दोनों देशों ने एक दूसरे के साथ मित्रता बनाये रखने व एक दूसरे के विरुद्ध किसी अन्य देश के साथ समझौता न करने की प्रतिज्ञा की। ५ अक्टूबर को इसी प्रकार की सन्धि लैटविया से और १० अक्टूबर को लिथुएनिया के साथ की गई।

रशिया चाहता था, कि फिनलैण्ड से भी इसी प्रकार की सन्धि कर ली जाय। इसके लिए फिन सरकार के प्रतिनिधियों को बातचीत के लिए मोस्को नियन्त्रित किया गया। १२ अक्टूबर को दोनों देशों में सन्धि की बात शुरू हुई। रशिया चाहता था, कि फिनलैण्ड के कुछ बन्दरगाह व द्वीप सैनिक इस्तेमाल के लिए प्राप्त कर लिए जावें। इनके बदले में वह अपना कुछ प्रदेश भी देने को तैयार था। पर फिनलैण्ड ने रशिया की बात नहीं मानी। परिणाम यह हुआ, कि ३० नवम्बर, १९३९ को दोनों देशों में लड़ाई शुरू हो गई। रशियन हवाई जहाजों ने हेलसिन्की व अन्य नगरों पर हमला किया। आत्मरक्षा के लिए फिनलैण्ड ने अपनी पूर्वी सीमा पर जबर्दस्त किलाबन्दी की हुई थी। इसे मैनरहाइम लाइन कहा जाता था। यहाँ भयंकर लड़ाई हुई। फिनलैण्ड ने डटकर मुकाबला किया, पर अन्त में रशिया की विजय हुई। विजयी होकर भी रशिया ने यह कोशिश नहीं की, कि सम्पूर्ण फिनलैण्ड को अपने राज्य में शामिल कर ले। फिनलैण्ड की आन्तरिक स्वतन्त्रता को स्वीकार किया गया। सैनिक दृष्टि से जिन प्रदेशों पर कब्जा रखना रशिया आवश्यक समझता था, वे सब उसके फिनलैण्ड से लेकर अपने हाथ में कर लिए।

इस प्रकार, चारों बाल्टिक राज्य रशिया के प्रभाव क्षेत्र में आ गये। ब्रिटेन में इस बात से बहुत असन्तोष फैला। अमेरिका व ब्रिटेन रशिया के कम्युनिज्म को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। वहाँ उसकी बड़ी कड़ी आलोचना हुई। कई लोगों ने तो यहाँ तक कहा, कि फिनलैण्ड का पक्ष

लेकर रशिया के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर देनी चाहिये। पर वे यह नहीं समझते थे, कि रशिया का उद्देश्य नाजी शक्ति के भय से अपनी रक्षा करना है। भविष्य में जब रशिया भी जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल हुआ, तो बाल्टिक तट के ये सैनिक अड्डे उसके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। यदि वह इन पर कब्जा न करता, तो हिटलर से इनका बच सकना असम्भव ही था। फिनलैण्ड के साथ लड़ाई में रशिया को धनजन की बहुत क्षति उठानी पड़ी। इससे अनेक देशों को यह खयाल हो गया, कि रशिया अन्दर से बिलकुल खोखला है, और उसकी सैनिक शक्ति बहुत हीन है। पर यह उनका भ्रम था।

जिन दिनों रशिया फिनलैण्ड के साथ लड़ाई में उलझा हुआ था, जर्मन और उसके शत्रुराज्य युद्ध की तैयारी में व्यापृत थे। ब्रिटेन की सेना इंगलिश चैनल पार कर फ्रांस पहुँच रही थी। मार्च १९४० तक सवा दो लाख के लगभग ब्रिटिश सैनिक फ्रांस और बेल्जियम की सीमा पर पहुँच चुके थे। युद्ध का संचालन करने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाओं का संयुक्त प्रबन्ध कर दिया गया था। फ्रेंच सेनाध्यक्ष जनरल गेमलां को यह काम सुपुर्द किया गया था, कि वह मित्रराज्यों की सम्मिलित सैन्य-शक्ति का संचालन करे। जर्मनी के भी दस लाख से अधिक सैनिक पश्चिमी सीमा पर तैनात हो गये थे।

३. नार्वे और डेनमार्क का अन्त

९ एप्रिल, १९४० को हिटलर ने नार्वे पर हमला शुरू किया। जर्मनी की नार्वे से कोई लड़ाई नहीं थी। उत्तरी ध्रुव के समीपवर्ती यह प्रदेश यूरोप के राजनैतिक दाँव-पेंचों में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेता था। यूरोप के शक्तिशाली राज्यों के पारस्परिक झगड़ों में यह राज्य सर्वथा तटस्थ था। पर विश्व-संग्राम की झपट से यह अलग नहीं रह सका। कारण यह हुआ, कि नार्वे से लोहे की कच्ची धात बहुत बड़ी मात्रा में

जर्मनी जाती थी। जर्मनी में इसे पिघला कर फ़ौलाद तैयार किया जाता था, और वह अस्त्र-शस्त्र के काम आता था। ब्रिटेन नहीं चाहता था, कि नार्वे का यह लोहा जर्मनी जावे। इसलिए उसने कुछ बारूदी सुरंगें नार्वे के तटवर्ती समुद्र में बिछा दीं, ताकि इनसे टकरा कर वे जर्मन जहाज डूब जावें, जो वहाँ से लोहा ढोने का काम करते हैं। ब्रिटेन का यह कार्य उचित नहीं था। एक उदासीन देश के अपने समुद्र में बारूदी सुरंगें बिछाने का उसे कोई अधिकार नहीं था। नार्वे और स्वीडन से लोहा प्राप्त करते रहना जर्मनी के लिए अत्यन्त आवश्यक था। उसने तुरन्त जल और वायु के मार्ग से नार्वे पर आक्रमण कर दिया। जर्मनी की विशाल शक्ति के सम्मुख नार्वे नहीं टिक सका। ओस्लो, नार्विक, ट्रोन्ढाइम आदि सब प्रमुख नगरों व बन्दरगाहों पर जर्मनी का कब्जा हो गया। नार्वे में नाजी पार्टी पहले से विद्यमान थी, उसका नेता था मेजर क्विसलिंग। उसके नेतृत्व में नई सरकार का संगठन किया गया। इस सरकार ने नार्वे पर जर्मनी का संरक्षण स्वीकार कर लिया।

ब्रिटेन इस लड़ाई में भी जर्मनी के खिलाफ कोई विशेष कार्रवाई नहीं कर सका। उसके कुछ जंगी जहाजों ने नार्विक पर कब्जा करने की कोशिश की। नार्विक बड़ा महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह है। वहाँ से एक पहाड़ी रेलवे तीस मील लम्बी बनी हुई है, जो स्वीडन की लोहे की खानों से कच्ची धात को ढोकर समुद्रतट पर पहुँचाती है। यह लोहा नार्विक के बन्दरगाह से जहाजों पर लदता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है, जहाँ से यह लोहा बाहर ले जाया जा सके। ब्रिटिश जंगी जहाजों ने कई बार नार्विक को जीतने की कोशिश की, पर वे सफल नहीं हो सके। एक बार तो कुछ ब्रिटिश सेना नार्वे में उतर भी गई, पर वह नार्वे को जर्मन कब्जे से स्वतन्त्र नहीं करा सकी।

डेनमार्क में नाजी पार्टी पहले से विद्यमान थी। इस पार्टी की सहानुभूति जर्मनी के साथ थी, और यह हमेशा ऐसे कार्य करती रहती थी, जिनसे

डेनमार्क की तटस्थता कायम न रह सके। ३१ मार्च १९४० को वहाँ की पुलिस ने १५० नाजी नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया। इनमें तीन व्यक्ति ऐसे भी थे, जो डेनमार्क की पार्लियामेण्ट के सदस्य थे। जर्मनी ने डेनमार्क की सरकार की इस कार्रवाई को बहुत आपत्तिजनक समझा, और जिस रात को (८ एप्रिल, १९४०) नार्वे पर आक्रमण शुरू हुआ था, तभी डेनमार्क पर भी हमला बोल दिया गया। ९ एप्रिल को प्रात. ८ बजे तक कोपनहेगन (डेनमार्क की राजधानी) पर जर्मन सेनाओं का कब्जा हो गया। डेन सेनाओं ने कोई विशेष मुकाबला नहीं किया। डेन राजा और उसकी सरकार भली-भाँति समझती थी, कि जर्मनी से लड़ना व्यर्थ है। साथ ही, जर्मन हवाई जहाज यह विज्ञप्ति भी आकाश से वितरण कर रहे थे, कि जर्मनी केवल यह चाहता है, कि ब्रिटेन और फ्रांस डेनमार्क पर कब्जा न कर सकें। इसी उद्देश्य से उसने अपनी सेनाएँ भेजी हैं, और डेनमार्क को अपने संरक्षण में ले लिया है।

जर्मनी ने जिस सुगमता से नार्वे और डेनमार्क पर अपना कब्जा कर लिया था, उसके समाचार से ब्रिटेन में बड़ी उत्तेजना उत्पन्न हुई। सरकार की निष्क्रियता से ब्रिटिश जनता बहुत उद्विग्न हो गई। सब लोग यह अनुभव करने लगे, कि अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति जर्मनी को कुचलने में लगा देनी चाहिए, और इसके लिए ऐसी सरकार कायम होनी चाहिये, जो जर्मनी जैसे विकट शत्रु का सामना करने में समर्थ हो। १० मई, १९४० को श्री चेम्बरलेन ने प्रधानमंत्री के पद से त्यागपत्र दे दिया, और उनका स्थान श्री चर्चिल ने ग्रहण किया। चर्चिल के नेतृत्व में जो नई सरकार बनी, उसमें सब राजनैतिक दलों के नेता सम्मिलित थे।

४. हालैण्ड और बेल्जियम का अन्त

जिस दिन ब्रिटेन में चर्चिल ने नई सरकार का निर्माण किया, जर्मनी ने हालैण्ड की सीमा को पार कर उस पर आक्रमण कर दिया। हालैण्ड

और बेल्जियम लड़ाई में सर्वथा तटस्थ थे। हिटलर ने भी स्पष्ट रूप से यह घोषणा की हुई थी, कि जब तक ब्रिटेन और फ्रांस इन राज्यों की तटस्थता को कायम रखेंगे, जर्मनी इन पर किसी भी प्रकार से आक्रमण नहीं करेगा। हालैण्ड और बेल्जियम की सरकारें इस बात के लिए उत्सुक थीं, कि वे लड़ाई से बची रहें। पर 'सैनिक आवश्यकता' के नाम पर जर्मनी ने उन पर आक्रमण करने में संकोच नहीं किया, और १० मई को हालैण्ड पर जल, स्थल और वायु—सब मार्गों से हमला शुरू हो गया। डच लोगों ने डटकर मुकाबला किया। उनके एक लाख से अधिक सैनिक लड़ाई में मारे गये। जर्मन हवाई जहाजों की बम्बवर्षा से उनके धनजन का बुरी तरह नाश हुआ। चार दिन की लड़ाई के बाद १४ मई १९४० को जनरल विंकलमैन ने डच सेनाओं के साथ आत्मसमर्पण कर दिया। हालैण्ड की रानी विल्हल्मिना अपना राज्य छोड़कर ब्रिटेन चली आई। डच साम्राज्य बहुत विस्तृत था, उसके पास जहाजों की प्रचुरता थी। ये सब जहाज इस समय हालैण्ड से ब्रिटेन चले आये, और आगे चलकर जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में काम आये।

१० मई को ही बेल्जियम पर भी जर्मनी का आक्रमण शुरू हुआ। अब तक ब्रिटिश सेनाएँ बेल्जियम में प्रविष्ट नहीं हुई थीं। वे उसे एक तटस्थ देश समझती थीं। पर १० मई को दोपहर बाद ब्रिटिश सेनाएँ भी बेल्जियम में प्रविष्ट हो गईं, ताकि जर्मन सेनाओं का मुकाबला करने में बेल्जियम की सेनाओं की सहायता कर सकें। पर जर्मन सेनाएँ बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ रही थीं। पहले उनके जंगी हवाई जहाज गोला-बारी करते थे, फिर उनकी छतरीबाज सेनाएँ वायु-मार्ग से नीचे उतर आती थीं। वे छतरीबाज सैनिक सब प्रकार के घातक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होते थे। इनके पीछे पीछे टैन्क आते थे, और उनके साथ में नई प्रकार की पदाति व घुड़सवार सेना होती थी, जो घोड़ों की बजाय मोटर व मोटर-साइकिल इस्तेमाल करती थीं। जर्मनी ने इस समय अपनी सारी शक्ति

पश्चिमी रणक्षेत्र में लगा दी थी। वह न केवल बेल्जियम पर हमला कर रहा था, अपितु फ्रांस पर भी जबर्दस्त आक्रमण प्रारम्भ कर दिया गया था। बेल्जियम और फ्रांस की उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर जो किलाबन्दी की गई थी, वह पुराने किस्म की लड़ाई के लिए तो ठीक थी, पर जर्मनी ने जिस नई वैज्ञानिक युद्ध पद्धति का आविष्कार किया था, उसके सम्मुख वह विशेष उपयोगी नहीं थी। जर्मन सेना तेजी के साथ बेल्जियम में आगे बढ़ती गई। ब्रिटिश फौजों ने उसे रोकने का प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सकीं। फ्रेंच सेनाएँ अपने देश की रक्षा में ही लगी हुई थीं, वे भी बड़ी संख्या में बेल्जियम की मदद के लिए नहीं आ सकीं। इस दशा में बेल्जियम के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वह प्रबल नाजी सेनाओं के साथ लड़ाई जारी रख सके। लड़ाई जारी रखने का परिणाम केवल यह होता, कि बेल्जियम के धनजन का सर्वनाश हो जाता। आखिर, २७ मई १९४० को बेल्जियम के राजा ने जर्मनी से सन्धि के लिए प्रार्थना की, और बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया।

बेल्जियम के आत्मसमर्पण से ब्रिटिश सेनायें बड़ी मुसीबत में फँस गईं। ब्रिटेन के तीन लाख से ऊपर सैनिक इस समय बेल्जियम के पश्चिमी प्रदेश में विद्यमान थे। वे तीन तरफ से जर्मन सेनाओं से घिर गये। केवल पश्चिम में समुद्र का मार्ग ऐसा था, जिससे वे अपने देश को वापस लौट सकते थे। यहाँ डनकर्क के बन्दरगाह को आधार बनाकर यह सम्भव था, कि ब्रिटेन से बड़ी संख्या में जहाज लाये जावें, और इन ब्रिटिश सैनिकों को अपनी युद्ध सामग्री के साथ जर्मन शिकंजे से छुटकारा दिया जाय। पर यह काम सुगम नहीं था। तीन लाख से ऊपर सैनिकों के लिए जहाजों की बहुत बड़ी संख्या में आवश्यकता थी। साथ ही, यह भय भी बना हुआ था, कि जर्मन सेना जिस वेग से आगे बढ़ रही है, उससे वह शीघ्र ही डनकर्क तक पहुँच जायगी, और जहाजों पर सैनिकों को चढ़ा सकना सम्भव नहीं रहेगा। हवाई हमले की भी प्रबल आशंका थी।

जर्मनी से यह छिपा नहीं रह सकता था, कि ब्रिटिश जहाज डनकर्क के बन्दरगाह पर आ रहे हैं, और सैनिकों को बचा ले जाने के यत्न में हैं। जर्मनी अपनी वायुशक्ति तुरन्त भेज देगा, और इन ब्रिटिश जहाजों के लिए बच कर जा सकना कठिन हो जायगा। चर्चिल ने इस समय बड़ी तत्परता से काम किया। छोटे बड़े जहाज, मोटर लंच, किस्तियाँ—सब प्रकार की नौकाओं को यह आज्ञा दी गई, कि वे ब्रिटिश समुद्र तट पर साउथएण्ड पर एकत्र हों, और वहाँ अगली आज्ञा की प्रतीक्षा करें। फिर रात के समय अँधेरा होने पर यह व्यवस्था की गई, कि ये सब प्रकार की नौकायें इँगलिश चैनल पार करके डनकर्क पहुँचें, और वहाँ से सैनिकों को पार उतारने की कोशिश करें। जर्मनी को इस बात की खबर लग गई थी। उसके हवाई जहाज गोलाबारी करने के लिए उद्यत थे। पर ब्रिटिश जंगी जहाज उनका सामना करने के लिए तैनात कर दिये गये थे। हवाई लड़ाई और गोली-बारी के बीच में ब्रिटिश जहाजों ने अपूर्व वीरता और साहस का प्रदर्शन किया। २४,००० टन के लगभग वजन के ब्रिटिश जहाज डूब गये। बहुत से हवाई जहाज भी काम आये। पर डनकर्क में जो ब्रिटिश जहाज एकत्र किये गये थे, उनकी संख्या १००० के लगभग थी। उनमें से बहुत ही थोड़े जर्मन सेनाओं द्वारा नष्ट किये जा सके। जो ब्रिटिश सैनिक इन जहाजों द्वारा डनकर्क से इँगलैंण्ड वापस लाये गये, उनकी संख्या ३,३७,१३१ थी। इनके अतिरिक्त जो फ्रेंच सैनिक व अन्य लोग बचा कर इंगलैण्ड लाये गये, उनकी संख्या १,१२,५४६ थी। साढ़े चार लाख के लगभग मनुष्यों को जर्मनी के शिकंजे से बचाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देना असाधारण व आश्चर्यजनक घटना है। इसे यदि चमत्कार कहा जाय, तो भी अनुचित नहीं। इस लड़ाई में जो लोग काम आये, उनकी संख्या भी ४० हजार के लगभग थी। दस आदमियों को बचाने के लिए एक आदमी को अपनी जान कुर्बान करनी पड़ी।

५. फ्रांस की पराजय

यदि जर्मन सेना इस समय इँगलिश चैनल को पार कर ब्रिटेन पर हमला करती, तो सम्भवतः उसे रोक सकने की शक्ति ब्रिटेन के पास नहीं थी। पर हिटलर ने इस अवसर का उपयोग ब्रिटेन पर आक्रमण करने के लिए नहीं किया। वह फ्रांस को पहले परास्त करना चाहता था। हिटलर की यह भारी भूल थी। ३ जून, १९४० को जर्मनी ने अपनी सारी ताकत फ्रांस पर हमला करने में लगा दी। पेरिस पर भारी संख्या में बम्ब बरसाये गये, और जर्मन स्थल-सेना ने मैजिनो लाइन पर धावा बोल दिया। जर्मनी के सम्भावित आक्रमण से रक्षा करने के लिए ही फ्रांस के सैनिक इंजीनियरों ने इस किलाबन्दी का निर्माण किया था। पर जर्मनी के नये वैज्ञानिक सैन्य-संचालन के सम्मुख यह लाइन टिक नहीं सकी। बेल्जियम की पराजय के कारण जर्मनी के लिए रास्ता खुल गया था। मैजिनो लाइन के निर्बल स्थलों का भी जर्मनी को पता था। उसने अपनी सारी शक्ति को फ्रांस के खिलाफ लगा दिया, और फ्रेंच सेनायें उसके सम्मुख नहीं टिक सकीं। जर्मन सेनायें इस समय तीन ओर से फ्रांस पर आक्रमण कर रही थीं, आमीन से, पेरोन से और सोआस्सों से। उनकी पद्धति यह थी, कि पहले हवाई जहाजों से भारी गोलाबारी की जाती थी, साथ ही दूर गोला फेंकनेवाली तोपें अपना काम करती थीं। जब गोला-बारी के कारण रास्ता साफ हो जाता था, तो टैंक आगे बढ़ते थे। कुल मिलाकर दो हजार से भी अधिक भारी टैंक इस लड़ाई में हिस्सा ले रहे थे। वे दो सौ या तीन सौ की संख्या में एक साथ आगे बढ़ते थे, और उनका मुकाबला कर सकना फ्रेंच लोगों के लिए कठिन था। फ्रेंच सेनाध्यक्षों ने टैंक के महत्त्व को नहीं समझा था। उन्होंने किलाबन्दी पर इतना भारी खर्च कर दिया था, पर टैंक किस प्रकार इन किलाबन्दियों की उपेक्षा कर आगे बढ़ सकता है, इस ओर उनका ध्यान नहीं गया

था। जंगी हवाई जहाजों और टैंकों की फ्रांस के पास बहुत कमी थी। लड़ाई शुरू होने पर फ्रांस के पास कुल हवाई जहाज दो हजार से भी कम थे। इसके मुकाबले में जर्मनी के हवाई जहाजों की संख्या दस हजार से भी ऊपर थी। यही अन्तर टैंकों में भी था। स्थिति की गम्भीरता को दृष्टि में रखकर फ्रेंच सेना का संचालन जनरल वेयगां ने अपने हाथ में ले लिया था, और गेमलां उनकी अधीनता में काम करने लगा था। ब्रिटिश सैनिक-शक्ति की सहायता इस समय फ्रांस को प्राप्त नहीं थी। उसे अकेले ही जर्मनी का मुकाबला करना था। फ्रांस चाहता था, कि इस समय ब्रिटेन अपने हवाई जहाज अधिक से अधिक संख्या में उसकी सहायता के लिए भेजे। पर ब्रिटेन के लिए भी इस समय किसी प्रकार की सहायता कर सकना सुगम नहीं था।

फ्रांस की इस विकट दशा को देखकर १० जून, १९४० को इटली ने भी उसके खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। ब्रिटेन और अमेरिका ने पूरी कोशिश की, कि इटली लड़ाई में तटस्थ रहे। वे इस बात के लिए तैयार हो गये, कि मुसोलिनी की सब महत्त्वाकांक्षायें वे पूर्ण करेंगे, और युद्ध की समाप्ति पर इटली को भी वही दर्जा दिया जायगा, जो एक विजेता को प्राप्त होता है। पर मुसोलिनी फ्रांस की विषम परिस्थिति से पूरा लाभ उठाना चाहता था। अपनी दुर्दशाग्रस्त दशा में भी फ्रांस ने डट कर इटली का मुकाबला किया, और इटालियन सेनायें फ्रांस में आगे नहीं बढ़ सकीं। पर जर्मनी की शक्ति को रोक सकना फ्रांस की ताकत से बाहर था। १४ जून, १९४० को जर्मन सेनायें पेरिस में प्रवेश कर गईं। इससे पहले ही फ्रेंच सरकार तूर में जा चुकी थी। पेरिस का विनाश न केवल फ्रांस, अपितु सम्पूर्ण संसार के लिए दुर्भाग्य की बात होती, पेरिस संसार की सबसे सुन्दर नगरी है। कला की दृष्टि से अन्य कोई नगर इसका मुकाबला नहीं कर सकता। फ्रेंच सरकार ने निश्चय किया, कि पेरिस को युद्ध-क्षेत्र से अलग रखा

जाय। जर्मन सेनाओं ने किसी भी बाधा के बिना पेरिस पर कब्जा कर लिया।

ब्रिटिश सरकार ने इस समय फ्रांस के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा, कि ब्रिटेन और फ्रांस मिलकर एक राज्य बन जावें, और फ्रांस पर जर्मनी का कब्जा हो जाने पर भी वह देश ब्रिटेन से लड़ाई को जारी रखे। पर यह प्रस्ताव फ्रांस को स्वीकार्य नहीं था। यदि लड़ाई शुरू होने पर इस प्रकार का कोई प्रस्ताव रखा जाता, तो उस पर विचार करने का पर्याप्त समय होता। पर इस समय, जब कि फ्रांस की सत्ता ही खतरे में थी, इतने महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करने का उपयुक्त अवसर नहीं था। फ्रांस के प्रधानमन्त्री श्री रेयनो ने ब्रिटेन से सहायता प्राप्त करने के सम्बन्ध में निराश होकर अमेरिका से सहायता के लिए अपील की, पर राष्ट्रपति श्री रूजवेल्ट ने केवल यही आश्वासन दिया, कि वे युद्ध-सामग्री को अधिक मात्रा में भेजने का प्रयत्न करेंगे, पर इससे अधिक कर सकना उनकी शक्ति से बाहर की बात है। इससे अधिक करने का मतलब केवल यह है, कि अमेरिका जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दे। यह केवल अमेरिकन कांग्रेस के अधिकार की बात है। फ्रांस की जनता आकाश की ओर आशा भरी निगाहों से देखती रही, पर अमेरिका के हवाई जहाज क्षितिज के पश्चिमी छोर पर नजर नहीं आये। इस बीच में जर्मनी तेजी के साथ फ्रांस में आगे बढ़ रहा था, और फ्रेंच लोगों को तुरन्त ही यह निर्णय करना था, कि धन-जन को नष्ट होने से कैसे बचाया जाय। श्री रेयनो ने इस दशा में प्रधानमन्त्री के पद का त्याग कर दिया, और मार्शल पेतां ने शासन-सूत्र हाथ में लिया। मार्शल पेतां की यह सम्मति थी, कि इस दशा में लड़ाई को जारी रखना व्यर्थ है। उन्होंने जर्मनी से सन्धि के लिये अभ्यर्थना की। २२ जून, १९४० को फ्रांस ने हथियार डाल दिये। तीन सप्ताह के छोटे से काल में फ्रांस को जर्मनी ने परास्त कर दिया।

फ्रांस का इस प्रकार जर्मनी से परास्त हो जाना बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद फ्रांस यूरोप की सबसे जबर्दस्त राजनैतिक शक्ति बन गया था। पर हिटलर के नेतृत्व में जर्मन लोगों ने जिस नई युद्ध-नीति का विकास किया था, उसके सामने फ्रांस की पुराने ढंग की सैन्य-नीति बहुत कमजोर रह गई थी। फिर, फ्रांस में अनेक राजनैतिक दल थे, जिनके आपसी झगड़ों के कारण देश की शक्ति के विकास पर पूरा ध्यान नहीं दिया जा सकता था। जर्मनी में एक पार्टी थी, एक नेता था। सबका केवल एक उद्देश्य था, जर्मनी को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाया जावे। जिस समय फ्रांस के मजदूर अपनी मजदूरी बढ़वाने और काम करने के घण्टों में कमी कराने के लिए हड़तालें कर रहे थे, जर्मनी की सारी शक्ति राष्ट्रीय उन्नति में लगी हुई थी। साथ ही, यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि फ्रांस के धनी लोग यूरोप में बढ़ती हुई कम्युनिस्ट शक्ति को बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। फ्रांस में भी साम्यवादी दल विद्यमान था। धनी लोगों का यह खयाल था, कि साम्यवाद की बाढ़ को रोकने के लिए नाजी विचारधारा बहुत उत्तम साधन है। वे दिल से नाजियों के साथ सहानुभूति रखते थे। उनकी दृष्टि में नाजीज्म की अपेक्षा कम्युनिज्म अधिक खतरनाक चीज थी। इसी लिए उन्होंने जर्मनी के साथ सुलह कर लेने में संकोच नहीं किया। मार्शल पेतां और श्री लवाल जैसे राजनीतिज्ञ सचमुच यह विश्वास रखते थे, कि जर्मनी के साथ सुलह कर लेने से फ्रांस का कल्याण है।

२१ जून, १९४० को नई फ्रेंच सरकार के प्रतिनिधियों ने हिटलर के साथ मुलाकात की। गोअरिंग, हेस, रिबनट्राप, जनरल ब्रोशिश और कैटल जैसे प्रमुख नाजी नेता इस मुलाकात में हिटलर के साथ थे। १९१४-१८ के महायुद्ध में जर्मनी के परास्त होने पर जिस रेलगाड़ी में सामयिक सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये थे, उसी में अब फ्रांस के पराजित

होने पर सन्धि की बातचीत शुरू हुई । जिस कुर्सी पर पिछली बार मार्शल फॉच बैठा था, अब हिटलर आसीन हुआ । फ्रांस को दो टुकड़ों में विभक्त किया गया, जर्मनी के कब्जे में रखा जानेवाला फ्रांस और स्वाधीन फ्रांस। सम्पूर्ण उत्तरी फ्रांस, जिसमें पेरिस भी शामिल था, जर्मनी के कब्जे में रहा । दक्षिणी फ्रांस पर मार्शल पेतां की सरकार स्वतन्त्र रूप से शासन करती रही । इसकी राजधानी विशी बनाई गई । यह भी व्यवस्था की गई, कि फ्रांस के पास जो कुछ भी युद्ध-सामग्री है, वह सब जर्मनी के सुपुर्द कर दी जाय । उसके सब हवाई जहाज जर्मनी को दे दिये जावें। फ्रांस अपनी सब जल, स्थल व वायु सेना को बर्खास्त कर दे । केवल उतनी सेना स्वतन्त्र फ्रांस के पास रहने दी जाय, जो कि फ्रेंच साम्राज्य की रक्षा के लिए अनिवार्य है । जब इस सन्धि पर फ्रेंच प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिये, तो इस रेलगाड़ी को बर्लिन ले जाया गया, और फ्रांस के जिस स्थल पर मार्शल फॉच के नेतृत्व में जर्मनी को घोर राष्ट्रीय अपमान सहना पड़ा था, उसे हलों से जुतवा दिया गया, ताकि जर्मनी के इस अपमान का निशान भी शेष न रहे। अब हिटलर ने वर्साय की सन्धि का पूर्णरूप से प्रतिशोध कर लिया था। वह अब पूर्णतया संतुष्ट था।

पर सब फ्रेंच लोग मार्शल पेतां की नीति से सन्तुष्ट नहीं थे । जनरल द गॉल ने ब्रिटेन पहुँचकर इन सब लोगों को एकत्र किया, और आजाद फ्रेंच सरकार की स्थापना की। जो फ्रेंच सैनिक डनकर्क से बचकर इँगलैण्ड पहुँचे थे, उन्होंने द गॉल का साथ दिया, और बहुत से फ्रेंच देशभक्त भागकर ब्रिटेन पहुँचे, और आजाद फ्रेंच सेना में भरती हुए। इन्होंने यह निश्चय किया, कि जर्मनी के खिलाफ लड़ाई को सब प्रकार से जारी रखेंगे।

फ्रांस जर्मनी के अधिकार में आ गया था, पर उसका विशाल साम्राज्य अभी जर्मनी की पहुँच से बहुत दूर था। द गॉल ने यह कोशिश

की, कि फ्रेंच साम्राज्य के ये विविध प्रदेश आजाद फ्रेंच सरकार का साथ दें। पर मार्शल पेतां की सरकार यह नहीं चाहती थी। उसका विचार यह था, कि अब फ्रेंच लोगों को लड़ाई से पूर्णतया तटस्थ रहना चाहिए, और हिटलर के साथ जो सुलह हुई है, उसका सर्वांश में पालन करना चाहिये। इन्डोचायना के गवर्नर जनरल श्री कातू ने द गॉल का साथ देने का फैसला किया। इस पर उसे पदच्युत कर दिया गया, और श्री डेकू को उनके स्थान पर नियत किया गया। विशी सरकार की ओर से जनरल वेयगां को साम्राज्य की सेनाओं का अध्यक्ष नियत किया गया, और उसने अफ्रीका पहुँचकर यही यत्न किया, कि फ्रेंच अफ्रीका के सब शासक मार्शल पेतां की नीति का अनुसरण करें। पर इसके बावजूद भी, अनेक प्रदेशों ने द गॉल का साथ दिया। इससे उत्साहित होकर द गॉल ने यह कोशिश की, कि कुछ जंगी जहाजों को साथ लेकर डाकर के बन्दरगाह पर उतर जाय, और अफ्रीका में विशी सरकार के खिलाफ विद्रोह का झण्डा खड़ा करे। २३ सितम्बर, १९४० को उसने डाकर के प्रति प्रस्थान किया। पर विशी सरकार के आदेश का पालन करके एडमिरल डार्लां ने उसका मुकाबला किया, और द गॉल को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। पर फिर भी उसने अपने प्रयत्न को जारी रखा, और धीरे धीरे आजाद फ्रेंच सेना की शक्ति बढ़ती चली गई।

फ्रांस के परास्त हो जाने के बाद, उसके जंगी जहाजों का बेड़ा उत्तरी अफ्रीका के समुद्रतट पर विद्यमान था। विशी सरकार ने यह आश्वासन दिया था, कि इस बेड़े का उपयोग ब्रिटेन के खिलाफ नहीं किया जायगा। पर ब्रिटेन को यह भरोसा नहीं था, कि विशी सरकार जर्मनी के दबाव का मुकाबला कर सकेगी। अतः उसने यही उचित समझा, कि इस बेड़े को निकम्मा कर दिया जाय। ब्रिटिश जंगी जहाजों ने ओरन के बन्दरगाह पर स्थित इस फ्रेंच बेड़े पर हमला किया। दोनों ओर से

व्यवस्था की गई, कि १६ साल से अधिक और ६० साल से कम आयु के सब विदेशियों को नजरबन्द कर दिया जाय। इसमें सन्देह नहीं, कि इस आज्ञा से बहुत से निरपराध व्यक्तियों को अपार कष्ट भोगना पड़ा। पर युद्ध की आवश्यकता को दृष्टि में रहते हुए यह करना अनिवार्य था। जर्मन लोग अपने छतरीबाज सैनिकों को ब्रिटेन में न उतार सकें, इसके लिए भी इन्तजाम किया गया। शहरों व रेलवे स्टेशनों के नाम के जो भी साइनबोर्ड लगे हुए थे, उन सबको रात रात में उतार दिया गया। रात को कहीं खुले में बिजली की रोशनी न हो, यह व्यवस्था की गई। इँगलिश चैनल के समुद्रतट के साथ साथ काँटेदार तारें, बारूद की सुरंगे व अन्य रुकावटें स्थापित कर दी गईं। हजारों बैलून लण्डन व अन्य नगरों में उड़ा दिये गये, ताकि शत्रु के हवाई जहाजों के लिए नीचे उड़ान कर सकना सम्भव न रहे। सड़कों और रास्तों पर ऐसी रुकावटें की गईं, जिनसे शत्रु के टैंकों को आगे बढ़ने में बाधा उपस्थित हो।

सन् १६३६ में लड़ाई के शुरू होने पर ११,६०,००० बालक-बालिकाओं व उनकी माताओं को लण्डन से बाहर सुरक्षित स्थानों पर भेज दिया गया था। पर लण्डन पर अभी कोई हमले नहीं हुए थे, अतः इनमें से बहुसंख्यक स्त्री व बच्चे फिर वापस लौट आये थे। जून १६४० में उन्हें फिर बाहर भेजा जाना शुरू किया गया। पहले खयाल यह था, कि इन बच्चों व स्त्रियों को अमेरिका व विविध ब्रिटिश उपनिवेशों में भेज दिया जाय। पर अनुभव से यह ज्ञात हुआ, कि समुद्रयात्रा सुरक्षित नहीं है। जो जहाज बच्चों को लेकर गये, उन पर जर्मनी द्वारा हमला किया गया। बाद में यह योजना रद्द कर दी गई, और ब्रिटेन के देहातों में ही स्त्रियों व बच्चों के निकास का प्रबन्ध किया गया। न केवल स्त्रियों व बच्चों को ही इस समय लण्डन से बाहर भेजा गया, अपितु बहुत से सरकारी दफ्तर भी अन्य स्थानों पर ले जाये गये। इसके लिए हजार से ऊपर होटल सरकार की ओर से कब्जे में कर लिए गये, और उनमें सरकारी

तैयार करने में लगा दी। अमेरिका उसी की प्रेरणा से लड़ाई में शामिल हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य की अपार शक्ति छिन्न भिन्न हो जाती, यदि हिटलर फ्रांस की तरह ब्रिटेन को भी परास्त कर सकता।

७. युगोस्लाविया और ग्रीस का अन्त

ब्रिटेन को परास्त करने में असमर्थ रहकर हिटलर ने पूर्वी यूरोप को अपना शिकार बनाया। उसका विचार यह था, कि बालकन प्रायद्वीप के राज्यों पर कब्जा करके ईरान और मिस्र पर हमला किया जावे। भूमध्यसागर इस समय इटली के प्रभाव में था। अबीसीनिया में इटालियन आधिपत्य के कायम होने के बाद पूर्वी भूमध्यसागर पर इटली का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। फ्रांस के पराजय के बाद पश्चिमी भूमध्यसागर में जर्मनी की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। यदि ब्रिटेन पर कब्जा नहीं हुआ, तो कोई हानि नहीं, ब्रिटिश साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करके भी ब्रिटिश लोगों को घुटने टेक देने के लिए विवश किया जा सकता है। २८ अक्टूबर, १९४० को ग्रीस को यह अल्टिमेटम दिया गया, कि सैनिक दृष्टि से महत्त्व के कुछ प्रदेश जर्मनी के सुपुर्द कर दिये जावें। इस काम के लिए केवल तीन घण्टे का समय दिया गया था। तीन घण्टे बीत जाने पर इटालियन सेनाओं ने ग्रीस पर चढ़ाई कर दी। ग्रीस की विजय करने का काम हिटलर ने मुसोलिनी के सुपुर्द किया था। पर इटली की सेनाएँ जर्मन सेनाओं के समान प्रवीण व शक्तिशाली नहीं थी। ग्रीक लोगों ने उनका डट कर मुकाबला किया। इसी बीच में ब्रिटिश सेनाएँ भी उनकी सहायता के लिए पहुँच गईं। ग्रीक और ब्रिटिश सेनाओं के सम्मुख मुसोलिनी की एक न चली। उसे कई बार हार खानी पड़ी, और इटली का ग्रीस को परास्त करने का प्रयत्न प्रायः असफल हो गया।

जब जर्मन सेनाध्यक्षों को यह समाचार मिला, तो उन्होंने आवश्यक समझा, कि ग्रीस को परास्त करने के लिए जर्मन सेनायें भेजनी चाहिये।

इसके लिए उन्होंने पहले हंगरी और रूमानिया को अपने साथ किया। नवम्बर, १९४० में उनके साथ सन्धि कर ली गई, और इन राज्यों ने विवश होकर जर्मनी को सब प्रकार से सहायता देना स्वीकार कर लिया। बाद में (मार्च १९४१) बल्गेरिया के साथ भी इसी प्रकार की सन्धि की गई। जर्मनी का यत्न यह था, कि युगोस्लाविया भी उसके साथ सन्धि कर ले, और जर्मन सेनाओं को अपने प्रदेश में आने-जाने की पूरी सुविधा दे दे। ग्रीस पर आक्रमण करने के लिए जर्मन सेनायें युगोस्लाविया में से ही गुजर कर आगे बढ़ सकती थीं। १० मार्च १९४१ को जर्मनी की तरफ से युगोस्लावियन सरकार के सम्मुख सन्धि की शर्तें पेश की गईं। सरकार ने उन्हें स्वीकार कर लिया। युगोस्लाविया के मन्त्रिमण्डल का विचार था, कि जर्मनी से लड़ना आग के साथ खेलने के समान है। पर जनता में अभी राष्ट्रीय गौरव की भावना विद्यमान थी। उन्हें अपनी सरकार का इस प्रकार घुटने टेक देना जरा भी पसन्द नहीं आया। २७ मार्च १९४१ को उन्होंने विद्रोह कर दिया। राजा पीटर के नेतृत्व में नई सरकार कायम हुई, और उसने जर्मनी का मुकाबला करने का निश्चय किया। पर युगोस्लाविया जैसे छोटे से देश के लिए जर्मनी के सम्मुख टिक सकना असम्भव था। ६ एप्रिल को जर्मन सेनाओं ने युगोस्लाविया पर हमला कर दिया। उसी दिन उसकी राजधानी बल्ग्रेड़ पर जबर्दस्त गोलाबारी की गई। कुछ ही दिनों में युगोस्लाविया जर्मनी के अधीन हो गया। पर वहाँ के देशभक्त नवयुवकों ने जर्मनी के खिलाफ संघर्ष को जारी रखा। वे गुप्त रूप से गुरीला युद्ध-नीति से जर्मन सेनाओं पर हमले करते रहे। 'आजाद युगोस्लाविया' नाम से गुप्त रूप से एक पृथक् सरकार की भी स्थापना कर ली गई।

युगोस्लाविया के बाद जर्मन सेनाओं ने ग्रीस पर हमला किया। एप्रिल १९४१ के अन्त तक ग्रीस जर्मनी के हाथ में चला गया। उसकी सहायता के लिए जो ब्रिटिश सेनायें मिस्र व अन्य प्रदेशों से भेजी गई

थीं, उन्हें ग्रीस छोड़कर वापस आने के लिए विवश होना पड़ा। एक बार फिर डनकर्क का घटना-क्रम दोहराया गया। जर्मन गोलाबारी के बीच में ४४,८६५ ब्रिटिश सैनिक ग्रीस से बचाकर लाये गये। ग्रीस के युद्ध में जो ब्रिटिश सैनिक काम आये, उसकी संख्या बारह हजार के लगभग थी।

जर्मन आक्रमण से विवश हो कर ग्रीस का राजा और सरकार क्रीट के द्वीप में चली आई थी। क्रीट ग्रीस का ही अन्यतम प्रदेश था। पर जर्मनी ने यहाँ भी उसका पीछा नहीं छोड़ा। २० मई, १९४१ को १५०० जर्मन सैनिक छतरियों द्वारा क्रीट में उतर आये। उसी दिन ३००० जर्मन सैनिक हवाई जहाजों से क्रीट में पहुँचाये गये। ब्रिटिश हवाई जहाजों ने यहाँ भी इनका मुकाबला किया। पर जर्मन हवाई जहाजों की लहर पर लहर क्रीट आ रही थीं, और बड़ी संख्या में जर्मन सैनिकों को वहाँ उतारती जाती थी। ब्रिटेन के जिन सामुद्रिक जंगी जहाजों ने जर्मनी का मुकाबला करने का प्रयत्न किया, उनके खिलाफ भी सख्त कार्रवाई की गई। अनेक ब्रिटिश जहाज डुबो दिये गये। मई, १९४१ में क्रीट पर भी जर्मनी का कब्जा हो गया। हवाई जहाजों द्वारा किस प्रकार एक द्वीप पर सेनायें उतारी जा सकती हैं, जर्मनी ने यह करके दिखा दिया। क्रीट की इस लड़ाई में ब्रिटेन के १५,००० के लगभग सैनिक काम आये।

८. अफ्रीका पर आक्रमण

जिस समय जर्मनी बालकन प्रायद्वीप के विविध राज्यों को अपने अधीन करने में व्याप्त था, ब्रिटेन अफ्रीका में इटली के साम्राज्य का विध्वंस करने में अपनी शक्ति को लगा रहा था। युद्ध के शुरू होने से पूर्व इटली ने अफ्रीका में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था। ब्रिटेन ने इसका अन्त करने का काम अपने हाथ में ले लिया।

दक्षिणी अफ्रीका और ब्रिटेन की सेनाओं ने मिलकर इटालियन साम्राज्य पर हमले शुरू किये। लीबिया, सोमालीलैण्ड और अबीसीनिया को इटली के पंजे से मुक्त करा दिया गया। ५ मई, १६४१ को अबीसीनिया का पदच्युत सम्राट् अपनी राजधानी अदीस अबावा को वापस आया, और ब्रिटेन ने स्वतन्त्र अबीसीनियन राज्य को सब प्रकार से सहायता देना स्वीकार किया।

पर जिस प्रकार ग्रीस में इटली के विफल होने पर जर्मनी ने अपनी सैनिक शक्ति से उसे काबू कर लिया था, वैसे ही अब अफ्रीका में भी किया गया। ग्रीस को परास्त करने के बाद जर्मन सेनायें अफ्रीका में आ गईं। लीबिया ब्रिटेन के हाथ से निकल गया। जनरल रोमल के सेनापतित्व में जर्मन सेनायें अफ्रीका में निरन्तर आगे बढ़ती गईं। न केवल उत्तरी अफ्रीका जर्मनी के हाथ में आ गया, अपितु उसकी सेनाओं ने मिस्र की सीमा को भी पार कर लिया। जर्मनी इस समय सीरिया पर कब्जा करके पूर्व में ईरान की तरफ आगे बढ़ने का उद्योग कर रहा था। अफ्रीका के विजय की उसकी इच्छा नहीं थी। रोमल के आक्रमणों का उद्देश्य यही था, कि उत्तरी अफ्रीका ब्रिटेन के कब्जे में न रहने पावे।

९. सीरिया, ईराक और ईरान

जर्मनी चाहता था, कि सीरिया, ईराक और ईरान पर कब्जा करके पूर्व की तरफ आगे बढ़े, और ब्रिटिश साम्राज्य का विध्वंस करे। इसी उद्देश्य से उसने युगोस्लाविया और ग्रीस पर आक्रमण किया था, और इसी लिए जनरल रोमल की सेनायें उत्तरी अफ्रीका पर अधिकार करती हुई मिस्र की सीमा को पार कर गई थीं। सीरिया फ्रेंच साम्राज्य के अन्तर्गत था। विशी सरकार द्वारा नियुक्त गवर्नर वहाँ शासन करता था। जर्मन लोग उस पर अपना अधिकार बढ़ा रहे थे। सीरियन प्रदेशों

का सैनिक दृष्टि से उपयोग जर्मन सेनाओं ने प्रारम्भ कर दिया था। इस दशा में ब्रिटिश सेनायें पैलैस्टाइन से सीरिया में घुस गईं। आजाद फ्रांस की कुछ सेनायें भी उनके साथ थीं। ब्रिटिश लोगों की यह कोशिश थी, कि सीरिया के फ्रेंच शासक उनके साथ मिल जावें, पर इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं हो सकी। जून १६४१ के अन्त तक ब्रिटिश लोगों ने सम्पूर्ण सीरिया पर अपना अधिकार कर लिया।

ईराक पर भी जर्मन लोग अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे। रशीद अली के नेतृत्व में वहाँ एक नई सरकार कायम हुई थी, जो नाजी पार्टी से सहानुभूति रखती थी। वस्तुतः, रशीद अली जर्मनी का प्रबल पक्ष-पाती था, और उसका ईराक का प्रधानमन्त्री बनना यह सूचित करता था, कि शीघ्र ही वह राज्य जर्मनी के हाथ में चला जावेगा। नाजी लोग निरन्तर ईराक में पहुँच रहे थे। इस दशा में ब्रिटिश सेनाओं ने ईराक पर हमला कर दिया। रशीद अली उनका मुकाबला नहीं कर सका। वह ईराक से भाग जाने को विवश हुआ। जून १६४१ में ही ब्रिटेन ने ईराक पर भी अपना कब्जा भली-भाँति मजबूत कर लिया। पूर्व की तरफ बढ़ने का यह मार्ग भी जर्मनी के लिए बन्द हो गया।

जर्मन लोग ईरान में भी अपना जाल फैला रहे थे। वहाँ की सरकार को उन्होंने अपने प्रभाव में कर लिया था। इस दशा में ब्रिटेन ने दक्षिण की ओर से ईरान पर हमला कर दिया। रशिया समझता था, कि ईरान पर किसी विदेशी शक्ति का कब्जा नहीं होना चाहिए। उसकी दक्षिणी सीमा ईरान से लगती थी। अतः उसने भी उत्तरी ईरान पर हमला कर दिया। रशिया और ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली राज्यों का मुकाबला कर सकना ईरान के लिए कठिन था। अगस्त १६४१ में वहाँ ऐसी सरकार कायम हुई, जो नाजियों के पक्ष में नहीं थी। श्री अल फरूकी नये प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने रशिया व ब्रिटेन से लड़ाई बन्द करके सुलह कर ली, और यह आश्वासन दिया, कि भविष्य में जर्मनी

के गुप्तचरों व पक्षपातियों को ईरान में काम नहीं करने दिया जायगा, और ईरान के मट्टी के तेल को ब्रिटिश लोग अबाधित रूप से प्राप्त करते रहेंगे। इस में सन्देह नहीं, कि सीरिया, ईराक और ईरान को जर्मन प्रभाव में जाने से रोक कर ब्रिटेन ने अपने भावी उत्कर्ष के मार्ग को बहुत कुछ साफ कर लिया। ब्रिटिश साम्राज्य विध्वंस होने से बच गया, और पूर्व की ओर जर्मन आक्रमण का जो भय था, वह दूर हो गया।

पर यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये, कि ब्रिटेन ने पूर्व के देशों के सम्बन्ध में ठीक उसी नीति का अवलम्बन किया था, जिसे रशिया ने फिनलैण्ड में और जर्मनी ने नार्वे और डेनमार्क के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया था। ईराक या ईरान की ब्रिटेन से कोई लड़ाई नहीं थी। उन पर आक्रमण करने का केवल यह कारण था, कि जर्मनी उन्हें अपने प्रभाव में लाने की कोशिश कर रहा था। ठीक यही बात जर्मनी नार्वे व डेनमार्क के सम्बन्ध में कह सकता था। वस्तुतः, इस विश्व-संग्राम में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, कि तटस्थ राज्यों की स्वतन्त्रता कदापि सुरक्षित नहीं थी। जो हमारे पक्ष में नहीं है, वह हमारा शत्रु है, इस सिद्धान्त को सब मानने लगे थे।

१०. रशिया पर आक्रमण

जून १९४१ तक विश्व-संग्राम की स्थिति यह थी, कि अकेला ब्रिटेन जर्मनी और इटली का मुकाबला कर रहा था। फ्रांस के पतन के बाद उसका कोई ऐसा साथी नहीं रहा था, जो उसके साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा कर नाजी शक्ति का सामना कर रहा हो। यूरोप पर जर्मनी का अखण्ड राज्य था। नार्वे से स्पेन तक और अटलान्टिक समुद्रतट से ईजियन सागर तक सर्वत्र जर्मनी की तूती बोल रही थी। पर ब्रिटेन की सहायता के लिए न केवल उसका विशाल साम्राज्य विद्यमान था, पर साथ ही संयुक्तराज्य अमेरिका भी उसकी पीठ पर था। अमेरिका की

यह सहायता शुरू में युद्ध-सामग्री के रूप में थी, यद्यपि इसके लिए समुचित कीमत नकद रखवा ली जाती थी। मार्च १९४१ से अमेरिका ब्रिटेन को उधार सामान देने लगा। श्री० रूजवेल्ट ने यह व्यवस्था की, कि तीन साल में ३७५० करोड़ रुपये का सामान ब्रिटेन को उधार दिया जाय। पर अमेरिका से जो युद्ध-सामग्री ब्रिटेन पहुँचायी जाती थी, जर्मनी उसे रास्ते में डुबा देने की कोशिश करता था। अतः बाद में यह भी इन्तजाम किया गया, कि अमेरिका के जंगी जहाज युद्ध सामग्री को ढोने वाले जहाजों की हिफाजत भी करें। यदि कोई जर्मन जहाज उन्हें डुबाने की कोशिश करे, तो उसका मुकाबला किया जाय। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि अमेरिका लड़ाई में शामिल न होते हुए भी ब्रिटेन की पूरी तरह मदद कर रहा था। १९४२ में वह खुले तौर पर जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल हो गया।

अमेरिका के लड़ाई में शामिल होने से पहले जर्मनी को चाहिए था, कि वह अपनी सारी ताकत ब्रिटेन और उसके साम्राज्य को नष्ट करने में लगाता। हिटलर ने इसके लिए यत्न किया भी। ब्रिटेन पर हवाई हमले किये गये, और पूर्व की तरफ आगे बढ़कर ब्रिटिश साम्राज्य को ध्वंस करने का प्रयत्न भी किया गया। पर इस काम में जर्मनी ने अपनी पूरी ताकत नहीं लगाई। हिटलर के मन में यह था, कि ब्रिटेन से उसका कोई झगड़ा नहीं है। ब्रिटेन का साम्राज्य यूरोप से बाहर है, समुद्र पर उसका प्रभुत्व है। यूरोप में जर्मनी और ब्रिटेन के हितों में कोई विरोध नहीं। सम्पूर्ण यूरोप जर्मनी के कब्जे में आ ही चुका था। यदि रशिया के खिलाफ लड़ाई शुरू की जाय, तो जर्मनी को न केवल अपने साम्राज्य को विस्तीर्ण करने का अवसर मिलेगा, अपितु कम्युनिज्म का सर्वनाश करके यूरोपियन सभ्यता व ईसाई धर्म की रक्षा का गौरव भी उसे प्राप्त होगा। ब्रिटेन और अमेरिका के धनी पूँजीपति लोग रशिया के खिलाफ शुरू की गई लड़ाई को पसन्द करेंगे। जर्मनी का यह भी ख्याल था, कि

रशिया अन्दर से बहुत कमजोर है। कम्युनिज्म के कारण सर्वसाधारण जनता की स्वतन्त्रता बिलकुल नष्ट हो गई है, और मनुष्य दास की स्थिति को पहुँच गया है। रशिया के विशाल साम्राज्य व संघ में जिन विभिन्न जातियों का निवास है, उनमें अपनी पृथक् राष्ट्रीयता की भावना अभी विद्यमान है, और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के नाम पर उनमें ऐसे दलों का संगठन किया जा सकता है, जो कम्युनिस्ट रशिया के खिलाफ विद्रोह कर देने को उद्यत हों। यदि रशिया को परास्त कर दिया जाय, तो युक्रेनिया के विस्तृत उपजाऊ खेत, अराल पर्वतमाला की कीमती खानें और काकेशस के तैलकूप—सब जर्मनी को प्राप्त हो जावेंगे, और सम्पूर्ण यूरोप पर जर्मनी का अखण्ड साम्राज्य व प्रभाव क्षेत्र स्थापित हो जायगा। हिटलर ने अपने ग्रन्थ 'मेरा संघर्ष' में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया था, कि जर्मनी का ब्रिटेन से कोई हित-विरोध नहीं है। वह अब भी समझता था, कि यदि रशिया की कम्युनिस्ट सरकार के खिलाफ लड़ाई शुरू करने के इरादे से ब्रिटेन से सुलह की बातचीत शुरू की जाय, तो वह सफल हो सकेगी।

१० मई, १९४१ को एक जर्मन उड़ाका स्काटलैण्ड के प्रदेश में अकेला ही हवाई जहाज से नीचे उतरा। वह हैमिलटन के ड्यूक से मिलना चाहता था। उसे गिरफ़्तार करके पुलिस के सुपुर्द कर दिया गया। बाद में मालूम हुआ, कि यह व्यक्ति हिटलर का साथी रुडोल्फ हेस है। वह इस उद्देश्य से आया था, कि जर्मनी और ब्रिटेन में सुलह की बातचीत करे। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। ब्रिटिश लोग अब भली भाँति अनुभव करते थे, कि नाजीज्म संसार की शान्ति के लिये अत्यन्त खतरनाक है, और उसका सर्वनाश होने में ही ब्रिटेन की भलाई है। जब हेस की असफलता का समाचार जर्मनी पहुँचा, तो नाजियों ने उद्घोषित किया, कि उसका दिमाग खराब हो गया है, और इसी लिये वह अपने देश को छोड़-कर ब्रिटेन चला गया है। उसके साथ अब जर्मन सरकार का कोई सम्बन्ध

नहीं है। हेस को गिरफ़्तार करके ब्रिटिश जेलखाने में डाल दि
गया।

ब्रिटेन और जर्मनी की सुलह नहीं हो सकी, इससे हिटलर ने रशि
पर आक्रमण करने की योजना में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता न
समझी। उसका ख्याल था, कि सर्दियाँ शुरू होने से पहले ही कुछ मही
में रशिया को परास्त कर दिया जायगा। रशिया की विजय के बाद
अपार सम्पत्ति व युद्ध-सामग्री जर्मनी के हाथ लगेगी, उससे ब्रिटेन
अमेरिका का मुकाबला कर सकना सुगम हो जायगा। २२ जून, १९४१
जर्मन सेनाओं ने रशिया पर चढ़ाई शुरू कर दी। फिनलैण्ड, हंग
रूमानिया आदि अनेक यूरोपियन राज्यों का सहयोग इस लड़ाई में जर्म
को प्राप्त था। जर्मन सेनायें निरन्तर आगे बढ़ती गईं। एस्थोनिया, ल
विया, लिथुएनिया और फिनलैण्ड कुछ ही दिनों में रशिया के प्रभाव
मुक्त हो गये। पोलैण्ड के जिस पूर्वी प्रदेश पर १९३९ में रशिया ने क
कर लिया था, वह भी शीघ्र ही उसकी अधीनता से मुक्त हो गया। ज
सेनायें तीन तरफ से रशिया में आगे बढ़ रही थीं। (१) बाल्टिक साग
तट के साथ साथ होते हुए लेनिनग्राड की ओर। इस आक्रमण में उ
पूर्व की ओर से फिनलैण्ड की सेनायें भी जर्मनी की मदद कर रही थ
(२) स्मोलन्स्क की सड़क से होकर मोस्को की ओर। (३) युक्रेनिया
ओर। कुछ ही समय में जर्मन सेनायें युक्रेनिया में पहुँच गईं। रशि
सेनायें पीछे हटती गईं। जिस प्रदेश को छोड़कर वे पीछे हटती थीं,
सर्वथा उजाड़ देती थीं। देखते-देखते युक्रेनिया के हरे-भरे खेत उ
मैदान हो गये। उसके सब पुल, कारखाने व इमारतें भस्मसात् कर
गईं। जर्मन लोग रशिया के जिस किसी भी प्रदेश पर कब्जा करते
उसे उजड़ा हुआ पाते थे। रशियन लोगों में देशभक्ति और राष्
गौरव इतने उग्र रूप में विद्यमान थे, कि वे यह सहन ही नहीं कर स
थे, कि शत्रु को उनकी भूमि से कोई भी लाभ उठाने का अवसर मि

अपने देश व समाज के लिये वे बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को उद्यत थे। युक्रेनिया शीघ्र ही जर्मनी के हाथ में चला गया, और उसकी उत्तरी सेनायें लेनिनग्राड तक पहुँच गईं। जो जर्मन सेनायें स्मोलन्स्क होती हुई मोस्को की तरफ बढ़ रही थीं, वे भी निरन्तर आगे बढ़ती गई, और २५ अक्टूबर, १६४१ को मोस्को के बिलकुल समीप तक पहुँच गईं। रशियन सरकार मोस्को से कुइबिशव चली गई। यह नगर मोस्को से ५५० मील दक्षिण-पूर्व की ओर है। लेलिनग्राड और मोस्को—दोनों पर जर्मन आक्रमण बड़ी भयंकरता के साथ हो रहे थे। पर रशियन लोगों में इससे कोई भी भय या चिन्ता नहीं थी। कम्युनिज्म के कारण रशिया में एक नया जीवन आ गया था। सर्वसाधारण जनता जाग उठी थी। लोग समझते थे, वे न केवल अपने देश की रक्षा के लिये अपितु अपने सिद्धान्तों, अपने अधिकारों और अपनी नई व्यवस्था के लिए युद्ध कर रहे हैं। अब जर्मनी की सेनाओं को जागृत जनता के साथ लड़ना था। लेनिनग्राड और मास्को में डटकर लड़ाई होती रही। जर्मनी ने पूरा जोर लगाया, पर इन नगरों पर कब्जा नहीं कर सका। इसी बीच में सर्दियाँ आ गईं। नवम्बर में रशिया में बरफ पड़नी शुरू होगई। रशिया की सर्दी बहुत भयंकर होती है। रशियन लोग उसके अभ्यस्त हैं, पर जर्मनी के लोग उसे आसानी से बर्दास्त नहीं कर सके। हिटलर का खयाल था, कि सर्दी शुरू होने से पहले ही वह रशिया को जीत लेगा, उसे निराश होना पड़ा। वह लेनिनग्राड और मोस्को को भी नहीं जीत सका। अत्यधिक क्षति के कारण इन क्षेत्रों में लड़ाई को जारी रखना व्यर्थ समझ उसने क्रीमिया की ओर आक्रमण किया। यहाँ उसे सफलता हुई। नवम्बर १६४१ में सेवस्टापूल के अतिरिक्त शेष सब क्रीमिया जर्मन अधिकार में चला गया। सेवस्टापूल के दुर्ग की रक्षा के लिए रशियन सेना देर तक लड़ती रही। पर १६४२ की ग्रीष्म ऋतु में यह दुर्ग भी जर्मनी के हाथ में चला गया।

जर्मनी के रशिया पर आक्रमण करने पर ब्रिटेन और अमेरिका ने अनुभव किया, कि अब रशिया पूरी तरह मित्र राज्यों में शामिल है। उनका हित इसी बात में है, कि रशिया की पूरी तरह सहायता की जाय, और उसकी विजय में अपनी विजय समझी जाय। अब तक ब्रिटेन और अमेरिका के लोग कम्युनिज्म को मानव समाज के लिए घातक मानते थे, स्टालिन को एक क्रूर राक्षस समझा जाता था, और यह प्रचार किया जाता था, कि रशिया के लोग ईसाई धर्म के विद्वेषी और घोर नास्तिक हैं। पर अब उनकी सम्मति बदल गई। यह प्रचार किया जाने लगा, कि रशिया नाजियों के अत्याचारपूर्ण और अमानुषिक शासन के खिलाफ लड़ने के लिए उद्यत है। यदि वहाँ कम्युनिज्म है, तो यह उसका अपना मामला है। प्रत्येक देश को अधिकार है, कि वह लोकमत के अनुसार अपनी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था का निर्माण कर सके। स्टालिन एक महापुरुष है, जो इतिहास में अद्वितीय स्थान रखता है। ईसाई गिरजों में रशिया की रक्षा के लिए प्रार्थनायें होने लगीं, और पादरी लोग अपने व्याख्यानों में कम्युनिज्म की प्रशंसा करने लगे। मनुष्य के सब सिद्धान्त व विचार उसके स्वार्थ पर आश्रित होते हैं, यह इसका उत्तम उदाहरण है। ब्रिटेन और अमेरिका इस समय दो प्रकार से रशिया की सहायता कर सकते थे। वे हथियार और अन्य युद्ध सामग्री रशिया को पहुँचा सकते थे, और साथ ही पश्चिम में युद्ध का नया मोरचा कायम करके जर्मन सेनाओं को उधर मुकाबला करने के लिए आने को विवश कर सकते थे। इससे रशिया पर जर्मन आक्रमणों का जोर कम हो जाता। रशिया यही चाहता था। जिस समय १९४१-४२ के शीत काल में जर्मन सेनायें लेनिनग्राड और मोस्को के समीपवर्ती प्रदेशों में लड़ रही थीं, यदि पश्चिम में ब्रिटेन द्वारा जर्मनी से लड़ाई शुरू कर दी जाती, तो हिटलर की नाजी शक्ति का पराभव करना बहुत सुगम था। पर ब्रिटेन ने इसके लिए कोई कार्य नहीं किया। हवाई जहाजों द्वारा जर्मनी पर कुछ

गोलाबारी अवश्य होती रही, पर दूसरा मोरचा कायम नहीं किया गया। युद्ध सामग्री भी काफी मात्रा में रशिया नहीं भेजी जा सकी। अमेरिका हिन्द महासागर और ईरान की खाड़ी द्वारा ही अपने जहाज रशिया के समीप भेज सकता था। यह रास्ता बहुत लम्बा पड़ता था। ब्रिटेन के लिए सब से छोटा रास्ता यह था, कि वह नार्वे के समीप से रशिया को युद्ध-सामग्री भेजे। पर इस रास्ते पर जर्मन आक्रमण का बहुत भय था। इन परिस्थितियों के कारण रशिया को बहुत कुछ अपनी शक्ति पर निर्भर रह कर ही जर्मनी का मुकाबला करना पड़ा। निःसन्देह, उसने जो वीरता, साहस और सहनशक्ति प्रदर्शित की, वह संसार के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। दिसम्बर, १९४१ से उसकी सेनाओं ने जर्मनी को पीछे ढकेलना शुरू कर दिया। मास्को पर आक्रमण करने-वाली जर्मन सेना पीछे हटकर स्मोलन्स्क के समीप तक पहुँच गई। युक्रेनिया बहुत कुछ जर्मनों से खाली हो गया। ७ मार्च, १९४२ को मास्को से रेडियो द्वारा घोषणा की गई, कि अगले फरवरी मास में कम से कम चालीस हजार जर्मन सैनिक लड़ाई में काम आये हैं। पर घोर शीत के बावजूद भी जर्मन सेना की वह गति नहीं हुई, जो लगभग सवा सदी पहले रशिया के इसी रण-क्षेत्र में नैपोलियन की सेना की हुई थी। जर्मन सेना का संगठन आदर्श था। विकट से विकट संकट के समय में भी वह अपने को सँभाल कर रख सकती थी।

जर्मन लोगों ने रशिया के जिन प्रदेशों पर कब्जा किया, वहाँ घोर अत्याचार किये गये। घरों को लूट लिया गया। बच्चों, स्त्रियों व वृद्धों के साथ अनेक ज्यादतियाँ की गईं। जिन्होंने जरा भी विरोध किया, उन्हें गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। खुले मैदान में कैम्प खड़े करके नई विशाल जेलें बनाई गईं, जिन्हें चारों ओर से काँटेदार तारों से घेर लिया गया था। यहाँ लाखों की संख्या में रशियन लोग बन्द कर दिये जाते थे, और उन्हें सब प्रकार से कष्ट दिया जाता था। यह ध्यान

में रखना चाहिए, कि यह केवल दो देशों की लड़ाई नहीं थी। इसमें दो सिद्धान्त, दो विचारधारायें, दो सामाजिक व्यवस्थायें आपस में संघर्ष कर रही थीं। जर्मन लोग अपने शत्रुओं को न केवल विदेशी अपितु विधर्मी भी समझते थे।

११. जापान और अमेरिका का युद्ध में प्रवेश

फ्रांस के पराजय और इण्डोचायना के नाजी प्रभाव में चले जाने से सुदूर पूर्व में ब्रिटेन की स्थिति सुरक्षित नहीं रही थी। जापान जर्मनी और इटली का साथी था, और बर्लिन-टोकियो एक्सिस द्वारा वह विश्व-संग्राम में जर्मनी का साथ देने के लिए वचनबद्ध था। जापान की आकांक्षा यह थी, कि पूर्वी एशिया के सब प्रदेश उसके प्रभाव में आ जावें। उसकी आबादी निरन्तर बढ़ रही थी। उसके तैयार माल के लिए सुरक्षित बाजार की आवश्यकता थी। जिस प्रकार जर्मनी यूरोप में और इटली अफ्रीका में अपने साम्राज्यों का विस्तार करना चाहते थे, वैसे ही जापान पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए उत्सुक था। इसी दृष्टि से उसने चीन में लड़ाई प्रारम्भ की थी। पर इस प्रयत्न में उसे अमेरिका से भय था। फिलिप्पाइन्स द्वीपसमूह अमेरिका के अधीन था, चीन के अनेक बन्दरगाह व प्रदेश अमेरिका के प्रभाव में थे, और प्रशान्त महासागर में किसी अन्य शक्ति का प्रमुख होना अमेरिका को सहन नहीं हो सकता था। जिस समय जर्मनी प्रायः सम्पूर्ण यूरोप को अपने कब्जे में कर चुका था और उसकी सेनायें रशिया में लेनिनग्राड और मास्को के समीप तक पहुँच चुकी थीं, जापान ने समझा, कि अपनी शक्ति को बढ़ाने और अमेरिका से लड़ाई छेड़ने का यह उपयुक्त अवसर है। इसी दृष्टि से ७ दिसम्बर, १९४१ को उसने पर्ल हार्बर पर हमला कर दिया। यह बन्दरगाह प्रशान्त महासागर में हवाई द्वीपसमूह में स्थित है, और अमेरिका की सामुद्रिक

सेना का प्रधान केन्द्र है। अमेरिका को स्वप्न में भी यह आशंका नहीं थी, कि जापान इस प्रकार उस पर हमला कर देगा। जापान के साथ उसकी कोई लड़ाई नहीं थी, जापानी राजदूत वाशिंगटन में विद्यमान था और आपस के मतभेदों को दूर करने के लिए बातचीत अभी जारी थी। पर्ल हार्बर के इस हवाई हमले में अमेरिका के अनेक जंगी जहाज डूब गये, अनेक तहस नहस हो गये। २११७ अमेरिकन अफसर और सैनिक मारे गये, ३७६ घायल हुए और ६६० लापता हो गये। इनके अतिरिक्त बहुत से नागरिकों को भारी नुकसान उठाना पड़ा। जापान के इस अकस्मात हमले से अमेरिका की आधे के लगभग सामुद्रिक शक्ति नष्ट हो गई। जिस दिन पर्ल हार्बर पर यह हमला हुआ, उसी दिन शंघाई, हांगकांग, मलाया और सिंगापुर पर भी बम्ब वर्षा की गई। जापान अब खुले तौर पर लड़ाई के मैदान में उतर आया था। परिस्थिति ऐसी हो गई थी, कि अब अमेरिका के लिए भी लड़ाई से अलग रह सकना सम्भव नहीं था। वह भी अब खुले तौर पर लड़ाई में शामिल हो गया, और उसने जापान व उसके साथियों के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। अब युद्ध केवल यूरोप व अफ्रीका तक ही सीमित नहीं रहा था। वह एशिया, अमेरिका और प्रशान्त महासागर में भी व्याप्त हो गया था।

जापान केवल पर्ल हार्बर में विद्यमान अमेरिकन जंगी जाहजों को डुबा कर ही संतुष्ट नहीं हुआ। १० दिसम्बर, १६४१ को उसके हवाई जहाजों ने मलाया के समुद्रतट पर स्थित ब्रिटिश जंगी जहाजों पर भी हमला किया। प्रिंस आफ वेल्स और रिपल्स नाम के दो बड़े जंगी जहाज डुबा दिये गये। इस समाचार से ब्रिटेन का लोकमत बहुत उद्विग्न हो उठा। पर जापान इतने से ही संतुष्ट हो जानेवाला नहीं था। उसने फिलिप्पाइन्स द्वीपसमूह पर हमला करने की तैयारी की। बहुत से जहाज और नौकायें आदि एकत्र करके दो लाख से अधिक जापानी सैनिकों को फिलिप्पाइन्स

में उतार दिया गया। जरनल मैक आर्थर के नेतृत्व में अमेरिकन सेनाओं ने बड़ी वीरता से इनका मुकाबला किया। पर जापानी सेना के सामने वे टिक नहीं सकीं। १९४२ के शुरू के सप्ताहों में सारा फिलिप्पाइन्स द्वीप-समूह जापान के हाथ में चला गया। इसी बीच में जापानी सेनायें हांग-कांग पर भी हमला कर रही थीं। चीन के समुद्रतट पर विद्यमान यह नगर ब्रिटिश शक्ति का प्रमुख केन्द्र था। जापान के सम्मुख हांगकांग देर तक नहीं टिक सका। १९४२ के शुरू में उस पर भी जापान का कब्जा हो गया। फिलिप्पाइन्स और हांगकांग की विजय में जापान ने अद्भुत साहस और सैनिक क्षमता का परिचय दिया। जहाजों द्वारा समुद्र के रास्ते सेनायें उतार कर शत्रु को कैसे परास्त किया जा सकता है, इसका उदाहरण जापान ने ही उपस्थित किया।

१२. पूर्वी एशिया पर जापान का प्रभुत्व

पर्ल हार्बर में अमेरिका की सामुद्रिक शक्ति को अस्त-व्यस्त करके और फिलिप्पाइन्स द्वीप समूह तथा हांगकांग पर कब्जा करके जापान के लिए पूर्वी एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का मार्ग बिलकुल साफ हो गया था। पूर्वी एशिया में ब्रिटिश शक्ति का प्रधान केन्द्र सिंगापुर था। यह बन्दरगाह मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में एक छोटे से द्वीप पर स्थित है। मलाया प्रायद्वीप के साथ एक बांध और पुल द्वारा इसका सम्बन्ध भी है। ब्रिटिश लोगों ने यहां जबर्दस्त किलाबन्दी की हुई थी। इसमें पचास करोड़ के लगभग रुपया खर्च किया गया था। ब्रिटिश लोगों को अभिमान था, कि कोई शत्रु सिंगापुर के इस अड्डे पर हमला नहीं कर सकता। यहां उनके जंगी जहाज बड़ी संख्या में रहते थे। विशाल ब्रिटिश साम्राज्य में पूर्व से पश्चिम या पश्चिम से पूर्व की ओर जाने वाले जहाज यह भरोसा रखते थे, कि उनकी स्थिति सर्वथा सुरक्षित है। सिंगापुर के किलानुमा बन्दरगाह में विद्यमान ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति

उनकी रक्षा के लिए सदा उद्यत है। इसमें सन्देह नहीं, कि समुद्र के रास्ते हमला करके सिंगापुर को जीत सकना सम्भव नहीं था। पर मलाया से होकर स्थल-मार्ग द्वारा भी सिंगापुर पर हमला किया जा सकता है, यह बात ब्रिटिश लोगों ने कभी सोची भी नहीं थी। उनका ख्याल था, कि मलाया सघन जंगलों से परिपूर्ण है। ये जंगल मलेरिया व अन्य बुखारों से सदा आक्रान्त रहते हैं। इनमें से गुजर कर कोई शत्रु-सेना कभी सिंगापुर पर हमला करने का साहस नहीं कर सकती। पर जापानियों ने अपने आक्रमण के लिए इसी मार्ग का अवलम्बन किया। मलाया के जंगलों में से होती हुई जापानी सेना ३१ जनवरी, १९४२ को सिंगापुर पहुँच गई। १५ फरवरी को सिंगापुर की ब्रिटिश सेना ने जापानियों के सामने घुटने टेक दिये।

इसी समय जापान ने हालैण्ड के एशियाई साम्राज्य पर हमला किया। पूर्वी एशिया में ब्रिटिश शक्ति के छिन्न भिन्न हो जाने के बाद डच लोगों के लिए यह सम्भव नहीं था, कि अपने साम्राज्य की जापान से रक्षा कर सकते। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि जो विविध द्वीप हालैण्ड के अधिकार में थे, उन सब पर एक एक करके हमला किया गया। प्रशान्त महासागर में इस समय जापान की सामुद्रिक शक्ति का मुकाबला कर सकने की सामर्थ्य किसी में नहीं थी। उसके हवाई जहाज भी स्वच्छन्द रूप से पूर्वी एशिया के आकाश में उड़ते फिरते थे। जल और वायु के मार्ग से जापानी सेना इन द्वीपों में प्रविष्ट हो गई, और मार्च १९४२ तक सम्पूर्ण डच साम्राज्य जापान के हाथ में चला गया।

पर जापान पूर्वी एशिया को ही अपने अधीन कर लेने से संतुष्ट नहीं हुआ। मलाया पर कब्जा करके उसकी सेनायें बर्मा की ओर अग्रसर हुईं। यहाँ उसका मुकाबला कर सकने की शक्ति ब्रिटिश लोगों के पास नहीं थी। वे निरन्तर आगे बढ़ती गईं, और ८ मार्च, १९४२ को रंगून पर जापानियों का कब्जा हो गया। सिंगापुर, बर्मा आदि से

ब्रिटिश सैनिकों व नागरिकों को बचाकर लौटा लाने की समस्या भी सुगम नहीं थी। बहुत से लोगों को हवाई जहाजों द्वारा भारत लाया गया, अनेक साहसी मनुष्य जंगल के रास्ते भी बर्मा से आसाम आने में समर्थ हुए। मंचूरिया से बर्मा तक सम्पूर्ण पूर्वी एशिया अब जापान के कब्जे में आ गया था। जरनल मैक आर्थर १७ मार्च, १९४२ को फिलिप्पाइन्स से बचकर आस्ट्रेलिया पहुँचने में समर्थ हुआ था। वहाँ उसने मित्र राज्यों की अस्त व्यस्त होती हुई शक्ति को पुनः संगठित करने का प्रयत्न किया। पर जापानी लोग आस्ट्रेलिया पर आक्रमण करने की भी चिन्ता में थे। जनवरी, १९४२ में ही उन्होंने न्यूगायना पर कब्जा कर लिया था। यह द्वीप आस्ट्रेलिया से केवल ४०० मील की दूरी पर है। जापानी लोग चाहते थे, कि इसे आधार बनाकर आस्ट्रेलिया पर भी हमला किया जाय।

जापान जो इतनी सुगमता से पूर्वी एशिया से विदेशी साम्राज्यों का नाश कर सका, उसका प्रमुख कारण यह है, कि वहाँ के निवासियों की सहानुभूति अपने शासकों के साथ नहीं थी। अमेरिका व यूरोप के श्वेतांग लोग यह समझते थे, कि एशिया के निवासी उनकी अपेक्षा हीन हैं, और उन पर शासन करने का उन्हें दैवी अधिकार प्राप्त है। उनकी सेनाएँ इतनी तो थीं, कि अधीनस्थ लोगों के विद्रोहों का शमन कर सकें। पर जब जापान जैसा विज्ञान कला सम्पन्न शत्रु उनके खिलाफ उठ खड़ा हुआ, तो उसका पराजय वे तभी कर सकती थीं, जब कि वहाँ के निवासियों का भी उन्हें पूरा सहयोग प्राप्त हो। पर एशियाई लोगों का सहयोग और सद्भावना प्राप्त करने का कोई भी उद्योग पश्चिम के श्वेतांग लोगों ने नहीं किया था। वर्तमान युग की लड़ाइयों में कोई पक्ष तभी सफल हो सकता है, जब जनता की सामूहिक सहायता उसे प्राप्त हो। ब्रिटिश और डच लोगों को वर्तमान युग की यह सबसे बड़ी शक्ति एशिया में प्राप्त नहीं थी।

बर्मा पर कब्जा करके जापान भारत की सीमा तक पहुँच गया। यदि वह उसी समय पश्चिम में और आगे बढ़कर भारत पर आक्रमण कर देता, तो ब्रिटिश लोगों के लिए उसे रोक सकना बहुत कठिन होता। ब्रिटेन की सैनिक शक्ति उस समय बहुत अस्त-व्यस्त दशा में थी, सिंगापुर, बर्मा, मलाया आदि से भाग कर जो ब्रिटिश लोग भारत पहुँच रहे थे, उन्हें सँभाल सकना भी उसके लिए कठिन होरहा था। भारत में स्वराज्य का आन्दोलन बड़ा उग्र रूप धारण कर रहा था। १९४२ के अगस्त मास में भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस ने विदेशी सरकार का प्रतिरोध करने के लिए अधिक उग्र उपायों का अनुसरण करने का निश्चय कर लिया था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनता में तीव्र भावना उत्पन्न हो चुकी थी, और स्वराज्य प्राप्ति की यह उत्कण्ठा अनेक रूपों में प्रगट होने लगी थी। देशभक्त युवक ब्रिटिश सत्ता को छिन्न-भिन्न करने के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार हो गये थे। सरकार के प्रतिरोध ने इतना उग्र रूप धारण कर किया था, कि रेल, तार और डाक तक में अनियमितता आ गई थी। कई स्थानों पर जनता खुले तौर पर विद्रोह के लिए उतारू हो गई थी। पर जापान ने भारत पर आक्रमण करने के इस सुवर्णीय अवसर का उपयोग नहीं किया। उसे पहले उस विशाल प्रदेश को सँभालना था, जहाँ उसकी सेनाओं ने पिछले कुछ महीनों में ही विद्युत्गति से अपना कब्जा किया था। बाद में जब भारत पर जापानी आक्रमण शुरू हुए, तो ब्रिटिश शक्ति बहुत कुछ सँभल गई थी।

१३. पश्चिम में विश्वसंग्राम की प्रगति

१९४२ की ग्रीष्म ऋतु में जर्मनी ने रशिया पर अपने आक्रमण को फिर भयंकर रूप से प्रारम्भ किया। इस बार उसकी सेनाएँ फिर तीन दिशाओं में रशिया में आगे बढ़ने लगीं। एक सेना वोल्गा नदी की

ओर इस उद्देश्य से हमला कर रही थीं, कि स्टालिनग्राड के प्रसिद्ध नगर पर कब्जा करे। दूसरी सेना अस्त्रखान की ओर आगे बढ़ती हुई कैस्पियन समुद्र तक पहुँचने का यत्न कर रही थी। तीसरी जर्मन सेना ब्लैक सी (काला सागर) तक पहुँच जाना चाहती थी। काकेशस पर अधिकार करने में जर्मन सेना को अच्छी सफलता हुई। मैकप के विस्तीर्ण तैलक्षेत्रों पर जर्मनी ने अधिकार कर लिया। अगस्त १९४२ के अन्त तक जर्मन सेनाएँ काला सागर तक पहुँच गईं और अनाया का प्रदेश उनके कब्जे में चला गया। सितम्बर शुरू होते होते जर्मनी की सेनाएँ स्टालिनग्राड भी पहुँच गईं, और इस प्रसिद्ध आधुनिक नगरी के बाजारों में घमासान लड़ाई होने लगी। ३० सितम्बर, १९४२ को हिटलर ने बड़े अभिमान के साथ घोषणा की थी—"स्टालिनग्राड अवश्य ही जीत लिया जायगा, इसमें सन्देह की जरा भी गुंजाइश नहीं है।"

पर स्टालिनग्राड नहीं जीता जा सका। उसे बचाने के लिए रशिया ने कोई भी कसर नहीं उठा रखी। वोल्गा नदी को पार करके रशियन सेनाएँ निरन्तर स्टालिनग्राड पहुँचती रहीं। जर्मन सैनिकों के साथ उन्होंने पग पग पर लड़ाई की। न केवल बाजारों और गलियों में, अपितु मकानों के अन्दर भी जोर के साथ लड़ाई हुई। इन लड़ाइयों में रशियन सैनिकों और नागरिकों ने अपूर्व वीरता का परिचय दिया। उनकी हिम्मत का ही यह परिणाम हुआ, कि स्टालिनग्राड जर्मनी के कब्जे में नहीं आ सका। पर इसमें सन्देह नहीं, कि १९४२ के आक्रमण में रशिया को बहुत सख्त मुकाबला करने की आवश्यकता हुई। उसके धन और जन का बहुत बुरी तरह विनाश हुआ। इस समय रशियन लोग केवल यही चाहते थे, कि उनके मित्र ब्रिटेन और अमेरिका पश्चिम की तरफ नये मोरचे को कायम कर दें, ताकि जर्मनी के हमले का जोर कुछ हलका पड़ जाय। पर श्री० चर्चिल का खयाल था, कि

यह अभी सम्भव नहीं है। ब्रिटेन के कुछ साहसी सिपाही टोलियाँ बनाकर इँगलिश चैनल को पार कर फ्रांस के समुद्रतट पर कुछ छोटे-मोटे हमले अवश्य करते रहे, पर इनका उद्देश्य केवल यह था, कि जर्मनी परेशान हो। ऐसे किसी आक्रमण का आयोजन करने में ब्रिटेन सफल नहीं हुआ, जिससे रशिया पर दबाव कम हो सके। इस समय में ब्रिटिश व अमेरिकन हवाई जहाज समय-समय पर जर्मनी पर गोलाबारी करते रहते थे, और रशिया को युद्ध-सामग्री पहुँचाने का भी उद्योग किया जा रहा था। पर रशिया की दृष्टि में यह सर्वथा अपर्याप्त था।

इसी समय उत्तरी अफ्रीका में भी जर्मन लोग शानदार सफलताएँ प्राप्त कर रहे थे। जनरल रोमल की सेनाएँ सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका पर कब्जा कर चुकने के बाद मिस्र और स्वेज की नहर पर आक्रमण करने की योजना बना रही थी। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। जनरल मान्टगोमरी के नेतृत्व में ब्रिटेन की सैनिक शक्ति ने एक बार फिर अपनी क्षमता प्रदर्शित की। मिस्र में रोमल को परास्त कर इन सेनाओं ने पश्चिम की ओर बढ़ना शुरू किया। १२ नवम्बर, १९४२ तक मिस्र से जर्मन सेनाओं को बाहर खदेड़ दिया गया। २० नवम्बर तक ब्रिटिश सेनाएँ पश्चिम की ओर बंगाजी तक आगे बढ़ गईं। रोमल के सम्मुख इस समय यही उपाय था, कि ट्रिपोली को अपना आधार बनाकर ब्रिटेन का मुकाबला करने का प्रयत्न करे। यह प्रदेश सिसली के बहुत समीप था, और सिसली से समुद्र पार कर नई सेनाएँ व युद्ध-सामग्री रोमल के पास भेजी जा सकती थीं, पर इसमें भी उसे सफलता नहीं हुई। जनरल मान्टगोमरी की सेनाएँ निरन्तर आगे बढ़ती जाती थीं। उन्होंने ट्रिपोली में भी रोमल को टिकने नहीं दिया।

इसी बीच में अमेरिका और ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ दूसरा मोरचा तैयार करने की योजना पूर्ण कर ली। इस समय यह सम्भव नहीं था, कि फ्रांस, बेल्जियम या जर्मनी में मित्र पक्ष की सेनाएँ उतारी

जा सकतीं। पर उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका में सेनाओं का उतार सकना सम्भव था। फ्रेंच उत्तरी अफ्रीका पर जर्मन प्रभाव बहुत जबर्दस्त नहीं था। ब्रिटिश लोग आशा कर सकते थे, कि वहाँ उनका कड़ा विरोध नहीं होगा। उनका यह भी खयाल था, कि अफ्रीका से जर्मनों को निकाल कर इटली के ऊपर आक्रमण कर सकना सुगम होगा। इटली जर्मनी के समान शक्तिशाली नहीं था, युद्ध नीति के अनुसार यह ठीक था, कि पहले कमजोर राज्य के ऊपर हमला किया जाय। इसी के अनुसार, ८ नवम्बर, १९४२ को जनरल आइसनहोवर के नेतृत्व में अमेरिकन और ब्रिटिश सेनाएँ फ्रेंच उत्तरी अफ्रीका के अनेक स्थलों पर उतर गईं। विशी सरकार के प्रतिनिधियों ने उनका विशेष मुकाबला नहीं किया। उधर मान्टगोमरी की सेनाएँ रोमल को परास्त करते हुए निरन्तर आगे बढ़ रही थीं। मान्टगोमरी और अमेरिकन सेनापति आइसनहोवर के प्रयत्नों से अफ्रीका जर्मन कब्जे से मुक्त हो गया, और मित्र राज्यों के लिए यूरोप पर आक्रमण कर सकना सम्भव हो गया। उत्तरी अफ्रीका के फ्रेंच प्रदेशों को मित्रराज्यों के पक्ष में संगठित करने के लिए इस समय जनरल द गॉल ने विशेष तत्परता और कार्यक्षमता प्रदर्शित की। उसी के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि विशी सरकार के अनेक सेनापति इस समय मित्रराज्यों के पक्ष में आ गये।

१४. रशिया में घमासान युद्ध

१९४२-४३ की ग्रीष्म ऋतु में रशियन सेनाओं ने फिर अपने आक्रमणों को शुरू किया। एक नवम्बर, १९४२ को स्टालिनग्राड से जर्मनों को पीछे धकेला जाना प्रारम्भ हुआ। १९ नवम्बर से २९ नवम्बर तक दस दिनों में ६६,००० जर्मन सैनिक रशियनों द्वारा कैद कर लिये गये, और जर्मन सेनाओं ने पीछे हटना शुरू किया। जनवरी, १९४३ तक यह दशा हो गई, कि स्टालिनग्राड में जर्मनों के पैर उखड़ गये। इस नगर की लड़ाई

में एक लाख से ऊपर जर्मन सैनिक मारे गये और ९१,००० कैद हुए। इतने सैनिकों का विनाश करा चुकने पर जर्मन सेना स्टालिनग्राड को छोड़कर वापस हो गई। पीछे हटती हुई जर्मन सेना पर रशियनों के हमले जारी रहे, और उन्होंने जर्मनों को बहुत दूर तक पीछे ढकेल दिया। स्टालिनग्राड की विजय से रशिया में अपूर्व साहस और आशा का संचार हुआ। ब्रिटेन में भी इससे खुशी और सन्तोष की लहर फैल गई। राजा ज्यार्ज छठे ने आज्ञा दी, कि एक रत्नजटित तलवार को विशेष रूप से तैयार किया जाय, जिसे विजयोपहार के रूप में रशिया के भेंट किया जाय। दिसम्बर, १९४३ में श्री० चर्चिल ने यह तलवार स्टालिन की सेवा में अर्पित की।

स्टालिनग्राड के रणक्षेत्र के समान काकेशस और कालासागर के प्रदेशों में भी रशियन सेनाओं ने आगे बढ़ना शुरू किया। मेकोप के विस्तीर्ण तैल-क्षेत्र पर फिर रशिया का कब्जा हो गया। लेनिनग्राड पर जो जर्मन सेना घेरा डाले पड़ी थी, उस पर भी जबर्दस्त हमले किये गये, और वहाँ भी जर्मनों को पीछे हटना पड़ा। सर्दियों भर रशिया की विजयों की यह प्रक्रिया जारी रही। पर जर्मनी की युद्ध शक्ति अभी शिथिल नहीं हुई थी। गरमियाँ आने पर १९४३ में उसने फिर आगे बढ़ना शुरू किया। पर अब जर्मन हमले की तीव्रता पहले के मुकाबले में बहुत कम थी। गरमी की मौसम में जर्मन और रशियन सेनाओं में सर्वत्र घमासान लड़ाइयाँ होती रहीं। समझा यह जाता था, कि ग्रीष्म ऋतु में रशिया के लिए आगे बढ़ सकना सम्भव नहीं होता। पर इस बार रशिया ने गरमी के दिनों में भी अपनी सेनाओं का इतना बल प्रदर्शित किया, कि जर्मनी के लिए आगे बढ़ना कठिन हो गया। जब १९४३-४४ की शीत ऋतु शुरू हुई, तब तो जर्मनी के लिए रशिया में टिक सकना सम्भव ही नहीं रह गया। २५ सितम्बर, १९४३ को स्मोलन्स्क पर रशिया का फिर से कब्जा हो गया। अक्टूबर में काकेशस के प्रदेश से जर्मनों को बाहर निकाल दिया

गया। नवम्बर में क्रीमिया जर्मनों से खाली हो गया। नवम्बर में ही खीव पर भी रशिया ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस समय रशिया की सेनाएँ भयंकर बाढ़ व आँधी के समान आगे बढ़ रही थीं। उनका उत्तरी अंश बाल्टिक सागर के तट पर एस्थोनिया तक पहुँच गया था। अब यह बिलकुल स्पष्ट हो गया था, कि जर्मनी की सैन्य-शक्ति रशिया की बाढ़ के सम्मुख नहीं टिक सकेगी। १९४४ की ग्रीष्म ऋतु तक यह हालत हो गई थी, कि प्रायः सम्पूर्ण रशियन प्रदेशों से जर्मनों को खदेड़ कर बाहर कर दिया गया था। रशिया की जन शक्ति और अपने देश व सिद्धान्तों के प्रति प्रेम का ही यह परिणाम था, कि जर्मनी उसे परास्त नहीं कर सका। शुरू में रशियन लोगों को अनेक पराजयों व हानि को सहन करना पड़ा। पर अन्त में उनकी विजय हुई। जर्मनी और रशिया का यह घोर संग्राम संसार के इतिहास में अद्वितीय है। अनुमान किया गया है, कि इस संग्राम में जर्मनी के ७८,००,००० आदमी या तो मारे गये और या कैद किये गये। रशिया के इसी प्रकार से काम आये आदमियों की संख्या ५३,००,००० है। दोनों देशों की युद्ध-सामग्री की क्षति का अनुमान निम्न तालिका से किया जा सकता है—

युद्ध सामग्री	जर्मनी	रशिया
टैंक	७०,०००	४९,०००
हवाई जहाज	६०,०००	३०,१२८
तोपें	६०,०००	४८,०००

युद्ध-सामग्री और सैनिकों के इस भयंकर विनाश के अतिरिक्त दोनों देशों की सम्पत्ति व नागरिकों को जो नुकसान हुआ, उसका तो अन्दाज कर सकना भी कठिन है।

१५. वारसा की दुर्घटना

रशियन सेना जर्मनी को परास्त करती हुई जिस प्रकार तेजी से आगे

बढ़ रही थी, उससे पोलैण्ड के लोगों को यह आशंका होने लगी, कि वे शीघ्र ही वारसा तक पहुँच जावेंगी, और पोलैण्ड पर रशिया का कब्जा हो जायगा। पोल लोग जर्मनी की अधीनता से तो स्वतन्त्र होना चाहते थे, पर जर्मनी के कब्जे से छूट कर कहीं वे रशिया के शिकंजे में न फस जावें, इस बात का भी उन्हें भय था। आजाद पोलैण्ड की सरकार ब्रिटेन में विद्यमान थी, और अनेक पोल देशभक्त पोलैण्ड में रहते हुए गुप्त रूप से अपने देश की स्वतन्त्रता के प्रयत्न में लगे हुए थे। १ अगस्त, १६४४ को लन्दन में स्थित पोल सरकार ने आज्ञा प्रकाशित की, कि सब पोल देशभक्त वारसा को स्वतन्त्र कराने के लिए सन्नद्ध हो जावें, और इससे पूर्व कि रशिया उस पर कब्जा कर सके, स्वयं वहाँ अपना अधिकार स्थापित कर लें। इस आज्ञा का परिणाम यह हुआ, कि पोल लोगों ने वारसा में विद्रोह कर दिया। वे जर्मनी के खिलाफ हथियार लेकर उठ खड़े हुए। पर अभी इस प्रकार विद्रोह कर देने का उपयुक्त अवसर नहीं था। रशियन सेनाएँ अभी वारसा नहीं पहुँची थीं, और जर्मनी की शक्ति का मुकाबला कर सकना पोल देशभक्तों के लिए असम्भव था। जर्मनी ने इस विद्रोह को बुरी तरह से कुचला। दो लाख के लगभग पोल देशभक्त मौत के घाट उतार दिये गये। लन्दन में विद्यमान आजाद पोल सरकार ने इसके लिए रशिया को दोष दिया। उसका कहना था, कि रशिया ने जान-बूझकर वारसा पर हमला करना स्थगित कर दिया, जिससे कि पोल देशभक्तों को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। पर रशियन सरकार इस आरोप का खण्डन करती थी। परिणाम यह हुआ, कि आजाद पोल सरकार के मुकाबले में रशिया ने पोल देशभक्तों का नया संगठन स्थापित कर दिया। पोलैण्ड जब जर्मनी के कब्जे से स्वतन्त्र होगा, तो उसका शासन कौन सँभालेगा, इस सम्बन्ध में अभी से झगड़ा शुरू हो गया। यद्यपि ब्रिटेन और रशिया इस समय जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में एक थे, पर युद्ध के बाद उनमें तीव्र मत-भेद उत्पन्न होगा और यूरोप के

के अधिकार में आ गया ।

जिस समय ब्रिटिश और अमेरिकन सेनाएं भूमध्य सागर को पार कर सिसली पर कब्जा कर रही थीं, इटली में मुसोलिनी के खिलाफ तीव्र असन्तोष फैल रहा था । अब तक इटालियन सेनाओं को कहीं भी शानदार सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी । ग्रीस, अबीसीनिया आदि सर्वत्र उन्हें मुँह की खानी पड़ी थी । लोग समझते थे, मुसोलिनी इस सब के लिए जिम्मेवार है । यह सबको प्रत्यक्ष नजर आता था, कि सिसली के बाद इटली की बारी आयेगी, और शीघ्र ही मित्र सेनाएं उस पर भी अपना कब्जा कर लेंगी । मुसोलिनी के लिए इस भय से अपने देश की रक्षा कर सकना सम्भव नहीं था । वह हिटलर के पास मिलने के लिए गया, और उससे सहायता की प्रार्थना की । पर अब पासा पलटने लगा था । जर्मन सेनाएं रशिया में बुरी तरह उलझी हुई थीं, और हिटलर के

लिए यह सम्भव नहीं था, कि इटली की सहायता के लिए सेनाओं को भेज सके। मुसोलिनी निराश होकर अपने देश को वापस लौट आया। वहाँ उसके खिलाफ बगावत की पूरी तैयारी हो चुकी थी। फैसिस्ट ग्रांड कौंसिल के अधिवेशन में उसकी कड़ी नुकताचीनी की गई। मुसोलिनी ने भरपूर कोशिश की, कि लोगों को शान्त कर सके। पर उसे सफलता नहीं हुई। जब वह कौंसिल के सभाभवन से बाहर निकला तो उसे गिरफ्तार कर लिया गया, और एक सैनिक मोटर गाड़ी पर बिठा कर किसी अज्ञात स्थान पर ले जाकर नजरबन्द कर दिया गया। मार्शल बोदोग्लियो के नेतृत्व में नई सरकार कायम कर ली गई। मार्शल बोदोग्लियो ७३ वर्ष की आयु का वृद्ध सेनापति था। वह अबीसीनिया का वायसराय रह चुका था और इटली के सबसे योग्य सेनानायकों में उसकी गिनती की जाती थी। युद्ध के समय में उसने अच्छी योग्यता प्रदर्शित की थी। वह दिल से फैसिस्ट नहीं था। उसकी इच्छा यही थी, कि इटली में फिर से राजा की यथापूर्व सत्ता कायम हो जाय। वह युद्ध बन्द करके मित्रराज्यों से सुलह कर लेने के लिए उत्सुक था। इसी लिए उसने एक दूत द्वारा जनरल आइसनहोवर के पास सन्धि का संदेश भेजा। पर यह सन्धि तभी सम्भव थी, जब कि मित्र सेना तुरन्त ही इटली में प्रवेश कर जाय। मुसोलिनी के पतन से हिटलर यूँही चिन्तित था। अपने मित्र की इस दुर्दशा से मुक्ति के लिए वह प्रयत्न भी कर रहा था। वह यह भी जानता था, कि बोदोग्लियो की सरकार लड़ाई बन्द करके सुलह की कोशिश करेगी। अतः उसने अपनी सेनाएँ इटली में भेजनी शुरू कर दी थी। यदि मित्र सेनाएँ मुसोलिनी के पतन के बाद तुरन्त ही इटली में प्रवेश कर जातीं, तो बिना किसी लड़ाई के उनका वहाँ कब्जा हो जाता। पर उन्होंने देरी कर दी। मुसोलिनी का पतन २५ जुलाई को हुआ था। मित्र सेनाएँ २ सितम्बर को इटली में उतरनी शुरू हुई। इस बीच में जर्मन सेनाएँ वहाँ आ चुकी थीं, और बोदोग्लियो

की सरकार के शान्ति के लिए उद्यत होने पर भी जर्मन सेनाएँ मित्र सेनाओं का मुकाबला करने के लिए कटिबद्ध थीं। मित्र सेनाओं को इनके साथ घोर संघर्ष करना पड़ा। दक्षिणी इटली पर तो मित्र राज्यों का कब्जा सुगमता से हो गया, पर उत्तर में लड़ाई जारी रही। यह लड़ाई १९४४ तक चलती रही।

मुसोलिनी का पतन यूरोप के इतिहास में बड़ा महत्त्व रखता है। फैसिस्ट विचारधारा का वही प्रवर्तक था। कुछ समय के लिए उसने इटली का भारी उत्कर्ष भी कर लिया था। अफ्रीका में अपने विशाल साम्राज्य को स्थापित कर उसने प्राचीन रोमन साम्राज्य का आंशिक रूप में पुनरुत्थान कर लिया था। यदि वह इतने से संतुष्ट होकर देश की उन्नति में अपनी शक्ति को लगाता, तो निःसन्देह उसका नाम इतिहास में सुवर्णीय अक्षरों में लिखा जाता। पर अत्यधिक महत्त्वाकांक्षाओं ने उसे हिटलर के हाथों की कठपुतली बना दिया। इसी कारण उसका इतनी दुर्दशा के साथ अन्त हुआ। बोदोग्लियो की सरकार ने उसे जिस स्थान पर नजरबन्द कर रखा था, हिटलर ने वहाँ से उसे छुड़ा लिया। हिटलर ने मुसोलिनी से सच्चे अर्थों में मित्रता का निर्वाह किया। ८ सितम्बर, १९४३ को कुछ जर्मन सैनिक हवाई छतरियों से वहाँ उतर गये और मुसोलिनी को बचा कर जर्मनी ले गये। इसके बाद मुसोलिनी जर्मनी के कब्जे में रहा। हिटलर की सहायता से उसने एक बार फिर इटली को अपने प्रभाव में लाने की कोशिश की, पर इसमें उसे सफलता नहीं मिली।

१७. स्वातन्त्र्य आन्दोलन

जर्मनी ने यूरोप के जिन राज्यों को जीत कर अपने अधीन किया था, प्रायः उन सबमें स्वातन्त्र्य के लिए आन्दोलन जारी थे। जब रशिया, ब्रिटेन और अमेरिका की सेनाएँ फिर जोर पकड़ने लगीं, तो ये आन्दोलन

भी प्रबल हो गये । फ्रांस, बेल्जियम, हौलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, डेनमार्क, नार्वे, पोलैण्ड, इटली, युगोस्लाविया व ग्रीस-सर्वत्र साहसी देशभक्त लोग गुप्त रूप से अपने दल बना कर नाजी शासकों को परेशान करने में तत्पर थे । वे न केवल नाजियों के युद्धसम्बन्धी प्रयत्नों में बाधा उपस्थित करते थे, अपितु अन्य अनेक उपयोगी कार्य करने में भी सचेष्ठ रहते थे । नाजियों के अत्याचारों से पीड़ित लोगों को सहायता पहुँचाना, नाजियों द्वारा गिरफ्तार किये व्यक्तियों को कैद से छुड़ा कर अन्य देशों में पहुँचाना और जर्मनी के युद्ध सम्बन्धी प्रयत्न के समाचार मित्रराज्यों के पास भेजना इन देश भक्तों के प्रमुख कार्य थे । साथ ही, ये यह प्रयत्न भी कर रहे थे, कि जब उनका देश नाजियों के चंगुल से मुक्त हो, तो वहाँ लोकतन्त्र शासन स्थापित हों, किसी पार्टी या श्रेणि विशेष का शासन न हो जाय । अपने देश के स्वतन्त्र होने पर उसके शासन का स्वरूप क्या हो, इस सम्बन्ध में इनमें मत भेद भी शुरू हो गये थे । कुछ लोग साम्यवाद के पक्षपाती थे, तो दूसरे ब्रिटेन व अमेरिका के समान लोकतन्त्रवाद के अनुयायी थे । विश्वसंग्राम की समाप्ति पर जब यूरोप का पुनःनिर्माण हुआ, तो इन विविध देशभक्त दलों के पारस्परिक मत भेद उग्र रूप में प्रकट होने लगे । कहीं कहीं तो इन मतभेदों ने गृह कलह का रूप धारण कर लिया था । एक दल ब्रिटेन की सहानुभूति पर निर्भर रहता था, तो दूसरा रशिया की ।

१८. पूर्वी एशिया की लड़ाइयाँ

बर्मा को जीतने के लगभग दो साल बाद मार्च १९४४ में जापान ने भारत पर आक्रमण करना शुरू किया । यह आक्रमण आजाद हिन्द सरकार के सहयोग से किया जा रहा था । भारत के प्रसिद्ध देशभक्त नेता श्री. सुभाषचन्द्र बोस ब्रिटिश सरकार की नजरबन्दी से छूट कर जर्मनी पहुँच गये थे । उनका खयाल था, कि भारत को ब्रिटेन के चंगुल से

छुड़ाने का यह सुवर्णीय अवसर है। यदि लड़ाई में ब्रिटेन की पराजय हो जाय, तो भारत के स्वतन्त्र होने में कोई बाधा नहीं रह जायगी। इसलिए उन्होंने यूरोप में विद्यमान भारतीयों का एक संगठन बनाया, और युद्ध के कार्य में जर्मनी को सहायता देनी प्रारम्भ की। जब जापान ने सुदूर पूर्व में श्वेतांग जातियों के प्रभुत्व का अन्त कर दिया, तो श्रीयुत बोस जापान चले आये। सिंगापुर, मलाया आदि में लाखों भारतीय बसते थे। ब्रिटेन की जो फौजें इन क्षेत्रों में जापानियों के हाथ पड़ गई थीं, उनमें भी भारतीय सैनिक हजारों की संख्या में थे। श्रीयुत बोस ने इन्हें देशभक्ति और राष्ट्रीयता का सन्देश दिया। ब्रिटेन की सेना में ये केवल वेतन व सांसारिक समृद्धि व गौरव की खातिर शामिल हुए थे। देश प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना का इनमें सर्वथा अभाव था। श्री बोस के तेजस्वी भाषणों से इनकी आँखें खुल गई। ये बड़ी संख्या में आजाद हिन्द फौज में शामिल हुए। बाकायदा आजाद हिन्द सरकार का संगठन किया गया। श्री बोस उसके 'नेताजी' बने, और इस नई सरकार ने भारत को ब्रिटेन के चंगुल से छुड़ाने का काम अपने हाथ में लिया। आसाम की पूर्वी सीमा पर मणिपुर की रियासत पर बाकायदा हमला किया गया। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा, कि ब्रिटिश सेना इस क्षेत्र में नहीं टिक सकेगी। पर अन्त में उनकी विजय हुई। आजाद हिन्द सेना और उसके जापानी सहायकों को पीछे हटना पड़ा, और भारत में ब्रिटेन की सत्ता सुरक्षित हो गई। १६४२ से ४४ तक दो साल जापान ने भारत पर हमला करने का जो कोई प्रयत्न नहीं किया, यह उनकी भारी भूल थी। इस अरसे में ब्रिटेन ने भारत के धन व जन की अपार शक्ति को भली भाँति संगठित कर लिया था। भारत और आस्ट्रेलिया में अमेरिका और ब्रिटेन के संयुक्त मोरचे कायम कर लिये गये थे। इन को आधार बना कर मित्रराज्यों ने जापान के खिलाफ आक्रमण शुरू करने की योजना तैयार कर ली थी।

अगस्त, १६४४ तक जापान के भारत पर आक्रमण कर सकने का भय सर्वथा दूर हो गया था। इसके विपरीत ब्रिटिश सेना ने बर्मा की तरफ आगे बढ़ना शुरू कर दिया था। इम्फाल आसाम की पूर्वी सीमा का प्रमुख नगर है। यदि आजाद हिन्द सेना और जापानी इसे जीत सकते, तो आसाम पर कब्जा करने का मार्ग उनके लिए खुल जाता। अब ब्रिटिश और अमेरिकन सेनाओं ने आगे बढ़ना शुरू कर दिया। जनवरी, १६४५ तक उत्तरी बर्मा मित्रराज्यों के अधिकार में चला गया। ३ मई को रंगून भी जापानियों के हाथ से निकल गया। यद्यपि जापानी सैनिकों की कुछ टोलियाँ विविध स्थानों पर लड़ती रहीं, पर अब बर्मा जापान की अधीनता से मुक्त हो गया था। बर्मा की विजय से मित्रराज्यों के लिए न केवल मलाया की तरफ आगे बढ़ना सम्भव हो गया, अपितु चीन की राष्ट्रीय सरकार को स्थल मार्ग द्वारा सहायता पहुँचाना भी सम्भव हो गया।

जनवरी १६४५ में अमेरिकन सेनाओं ने फिलिप्पाइन्स पर हमले शुरू किये। एक लाख से अधिक अमेरिकन सैनिक जहाजों द्वारा लूजोन के टापू पर उतार दिये गये। शीघ्र ही मनीला पर कब्जा कर लिया गया, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण फिलिप्पाइन्स द्वीपसमूह जापान की अधीनता से मुक्त हो गया। अब अमेरिकन लोगों ने जापान के अधिक समीप विविध टापुओं पर हमले शुरू कर दिये। चीन में भी चियांग केई शेक की सरकार को बल मिला। प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों से जापानियों को बाहर निकालने के लिए ब्रिटिश और अमेरिकन जल व वायु सेना अपूर्व कार्य-शक्ति प्रदर्शित करने लगी। जिस वायुवेग से जापान का उत्कर्ष हुआ था, उसका पतन भी उसी गति से हुआ। १६४५ के मध्य तक यह दशा आ गई थी, कि जापान को अपनी स्थिति बिलकुल डाँवाडोल प्रतीत होने लगी थी।

अट्ठावनवाँ अध्याय

विश्वसंग्राम का अन्त

१० फ्रांस की स्वाधीनता

मित्र राज्यों ने उत्तरी अफ़्रीका पर कब्जा कर सिसली और इटली पर भी अपना अधिकार कर लिया था। मुसोलिनी और उसके फैसिस्ट शासन की भी इतिश्री कर दी गई थी। पर इससे रशिया पर जर्मन आक्रमणों में ढील नहीं पड़ी थी। रशिया के मोरचे पर अभी लाखों जर्मन सैनिक विद्यमान थे। जर्मन सेनाओं को आगे बढ़ने से रोकने के लिए रशिया के धन और जन का बुरी तरह से विनाश हो रहा था। इस दशा में, ब्रिटेन और अमेरिका रशिया को केवल एक ही प्रकार से मदद पहुँचा रहे थे। वे बहुत बड़ी संख्या में जर्मनी पर हवाई हमले कर रहे थे, और इन हमलों का जोर निरन्तर बढ़ता जाता था। एप्रिल, १६४४ में, केवल एक महीने में ८१,००० टन बम्ब जर्मनी के विविध कारखानो, रेलवे स्टेशनों व अन्य महत्त्वपूर्ण स्थलों पर गिराये गये थे। इसमें सन्देह नहीं, कि इन हमलों से जर्मनी के युद्ध-प्रयत्न में भारी बाधा उपस्थित हुई थी। उसके बहुत से कारखाने अस्तव्यस्त हो गये थे, और युद्ध-सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना बहुत कठिन हो गया था।

पर ब्रिटेन और अमेरिका ने जर्मनी के खिलाफ दूसरा मोरचा शुरू करने का इरादा छोड़ नहीं दिया था। वे इसके लिए तैयारी में लगे हुए थे। ५ जून, १६४४ को यह मोरचा शुरू हुआ। फ्रांस के उत्तर पश्चिमी कोने में, समुद्रतट पर मित्र सेनाएं उतार दी गईं। पहले

चौबीस घण्टों में ढाई लाख सैनिक फ्रांस पहुँच गये। सितम्बर १६४४ तक तीस लाख से ऊपर सैनिक फ्रांस पहुँचा दिये गये। जिस स्थल पर ये सैनिक उतारे जा रहे थे, वहाँ कोई बाकायदा बन्दरगाह नहीं था। इसलिए समुद्र पर तैरते हुए विशाल प्लैटफार्म बनाये गये थे, और इन्हें किनारे के साथ फिट कर दिया गया था। इँगलैण्ड से फ्रांस के तट तक एक पाइप लाइन बनाई गई थी, जिससे पेट्रोल फ्रांस पहुंचाया जा सके। यह लाइन पानी के नीचे नीचे जाती थी। जर्मन लोग इस सबको कोई नुकसान न पहुँचा सकें, इसका इन्तजाम हवाई जहाजों के सुपुर्द किया गया था, जो निरन्तर इस क्षेत्र पर उड़ते रहते थे। फ्रांस के समुद्रतट पर जर्मनी ने जो सेनाएँ स्थापित की थीं, व अन्य किलाबन्दी की थी, उस पर भारी बम्ब-वर्षा की जा रही थी। ५ जून की रात को ब्रिटिश हवाई जहाजों ने इस पर ५,००० टन बम्ब गिराये। ६ जून को अमेरिकन हवाई जहाजों ने इस पर २०,००० टन बम्बों की वर्षा की। साथ ही, समुद्रतट को आनेवाली सब रेलवे लाइनों और सड़कों को जगह जगह पर बम्बों द्वारा तोड़ दिया गया, ताकि जर्मनी नई सेनाएँ व युद्ध सामग्री उस ओर न भेज सके। ६ से ८ जून तक, तीन दिन में २७००० हवाई जहाजों ने फ्रांस के समुद्रतट पर उड़ान की। इस भारी योजना और तैयारी का यह परिणाम हुआ, कि मित्र सेनाएँ सुरक्षित रूप में फ्रांस पहुँच गईं, और उन्होंने आगे बढ़ना शुरू कर दिया। जनरल द गॉल की आजाद फ्रैंच सेना भी इस समय तत्परता से अपना काम कर रही थी। फ्रांस में ऐसे देशभक्तों की कमी नहीं थी, जो जर्मनी की अधीनता से अपने देश को मुक्त कराने के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार थे। वे सब इस समय क्रियाशील हो गये। इन सब शक्तियों के सम्मुख नाजी सेनाओं के लिए टिक सकना सम्भव नहीं रहा। १५ अगस्त, १६४४ को फ्रांस के पूर्वी समुद्रतट पर भी ब्रिटिश, अमेरिकन और आजाद फ्रेंच सेनाएँ उतरनी शुरू हो गईं। २३ अगस्त को मार्सेय्य के प्रसिद्ध बन्दरगाह

मित्रपक्ष की सेना का बुरी तरह से संहार किया जा सकता था। जर्मनी ने एक ऐसे बम्ब का आविष्कार किया, जो ४०० मील प्रति घण्टा की गति से चलता था, और जिसे स्वयं उत्पन्न यान्त्रिक शक्ति द्वारा निश्चित लक्ष्य पर १५० मील की दूरी पर फेंका जा सकता था। इसके लिए किसी चालक की आवश्यकता नहीं होती थी। जर्मनी के किसी सुरक्षित स्थान पर बैठकर ये बम्ब लन्दन या उससे भी परे निश्चित लक्ष्य पर गिराये जा सकते थे। १६४४ में इन नये अस्त्रों का प्रयोग शुरू किया गया। तीन महीने के अरसे में ८००० से ऊपर ऐसे बम्ब ब्रिटेन पर गिराये गये। इनसे लन्दन व उसके समीपवर्ती प्रदेशों को बहुत क्षति पहुँची। ये बहुत ही तेज गति से आते थे और जिस प्रदेश पर गिरते थे, वहाँ भूकम्प सा आ जाता था। आस-पास का सब स्थान बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो जाता था, और बड़ी से बड़ी इमारत क्षण भर में भूमिसात् हो जाती थीं। कुछ ही दिनों बाद जर्मनी ने एक और भी अधिक घातक अस्त्र का आविष्कार किया। इसे रोकट बम्ब कहते थे और इसकी गति शब्द की अपेक्षा भी तेज थी। इसे आकाश में ६० मील की उँचाई तक फेंका जा सकता था। जब यह शब्द की अपेक्षा भी तेज चाल से आता हुआ किसी स्थान पर गिरता था, तो वहाँ तहलका मच जाता था। इसके आगमन की सूचना देने का कोई भी साधन नहीं था। यह अचानक ही किसी भी स्थान पर आ पड़ता था, और अपार नुकसान उत्पन्न करता था। जर्मन वैज्ञानिकों का ख्याल था, कि रोकट बम्बों द्वारा न्यूयार्क तक को ध्वंस किया जा सकता है। उस पर हमला करने के लिए न जहाजों की जरूरत है, और न हवाई जहाजों की। जर्मनी में बैठे हुए ही ये रोकट बम्ब इस जोर से फेंके जा सकते हैं, कि ठीक न्यूयार्क पर जाकर गिरें, और उसे तहस-नहस कर दें। ब्रिटेन में इस नये हथियारों के कारण तहलका मच गया। लोग बिलकुल बेचैन हो उठे। हिटलर का ख्याल था, कि जर्मनी के वैज्ञानिक इन अस्त्रों को १६४३ के समाप्त होने से पहले ही

पर मित्र सेनाओं का कब्जा हो गया। २५ अगस्त को जनरल द गॉल ने अपने साथियों के साथ पेरिस में प्रवेश किया। जनता ने बड़े उत्साह के साथ उसका स्वागत किया। लोग खुशी के मारे पागल हो गये। इस बात की परवाह किये बिना कि जर्मन सेनाएँ अभी पेरिस में विद्यमान हैं, वे उमंग में भरकर बाजारों और गलियों में निकल आये और जरनल द गॉल का धूमधाम के साथ जलूस निकालने के लिए तैयार हो गये। जर्मन सेना और पुलिस ने इन पर गोली चलाई। पर इन्हें इसकी जरा भी परवाह न थी। अब फ्रांस आजाद हो गया था, और उसकी जनता का दबा हुआ देश-प्रेम और उत्साह उमड़ पड़ा था। जर्मन गोलियाँ इसे नहीं दबा सकीं। विशी सरकार अस्तव्यस्त हो गई। मार्शल पेताँ को जर्मन लोग अपने साथ जर्मनी ले गये और श्री लवाल की रक्षा के लिए जर्मन सशस्त्र पुलिस तैनात कर दी गई। फ्रांस अब आजाद था, और उसका शासन करने के लिए जनरल द गॉल ने एक सामयिक सरकार का संगठन कर लिया था।

फ्रांस को जर्मनी की अधीनता से मुक्त कर मित्र सेनाओं ने बेल्जियम की तरफ प्रस्थान किया। ३ सितम्बर, १९४४ को ब्रुसल्स जीत लिया गया। अगले दिन एण्टवर्प पर कब्जा किया गया, और कुछ ही दिनों में सम्पूर्ण बेल्जियम मित्र सेनाओं के अधिकार में आ गया। फ्रांस के इस युद्ध में ९ लाख जर्मन सैनिक काम आये। मित्र सेना के भी ढाई लाख के लगभग सैनिक इस लड़ाई में मारे गये या बुरी तरह से घायल हुए। युद्ध की परिस्थिति इस समय पूरी तरह से बदल गई थी। मित्र राज्यों में आशा और उत्साह का संचार हो गया था। ऐसा प्रतीत होता था, कि १९४४ के अन्त तक युद्ध की समाप्ति हो जायगी।

२. जर्मनी का अन्तिम प्रयत्न

पर अभी युद्ध इतनी शीघ्र समाप्त नहीं होना था। जर्मनी के वैज्ञानिक लोग इस प्रकार के हथियारों के आविष्कार में लगे हुए थे, जिनसे

मित्रपक्ष की सेना का बुरी तरह से संहार किया जा सकता था। जर्मनी ने एक ऐसे बम्ब का आविष्कार किया, जो ४०० मील प्रति घण्टा की गति से चलता था, और जिसे स्वयं उत्पन्न यान्त्रिक शक्ति द्वारा निश्चित लक्ष्य पर १५० मील की दूरी पर फेंका जा सकता था। इसके लिए किसी चालक की आवश्यकता नहीं होती थी। जर्मनी के किसी सुरक्षित स्थान पर बैठकर ये बम्ब लन्दन या उससे भी परे निश्चित लक्ष्य पर गिराये जा सकते थे। १९४४ में इन नये अस्त्रों का प्रयोग शुरू किया गया। तीन महीने के अरसे में ८००० से ऊपर ऐसे बम्ब ब्रिटेन पर गिराये गये। इनसे लन्दन व उसके समीपवर्ती प्रदेशों को बहुत क्षति पहुँची। ये बहुत ही तेज गति से आते थे और जिस प्रदेश पर गिरते थे, वहाँ भूकम्प सा आ जाता था। आस-पास का सब स्थान बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो जाता था, और बड़ी से बड़ी इमारत क्षण भर में भूमिसात् हो जाती थीं। कुछ ही दिनों बाद जर्मनी ने एक और भी अधिक घातक अस्त्र का आविष्कार किया। इसे रोकट बम्ब कहते थे और इसकी गति शब्द की अपेक्षा भी तेज थी। इसे आकाश में ६० मील की उँचाई तक फेंका जा सकता था। जब यह शब्द की अपेक्षा भी तेज चाल से आता हुआ किसी स्थान पर गिरता था, तो वहाँ तहलका मच जाता था। इसके आगमन की सूचना देने का कोई भी साधन नहीं था। यह अचानक ही किसी भी स्थान पर आ पड़ता था, और अपार नुकसान उत्पन्न करता था। जर्मन वैज्ञानिकों का ख्याल था, कि रोकट बम्बों द्वारा न्यूयार्क तक को ध्वंस किया जा सकता है। उस पर हमला करने के लिए न जहाजों की जरूरत है, और न हवाई जहाजों की। जर्मनी में बैठे हुए ही ये रोकट बम्ब इस जोर से फेंके जा सकते हैं, कि ठीक न्यूयार्क पर जाकर गिरें, और उसे तहस-नहस कर दें। ब्रिटेन में इस नये हथियारों के कारण तहलका मच गया। लोग बिलकुल बेचैन हो उठे। हिटलर का ख्याल था, कि जर्मनी के वैज्ञानिक इन अस्त्रों को १९४३ के समाप्त होने से पहले ही

तैयार कर लेंगे। पर उन्हें देरी हो गई। जब तक इनके आक्रमण शुरू हुए, मित्र पक्ष की सेनाएँ यूरोप में उतर गई थीं, और फ्रांस व बेल्जियम को उन्होंने जर्मनी के पंजे से मुक्त करा दिया था।

जर्मनी के लोगों पर अपनी इन पराजयों का बहुत बुरा असर पड़ रहा था। जर्मन सेनापतियों को यह नजर आने लगा था, कि युद्ध में उनकी पराजय निश्चित है। वे समझते थे, कि अब लड़ाई को जारी रखना व्यर्थ है। नाजी पार्टी का असर भी अब कम होने लगा था। परिणाम यह हुआ, कि हिटलर के विरुद्ध एक षड्यन्त्र की रचना की गई। २० जुलाई, १६४४ को हिटलर के समीप एक बम्ब फूट गया, जिससे हिटलर को तो साधारण सी चोट ही आई, पर उसका एक साथी जान से मारा गया। परिणाम यह हुआ, कि अनेक षड्यन्त्रकारी गिरफ्तार किये गये, इनमें जर्मन सेना के कई प्रमुख सेनापति भी शामिल थे। हिटलर के विरोधियों को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। यदि इस समय ब्रिटिश लोग बुद्धिमत्ता से काम लेते, तो सम्भवतः नाजी पार्टी के खिलाफ सर्वसाधारण जनता विद्रोह कर देती। वह नाजी शासन से असंतुष्ट थी। पर नाजी लोग कहते थे, यदि ब्रिटेन का जर्मनी पर कब्जा हो गया, तो जनता पर घोर अत्याचार किये जावेंगे। ब्रिटिश प्रचारक इन दिनों खुले तौर पर यह कह रहे थे, कि नाजी लोगों ने परास्त देशों के साथ जो बर्बरतापूर्ण बरताव किया है, उसका पूरी तरह से बदला लिया जायगा। यह प्रचार करना उनकी भारी गलती थी। इस प्रचार का ही यह परिणाम हुआ, कि जर्मन जनता नाजी शासकों के खिलाफ विद्रोह के लिए नहीं उठ खड़ी हुई।

जर्मनी के वैज्ञानिक एटम बम्ब और रासायनिक अस्त्रों के आविष्कार में भी प्रयत्नशील थे। हिटलर को आशा थी, कि शीघ्र ही ये भयंकर अस्त्र बनकर तैयार हो जायेंगे, और शत्रुओं का सुगमता से संहार किया जा सकेगा। पर इन आविष्कारों में भी देर हो गई। जब तक ये तैयार

हुए, मित्रपक्ष की सेनाएँ जर्मनी पर भी कब्जा करने लग गई थीं। एटम बम्ब जर्मनी ने ही ईजाद किया था, पर वह इसे अभी पूरी तरह तैयार नहीं कर सका था। भाग्य ने हिटलर का साथ नहीं दिया, और वह इन नये अस्त्रों का प्रयोग नहीं कर सका।

३. जर्मनी की पराजय

फ्रांस और बेल्जियम को जर्मनी के कब्जे से मुक्त कर मित्रपक्ष की सेनाएँ हालैण्ड में प्रवेश कर गईं। अक्टूबर, १९४४ में दक्षिणी हालैण्ड जीत लिया गया। नवम्बर में मित्र राज्यों की सेना जर्मन सीमा को पार कर जर्मनी में भी प्रवेश कर गई। इस समय मित्रपक्ष की सेनाओं की एक बाढ़ सी जर्मनी में आगे बढ़ रही थी। यह बाढ़ ४०० मील के लगभग लम्बी थी। इसके उत्तर में ब्रिटिश, मध्य में अमेरिकन और दक्षिण में फ्रेंच सेनाएँ थीं। इन युद्धों में फ्रेंच सेनाओं ने बड़ी वीरता और हिम्मत प्रदर्शित की। जर्मनी ने डट कर मुकाबला किया, पर २४ नवम्बर, १९-४४ तक ये सेनायें र्‌हाइन नदी को पार करने लग गई थीं, और जर्मन सैन्यशक्ति उनके सम्मुख असहाय थी। पर यह नहीं समझना चाहिए, कि जर्मनी को पराजित करना आसान काम था। उसके सेनापतियों ने इस समय अपूर्व रण चातुरी प्रदर्शित की। उन्होंने कदम-कदम पर अपने शत्रुओं का मुकाबला किया। कई बार तो उन्होंने मित्रपक्ष की सेनाओं को करारी चोटें भी दीं, पर इस समय नाजी शक्ति का जोर ढीला पड गया था, और घटनाचक्र की भावी गति का रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो गया था।

इस बीच में, पूर्वी रणक्षेत्र में भी जर्मनों को भारी मुसीबत का सामना करना पड़ रहा था। रशियन सेनाएँ बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ रही थीं। दूसरा मोरचा कायम हो जाने से अब जर्मनी के लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि रशिया को पीछे धकेल सके। अपने सब प्रदेशों को

रशिया पहले ही स्वतन्त्र करा चुका था। अब उसने और आगे बढ़ना शुरू किया। इस समय रशिया तीन तरफ से आगे बढ़ रहा था। उसकी एक सेना बाल्टिक तट के विविध राज्यों को जर्मनी के शिकंजे से मुक्त करा रही थी। दूसरी सेना ने जनवरी, १६४५ में वारसा पर कब्जा कर लिया था, और इसके प्रयत्नों से सम्पूर्ण पोलैण्ड जर्मनी की अधीनता से मुक्त हो गया था। यही सेना वारसा को जीतकर बर्लिन की तरफ आगे बढ़ी, और इसकी एक शाखा चेको-स्लोवाकिया को स्वतन्त्र कराने के लिए दक्षिण की ओर चल पड़ी। रशिया की तीसरी सेना स्टालिनग्राड की तरफ से आगे बढ़ी, और नीस्टर नदी को पार करती हुई फरवरी, १६४५ में रूमानिया पहुँच गई। रूमानिया को विजय कर यह आस्ट्रिया की तरफ आगे बढ़ी, और एप्रिल १६४५ में इसने वीएना पर कब्जा कर लिया। जर्मन सेनाओं ने सब जगह रशिया का डटकर मुकाबला किया, पर वे रशियन सेना की आगे बढ़ती हुई बाढ को रोक सकने में समर्थ नहीं हुईं।

मित्रराज्यों ने आपस में मिलकर पहले ही यह फैसला कर लिया था, कि जर्मनी की राजधानी बर्लिन को विजय करने का श्रेय रशिया को प्राप्त होगा। इसी के अनुसार दो शक्तिशाली रशियन सेनाओं ने बर्लिन पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान किया। उत्तर की ओर से मार्शल झुकोव ने और दक्षिण की ओर से मार्शल कोनीव ने बर्लिन पर हमला किया। कुछ ही दिनों में वे जर्मनी की राजधानी के समीपवर्ती प्रदेशों में पहुँच गये। हिटलर ने निश्चय किया, कि बर्लिन की रक्षा के लिए कोई भी कसर बाकी नहीं छोड़ी जायगी, और सम्पूर्ण नाजी शक्ति को एकत्र कर उसका बचाव किया जायगा। आत्मसमर्पण की बात भी नाजी लोग सोचने के लिए तैयार नहीं थे। परिणाम यह हुआ, कि बर्लिन में जो भयंकर लड़ाई हुई, उसका वर्णन कर सकना लेखनी की शक्ति से

बची थी, वह सब बर्लिन में एकत्र कर दी गई, और क़दम क़दम पर रशियन सेना का मुकाबला किया गया। पर अन्त में रशिया की विजय हुई। मई, १९४५ में बर्लिन के राजभवन पर रशियन झण्डा फहराने लगा।

पश्चिम और दक्षिण की तरफ से मित्र पक्ष की जो सेनायें जर्मनी पर आक्रमण कर रही थीं, उन्हें भी अपने उद्देश्य में पूरी सफलता हुई। इनमें से एक सेना बेल्जियम से आगे बढ़कर मार्च १९४५ में र्‌हाइन नदी पार कर गई और हाम्बुर्ग पर कब्जा लिया गया। दूसरी सेना ने पेरिस से आगे बढ़ कर बर्लिन और प्राग (चेको-स्लोवाकिया) की तरफ प्रस्थान किया। तीसरी सेना दक्षिण पूर्व की तरफ से आगे बढ़ती हुई म्यूनिच पहुँच गई, और डेन्यूब नदी के तट पर रशियन सेना से जा मिली। अब सम्पूर्ण जर्मनी पर रशियन, ब्रिटिश, अमेरिकन व फ्रैंच सेनाओं का कब्जा हो गया था। उत्तरी इटली में जो जर्मन सेनायें अड़ी हुई थीं, उन पर भी काबू कर लिया गया था। इटली और जर्मनी—दोनों अब पूर्णतया परास्त हो गये थे।

हिटलर और उसके साथियों को इस समय बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मार्शल पेतां स्विटजरलैण्ड होता हुआ फ्रांस चला आया। पेतां की आयु इस समय ९० साल की थी। फ्रैंच जनता के हृदय में उसके लिए श्रद्धा थी। १९१४-१८ के महायुद्ध में उसने अपूर्व रण-चातुरी प्रदर्शित की थी। जर्मन सेना जो पेरिस पर कब्जा नहीं कर सकी थी, यह उसी के सैन्य संचालन का परिणाम था। विश्वसंग्राम में पेरिस और फ्रैंच जनता को जर्मनी द्वारा विध्वंस न होने देने के लिए ही उसने हिटलर से समझौता किया था। विशी में स्थापित फ्रैंच सरकार का वह नेता था। जनरल ड गॉल के नेतृत्व में जो आजाद फ्रैंच सरकार कायम हुई थी, वह विशी सरकार को अपना शत्रु समझती थी। इस समय फ्रांस ड गॉल के हाथ में था। अतः अनेक लोग समझते थे, कि पेतां के साथ

शत्रु का सा बरताव करना चाहिए, और उस पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया जाना चाहिए। पेतों को गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिया गया। उस पर मुकदमा भी चलाया गया, पर फ्रेंच जनता के हृदय में इस वृद्ध सेनापति के प्रति जो आदर की भावना थी, उसके कारण उसे प्राणदण्ड नहीं दिया गया। बाद में वृद्धावस्था से कारण उसे जेल से भी मुक्त कर दिया गया। मुसोलिनी इटली के ही देशभक्तों द्वारा गिरफ्तार किया गया। उसने बचकर भाग जाने की कोशिश की, इस पर उसे गोली मार दी गई। उसकी पत्नी भी उसके साथ थी, वह भी देशभक्तों की गोली का शिकार बनी। दोनों की लाश को मिलान में लाकर चौक में लटका दिया गया। मिलान इटली का प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र है। वहाँ की मजदूर जनता मुसोलिनी से घृणा करती थी। लोगों ने अपनी नफरत को प्रगट करने के लिए उसकी लाश के ऊपर थूका। कुछ लोगों ने मुसोलिनी के मृत शरीर पर गोलियाँ भी चलाईं। इटली के इस साम्राज्यनिर्माता महान् नेता का इस प्रकार दुर्दशा के साथ अन्त हुआ। हिटलर के प्रमुख साथी सेनापतियों ने अब यह भली भाँति अनुभव कर लिया था, कि लड़ाई को जारी रखना व्यर्थ है। उनमें से कुछ ने स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया, कुछ को गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ ने आत्महत्या करके अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी। गोबल्स और उसकी पत्नी की लाश बर्लिन के एक तहखाने में पाई गई। स्वयं हिटलर ने आत्महत्या द्वारा अपने शरीर का अन्त किया। उसकी प्रेयसी ईवा ब्रौन ने उसके साथ ही अपने जीवन का अन्त कर दिया। कहते हैं, कि हिटलर ने मृत्यु से कुछ समय पहले ईवा ब्रौन के साथ बाकायदा विवाह भी कर लिया था। नाजी पार्टी के जो नेता व सेनापति मित्रपक्ष की सेनाओं के हाथ गिरफ्तार हुए, उनमें गोअरिंग, हिमलर और रिबनट्राप के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन पर बाद में मुकदमा चलाया गया।

१ मई, १९४५ को बर्लिन की रेडियो ने घोषणा की, कि हिटलर की मृत्यु हो गई है, और जर्मन सरकार का नेतृत्व एडमिरल डोयनिट्स ने सँभाल लिया है। नई सरकार ने निश्चय किया, कि अब लड़ाई को जारी रखना बिलकुल बेकार है, और विना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर देने में ही जर्मनी का हित है। सोमवार ७ मई, १९४५ को जर्मन सरकार की तरफ से जनरल जोडल मित्रपक्ष की सेनाओं के प्रधान सेनापति जनरल आइसनहोवर की सेवा में उपस्थित हुआ। आइसनहोवर उस समय पेरिस के उत्तर में रैंस नगर में विद्यमान था। सुबह दो बज कर इकतालिस मिनट पर जनरल जोडल ने जर्मनी के आत्मसमर्पण पत्र पर बाकायदा हस्ताक्षर कर दिये। जर्मनी की जल, स्थल और वायुसेना ने बिना किसी शर्त के जनरल आइसनहोवर के सम्मुख हथियार डाल दिये। अब यूरोप में विश्वसंग्राम की समाप्ति हो गई। ८ मई, १९४५ को सर्वत्र विजय दिवस बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया।

४. जापान की पराजय

यूरोप में जर्मनी को परास्त कर मित्रराज्यों की सम्पूर्ण शक्ति सुदूर पूर्व में जापान को पराजित करने में लग गई। बर्मा, मलाया, सुमात्रा, ज़ावा आदि में मित्रपक्ष की सेनाओं ने किस प्रकार जापान को पीछे हटा दिया था, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। फिलिप्पाइन्स द्वीप-समूह पर फिर से अमेरिकन सेनाओं का क़ब्ज़ा हो गया था, और सिंगापुर ब्रिटिश लोगों के हाथ में आ चुका था। सब तरफ जापानी सेनाएँ पीछे हटनी शुरू हो गई थीं। अब खास जापान को परास्त करने का सवाल था। जुलाई, १९४५ में जापान पर घोर बम्बवर्षा शुरू की गई। हवाई जहाजों द्वारा न केवल जापान के कल-कारखानों, रेलवे लाइनों और युद्ध-सामग्री के भण्डारों पर बम्ब बरसाये जाने लगे, अपितु जापानी जहाजों का भी डुबाया जाना शुरू किया गया। जुलाई के दो सप्ताहों में जापान

के ४१६ जहाज समुद्र-तल में पहुँचा दिये गये, और ५५६ हवाई जहाज नष्ट कर दिये गये। २७ और २८ जुलाई को जापानी जल-सेना पर जबर्दस्त हमला किया गया, और ५०० के लगभग जहाज डुबा दिये गये। चीन और जापान के बीच में बड़ी संख्या में बारूदी सुरंगें समुद्र में बिछा दी गईं, और जापानी बन्दरगाहों पर हवाई हमलों का जोर बहुत बढ़ गया। चीन में श्री० चियांग केई शेक की सेनाओं ने आगे बढ़ना शुरू किया, और जिन स्थानों पर जापान ने कब्जा कर लिया था, वहाँ से उन्हें पीछे हटाया जाने लगा। २६ जुलाई, १९४५ को श्री० ट्रूमैन, (राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु हो चुकी थी, और उनके स्थान पर श्री० ट्रूमैन अमेरिका के राष्ट्रपति बन गये थे) श्री० चर्चिल और श्री० चियांग केई शेक की ओर से एक घोषणा जापानी जनता के नाम प्रकाशित की गई, जिसमें यह कहा गया था कि जापान को साम्राज्य विस्तार का इरादा छोड़ देना चाहिये। जापान के अपने प्रदेशों पर मित्र सेनाएँ कब्जा नहीं करना चाहतीं। जापान की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखी जायगी, और वहाँ सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जायगी। पर जापान के नेताओं ने इस घोषणा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उनका ख्याल था, कि अब भी वे मित्र-पक्ष को परास्त करने में समर्थ हो सकते हैं।

८ अगस्त, १९४५ को रशिया ने भी जापान के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। मंचूरिया (मन्चुकाओ का राज्य) पर रशियन सेनाओं ने अधिकार कर लिया, और उत्तरी चीन का यह सम्पूर्ण प्रदेश कम्युनिस्टों के प्रभाव में आ गया। इन सब विषम परिस्थियों में भी जापान लड़ाई को जारी रखने के लिए तैयार था। पर इस समय अमेरिका ने एक नये अस्त्र का प्रयोग किया, जिसके कारण जापान में आतंक छा गया। यह अस्त्र एटम बम्ब था। बहुत समय हुआ, वैज्ञानिक लोग यह पता लगा चुके थे, कि सब पदार्थ परमाणुओं से बने होते हैं। परमाणु उस सूक्ष्म

तत्त्व का नाम है, जिसके टुकड़े नहीं हो सकते। ये अत्यन्त छोटे परमाणु एक ताकत से आपस में जुड़े रहते हैं। यदि इनको एक दूसरे से अलग किया जा सके, तो जो शक्ति प्रादुर्भूत होगी, वह इतनी जबर्दस्त होगी, कि संसार की कोई भी ज्ञात शक्ति उसका मुकाबला नहीं कर सकेगी। अग्नि, वायु, जल, विद्युत्—ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ हैं, पर परमाणु शक्ति इनकी अपेक्षा बहुत अधिक बलवती है। इस शक्ति का प्रयोग मनुष्य कैसे कर सके, इसकी खोज में वैज्ञानिक लोग जी जान से जुटे हुए थे। जर्मन वैज्ञानिक भी इस खोज में तत्पर थे, और हिटलर को आशा थी, कि वे एटम बम्ब का आविष्कार करने में समर्थ हो जावेंगे। अमेरिकन वैज्ञानिक भी इसी कोशिश में लगे थे। जर्मनी को इसमें देर हो गई, और मित्रपक्ष की सेनाओं ने पहले ही उसे परास्त कर दिया। कुछ समय बाद अमेरिकन वैज्ञानिक अपने प्रयत्न में सफल हो गये और उन्होंने एटम बम्ब तैयार कर लिया। अमेरिका ने इसका प्रयोग जापान को परास्त करने के लिये किया। ५ अगस्त, १९४५ को पहला एटम बम्ब हिरोशीमा नामक नगर पर गिराया गया। इससे चार वर्गमील का प्रदेश बिलकुल नष्ट हो गया। हिरोशीमा नगर का नाम व निशान भी शेष न बचा। एटम बम्ब का असर इस चार वर्गमील के प्रदेश के चारों ओर भी दूर दूर तक पड़ा। इसके प्रभाव से लाखों आदमी बीमार पड़ गये, उनके शरीर पर फुन्सियाँ निकल आईं। कई तरह की बीमारियाँ सर्वत्र फैल गईं। पर जापान के सैनिक नेताओं ने अब भी आत्म-समर्पण नहीं किया। मित्रराज्यों की ओर से तीस लाख परचे हवाई जहाजों द्वारा जापान पर गिराये गये, जिनमें एटम बम्ब की भयंकरता का वर्णन करके यह कहा गया था, कि अब लड़ाई को जारी रखना बिलकुल व्यर्थ है, और अब जापान का हित इसी में है, कि वह आत्मसमर्पण कर दे। पर जापान पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। रशिया ने भी इसी बीच में उसके खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी थी। ९ अगस्त,

अत्याचार किये। यह बात भी युद्ध नीति के सर्वथा प्रतिकूल थी। मित्रपक्ष की सेनायें जर्मनी का विजय करती हुई जब आगे बढ़ रही थीं, तब उन्हें कैदियों के इन केन्द्रों को देखने का अवसर मिला। इन केन्द्रों व कैम्पों की हालत बहुत ही खराब थी। जिस कुटी में चालीस आदमियों के रहने की जगह थी, वहाँ दो सौ आदमी रखे गये थे। इन कैदियों को खाने को बहुत कम दिया जाता था। भोजन के अभाव के कारण उनके शरीर अस्थि और चर्म मात्र रह गये थे। लडाई के पिछले दिनों में जर्मनी के पास भोजन सामग्री का बिलकुल अभाव हो गया था। जर्मन सेनाओं के लिए भी पर्याप्त मात्रा में भोजन मिलना कठिन हो गया था। इस दशा में कैदियों को भोजन पहुँचाने की फिकर किसे हो सकती थी? भूख के मारे इन कैम्पों में रहनेवाले कैदी कंकाल-मात्र शेष बच गये थे। साथ ही, अपने विरोधियों को सब प्रकार से कुचल डालने के लिए नाजी लोगों की विद्वेष भावना ने बड़ा उग्र रूप धारण कर रखा था। वे कैदियों को बुरी तरह पीटते थे। पिटते पिटते जब कोई कैदी अधमरा हो जाता था, तो उसे खुद अपनी मौत मरने के लिए छोड़ दिया जाता था। ऐसे भी उदाहरण हैं, कि जब इस तरह के मृतप्राय लोगों को मुर्दों की तरह जमीन में गाड़ दिया गया, या अन्य लाशों के साथ रख कर अग्नि में फूंक दिया गया। निःसन्देह, यह बड़ी बीभत्स बात थी। जर्मन वैज्ञानिकों व चिकित्सकों ने कैदियों के ऊपर सब प्रकार के परीक्षण करने में भी संकोच नहीं किया। यह कैसे आश्चर्य की बात है, कि मनुष्य विद्वेष की भावना से हिंस्र पशुओं से भी अधिक [illegible] हो जाता है।

८. नाजी शक्ति की पराजय के कारण

[illegible] शक्ति की पराजय के [illegible]

शक्तियाँ मानवसमाज की प्रगति के मार्ग में बाधायें थीं। इतिहास में हम देखते हैं, कि मनुष्य जाति निरन्तर उन्नति कर रही है। यह उन्नति न केवल विज्ञान और कला के क्षेत्र में है, अपितु समाज के संगठन, मानव के महत्त्व और सामूहिक जीवन के स्वरूप में भी मनुष्य निरन्तर आगे की तरफ बढ़ रहा है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा यूरोप में लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ था। ये सिद्धान्त मानव समाज को उन्नति के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ा ले गये। पर मनुष्य स्वभाव से अपरिवर्तनवादी है, वह किसी नई बात को सुगमता से स्वीकार नहीं कर लेता। पुराने संस्कार, पुरानी संस्थायें और पुरानी रुढ़ियाँ मनुष्य के मार्ग में भारी रुकावट का काम करती हैं। उन्नीसवीं सदी में यूरोप में नई और पुरानी प्रवृत्तियों में घोर संघर्ष चलता रहा। १६१४-१८ के महायुद्ध के बाद नई प्रवृत्तियाँ पूर्ण रूप से सफल हो गईं। सब जगह एकतन्त्र व श्रेणितन्त्र शासनों का अन्त होकर लोकतन्त्र सरकारों की स्थापना हुई, और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार राज्यों का पुनःसंगठन हुआ। पर महायुद्ध के बाद यूरोप में जो परिवर्तन हुए, वे इतने भारी और इतने क्रान्तिकारी थे, कि उनके खिलाफ गहरी प्रतिक्रिया का होना बिलकुल स्वाभाविक था। यह प्रतिक्रिया नाजीज्म और फैसिज्म के रूप में प्रगट हुई। पर यह ध्यान रखना चाहिए, कि नाजीज्म व फैसिज्म मानवसमाज को उन्नति के मार्ग पर बढ़ाने वाले कदम नहीं थे। वे एक प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति को सूचित करते थे। यह बिलकुल स्वाभाविक व उचित था, कि मनुष्य उन्हें नष्ट करके आगे बढ़े। विश्वसंग्राम द्वारा इन प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों का विनाश हुआ, और यह होना अवश्यम्भावी था।

जर्मनी की पराजय का दूसरा कारण वह जनशक्ति थी, जो परास्त देशों में धीरे-धीरे प्रगट होने लगी थी। फ्रांस, पोलैण्ड, चेको-स्लोवाकिया, ग्रीस, युगोस्लाविया आदि सब देशों में सर्वसाधारण जनता

यह अनुभव करती थी, जर्मनी का शासन उनके राष्ट्रीय गौरव की
दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। उनमें ऐसे देशभक्तों की कमी नहीं थी,
जो अपना सर्वस्व कुर्बान करके भी विजेता के खिलाफ संघर्ष को जारी
रखने के लिये उद्यत हों। जर्मनी के लिए यह तो सम्भव था, कि वह
लड़ाई के मैदान में शत्रु-सेना को परास्त कर सके। पर यह बात सुगम
नहीं थी, कि सर्व साधारण जनता की स्वतन्त्र भावना का पूरी तरह
दमन किया जा सके। इसमें सन्देह नहीं, कि जर्मनी ने अपने अधिकृत
और विजित देशों में नाजी सिद्धान्तों को मानने वाले वहीं के लोगों का
शासन स्थापित किया। जापान ने भी यही कहा, कि उसका उद्दे
एशिया को पाश्चात्य श्वेतांग लोगों की अधीनता से मुक्त कराके
व्यवस्था स्थापित करना है, जिसमें सब लोग परस्पर सहयोग द्वारा
कर उन्नति कर सकें। पर वचन और कर्म में एकता कठिनता से
है। बर्मा, मलाया, सुमात्रा आदि जिन देशों को जापान ने श्वेतां
अधीनता से मुक्त किया, वे जापान की अधीनता में रहने को तैया
हुए। उनमें स्वाधीनता की भावना पहले भी विद्यमान थी। अब
के प्रयत्न से यह भावना और भी बलवती हो गई। इस स्वातन्त्र्य
का ही यह परिणाम था, कि जापान व जर्मनी विजित देशों प
कब्जा देर तक स्थापित नहीं रख सके।

युद्ध के संचालन में जर्मनी और जापान-दोनों ने ही भ
कीं। डनकर्क की दुर्घटना के बाद जर्मनी ब्रिटेन को सुगमता
सर सकता था। बर्मा को जीतने के बाद भारत का मार्ग जाप
खुला पड़ा था। इन अवसरों का उपयोग न करके जर्मनी
ने अपने भविष्य को खतरे में डाल दिया। रशिया के सा
उलझ पड़ना जर्मनी की दूसरी भयंकर भूल थी। जर्मनी औ
१६३६ में यह सन्धि हो चुकी थी, कि वे एक दूसरे पर
... कम्युनिज्म के प्रति घोर वि

वह इस विद्वेष को दबा कर यह अनुभव करता, कि रशिया के साथ लड़ाई न छेड़ने में ही जर्मनी का हित है, तो शायद नाजीज्म का यह दुर्दशा-पूर्ण अन्त न होता। ब्रिटेन और रशिया के साथ इकट्ठा लड़ सकना जर्मनी की ताकत के बाहर था। १९१४-१८ के महायुद्ध के समान इस विश्व-संग्राम में भी जर्मनी और उसके साथियों के खिलाफ संसार के बहुत से देश (इनकी कुल संख्या ४४ थी) मिलकर युद्ध कर रहे थे। विश्व की इस सम्मिलित शक्ति का मुकाबला कर सकना जर्मनी व उसके फैसिस्ट साथियों के लिए सम्भव नहीं था।

६. विश्व-संग्राम के परिणाम और यूरोप की नई राजनीति

विश्व संग्राम के बाद यूरोप के इतिहास में अनेक नई प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद लोकतन्त्र शासन और राष्ट्रीयता की जिन नई प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था, वे १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद प्रायः सफल हो गई थीं। इस विश्व संग्राम के बाद वे प्रवृत्तियाँ पुरानी पड़ गई, और मानव-समाज उनसे बहुत कुछ आगे बढ़ गया। राष्ट्रीयता की भावना अब कुछ क्षीण होने लगी है। उसका स्थान अब वे नई विचार-धारायें लेने लगी हैं, जो समाज को एक नये रूप में संगठित करना चाहती हैं। व्यावसायिक क्रान्ति और वैज्ञानिक उन्नति के कारण जनसाधारण में जो एक नई जागृति, नई चेतना उत्पन्न हो गई है, उसने समाज के आर्थिक संगठन के प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण बना दिया है। समाज का नया आर्थिक संगठन कैसा हो, इस विषय में अनेक नई विचारधारायें उत्पन्न हो गई हैं, जिनमें प्रमुख दो —(१) समाज-वाद या कम्युनिज्म, (२) लोकतन्त्रवाद या डेमोक्रेसी। माजवादी चाहते हैं, कि आर्थिक उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तियों का ामित्व न रहे और वे समाज की सम्पत्ति हो जायँ। कोई व्यक्ति श्रम ये बिना आमदनी न प्राप्त कर सके। किसी को यह मौका न हो, कि

वह स्वयं श्रम किये बिना अपनी पूँजी के जोर पर दूसरों की मेहनत का फल पा सके। समाज में ऊँच-नीच का भेद मिट जाय, विविध श्रेणियों व वर्गों का अन्त हो जाय और सब व्यवसाय राज्य के अधिकार में आ जायँ। लोकतन्त्रवादी भी यह स्वीकार करते हैं, कि समाज में छोटे बड़े व गरीब अमीर का भेद दूर होना चाहिए। पर उनका खयाल यह है, कि सम्पत्ति की उत्पत्ति, विनिमय और वितरण पर राज्य कानूनों द्वारा इस प्रकार का नियन्त्रण कायम कर सकता है, जिससे पूँजीपति और मजदूर, जमींदार व किसान—सबमें समन्वय बना रहे, और सबको सम्पत्ति का यथोचित भाग मिलता रहे। समाज के लिए पूँजी, जमीन व श्रम तीनों की उपयोगिता है। जनसाधारण की उन्नति व कल्याण के लिए यह आवश्यक नहीं, कि विविध वर्गों में परस्पर संघर्ष हो। वे एक दूसरे के साथ सहयोग करके सबकी उन्नति सम्मिलित रूप से कर सकते हैं। इन दो विभिन्न विचारधाराओं ने एक देश व एक राष्ट्र की जनता को विविध पृथक् भागों में बाँट दिया है। फ्रांस के कम्युनिस्ट अपने विचारों के कारण रशिया के कम्युनिस्टों के अधिक समीप हैं, अपेक्षया फ्रांस के ही उन लोगों के, जो कम्युनिस्ट नहीं हैं। विश्वसंग्राम के समय, इँगलैण्ड और फ्रांस जैसे उन्नत देशों में, बहुत से लोगों ने अपनी राष्ट्रीय सरकारों के विरुद्ध शत्रु राज्यों की सहायता करने में संकोच नहीं किया, कारण यह कि उनकी विचारधारा वही थी, जिसके विरुद्ध उनकी राष्ट्रीय सरकारें युद्ध कर रही थीं। राष्ट्रभक्ति, देशप्रेम और अपनी मातृ-भूमि के लिए मर मिटने की भावना का स्थान अब विचारधारा (आइडिओलोजी) के प्रति भक्ति लेने लगी है। यूरोप के हजारों लोग आज कम्युनिज्म या इसी प्रकार की अन्य किसी विचारधारा के लिए अपना सर्वस्व कुर्बान करने के लिए, व सब प्रकार का कष्ट उठाने के लिए उद्यत हैं। अपनी राष्ट्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने, देशद्रोह करने व अपने देश को नुकसान पहुँचाने में भी उन्हें संकोच

नहीं। वे राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा अब समाज को नये रूप में संगठित करने को अधिक महत्त्व देते हैं।

राष्ट्रीय भावना के निर्बल होने का एक अन्य कारण यह है, कि इस समय वैज्ञानिक उन्नति द्वारा मनुष्य ने देश और काल पर अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है। भाषा, धर्म, नसल व संस्कृति आदि के कारण मानव समाज में जो भेद हैं, उनका महत्त्व अब इस विजय के कारण कम होता जा रहा है। किसी समय विविध कबीले, फिरके व गण एक दूसरे से अलग होते थे। बाद में उनके भेद शिथिल पड़ते गये, और विविध कबीले व बिरादरियाँ एक सूत्र में संगठित होकर राष्ट्र के रूप में एक बड़ा संगठन बनाने में सफल हुईं। जो स्थान कभी कबीलों व गणों का था, वही अब छोटे छोटे राष्ट्रों का होने लगा है, और वे सब अधिक बड़े संगठनों में संगठित होने की आवश्यकता अनुभव करने लग गये हैं। यही कारण है, कि विश्व संग्राम के बाद यूरोप में यह प्रवृत्ति हुई, कि कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुयायी पूर्वी यूरोप के राज्य रशिया की संरक्षा में अपना संगठन बना लें। इसी प्रकार लोकतन्त्रवाद के अनुयायी पश्चिमी यूरोप के राज्यों ने आवश्यकता समझी, कि वे कम्युनिस्ट लहर से अपना बचाव करने के लिए परस्पर मिलकर एक हो जावें।

लोकतन्त्र शासन का स्थान अब एकाधिकार (टोटलिटेरियनिज्म) लेने लगा है। विविध विचारधाराओं के कारण राष्ट्रीय सरकारों की स्थिति अब कहीं भी सुरक्षित नहीं रही है। क्योंकि प्रायः प्रत्येक देश में ऐसी पार्टियाँ स्थापित हो गई हैं, जो राष्ट्र की सुरक्षा की अपेक्षा किसी विचारधारा को अधिक महत्त्व देती हैं, अतः राष्ट्रीय सरकारों के लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि वे इन पार्टियों पर अनेक प्रकार की पाबन्दियाँ लगावें और अपने हाथ में इतने अधिक अधिकार ले लें, जिससे इन राष्ट्र-विरोधी शक्तियों का भली भाँति दमन कर सकें। यही

थी, कि सब राज्यों का विजय कर पृथिवी भर पर अपना चक्रवर्ती स्थापित करें। पर अब आक्रमण या विजय के लिए सेना रखना चित समझा जाता है। सेना की सत्ता अब आत्मरक्षा के लिए है। अब साम्राज्यवाद का स्थान विचारधाराओं पर आश्रित प्रभाव क्षेत्रों ने लिया है। रशिया और अमेरिका इस नये प्रकार के साम्राज्यवाद के धान नेता हैं। रशिया कम्युनिस्ट विचारधारा का केन्द्र है, और अमेरिका लोकतन्त्रवाद का। जिन जिन देशों में कम्युनिस्ट दल प्रबल होता जाता है, वे रशिया के प्रभाव क्षेत्र में आते जाते हैं। सारा पूर्वी यूरोप रशिया के प्रभाव मे आगया है। पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों में भी कम्युनिस्ट दल की शक्ति अगण्य नहीं है। चीन, दक्षिण पूर्वी एशिया बर्मा सब जगह कम्युनिस्ट दल अपना प्रभाव बढ़ा रहा है। रशिया के इस बढ़ते हुए "साम्राज्यवाद" से अपनी रक्षा करने के लिए उत्सुक देशों के सम्मुख केवल एक ही उपाय है, कि वे अमेरिका के "सामन्त" बन जांय। पृथक् रहकर उनके लिए आत्मरक्षा कर सकना सम्भव नहीं है। आर्थिक परिस्थिति भी इस नये साम्राज्यवाद में सहायक हैं। विश्वसंग्राम के कारण यूरोप के विविध देशों का जो भयंकर आर्थिक ह्रास हुआ है, उसकी क्षति पूर्ति वे किसी सम्पन्न व समृद्धिशाली देश की सहायता के बिना नहीं कर सकते। अमेरिका इस स्थिति में है, कि वह युद्ध के कारण क्षत देशों को आर्थिक सहायता देकर उन्हें फिर से अपने पैरों पर खड़ा होने लायक बना सके। यूरोप के अनेक देश अमेरिका से आर्थिक सहायता लेना स्वीकार कर उसके प्रभावक्षेत्र में आ गये हैं।

इस समय संसार का नेतृत्व प्रधानतया रशिया और अमेरिका के हाथ में है। ब्रिटेन की राजनीतिक स्थिति पहले की अपेक्षा निर्बल गई है। संसार का नेतृत्व अब उसके हाथ में नहीं है। पर ब्रिटेन पास अपने उपनिवेशों की अपार शक्ति है। कनाडा, आस्ट्रेलिया आ विशाल उपनिवेशों का आर्थिक विकास अभी भली भांति नहीं

है। राष्ट्रीय लोकतन्त्र शासन भी वहाँ सुचारु रूप से सुरक्षित हैं। इन उपनिवेशों का भली भाँति विकास कर ब्रिटेन अपनी शक्ति को अक्षुण्ण रख सकता है। साथ ही, एशिया के अनेक देशों की सद्भावना भी ब्रिटेन को प्राप्त है। अपने साम्राज्य का स्वेच्छापूर्वक अन्त करके ब्रिटेन ने भारत, पाकिस्तान, लंका, अरब आदि विविध देशों की सद्भावना प्राप्त कर ली है। आज भारत ब्रिटेन के लिए एक विकट समस्या न रह कर उसका सहयोगी व मित्र बन गया है। अपनी समझदारी की वजह से आज ब्रिटेन फिर इस स्थिति में है, कि रशिया व अमेरिका के समान अपना एक पृथक् प्रभाव-क्षेत्र बना सके। यह प्रभाव-क्षेत्र रशिया व अमेरिका के बीच में एक प्रकार का समतुलन कायम कर सकता है, और इस प्रकार ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने महत्त्व को अक्षुण्ण रख सकता है।

विश्व-संग्राम के परिणामस्वरूप एशिया से श्वेतांग लोगों का प्रभुत्व नष्ट हो गया है। गत महायुद्ध में यूरोप की विविध जातियाँ आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य से मुक्त हुई थीं। इस बार भारत, बर्मा, मलाया, लंका आदि विविध देश ब्रिटेन के साम्राज्य से मुक्ति पा गये हैं। फ्रांस और हालैण्ड के सुविस्तृत साम्राज्य भी अपने अन्तिम साँस ले रहे हैं, और उनके शिकंजे से विविध एशियाई जातियाँ मुक्त हो रही हैं। एशिया अब संसार की राजनीति में अपना समुचित स्थान पाने लगा है।

विश्व-संग्राम में धन और जन का कितने भयंकर रूप से संहार हुआ, इसका सही सही अन्दाज अब तक नहीं लग सका है। पर यह निश्चित है, कि इस संग्राम में १,५०,००,००० से अधिक सैनिक मौत के घाट उतरे। जो सैनिक बुरी तरह से घायल होकर पूरी तरह अपाहिज हो गये, उनकी संख्या ५५,००,००० से ऊपर है। सैनिकों के अतिरिक्त जो सर्वसाधारण नागरिक बम्बवर्षा, जहाजों के डूबने आदि द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुए व बुरी तरह से घायल हुए, उनकी संख्या भी

एक करोड़ के लगभग पहुँचती है। जिन लोगों को संग्राम के कारण अपने घर-बार छोड़कर स्थानभ्रष्ट होना पड़ा, उनकी संख्या भी करोड़ों में है। विश्व-संग्राम में विविध राज्यों को जो खर्च करना पड़ा, उसकी मात्रा एक लाख करोड़ अन्दाज की गई है। युद्ध के कारण सम्पत्ति का जो विनाश हुआ, उसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि अकेले ब्रिटेन में लड़ाई के कारण जो सम्पत्ति-सम्बन्धी नुकसान हुआ, उसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए १८०० करोड़ रुपया अपेक्षित होगा। ब्रिटेन इस संग्राम में युद्ध का क्षेत्र नहीं बना, फिर भी उसकी इमारतों, कारखानों, रेलवे आदि को इतना भारी नुकसान पहुँचा। रशिया, फ्रांस, पोलैण्ड आदि जिन देशों में वस्तुतः लड़ाई लड़ी गई, उनकी सम्पत्ति का विनाश तो इससे भी बहुत अधिक हुआ। अनुमान किया गया है, कि विश्व-संग्राम के कारण रशिया की कुल राष्ट्रीय सम्पत्ति का चौथाई भाग नष्ट हो गया है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में युद्ध किसी भी देश के लिए कितना भयंकर व विनाशक हो सकता है, यह इस विश्व-संग्राम ने भली भाँति स्पष्ट कर दिया है।

उनसठवाँ अध्याय

शान्ति की स्थापना और यूरोप की नई व्यवस्था

१. समस्यायें

विश्व-संग्राम की समाप्ति पर संसार के राजनीतिज्ञों के सम्मुख अनेक जटिल समस्यायें थीं। इनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—(१) जिन राज्यों पर जर्मनी ने अधिकार कर लिया था, और जिन्हें अब उसकी अधीनता से मुक्त करा दिया गया था, वे युद्ध के कारण बिलकुल अस्त-व्यस्त दशा में थे। उनकी हजारों लाखों इमारतें नष्ट हो गई थीं, कारखाने प्रायः बन्द थे, व्यवसाय और व्यापार के मार्ग में अनेक बाधायें उपस्थित थीं और निरन्तर लड़ाई व बम्ब वर्षा के कारण खेती भी बिलकुल बन्द सी थी। अनाज व अन्य खाद्य सामग्री की बहुत कमी थी। जनता को किस प्रकार भोजन व वस्त्र दिये जावें और किस प्रकार उन्हें भूख व ठण्ड से बचाया जाय, इस प्रश्न को हल करना सुगम बात न थी। फिर, लाखों आदमी अपने घर-बार को छोड़कर स्थानभ्रष्ट से सब जगह विद्यमान थे, जिन्हें फिर से अपने देश व अपने घर में बसाना परम आवश्यक था। (२) जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुए देशों में शासन का क्या प्रबन्ध हो, यह समस्या भी बहुत जटिल थी। प्रायः सभी देशों में ऐसे देशभक्त लोग विद्यमान थे, जिन्होंने जर्मनी के खिलाफ संघर्ष को जारी रखा था। इन्होंने अपनी आजाद सरकारें भी बनाई हुई थीं। पर कठिनता यह थी, कि इन देशभक्तों में एकमत नहीं था। ये विभिन्न विचारों के थे और किसी किसी देश में तो दो व अधिक परस्पर विरोधी दल अपनी अपनी प्रथक् 'आजाद सरकार'

बनाकर जर्मनी के खिलाफ संघर्ष में लगे थे। कुछ दलों की सहानुभूति कम्युनिज्म के साथ में थी, कुछ की लोकतन्त्रवाद के साथ। अब प्रश्न यह था, कि देश का शासन किसके सुपुर्द किया जाय ? (३) विश्व-संग्राम ने जो प्रलयकारी रूप धारण किया था और लड़ाई के बीच में जिस प्रकार के घातक व भयंकर अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार हो गया था, उसके कारण सब लोग यह अनुभव करने लगे थे, कि अब कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे युद्धों का अन्त हो जाय, अन्तर्राष्ट्रीय मात्स्यन्याय की समाप्ति हो और विविध राज्य एक ऐसा संगठन बना लें, जो उनके आपस के झगड़ों का शान्तिमय उपायों से निर्णय कर दिया करे। भविष्य में किसी राज्य के लिए यह सम्भव न रहे, कि वह अन्य देशों पर आक्रमण करके युद्ध की अग्नि को भड़का सके। गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद राष्ट्रसंघ का निर्माण इसी उद्देश्य से हुआ था, पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी थी। अब आवश्यकता इस बात की थी, कि नया अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इस प्रकार से बनाया जाय, जिससे उसे राष्ट्रसंघ के समान असफल न होना पड़े। (४) जर्मनी, इटली और जापान में किस प्रकार से शासन की व्यवस्था की जाय, यह प्रश्न सबसे जटिल था। मित्रराष्ट्रों का विचार था, कि युद्ध की सब जिम्मेदारी फैसिस्ट और नाजी नेताओं के ऊपर है। इन देशों में ऐसी व्यवस्था कायम की जानी चाहिए, जिससे नाजीज्म व फैसिज्म फिर सिर न उठा सकें। उग्र राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति और सैन्यशक्ति का इन देशों से सदा के लिए अन्त हो जाय और ये लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर चलकर शान्ति के साथ संसार में रहें। जर्मनी ने युद्ध की तैयारी के लिए जिन कारखानों का निर्माण किया था और जिनमें बहुत बड़ी मात्रा में अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री तैयार होती थी, उन्हें जड़ से उखाड़ दिया जाय। (५) फैसिस्ट व नाजी नेताओं पर मुकदमे चलाये जायें, ताकि भविष्य में जनता के सम्मुख यह उदाहरण

उपस्थित हो, कि युद्ध के समय किये गये अत्याचारों, नृशंस कृत्यों व अन्य अपराधों को भी उसी दृष्टि से देखा जायगा, जिससे कि साधारण डाकुओं व बदमाशों के कारनामों को देखा जाता है। (६) जापान की विजयों के कारण मलाया, बरमा, जावा, सुमात्रा, इण्डो-चायना आदि से श्वेतांग लोगों का शासन कुछ समय के लिए नष्ट हो गया था। इन देशों के निवासी यह अनुभव करने लगे थे, कि यूरोप के साम्राज्यवादी लोगों को कोई ऐसा दैवी अधिकार प्राप्त नहीं है, जिससे वे एशिया की विविध जातियों पर सदा के लिए शासन करते रहें। जापान ने इन सब देशों में वहीं के निवासियों की सरकारें कायम की थीं। वह इन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र में रखता हुआ भी इनमें स्वतन्त्र शासन स्थापित करना चाहता था। अब जब कि मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने सुदूरपूर्व के इन देशों पर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया, तो विविध देशभक्त नेताओं में बहुत असन्तोष हुआ। जनता यह नहीं चाहती थी, कि वे फिर से श्वेतांग लोगों की अधीनता में चले जावें। इनमें विद्रोह शुरू हुए, और मित्रराष्ट्रों के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई, कि इन देशों के सम्बन्ध में ऐसी कौन सी व्यवस्था की जाय, जिससे इनमें असन्तोष दूर हो। (६) विश्व-संग्राम के कारण यूरोप का आर्थिक जीवन इतना अस्त-व्यस्त हो गया था, कि उसे फिर से सँभालने के लिए आर्थिक सहायता की भारी मात्रा में आवश्यकता थी। यूरोप के विविध देशों के पास इतनी सम्पत्ति, पूँजी व धन नहीं था, कि वे स्वयं अपना उद्धार कर सकें। मित्रराष्ट्रों में केवल अमेरिका इस स्थिति में था, कि वह इन देशों की सहायता कर सकता था। पर पिछले अनुभव से अमेरिका यह भली भाँति जानता था, कि कर्ज की रकम को देना तो सुगम है, पर उसे वसूल करना आसान नहीं है। पर अमेरिका की सहायता के बिना यूरोप का पुनःनिर्माण असम्भव था। अमेरिका किन शर्तों पर यह सहायता दे, यह समस्या भी बड़ी विकट थी।

इन सब समस्याओं का हल करके किस प्रकार यूरोप में शान्ति-स्थापना की गई, इस प्रश्न पर हम इस अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

२. सहायक संस्था

जब विश्व-संग्राम में जर्मनी की घटती कला शुरू हुई, और अनेक प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त किये जाने शुरू हुए, तो इन स्वाधीन किये गये प्रदेशों में जनता को आर्थिक पुनःनिर्माण में सहायता करने, स्थानभ्रष्ट लोगों को फिर से बसाने, पीड़ितों की मदद करने और युद्ध से उत्पन्न कष्टों व संकटों को दूर करने के लिए मित्रराष्ट्रों की ओर से एक सहायक-संस्था का निर्माण किया गया। यह संस्था नवम्बर, १६४३ में वाशिंगटन में स्थापित की गई। १६४६ के अन्त तक यह संस्था बड़े उत्साह के साथ अपना काम करती रही। इस संस्था की ओर से साठ लाख के लगभग स्त्री, पुरुष, व बच्चे अपने अपने देशों में फिर से बसाये गये। नाजी पार्टी के अत्याचारों से पीड़ित होकर ये सब अपनी मातृभूमि को छोड़ने के लिए विवश हुए थे, और अपनी जान की रक्षा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर बे-घर-बार के फिर रहे थे। इस सहायक संस्था का कार्यक्षेत्र ३६ देशों में विस्तृत था, और इसने ३८०० करोड़ मन भोज्य सामग्री व अन्य जरूरी सामान पीड़ित जनता की सहायता के लिए इन देशों में पहुँचाया था। इस कार्य के लिए इसे कुल मिलाकर १११० करोड़ के लगभग रुपया विविध देशों से सहायता के रूप में प्राप्त हुआ था, जो प्रायः सबका सब दो साल के अरसे में खर्च कर दिया गया था। इतनी भारी रकम खर्च करके भी पीड़ित देशों की सहायता का काम समाप्त नहीं हो सका था। जुलाई, १६४६ में सहायक संस्था के अधिकारियों ने यह अनुमान किया था, कि अभी ३५० करोड़ के लगभग रुपया और चाहिए। इससे जो भोज्य सामग्री खरीदी जायेगी, वह लोगों को भूख से मरने से बचाने

के लिए कठिनता से पर्याप्त होगी। पर यह रुपया कहाँ से आता? यूरोप के विविध देशों को न केवल अनाज की आवश्यकता थी, जिससे लोग अपने को जीवित रख सकते, पर साथ ही उन्हें बीजों की भी आवश्यकता थी, जिससे वे नई फसलें बो सकते। उन्हें अपने कारखानों को फिर से चालू करने के लिए मशीनरी व अन्य उपकरण भी चाहिएँ थे। ये सब कीमत से ही प्राप्त किये जा सकते थे, और इनकी कीमत अदा कर सकने की ताकत यूरोप के देशों में नहीं थी। अमेरिका बिना कीमत के केवल कर्ज के रूप में यह सब सामान नहीं दे सकता था। पूर्वी यूरोप के देशों में इस सहायक संस्था के खिलाफ आन्दोलन भी शुरू हो गया था। कम्युनिस्ट लोग कहते थे, कि अमेरिका इस सहायक संस्था द्वारा अपना प्रभाव इन देशों में बढ़ा रहा है, और इसी कारण इनमें समाजवाद की स्थापना नहीं हो रही है। परिणाम यह हुआ, कि १९४७ के शुरू में अमेरिका ने इस सहायक संस्था को रुपया व अन्य सामग्री देनी बन्द कर दी। यूरोप के युद्ध पीड़ित देशों में सर्व-साधारण जनता को सहायता पहुँचाने का जो महत्त्वपूर्ण व उपयोगी काम जारी था, उसे विवश होकर बन्द करना पड़ा। १९४७ के प्रारम्भ तक इस सहायक संस्था की इतिश्री हो गई थी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि १९४५ और १९४६ के सालों में यूरोप को भुखमरी से बचाने में इस संस्था ने बड़ा काम किया। इसकी सहायता के बिना यूरोप के लोगों को अनन्त कष्टों का सामना करना पड़ता। इस संस्था के टूट जाने के समय तक विविध यूरोपियन राज्य इस स्थिति में आ गये थे, कि वे अपने पैरों पर खड़े हो सकें।

३. नई व्यवस्था के आदर्श

विश्व-संग्राम की भयंकरता को दृष्टि में रखते हुए मित्र-राष्ट्रों के नेताओं ने इस बात पर विचार करना शुरू कर दिया था, कि युद्ध की समाप्ति पर संसार का जब पुनः निर्माण किया जायगा, तो उसके लिए

कौन से सिद्धान्त व आदर्श सम्मुख रखने होंगे। १९४१ में जब जर्मनी की सर्वत्र विजय हो रही थी, और ऐसा प्रतीत होता था कि शीघ्र ही सम्पूर्ण यूरोप पर हिटलर का कब्जा हो जायगा, अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रूज़वेल्ट और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री चर्चिल की ओर से एक घोषणा प्रकाशित की गई, जो 'अटलान्टिक चार्टर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस चार्टर द्वारा निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था—(१) हम किसी भी प्रकार अपने राज्यों का विस्तार नहीं करना चाहते। न हम किसी नये प्रदेश पर कब्जा करना चाहते हैं, और न ही कहीं अपना प्रभाव-क्षेत्र कायम करना चाहते हैं। (२) विविध राज्यों की सीमाओं में हम कोई ऐसा परिवर्तन नहीं करना चाहते, जो वहाँ की जनता की इच्छा के अनुकूल न हो। (३) सब लोगों को यह अधिकार है, कि वे स्वयं इस बात का फैसला करें, कि उनके राज्यों की सरकार व शासन का स्वरूप किस प्रकार का हो। (४) सब राज्यों को यह अवसर हो, कि वे स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय व व्यापार का संचालन कर सकें। विविध देशों की आर्थिक समृद्धि के लिए जिस कच्चे माल की उपलब्धि आवश्यक है, वह उन्हें किसी कृत्रिम बाधा के बिना प्राप्त होना चाहिए। (५) सब राज्यों को आर्थिक क्षेत्र में परस्पर सहयोग से काम करना चाहिए। (६) जब नाज़ी शक्ति का पूर्णतया विनाश हो जायगा, तो सब देशों के लोगों को यह भरोसा होना चाहिए, कि अब वे निर्भय रूप से अपने देशों में रह सकते हैं, उनकी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता सुरक्षित रहेगी, किसी अन्य राज्य से आक्रमण का उन्हें भय न होगा और न विविध पदार्थ प्राप्त करने में उन्हें कोई रुकावट होगी। (७) समुद्र का मार्ग सब देशों के लिए खुला रहना चाहिए। (८) अस्त्र-शस्त्रों व युद्ध सामग्री की मात्रा में कमी होनी चाहिए, और यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि विविध राज्य शक्ति का प्रयोग करके अपने झगड़ों को निपटाने का प्रयत्न न करें।

जिस समय अटलाण्टिक चार्टर के ये सिद्धान्त प्रकाशित किये गये, ब्रिटेन को संसार के लोक-मत को अपने पक्ष में करने की बहुत आवश्यकता थी। जर्मनी की निरन्तर विजयों के कारण ब्रिटेन को आत्मरक्षा का यही उपाय सम्भव प्रतीत होता था, कि विविध तटस्थ राज्य उसके आदर्शों को सहानुभूति की दृष्टि से देखें।

सन् १९४१ में ही राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जो चार स्वाधीनताओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये स्वाधीनताएँ निम्न-लिखित हैं—(१) संसार में सर्वत्र सब मनुष्यों को भाषण व अन्य प्रकार से अपने विचारों को प्रगट कर सकने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। (२) संसार में सर्वत्र प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए, कि वह अपने तरीके से ईश्वर की पूजा व उपासना कर सके। (३) संसार में सर्वत्र सब राष्ट्रों को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए, कि वे शान्ति के साथ अमन-चैन से अपना आर्थिक जीवन बिता सकें। (४) संसार में सर्वत्र अस्त्र-शस्त्र व युद्ध-सामग्री की मात्रा में इस हद तक कमी कर देनी चाहिए, कि किसी राज्य को दूसरे राज्य से आक्रमण का भय न रहे। निःसन्देह, ये सब सिद्धान्त अत्यन्त उत्तम व उत्कृष्ट हैं। यदि संसार में नई व्यवस्था इनके अनुसार कायम की जा सके, तो वह मानव समाज के लिए अत्यन्त हितकर होगी।

फरवरी, १९४५ में मित्रराष्ट्रों की एक कान्फरेन्स क्रीमिया के याल्टा नामक नगर में हुई। इसमें श्री रूजवेल्ट, श्री चर्चिल और श्री स्टालिन सम्मिलित हुए। इस समय तक विश्वसंग्राम में जर्मनी का पराजय प्रारम्भ हो चुका था और मित्रराष्ट्रों को अपनी विजय का दिन दृष्टिगोचर होने लगा था। याल्टा की इस कान्फरेन्स में मित्र पक्ष के इन तीन महान् नेताओं ने मिलकर यह निर्णय किया, कि (१) जर्मनी की सारी सेना तोड़ दी जायगी। जर्मनी की सैन्य शक्ति का आधार वे सैनिक अधिकारी हैं, जो उस देश में निरन्तर सैन्य-संगठन करते रहते हैं। इन

सैनिक अधिकारियों का अन्त कर दिया जायगा। (२) जर्मनी के पास जो भी अस्त्र-शस्त्र व युद्ध-सामग्री है, वह सब उससे छीन ली जायगी या नष्ट कर दी जायगी। (३) जर्मनी के उन सब व्यवसायों व कल-कारखानों पर मित्र-राष्ट्रों का नियन्त्रण कायम कर दिया जायगा, जिनका उपयोग युद्ध के लिए किया जा सकता है। (४) युद्ध के लिए जो लोग जिम्मेवार हैं, या जिन्होंने लड़ाई के समय अपराध किये हैं, उन सब पर मुकदमा चलाया जायगा और उन्हें सख्त सजाएं दी जावेंगी। (५) जर्मनी ने अन्य देशों का जिस प्रकार विनाश किया है, उनकी क्षति-पूर्ति के लिए उससे हरजाना वसूल किया जायगा। यह हरजाना रुपये के रूप में न होकर सामग्री के रूप में होगा।

इसमें सन्देह नहीं, कि विजय के समय में मित्र-राष्ट्रों के विचारों व आदर्शों में अन्तर आ गया था। संसार में स्थायी शान्ति की स्थापना तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि सभी राज्य अस्त्र-शस्त्रों व सेनाओं में कमी न करें। केवल जर्मनी, जापान व इटली की युद्ध शक्ति का विनाश करने से संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। यदि याल्टा कान्फरेन्स में भी मित्रराष्ट्रों के नेता अपने उन्हीं आदर्शों पर स्थिर रहते, जिनका प्रतिपादन उन्होंने अटलाण्टिक चार्टर द्वारा किया था, तो वे शान्ति के मार्ग पर आगे बढ़ सकते। पर याल्टा में किये गये निर्णयों में जर्मनी से बदला लेने की भावना प्रबल थी, और इसी का यह परिणाम हुआ, कि विश्व-संग्राम की समाप्ति के बाद भी यूरोप में शान्ति का वातावरण उत्पन्न नहीं किया जा सका। शीघ्र ही, फिर से लड़ाई की तैयारी प्रारम्भ हो गई।

४. संयुक्त राज्यसंघ की स्थापना

विश्व-संग्राम की समाप्ति पर संसार में चिरशान्ति स्थापित करने और विविध राज्यों को एक सूत्र में संगठित करने के उद्देश्य से संयुक्त

राज्यसंघ (यूनाइटेड नेशन्स आर्गनिजेशन) का निर्माण किया गया। इसके लिए पहली कान्फरेन्स अक्टूबर, १६४४ में अमेरिका के अन्यतम नगर डम्बार्टन ओक्स में हुई, जिसमें ब्रिटेन, रशिया, अमेरिका और चीन के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस कान्फरेन्स में नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की रूप-रेखा तैयार की गई। याल्टा की कान्फरेन्स में इस पर विचार किया गया और यह निश्चय हुआ कि नये राज्यसंघ के संगठन व अन्य नियमों पर अन्तिम निर्णय करने के लिए सान फ्रांसिस्को (अमेरिका) में एक कान्फरेन्स बुलाई जाय, जिसमें सब मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्र हों। यह कान्फरेन्स एप्रिल, १६४५ में हुई। इसमें संयुक्त राज्यसंघ का स्वरूप अन्तिम रूप से स्वीकृत किया गया और एक नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हुई। जर्मनी और उसके साथियों को परास्त करने में जो राज्य ब्रिटेन और अमेरिका के साथ थे, वे सब इस संघ में शामिल हुए। शुरू में इन राज्यों की संख्या ५१ थी। बाद में, अनेक अन्य राज्य इस संघ में सम्मिलित हुए हैं, और इसके सदस्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। १६४६ के शुरू तक संघ के कुल सदस्यों की संख्या ५७ थी।

संयुक्त राज्यसंघ की प्रधान संस्था जनरल एसेम्बली है। संघ के सब सदस्य-राज्यों को यह अधिकार है, कि वे अपने पाँच प्रतिनिधि एसेम्बली के लिए नियुक्त करें। राज्य चाहे छोटा हो या बड़ा, सबके पाँच-पाँच प्रतिनिधि एसेम्बली में आते हैं। प्रत्येक राज्य का एक वोट माना जाता है। इस दृष्टि से अमेरिका और रशिया जैसे शक्तिशाली राज्यों और लक्सम्बर्ग व बेल्जियम जैसे छोटे राज्यों की स्थिति संघ की एसेम्बली में एक समान है। प्रतिवर्ष, दो सितम्बर के बाद जो पहला मंगलवार पड़े, उस दिन एसेम्बली का वार्षिक अधिवेशन प्रारम्भ होता है, पर यदि सदस्य-राज्य चाहें, तो किसी अन्य समय भी एसेम्बली का विशेष अधि-वेशन किया जा सकता है। यदि कोई राज्य समझता हो, कि संसार में

का प्रयोग बहुत असाधारण दशा में ही किया जाना चाहिए। एसेम्बली में यह प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत भी हो गया है, पर जब तक संघ के विधान में परिवर्तन नहीं होगा, वीटो के अधिकार को हटाया नहीं जा सकेगा।

सुरक्षा परिषद् संयुक्त राज्यसंघ की स्थिर संस्था है, और उसके अधिवेशन सदा होते रहते हैं। परिषद् के सदस्य-राज्यों का एक प्रतिनिधि स्थिर रूप से संघ के केन्द्रीय कार्यालय में रहता है। इस कारण जब कभी कोई महत्त्वपूर्ण मामला उपस्थित हो, परिषद् का अधिवेशन सुगमता के साथ किया जा सकता है। सुरक्षा परिषद् की स्थिति संयुक्त राज्यसंघ की कार्यकारिणी समिति के सदृश है।

सुरक्षा परिषद् के अतिरिक्त अनेक अन्य संस्थायें संयुक्त राज्यसंघ के अधीन कार्य करती है। इनमें से कतिपय के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेख करना उपयोगी है—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—यह न्यायालय हेग में स्थापित है, और इसमें कुल मिलकर १५ न्यायाधीश हैं। यह व्यवस्था की गई है, कि किसी राज्य का एक से अधिक न्यायाधीश न हो। हेग के इस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में उन व्यक्तियों को न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जाता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ हों और जिनकी निष्पक्षता सर्वमान्य हो। इस न्यायालय के सम्मुख तीन प्रकार के मामले पेश किये जाते हैं—(क) विविध राज्यों को यह हक है, कि वे दूसरे किसी राज्य के साथ के अपने झगड़े को इसके सम्मुख निर्णय के लिए पेश कर सकें। (ख) अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, समझौतों व परम्पराओं के सम्बन्ध में यदि कोई विवाद हो, तो वह निर्णय के लिये इस न्यायालय के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। (ग) यदि कोई राज्य यह स्वीकार कर ले, कि वह सदा के लिए व कुछ समय के लिए अपने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का फैसला इस न्यायालय से करायेगा, तो ऐसे राज्यों के मामले स्वयमेव इसके सम्मुख पेश हो जाते हैं।

(२) आर्थिक व सामाजिक परिषद्—इसके कुल १८ सदस्य हैं। इस परिषद् के साल में तीन अधिवेशन नियमपूर्वक होते हैं। विशेष अधिवेशन किसी भी समय किया जा सकता है। इस परिषद् का उद्देश्य यह है, कि विविध देशों की जनता का रहन-सहन अधिक ऊँचा उठे, बेकारी दूर हो, सबकी आर्थिक व सामाजिक उन्नति हो, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्यों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान किया जाय और नस्ल, लिंग, भाषा व धर्म का भेदभाव किये बिना मनुष्य-मात्र के आधारभूत अधिकारों की सम्मानपूर्वक रक्षा की जाय। इन्हीं उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर विविध राज्यों के प्रतिनिधि समय समय पर एक स्थान पर एकत्र होते हैं, और आपस में विचार द्वारा आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में उन्नति के उपायों को सोचते हैं।

(३) प्रधान कार्यालय—इसका प्रधान अधिकारी सेक्रेटरी-जनरल या प्रधानमंत्री कहाता है। सुरक्षा परिषद् की सिफारिश के अनुसार इसकी नियुक्ति जनरल एसेम्बली द्वारा पाँच साल के लिए की जाती है। प्रधानमन्त्री को ५,००० रुपया मासिक वेतन मिलता है। इस आमदनी पर कोई आय-कर नहीं लगता। साथ ही, उसे निवास के लिए मकान भी बिना किराये के दिया जाता है। प्रधान कार्यालय में आठ मुख्य विभाग हैं, जिनका एक एक पृथक् अधिकारी होता है, जिसे सहायक प्रधानमंत्री कहते हैं। ये आठ विभाग निम्नलिखित हैं—(क) सुरक्षा परिषद् विभाग, (ख) आर्थिक विभाग, (ग) सामाजिक विभाग, (घ) जिन प्रदेशों का प्रबन्ध व शासन सीधा संयुक्त राज्यसंघ के अधीन है, उनकी व्यवस्था करनेवाला विभाग, (ङ) कानून विभाग, (च) वह विभाग जो जनरल एसेम्बली व संघ के अन्तर्गत विविध परिषदों के अधिवेशनों की व्यवस्था करता है, (छ) सार्वजनिक सूचना विभाग, और (ज) वह विभाग जो संघ का सालाना बजट तैयार करता है और संघ की नौकरी में विद्यमान विविध व्यक्तियों के वेतन आदि की व्यवस्था करता है।

संयुक्त राज्यसंघ की यह विशेषता है, कि उसमें राजनैतिक क्षेत्र के अतिरिक्त आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी विविध राज्यों के पारस्परिक सहयोग पर बहुत जोर दिया जाता है। यह उचित भी है, क्योंकि आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में सहयोग स्थापित हो जाने पर राजनैतिक क्षेत्र में सहयोग का हो सकना बहुत सुगम हो जायगा। राज्य संघ के अधीन अनेक ऐसी परिषदें, कमीशन व एजेन्सियाँ हैं, जो इस ओर विशेष ध्यान देती हैं। इनका उल्लेख भी यहाँ उपयोगी होगा—(१) संयुक्तराज्य शिक्षा, विज्ञान व सांस्कृतिक परिषद्—शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्रों में विविध राज्यों का सहयोग उनकी आपस की विभिन्नताओं और विरोध के कारणों को मिटाने के लिए सबसे अधिक उपयोगी है। इससे एक विश्वसंस्कृति का विकास होता है। राष्ट्रों के भेद का मुख्य आधार संस्कृति की विभिन्नता ही है। यदि विविध राज्यों के विद्वान्, विचारक, साहित्यिक, कवि, वैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री समय समय पर आपस में मिलते रहें, अपनी समस्याओं को परस्पर विचार-विनमय द्वारा सुलझाते रहें, तो एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने, एक दूसरे की संस्कृति की अच्छी बातों का ग्रहण करने व एक दूसरे के समीप आने का अपूर्व अवसर मिलता है। युद्धों का प्रारम्भ मन से ही होता है। विविध लोगों के मनों में जब दूसरे लोगों के प्रति विद्वेष की भावना भर दी जाती है, तभी वे युद्धों के लिए तत्पर होते हैं। अतः युद्ध के खिलाफ प्रयत्नों का प्रारम्भ मनुष्यों की मानसिक भावना को बदल कर ही करना चाहिए। इस परिषद् का यही उद्देश्य है। इसके लिए इसकी ओर से विविध देशों में राष्ट्रीय कमीशनों का निर्माण किया गया है। ये कमीशन अपने अपने देश में शिक्षा के विस्तार व विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय का प्रयत्न करते हैं। (२) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम परिषद्—इसका निर्माण गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद राष्ट्रसंघ द्वारा ही कर लिया गया था। पहले यह राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत थी,

पर बाद में एक पृथक् संस्था बन गई, और राष्ट्रसंघ की समाप्ति के बाद भी कायम रही। अब १९४५ में इसका पुनःसंगठन संयुक्त राज्य संघ के तत्त्वावधान में किया गया है। संसार भर के मजदूरों के हितों की रक्षा करना, उनके लिए हितकारी कानूनों का निर्माण कराना और श्रम-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना इस परिषद् के प्रधान कार्य हैं। संसार की जनता का बहुत बड़ा भाग श्रमियों का है। यदि विविध राज्यों के मजदूर लोग अपनी समस्याओं को साथ मिल कर हल करें और केवल अपने हितों को ही नहीं, अपितु अन्य देशों के मजदूरों के हितों को भी दृष्टि में रखें, तो सर्वसाधारण जनता में एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास होने में अवश्य सहायता मिलती है। (३) विश्वस्वास्थ्य परिषद्, (४) भोजन तथा कृषि परिषद्, (५) परमाणु शक्ति परिषद् (६) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रानिधि (७) यूरोपीय केन्द्रीय आन्तरिक ट्रांसपोर्ट परिषद् (८) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार परिषद् (९) अन्तर्राष्ट्रीय पुनःनिर्माण बैंक। यह सम्भव नहीं है, कि इन विभिन्न परिषदों के कार्यों पर यहाँ प्रकाश डाला जा सके। पर इन तथा इसी प्रकार की अन्य परिषदों का क्षेत्र इतना विस्तृत है, कि इन विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर सहयोग द्वारा संसार के विविध राज्यों में एकानुभूति की भावना सहज में ही उत्पन्न की जा सकती है। वस्तुतः वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा देश और काल पर जो अद्भुत विजय पिछले दिनों में स्थापित हुई है, उसके कारण संसार के विविध देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं, और उनमें पारस्परिक सहयोग इतना आवश्यक हो गया है, कि उन्नीसवीं सदी के ढंग के, उग्र राष्ट्रीयता के आधार पर आश्रित राज्यों के वर्तमान भेद अब बहुत कुछ अस्वाभाविक से प्रतीत होने लगे हैं। राज्यों का भेद उनकी भौतिक परिस्थितियों का परिणाम था। अब विज्ञान की उन्नति के कारण वे भौतिक परिस्थितियाँ ही इस प्रकार परिवर्तित हो रही हैं, कि विविध राज्यों की एक दूसरे से सर्वथा पृथक्

सत्ता व स्वाधीनता अब सम्भव नहीं रह गई हैं। इन भेदों का मिटना अवश्यम्भावी है। स्वाधीनता का स्थान अब अन्योन्याश्रयिता को लेना है, और संसार को विवश होकर अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर आगे बढ़ना है। संयुक्त राज्यसंघ की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई है, कि इस प्रवृत्ति को बल मिले, और राज्यों के आपसी झगड़ों का निर्णय परस्पर विचार विनिमय द्वारा किया जा सकना सम्भव हो जाय। अपने इस उद्देश्य में संयुक्त राज्यसंघ को जो सफलता मिली है, उस पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे।

५. परास्त देशों से सन्धियाँ

जर्मनी तथा उसके साथियों को परास्त करने के बाद उनके साथ कैसा बरताव किया जाय, व उनके साथ किस प्रकार से सन्धियाँ की जायँ, इस पर अमेरिका, ब्रिटेन व रशिया के नेता युद्ध के दौरान में ही समय समय पर विचार करते रहे थे। किसी शत्रु देश को जीत लेने पर मित्रराष्ट्रों की उसके सम्बन्ध में एक ही नीति थी, वह यह कि उसे बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण के लिए विवश किया जाय। वहाँ पर शासन करने के लिए जो सामयिक सरकार बने, वह मित्रराष्ट्रों के नियन्त्रण में रहे और सैनिक दृष्टि से मित्र राष्ट्र वहाँ अपना कब्जा कायम कर लें। इसी के अनुसार जब मुसोलिनी के पतन के बाद मार्शल बोदोग्लियो ने इटली में सामयिक सरकार की स्थापना की, तो उस पर नियन्त्रण रखने के लिए दो संस्थाओं की रचना की गई। (१) सैनिक सरकार (अलाइड मिलिटरी गवर्नमैन्ट)—यह जहाँ इटली से जर्मन सेनाओं को निकालने व सैनिक दृष्टि से इटली का संगठन व व्यवस्था करने का काम करती थी, वहाँ साथ ही उन प्रदेशों का शासन भी करती थी, जहाँ अभी लड़ाई जारी थी व जहाँ पूरी तरह शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं हुई थी। (२) अलाइड कंट्रोल कमीशन—इसका

कार्य मार्शल बोदोग्लियो की सरकार पर देख रेख रखना तथा उसे भली भाँति नियन्त्रित करना था। इस कमीशन में चार राज्यों के प्रतिनिधि थे, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और रशिया। पर कमीशन के किसी निर्णय के बारे में वोट देने का अधिकार फ्रांस और रशिया को नहीं था। इटली को परास्त करने का श्रेय प्रधानतया अमेरिका और ब्रिटेन को था। अतः इस कमीशन में वोट देने का अधिकार इन दो राज्यों के प्रतिनिधियों को ही था। अलाइड कंट्रोल कमीशन को बनाते हुए यह विचार काम कर रहा था, कि जो राज्य जिस प्रदेश को जर्मनी के प्रभाव से मुक्त करावें, उसका शासन उन्हीं के हाथ में रहे। इसीलिए मार्शल बोदोग्लियो की सरकार को अमेरिका और ब्रिटेन के नियन्त्रण में रखा गया था। यद्यपि जर्मनी के पराजय में रशिया का कर्तृत्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण था, पर इटली के शासन में उसे कोई अधिकार नहीं दिये गये थे।

२३ अगस्त, १९४४ को रूमानिया परास्त हुआ और उसके साथ भी सामयिक सन्धि की गई। ६ सितम्बर, १९४४ को बल्गेरिया ने, १९ सितम्बर, १९४४ को फिनलैण्ड ने और २० जनवरी, १९४५ को हंगरी ने आत्मसमर्पण किया। इन सब देशों के साथ की गई सामयिक सन्धियों में प्रमुख शर्त यही थी, कि परास्त राज्य बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दें। इन सब देशों को परास्त करने का मुख्य श्रेय रशिया को था। उसी की सेनाओं ने इन्हें पराजित किया था और जर्मनी के प्रभाव को उन पर से नष्ट किया था। इटली के उदाहरण को सम्मुख रख कर इन देशों में भी कंट्रोल कमीशनों का निर्माण किया गया और इटली के उदाहरण के अनुसार ही इन देशों के कंट्रोल कमीशनों में रशिया का प्रभुत्व रहा। जिस प्रकार इटली के नियन्त्रण व शासन में रशिया की कोई आवाज नहीं थी, वैसे ही अब रूमानिया, बल्गेरिया, फिनलैण्ड और हंगरी के शासन में ब्रिटेन व अमेरिका की कोई आवाज नहीं रखी गई। आगे चल कर ये देश जो

पूरी तरह रशिया के प्रभाव क्षेत्र में आ गये, उसका बड़ा कारण ब्रिटेन और अमेरिका की यह नीति थी, जिसके अनुसार इटली के शासन व नियन्त्रण में उन्होंने रशिया को समुचित स्थान नहीं दिया था।

१७ जुलाई, १९४५ को मित्रराष्ट्रों के प्रधान नेता जर्मनी के अन्यतम नगर पोट्सडम में एकत्र हुए। पोट्सडम की इस कान्फरेन्स में अमेरिका की ओर से राष्ट्रपति ट्रूमैन, ब्रिटेन की ओर से श्री एटली, रशिया की ओर से श्री० स्टालिन और चीन की ओर से श्री० चियांग काई शेक सम्मिलित हुए थे। मित्रराष्ट्रों के इन नेताओं ने मिलकर यह तय किया, कि जर्मनी व उसके साथियों के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था करनी है। इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, फिनलैण्ड और हंगरी के साथ किस प्रकार सन्धि की जाय, इसका निर्णय करने के लिए पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा एक कौंसिल की रचना कर दी गई, जिसमें ब्रिटेन, रशिया और अमेरिका के परराष्ट्रसचिवों को सदस्य के रूप में सम्मिलित किया गया। इस कौंसिल के अधिवेशन लण्डन (सितम्बर, १९४५), मास्को (दिसम्बर, १९४५) और पेरिस (जुलाई, १९४६) में हुए। इन अधिवेशनों में इस समस्या पर विस्तार के साथ विचार किया गया, कि इटली आदि परास्त देशों के साथ की जाने वाली सन्धियों का क्या स्वरूप हो। पेरिस के अधिवेशन में सन्धियों के मसविदे तैयार कर लिये गये और मित्रराष्ट्रों की सहमति प्राप्त करने के लिए एक ऐसी कान्फरेन्स की योजना की गई, जिसमें सब मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्र हों। यह कान्फरेन्स पेरिस में हुई और इसमें २१ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। पेरिस कान्फरेन्स के अधिवेशन २९ जुलाई से १५ अक्टूबर; १९४६ तक होते रहे। अब विश्व-संग्राम को समाप्त हुए एक साल से अधिक व्यतीत हो चुका था। युद्ध के समय मित्रराष्ट्रों के अन्तर्गत विविध राज्यों ने अपने मतभेदों को बहुत कुछ भुला दिया था। पर अब ये मतभेद प्रगट होने शुरू हो गये थे। विशेषतया, ब्रिटेन और अमेरिका

का रशिया के साथ अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर गहरा मतभेद था। पेरिस कान्फरेन्स में ये मतभेद अनेक बार इतने उग्र हो गये, कि ऐसा प्रतीत होने लगा कि मित्रराष्ट्र आपस में मिलकर कोई फैसला नहीं कर सकेंगे। पर बहुत से वाद-विवाद के बाद अन्त में पेरिस कान्फरेन्स एकमत होने में सफल हुई, और इटली आदि पाँच राज्यों के साथ की जाने वाली सन्धियों के मसविदे स्थूलरूप से स्वीकृत कर लिये गये। सन्धियों के अन्तिम रूप को तैयार करने व जाब्ते के साथ सन्धियों पर हस्ताक्षर कराने का कार्य फिर परराष्ट्रसचिवों की कौंसिल के सुपुर्द कर दिया गया।

परराष्ट्र सचिवों की कौंसिल के अगले अधिवेशन न्यूयार्क में (नवम्बर-दिसम्बर, १९४६) हुए। इनमें सन्धियों का अन्तिम रूप तैयार किया गया। जब सब तैयारी हो गई, तो पेरिस में इक्कीसों मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि फिर एकत्र हुए, और १० फरवरी, १९४७ को पाँचों सन्धि-पत्रों पर सब मित्रराष्ट्रों के सब प्रतिनिधियों व इटली, बल्गेरिया, रूमानिया, फिनलैण्ड व हंगरी के हस्ताक्षर करा लिये गये। सन्धियों को इँगलिश, फ्रैंच और रशियन भाषाओं में तैयार किया गया था। अब तक अन्तर्राष्ट्रीय पत्र अँगरेजी और फ्रैंच में ही तैयार किये जाते थे। पर विश्व-संग्राम के समय से रशिया का महत्त्व इतना बढ़ गया था, कि कोई अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाई ऐसी नहीं हो सकती थी, जिसमें रशिया व उसकी भाषा की उपेक्षा की गई हो। पेरिस में जिन सन्धिपत्रों पर हस्ताक्षर किये गये, उनसे परास्त देशों के लोग संतुष्ट नहीं थे। कुछ प्रश्नों पर मित्रराष्ट्रों में भी मतभेद शेष था। इसी का परिणाम यह हुआ, कि फरवरी, १९४७ से ही इन सन्धियों में संशोधन करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि पेरिस की इन सन्धियों में जर्मनी व आस्ट्रिया के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी।

इटली के साथ जो सन्धि हुई, इसके अनुसार अनेक प्रदेश इटली से ले लिए गये। उसका सब साम्राज्य उसके हाथ से निकल गया। अबीसीनिया का राज्य विश्व-संग्राम के दौरान में ही इटली की अधीनता से मुक्त हो गया था, और वहाँ के पदच्युत सम्राट् हैल सलासी ने अपनी खोई हुई राजगद्दी को फिर से प्राप्त कर लिया था। मई, १९४१ में हैल सलासी फिर से अबीसीनिया का स्वतन्त्र सम्राट् बन गया था। अक्टूबर, १९४४ में अल्बेनिया भी जर्मनी और इटली के कब्जे से मुक्त हुआ। उसी समय कर्नल होड्जा के नेतृत्व में वहाँ सामयिक सरकार की स्थापना कर ली गई। जनवरी, १९४६ में अल्बेनिया में विधान परिषद् का निर्माण किया गया, और इस परिषद् ने निश्चय किया, कि अल्बेनिया को एक स्वतन्त्र रिपब्लिक के रूप में परिणत किया, जाय। नई रिपब्लिक का नेतृत्व कर्नल होड्जा के हाथ में रहा। इटली की संरक्षा व प्रभाव में वहाँ जो पुराना राजवंश शासन करता था, अब उसे फिर अल्बेनिया वापस नहीं आने दिया गया।

लीबिया, एरिट्रिया और इटालियन सोमालीलैण्ड—ये उपनिवेश पहले इटली के अधीन थे। अब इन्हें उससे ले लिया गया। इनके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस और रशिया की सरकारें परस्पर मिलकर यह फैसला करें, कि भविष्य में इन प्रदेशों का शासन किस प्रकार हो। अक्टूबर, १९४७ में ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस और रशिया की तरफ से एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जो इटली के इन भूतपूर्व उपनिवेशों के सम्बन्ध में नई व्यवस्था की योजना को तैयार करे। इस कमीशन को यह आदेश दिया गया, कि अपनी योजना को तैयार करते हुए यह भी दृष्टि में रखे कि इन उपनिवेशों के निवासियों के क्या विचार हैं, और वहाँ की आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियाँ क्या हैं? यूरोप में भी इटली की पुरानी सीमाओं में परिवर्तन किया गया। इटली के जो प्रदेश फ्रांस की सीमा पर स्थित थे, उनमें से

कतिपय इटली से अलग करके फ्रांस को दे दिये गये। तीन हजार वर्ग-मील के लगभग प्रदेश युगोस्लाविया ने इटली से प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त एड्रियाटिक सागर में स्थित कुछ द्वीप भी इटली से लेकर युगोस्लाविया को प्रदान किये गये। युगोस्लाविया तो ट्रीएस्त को भी अपने कब्जे में करना चाहता था। पर इसे एक स्वतन्त्र प्रदेश के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और इसके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई कि संयुक्त राज्यसंघ की सुरक्षा परिषद् द्वारा नियुक्त गवर्नर इसका शासन करे। ग्रीस ने भी अपनी सीमा के समीप स्थित अनेक इटालियन द्वीप प्राप्त किये। इस प्रकार इटली ने न केवल अपने सब उपनिवेशों व साम्राज्य से हाथ धोया, पर यूरोप में स्थित उसके अनेक प्रदेश भी अब उससे ले लिये गये।

इटली ने हरजाने की भी एक भारी मात्रा मित्रराष्ट्रों को प्रदान करना स्वीकार किया। यह मात्रा ११० करोड़ रुपया नियत की गई। इटली ने इसे सात सालों में प्रदान करना है, और यह हरजाना नकद सिक्के में न होकर पदार्थों के रूप में दिया जाना है। इटली से प्राप्त हरजाने को युगोस्लाविया, ग्रीस, रशिया, अबीसीनिया और अल्बेनिया में विभक्त किया जायगा, क्योंकि इटली द्वारा इन्हीं देशों को विशेष रूप से नुकसान पहुँचा था।

सन्धि द्वारा यह भी व्यवस्था की गई है, कि इटली की स्थल-सेना में २,५०,००० से अधिक सैनिक व २०० से अधिक भारी टैंक न हो सकें। उसकी जल-सेना में २५,००० से अधिक सैनिक व १० से अधिक जंगी जहाज न रहें। शेष सब जंगी जहाज मित्रराष्ट्रों के सुपुर्द कर दिये जावें। इटली की वायु-सेना में २५,००० से अधिक सैनिक व ३५० से अधिक हवाई जहाज न रहें। फैसिस्ट युग में इटली ने फ्रांस और युगोस्लाविया की सीमाओं पर जो किलाबन्दियाँ की थीं, उन सबको नष्ट कर दिया जाय। इसी प्रकार सिसली और सार्डिनिया के समुद्रतट पर व

विविध द्वीपों में जो दुर्ग इटली ने बनाये थे, उन सबको तोड़ दिया जाय। मुसोलिनी के पतन के बाद इटली मित्रराष्ट्रों के साथ हो गया था और उसने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा भी कर दी थी। पर फिर भी सन्धि द्वारा उसकी सैनिक व राजनैतिक शक्ति को कुचल देने का पूरा प्रयत्न किया गया और यह इन्तजाम किया गया, कि इटली फिर कभी एक शक्तिशाली राज्य न बन सके। ब्रिटेन यह भली-भाँति अनुभव करता था, कि भूमध्य सागर में शक्तिशाली इटली की सत्ता उसके अपने साम्राज्य के लिए भारी खतरे की बात है। इसीलिए वह इटली को निर्बल करने के लिए तुला हुआ था।

पेरिस कान्फरेन्स द्वारा रूमानिया के साथ जो सन्धि की गई, उसके अनुसार बस्सेरेबिया और उत्तरी बुकोविना के प्रदेश रूमानिया से लेकर रशिया को दिये गये। इन प्रदेशों पर युद्ध के दौरान में ही रशिया ने अपना कब्जा कर लिया था। अब अन्य मित्रराष्ट्रों ने भी इस कब्जे को स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार दक्षिणी दोब्रुजा का प्रदेश रूमानिया से लेकर बल्गेरिया को प्रदान दिया गया। इन प्रदेशों के निकल जाने से रूमानिया का क्षेत्रफल बहुत कुछ कम हो गया था। अकेले रशिया ने जो प्रदेश रूमानिया से प्राप्त किये थे, उनका क्षेत्रफल २१,००० वर्गमील था, और उनमें चालीस लाख आदमी निवास करते थे। जहाँ रूमानिया ने अनेक प्रदेश रशिया और बल्गेरिया को दिये, वहाँ ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश उसने अब वापस भी प्राप्त किया। यह प्रदेश पहले रूमानिया के अन्तर्गत था, पर १६४० में जर्मनी के आदेशानुसार रूमानिया ने इसे हंगरी को दे दिया था। इस प्रदेश का क्षेत्रफल १६००० वर्गमील था और इसमें २५ लाख की आबादी थी। जर्मनी ने यह प्रदेश हंगरी को इसलिए दिलवाया था, कि यूरोप के विविध राज्य, जो इस समय उसके प्रभाव व संरक्षा में थे, आपस में मिलकर रहें और उनकी सम्मिलित शक्ति का उपयोग मित्रराष्ट्रों के पराभव के लिए किया जा सके

अब रूमानिया ने ट्रांसिलवेनिया के इस प्रदेश को पुनः प्राप्त किया। इस प्रकार पेरिस की सन्धि के अनुसार रूमानिया की सीमाओं में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये।

रूमानिया की सेना के विषय में यह निर्णय किया गया, कि उसकी स्थल-सेना में १,२०,००० जल-सेना में ५,००० और वायु-सेना में ८,००० से अधिक सैनिक न हो सकें। जंगी जहाजों और हवाई जहाजों की संख्या भी नियत कर दी गई। रूमानिया को यह भी स्वीकार करना पड़ा, कि वह १०० करोड़ रुपये का सामान आठ सालों के अन्दर हरजाने के रूप में प्रदान करेगा। हरजाने की यह सब रकम रशिया प्राप्त करेगा, यह व्यवस्था की गई, क्योंकि रूमानिया के युद्ध में शामिल होने से सबसे अधिक नुकसान रशिया को ही उठाना पड़ा था।

सन्धि द्वारा बल्गेरिया से कोई प्रदेश किसी अन्य राज्य को नहीं दिया गया। इसके विपरीत, दक्षिणी दोब्रुजा का प्रदेश उसने रूमानिया से प्राप्त किया। पर इटली और रूमानिया के समान उसे भी हरजाने की भारी रकम मित्रराष्ट्रों को प्रदान करना स्वीकार करना पड़ा। उसके लिए हरजाने की मात्रा २५ करोड़ रुपया नियत की गई, जिसे कि ग्रीस और युगोस्लाविया से प्राप्त करना था। इस रकम को अदा करने का समय भी आठ साल नियत किया गया था। सैन्य शक्ति के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि बल्गेरिया की स्थलसेना में ५५,००० जलसेना में ३,५०० और वायुसेना में ५,२०० से अधिक सैनिक न हो सकें। यह भी निर्णय किया गया, कि ग्रीस की सीमा पर बल्गेरिया कोई किलाबन्दी न रख सके।

हंगरी को अपने अनेक प्रदेश अन्य राज्यों को देने पड़े। ट्रांसिलवेनिया का सुविस्तृत प्रदेश (क्षेत्रफल १६,००० वर्ग मील) हंगरी से लेकर रूमानिया को दिया गया। स्लोवेकिया का जो प्रदेश १९३८ में हंगरी ने चेकोस्लोवाकिया से प्राप्त किया था, वह अब उससे लेकर फिर

चेकोस्लोवाकिया को दे दिया गया। इसका क्षेत्रफल ४,५०० वर्गमील के लगभग था, और इसकी आबादी दस लाख थी। जिन दिनों हिटलर जर्मनी का उत्कर्ष करने की अभिलाषा से चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग करने के लिए कटिबद्ध था, तभी २ नवम्बर, १९३८ को किये गये फैसले के अनुसार ये प्रदेश हंगरी को प्राप्त हुए थे। ये प्रदेश जर्मनी और इटली द्वारा ही हंगरी को मिले थे। अब फिर इन्हें चेकोस्लोवाकिया को दे दिया गया। हंगरी को इस बात के लिए भी विवश किया गया, कि वह हरजाने की भारी मात्रा मित्रराष्ट्रों को प्रदान करे। यह रकम १०० करोड़ रुपया नियत की गई थी, जिसमें से ६६ करोड़ रुपया रशिया को, १० करोड़ रुपया चेको-स्लोवाकिया को और २४ करोड़ रुपया युगो-स्लावाकिया को प्राप्त करना था। यह भी व्यवस्था की गई थी, कि हंगरी की स्थलसेना में ६५,००० और वायुसेना में ५,२०० से अधिक सैनिक न हो सकें। जंगी वायु जहाजों की संख्या ७० से अधिक न बढ़ने पावे, यह बात भी पेरिस की सन्धि द्वारा तय कर दी गई थी।

फिनलैण्ड के साथ की गई सन्धि में मुख्यतया उन्हीं शर्तों की पुनरावृत्ति की गई, जो १९४० में मास्को की सन्धि द्वारा रशिया ने उसके साथ तय की थीं। फिनलैण्ड ने रशिया के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी थी, पर वह देर तक रशिया जैसे शक्तिशाली राज्य का मुकाबला नहीं कर सका था। उसे परास्त होकर सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा था। १९४० में रशिया ने फिनलैण्ड के साथ जो सन्धि की थी, उसके अनुसार फिनलैण्ड के वे अनेक प्रदेश रशिया ने प्राप्त कर लिये थे, जो उसकी अपनी सीमा के साथ लगते थे। विशेषतया, लडोगा की झील के उत्तरी व पश्चिमी प्रदेश, वीपुरी नगरी (जो फिनलैण्ड का बहुत बड़ा व समृद्ध नगर है) और फिनलैण्ड की खाड़ी के विविध द्वीप इस सन्धि द्वारा रशिया को प्राप्त हुए थे। अब सब मित्रराष्ट्रों ने इन प्रदेशों पर रशिया के अधिकार को स्वीकार किया। फिनलैण्ड के लिए

हरजाने की मात्रा १०० करोड़ रुपया निश्चित की गई। इस रकम की कीमत का माल आठ साल के अरसे में फिनलैण्ड ने रशिया को प्रदान करना था। फिनलैण्ड की सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि उसकी स्थलसेना में ३४,००० जलसेना में ४,५०० और वायु सेना में ३,००० से अधिक सैनिक न हो सकें।

इसमें सन्देह नहीं, कि पेरिस में हुई इन पाँच सन्धियों द्वारा रशिया को हरजाने की बहुत बड़ी रकम प्रदान करने की व्यवस्था की गई। इटली, रूमानिया, हंगरी, बल्गेरिया और फिनलैण्ड से जो हरजाने की कुल रकम प्राप्त होनी थी, उसका ७० फी सदी रशिया को मिलना था। रशिया को प्राप्त होनेवाली यह हरजाने की रकम ३०० करोड़ रुपये के लगभग है। इन देशों से उसे अनेक नये प्रदेश भी प्राप्त हुए हैं। पेरिस की इन सन्धियों से रशिया का क्षेत्रफल पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया है, और हरजाने के रूप में प्राप्त होनेवाली रकम द्वारा उसे यह अवसर भी मिल गया है, कि विश्व-संग्राम में उसे जो भारी नुकसान उठाना पड़ा था, उसकी आंशिक रूप से क्षति-पूर्ति कर सके।

६. जर्मनी की नई व्यवस्था

विश्व-संग्राम में जब जर्मनी परास्त हो गया, तो मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने उस पर अपना कब्जा कायम कर लिया। हिटलर की मृत्यु के बाद एडमिरल डोयनिट्स के नेतृत्व में जिस सामयिक सरकार की स्थापना हुई थी, उसने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर देने में ही जर्मनी का हित समझा। पर मित्रराष्ट्रों ने एडमिरल डोयनिट्स की सरकार को जर्मनी का शासक मानना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने यही निर्णय किया, कि जर्मनी का शासन-सूत्र मित्रराष्ट्र स्वयं अपने हाथों में ले लें। शासन की दृष्टि से जर्मनी को चार भागों में बाँटा गया। ये चारों भाग क्रमशः अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और रशिया के सुपुर्द किये

गये। पूर्वी जर्मनी पर रशिया का अधिकार स्थापित किया गया। इस रशियन क्षेत्र का कुल क्षेत्रफल ४५,००० वर्गमील था, और इसकी आबादी १,८०,००,००० थी। स्विट्जरलैण्ड व आस्ट्रिया से लगते हुए दक्षिण-पूर्वी जर्मनी के जो प्रदेश हैं, वे अमेरिका के अधीन रखे गये। इस अमेरिकन क्षेत्र का कुल क्षेत्रफल ४२,५०० वर्गमील था, और इसकी आबादी १,६५,००,००० थी। जर्मनी का जो हिस्सा फ्रांस की सीमा के साथ लगता था, और जिसमें प्रधानतया रहाइनलैण्ड और सार के प्रदेश अन्तर्गत थे, उसे फ्रांस के सुपुर्द किया गया। इसका कुल क्षेत्रफल १६,५०० वर्गमील था और इसकी आबादी ६०,००,००० थी। बेल्जियम और हालैण्ड की सीमा के साथ लगे हुए पश्चिमी जर्मनी के प्रदेश ब्रिटेन को दिये गये। इस ब्रिटिश क्षेत्र का कुल क्षेत्रफल ३६,००० वर्गमील था, और इसकी आबादी २,३०,००,००० थी। बर्लिन के चारों ओर का प्रदेश रशिया के हाथ में आया, पर खास बर्लिन को चार हिस्सों में विभक्त कर उन पर रशिया, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस का अलग अलग शासन कायम किया गया। साथ ही, पूर्वी जर्मनी का बहुत सा भाग, जिसमें प्रशिया और साइलीसिया के अनेक प्रदेश अन्तर्गत थे, पोलैण्ड को दे दिया गया, और प्रशिया का वह उत्तर-पूर्वी कोना, जिसमें क्यूनिग्सबर्ग का प्रसिद्ध नगर स्थित है, रशिया के अन्तर्गत कर दिया गया। जर्मनी का यह अंग-भंग १७ जुलाई, १९४५ को पोट्सडम की कान्फरेन्स द्वारा किया गया था। इस कान्फरेन्स में यह भी फैसला किया गया था, कि जर्मनी के शासन के सम्बन्ध में विविध राज्य किस नीति व सिद्धान्तों का अनुसरण करें। पोट्सडम कान्फरेन्स के ये निर्णय बड़े महत्त्व के थे। अतः इनका संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है—

(१) शासन के लिए जर्मनी व बर्लिन को चार चार खण्डों में विभक्त किया जाय। एक एक खण्ड पर अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस व

रशिया का अधिकार रहे। सम्पूर्ण जर्मनी के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों के लिए चारों राज्यों की एक सम्मिलित कन्ट्रोल कौंसिल बनाई जावे।

(२) जहाँ तक सम्भव हो सके, जर्मनी की सम्पूर्ण जनता के साथ एक सा व्यवहार किया जावे।

(३) जर्मनी को पूर्णतया अस्त्र-शस्त्र से विहीन कर दिया जाय। जिन व्यवसायों व कल-कारखानों का उपयोग युद्ध-सामग्री को तैयार करने के लिए किया जा सकता हो, उन सब को या तो सर्वथा नष्ट कर दिया जाय और या उन पर मित्रराष्ट्रों का नियन्त्रण रहे।

(४) नाजी पार्टी और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाओं को जड़ से उखाड़ दिया जाय। जर्मनी के राजनैतिक जीवन का लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर पुनः निर्माण किया जाय। ऐसी व्यवस्था की जाय, कि जर्मनी में नाजीज्म फिर से सिर न उठा सके।

(५) नाजी पार्टी द्वारा जारी किये गये कानूनों को रद्द कर दिया जाय।

(६) नाजी पार्टी के नेताओं व अन्य ऐसे लोगों पर, जिन्होंने लड़ाई के समय में विविध प्रकार के अपराध किये थे, मुकदमे चलाये जावें और अपराधी लोगों को कड़े से कड़े दण्ड दिये जावें।

(७) जर्मनी की शिक्षा-पद्धति पर इस प्रकार से नियन्त्रण रखा जावे, ताकि वहाँ के विद्यार्थी नाजी विचारों के प्रभाव में न आ सकें।

(८) जर्मनी में कोई शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित न हो सके। जर्मनी में ऐसी व्यवस्था की जाय, कि विविध प्रान्तों व प्रदेशों में पृथक् पृथक् सरकारें कायम हों, ताकि एक शक्तिशाली विशाल जर्मनी का विकास सम्भव न रहे। नये जर्मनी में उन राजनैतिक दलों को अपना विकास करने का पूरा मौका दिया जाय, जो लोकतन्त्रवाद में विश्वास रखती हों।

(६) जर्मनी में न कोई युद्ध-सामग्री तैयार हो सके, न हवाई जहाज बनें और न समुद्र में चलने वाले जहाजों का निर्माण हो। लोहा, धातु, रासायनिक द्रव्य व मशीनरी तैयार करने के जो कारखाने जर्मनी में हैं, उन सब पर मित्रराष्ट्रों का कड़ा निरीक्षण व नियन्त्रण रहे। उनमें केवल उतना माल तैयार हो, जो जर्मनी की अपनी आवश्यकताओं के लिए अनिवार्य है।

(१०) युद्ध की सब जिम्मेदारी जर्मनी के सिर पर है, अतः उससे हरजाने के रूप में भारी रकम वसूल की जानी चाहिए। यह हरजाना किस रूप में लिया जाय, इस सम्बन्ध में नई व्यवस्था की गई। रुपये की शकल में या माल के रूप में हरजाना वसूल करने से वे सब समस्याएँ उठ खड़ी होतीं, जो गत महायुद्ध (१६१४-१८) के बाद पैदा हो गई थीं। रुपये के रूप में हरजाना तभी प्राप्त हो सकता था, जब जर्मनी के निर्यात आयात की अपेक्षा अधिक हों। अन्यथा, उसकी मुद्रा-पद्धति छिन्न-भिन्न हो जाती और वहाँ के सिक्के की कीमत न के बराबर रह जाती। माल की शकल में हरजाना वसूल करने का परिणाम यह होता, कि जर्मनी की व्यावसायिक पैदावार खूब बढ़ती, उसके कल-खाने निरन्तर उन्नति करते और सस्ते जर्मन माल से दुनिया के बाजार परिपूर्ण हो जाते। इसलिए अब यह व्यवस्था की गई, कि जर्मनी में केवल उतनी मशीनरी रहने दी जाय, जो उसकी अपनी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त हो। शेष सब मशीनरी, कल-कारखानों का सामान, समुद्र व वायु में चलने वाले जहाज, युद्ध-सामग्री, अस्त्र-शस्त्र व अन्य सामान को जर्मनी से निकाल-कर उसे मित्रराष्ट्रों में बाँट दिया जाय। यह सब सामान रशिया, फ्रांस, पोलैण्ड, बेल्जियम आदि उन राज्यों को दे दिया जाय, जिन्हें विश्व-संग्राम में जर्मनी के आक्रमणों के कारण विशेष क्षति उठानी पड़ी है। पिछले अनुभव से लाभ उठाकर मित्रराष्ट्रों ने अब यह निश्चय किया, कि हरजाने के रूप में जो कुछ भी शुरू में ही जर्मनी से वसूल कर लिया जाय, वही ठीक है।

यद्यपि शासन की दृष्टि से जर्मनी को चार भागों में बाँटा गया था, और प्रत्येक भाग की सरकार पूर्णतया स्वतन्त्र थी, पर सम्पूर्ण जर्मनी की समस्याओं के सम्बन्ध में परस्पर सहयोग को कायम करने के लिए एक केन्द्रीय नियन्त्रण समिति (अलाइड कंट्रोल कौंसिल) की भी रचना की गई थी। इसमें अमेरिका, ब्रिटेन, रशिया और फ्रांस के वे चार सेनापति सदस्य रूप में रहते थे, जो कि जर्मनी के चारों क्षेत्रों के शासन के लिए नियुक्त थे। चारों मित्रराष्ट्रों ने अपने अपने जर्मन क्षेत्र में जो सरकारें कायम की थीं, वे सैनिक सरकारें थीं, उनका संचालन सेनापतियों द्वारा ही होता था। इस अलाइड कंट्रोल कौंसिल में ये प्रमुख सेनापति ही सदस्य थे। ये सम्पूर्ण जर्मनी के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर मिलकर विचार करते थे और इनका कोई भी निर्णय तभी हो सकता था, जब कि चारों सदस्य उससे सहमत हों। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि यदि किसी एक राज्य का प्रतिनिधि सेनापति किसी बात से असहमत हो, तो वह स्वीकृत नहीं समझी जाती थी। रशिया के अन्य मित्रराष्ट्रों के साथ जो मतभेद विश्व-संग्राम के बाद प्रकट हुए, उनके कारण इस अलाइड कंट्रोल कौंसिल को अपने कार्य में विशेष सफलता नहीं हो सकी। जर्मनी के विविध क्षेत्रों में मित्रराष्ट्रों का शासन प्रायः पृथक् रूप से ही कायम रहा, और वे मिलकर किसी एक नीति का अनुसरण नहीं कर सके।

अलाइड कंट्रोल कौंसिल के अतिरिक्त एक अन्य समिति का निर्माण भी इस उद्देश्य से किया गया, कि जर्मनी के चारों क्षेत्रों में परस्पर सहयोग स्थापित हो सके। इसे 'अलाइड को-ओर्डिनेटिंग कमेटी' कहते थे। इस सहयोग समिति में चारों जर्मन क्षेत्रों के सहायक सैनिक गवर्नर सदस्य-रूप में शामिल होते थे, और उन मामलों पर मिलकर विचार करते थे, जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण जर्मनी से था। आवागमन के साधन, द्रा, राष्ट्रीय आय-व्यय आदि मामलों पर यही समिति विचार करती

थी, और परस्पर सहयोग द्वारा किसी एक निर्णय पर पहुँचने का यत्न करती थी।

७. आस्ट्रिया की व्यवस्था

जर्मनी के पराजय से लगभग एक मास पूर्व एप्रिल, १९४५ में रशियन सेनाएँ आस्ट्रिया में प्रवेश कर गई थीं। हिटलर के नेतृत्व में नाजी शक्ति का जो सुदृढ़ संगठन उस देश में बना था, वह अब खण्ड-खण्ड होने लगा था। ऐसे समय में यह स्वाभाविक था, कि वे लोग देश को सँभालने के लिए मैदान में आवें, जो नाजी विचारधारा के विरोधी थे। इन लोगों में डा० कार्ल रेनर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १९१९ में जब प्राचीन हाप्सबुर्ग राजवंश के शासन का अन्त होकर आस्ट्रिया में रिपब्लिक की स्थापना हुई थी, तो डा० रेनर उसके चांसलर (प्रधान मन्त्री) पद पर नियत हुए थे। ये आस्ट्रिया के लोकसत्तावादी दल के प्रधान नेता थे। रशियन सेनाओं ने इन्हें वीएना जाने की अनुमति प्रदान कर दी, ताकि ये वहाँ जाकर आस्ट्रिया के लोकसत्तावादियों और नाजी-विरोधी विचारों के लोगों को संगठित कर सकें। वीएना पहुँचकर डा० रेनर को ज्ञात हुआ, कि वहाँ अन्य अनेक नेता विद्यमान हैं, जो नाजियों के शासन-काल में भी गुप्त रूप से मित्रराष्ट्रों का साथ देते रहे हैं, और जिन्होंने अपने देश को हिटलर के प्रभाव से मुक्त कराने के लिए निरन्तर प्रयत्न जारी रखा है। इन नेताओं के राजनीतिक दल तीन थे—कम्युनिस्ट दल, आस्ट्रियन जनता दल और लोकसत्तावादी (सोशल डेमोक्रेटिक) दल। इस समय इन सब दलों के नेताओं और डा० रेनर ने यह विचार किया, कि देश को नाजी प्रभाव से मुक्त कराने के लिए यह आवश्यक है, कि एक स्वतन्त्र आस्ट्रियन सरकार का संगठन किया जाय। २९ एप्रिल, १९४५ को इस सरकार का संगठन कर लिया गया, और डा०

रेनर फिर चांसलर के पद पर नियत हुए। इस सामयिक सरकार में सब नाजी विरोधी दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। रशिया ने डा० रेनर की इस सरकार को तुरन्त स्वीकृत कर लिया। अन्य मित्रराष्ट्र इस बात से बहुत नाराज हुए। उनकी इच्छा यह थी, कि आस्ट्रिया पर किसी एक मित्रराष्ट्र का प्रभाव न होने पावे। जिस प्रकार आगे चल कर जर्मनी को चार प्रभावक्षेत्रों में बाँटा गया, उसी प्रकार वे आस्ट्रिया को भी चार भागों में बाँट कर उन्हें अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन और रशिया के प्रभाव में रखना चाहते थे। सैनिक दृष्टि से इस बारे में पहले विचार-विनिमय भी हो चुका था। इसी लिए डा० रेनर की सरकार को स्वीकृत करने के लिए ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस उद्यत नहीं हुए।

पर आस्ट्रिया की सामयिक सरकार अपना कार्य कर रही थी। १ मई, १९४५ को आस्ट्रिया के पुराने लोकसत्तात्मक शासन विधान का पुनरुद्धार किया गया। नाजी शासन में जो अनेक नये कानून जारी किये गये थे, उन्हें रद्द किया गया। बहुत से नाजी नेता गिरफ़्तार किये गये। युद्ध के समय में जिन सैनिक अफसरों ने अमानुषिक कृत्य व अत्याचार किये थे, उन पर मुकदमे चलाये गये। देश में शान्ति और व्यवस्था कायम कर लेने के लिए अनेक उपयोगी कानून प्रचलित किये गये। इसमें सन्देह नहीं, कि डा० रेनर की सरकार ने आस्ट्रिया में एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने में अच्छी सफलता प्राप्त कर ली थी। नवम्बर, १९४५ में आस्ट्रिया की पार्लियामेण्ट का भी चुनाव किया गया। नाजी पार्टी के भूतपूर्व सदस्यों को इस चुनाव में वोट देने के अधिकार से वंचित किया गया था। ऐसे लोगों की संख्या ५,४०,००० के लगभग थी। पार्लियामेण्ट के कुल सदस्यों की संख्या १६५ थी। इनमें से ८५ जनता दल के, ७६ सोशलिस्ट पार्टी के और ४ कम्युनिस्ट पार्टी के थे। एक सदस्य ऐसा था, जो किसी दल के साथ सम्बन्ध नहीं रखता था। दिसम्बर, १९४५ में आस्ट्रिया के नये मन्त्रिमण्डल का

संगठन हुआ। इसमें ६ मन्त्री जनता दल के, ६ मन्त्री सोशलिस्ट पार्टी के और एक मन्त्री कम्युनिस्ट पार्टी का था। जनता दल के नेता श्री लियोपोल्ड फीगल को प्रधान मन्त्री नियत किया गया। डा० रेनर द्वितीय आस्ट्रियन रिपब्लिक के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। राष्ट्रपति का कार्य-काल छः साल रखा गया था।

जुलाई, १९४५ में पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा जब जर्मनी की नई व्यवस्था तैयार की जा रही थी, तभी आस्ट्रिया के प्रश्न पर भी विचार किया गया था। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस इस बात से बहुत नाखुश थे, कि रशिया ने सारे आस्ट्रिया को अपनी संरक्षा में ले लिया है। उन्होंने रशिया को इसके लिए विवश किया, कि जर्मनी के समान आस्ट्रिया को भी चार प्रभाव क्षेत्रों में विभक्त किया जाय। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई, कि बर्लिन के समान वीएना पर भी चारों मित्रराष्ट्रों का कब्जा रहे। उत्तर-पूर्वी आस्ट्रिया को रशिया के क्षेत्र में शामिल किया गया। इटली और युगोस्लाविया की सीमा पर आस्ट्रिया का जो दक्षिण-पूर्वी भाग स्थित है, उसे ब्रिटेन का प्रभावक्षेत्र नियत किया गया। दक्षिण-पश्चिमी आस्ट्रिया के जो प्रदेश स्विट्जरलैण्ड की सीमा के साथ लगते हैं, वे फ्रांस के प्रभावक्षेत्र में शामिल किये गये, और उत्तर-पश्चिमी आस्ट्रिया को अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र में दिया गया। आस्ट्रिया का कुल क्षेत्रफल ३२,००० वर्गमील है, और उसकी कुल आबादी ६९,००,००० है। इस छोटे से देश को भी इस समय मित्रराष्ट्रों ने चार प्रभाव क्षेत्रों में विभक्त कर दिया।

चारों प्रभाव क्षेत्रों में सैनिक शासन करने तथा आस्ट्रिया की सरकार पर नियन्त्रण रखने के लिए एक एक गवर्नर की नियुक्ति की गई। सारे आस्ट्रिया पर मित्रराष्ट्रों का नियन्त्रण स्थापित करने के उद्देश्य से एक 'अलाइड कमीशन' बनाया गया। इस कमीशन के तीन अंग थे—अलाइड कौंसिल, कार्यकारिणी समिति और विशेषज्ञों की सभा। अला-

इड कौंसिल में चारों प्रभावक्षेत्रों के गवर्नर सदस्य-रूप में सम्मिलित होते थे। इसके निर्णय भी सर्वसम्मति से किये जाते थे। इस प्रकार यद्यपि आस्ट्रिया पर मित्रराष्ट्रों ने अपना नियन्त्रण भली-भाँति कायम कर लिया था, तथापि पहले डा० रेनर और बाद में श्री लियोपोल्ड फीगल के नेतृत्व में जो स्वतन्त्र आस्ट्रियन सरकारें वहाँ कायम हुईं, वे देश के शासन में ठोस अधिकार रखती थीं। धीरे धीरे आस्ट्रिया में कम्युनिस्ट दल का प्रभाव बढ़ता गया। बाद में वहाँ का शासन भी कम्युनिस्टों के हाथ में चला गया, और आस्ट्रिया पूर्वी यूरोप के अन्य देशों के समान रशियन ब्लाक में शामिल हो गया।

८. जापान की व्यवस्था

विश्व-संग्राम में जापान के परास्त होने से पहले ही मित्रराष्ट्रों ने यह तय कर लिया था, कि पराजित जापान के सम्बन्ध में किस नीति का अनुसरण किया जायगा। इस नीति को अनेक उद्‌घोषणाओं द्वारा प्रकट कर देने का प्रयत्न भी मित्रराष्ट्रों ने किया था। फरवरी, १९४५ में याल्टा से यह घोषणा की गई थी, कि कोरिया को जापानी अधीनता से मुक्त करा के स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित किया जायगा, और सखालिन तथा उसके समीपवर्ती टापू रशिया को दे दिये जायेंगे। मंचूरिया पर रशिया का प्रभाव स्वीकृत किया जायगा, और युद्ध के दौरान में जापान ने जिन विविध प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया है, उन सबको उससे छीन कर उसकी सत्ता केवल उन द्वीपों तक सीमित कर दी जायगी, जो वस्तुतः जापान के अपने अंग हैं। जुलाई, १९४५ में पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा यह भी घोषित किया गया, कि जापान की सैनिक शक्ति को सदा के लिए नष्ट कर दिया जायगा और यह प्रयत्न किया जायगा, कि सभ्य संसार के अन्य देशों के समान जापान में भी लोकसत्तात्मक शासन स्थापित हो, और वहाँ भी भाषण व विचार की

स्वतन्त्रता का विकास हो। साथ ही, यह भी प्रयत्न किया जायगा, कि भविष्य में फिर कभी जापान साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए प्रयत्न न कर सके।

अगस्त, १९४५ में जब जापान ने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया, तो वहाँ व्यवस्था स्थापित करने का प्रश्न उत्पन्न हुआ। पर यह प्रश्न अधिक जटिल नहीं था। कारण यह, कि वहाँ सम्राट् का व्यवस्थित शासन विद्यमान था, मित्रराष्ट्रों ने जापान के विविध द्वीपों पर अभी सैनिक दृष्टि से कब्जा नहीं किया था, और न ही उस देश में कोई ऐसे राजनैतिक दल थे, जो सम्राट् के विरुद्ध षड्यन्त्रों में लगे हों। मित्रराष्ट्रों ने जापानी सम्राट् के शासन को कायम रखा, पर उस पर नियन्त्रण रखने व सैनिक दृष्टि से जापान की सैन्यशक्ति पर अपना कब्जा कायम करने की सारी जिम्मेवारी जनरल मैक आर्थर के हाथ में दे दी। जनरल मैक आर्थर प्रशान्त महासागर व पूर्वी एशिया के क्षेत्र में मित्रराष्ट्रों के सबसे बड़े प्रधान सेनापति थे, और सब शक्ति उन्हीं के पास केन्द्रित थी। अब जापान के शासन को नियन्त्रित करने का काम भी उनके सुपुर्द कर दिया गया। जनरल मैक आर्थर को अपने कार्य में परामर्श देने के लिए मित्रराष्ट्रों की एक कौंसिल नियत की गई, जिसे अलाइड कौंसिल आफ जापान कहते हैं। इस कौंसिल में निम्नलिखित देशों के प्रतिनिधि सदस्य रूप से नियुक्त किये गये—१. अमेरिका, इसका प्रतिनिधि कौंसिल के प्रधान का भी काम करता था। २. चीन, और ३. ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और भारत का सम्मिलित रूप से एक प्रतिनिधि। इस कौंसिल का प्रधान कार्यालय जापान की राजधानी टोकियो में स्थापित किया गया था। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि इस कौंसिल का कार्य केवल परामर्श देना था। सब बातों का अन्तिम निर्णय जनरल मैक आर्थर के हाथ में था। अलाइड कौंसिल आफ जापान का पहला अधिवेशन , १९४६ को टोकियो में हुआ।

इस कौंसिल के अतिरिक्त एक अन्य समिति थी, जिसका निर्माण जापान सम्बन्धी विषयों पर विचार करने व नीति के निर्धारण के उद्देश्य से किया गया था। इसे 'सुदूर पूर्व समिति' कहते थे, और इसका प्रधान कार्यालय अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन में था। इसके सदस्य निम्नलिखित राज्यों के प्रतिनिधि होते थे—(१) अमेरिका, इसका प्रतिनिधि समिति का प्रधान भी होता था। (२) आस्ट्रेलिया (३) कनाडा (४) चीन (५) फ्रांस (६) भारत (७) हालैण्ड (८) न्यूजीलैण्ड (६) फिलिप्पाइन्स (१०) रशिया और (११) ब्रिटेन। इस समिति का मुख्य कार्य यह था, कि इस बात का फैसला करे कि जापान की अधीनता से मुक्त हुए विविध प्रदेशों के शासन के लिए क्या व्यवस्था की जाय और जापान में जो नई सरकार कायम हो, उसका क्या स्वरूप हो, और वह किस नीति का अनुसरण करे। 'सुदूर पूर्व समिति' के निर्णय बहुमत द्वारा किये जाते थे, पर कोई निर्णय तब तक मान्य नहीं होता था, जब तक कि अमेरिका, चीन, रशिया और ब्रिटेन उसके साथ सहमत न हों। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इन चार राज्यों में से प्रत्येक को समिति के निर्णयों को वीटो कर देने का अधिकार प्राप्त था। क्योंकि जापान का शासन और व्यवस्था पूरी तरह जनरल मैक आर्थर के एकाधिकार में दे दी गई थी, अतः यह समिति अपने निर्णयों को पहले अमेरिकन सरकार के पास भेजती थी, और अमेरिकन सरकार उन्हें जनरल मैक आर्थर के पास पहुँचाती थी। समिति के निर्णयों के सम्बन्ध में भी अन्तिम अधिकार जनरल मैक आर्थर के हाथों में ही था। यद्यपि जापान में सम्राट् और उसकी सरकार विद्यमान थीं, पर वे पूरी तरह मैक आर्थर के नियन्त्रण में थीं और मित्रराष्ट्रों के इस प्रधान सेनापति ने यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया था, कि अपनी किसी भी आज्ञा को मनवाने के लिए सैन्य शक्ति के प्रयोग में वह जरा भी संकोच नहीं करेगा।

जनरल मैक आर्थर का जापान में मुख्य कार्य यह था, कि वह उसकी सैन्य शक्ति को बिलकुल पंगु बना दे। जापान के युद्ध व सैन्य-विभागों को अब यह काम सुपुर्द किया गया, कि वे अपनी सम्पूर्ण सैन्य शक्ति को नष्ट भ्रष्ट कर दें। इसी लिए बाधिक सैनिक सेवा व बाधित सैनिक शिक्षा की पद्धतियों को नष्ट किया गया। जो लाखों सैनिक जापान की सेना में थे, उन्हें बर्खास्त किया गया। जापान के लाखों सैनिक प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों व सुदूर पूर्व के विविध प्रदेशों में फैले हुए थे, उन सबको जापान वापस बुलाया गया और वहाँ उन्हें सैनिक सेवा से पृथक् किया गया। जंगी जहाज, हवाई जहाज व युद्ध के अन्य सब भारी सामान को या तो मित्रराष्ट्रों को दे दिया गया, और या नष्ट कर दिया गया। यह भी व्यवस्था की गई, कि जिन अफसरों ने जापान की सेना को इतना उन्नत और शक्तिशाली बनाने का कार्य किया था, उन्हें किसी भी राष्ट्रीय पद पर न रहने दिया जाय। जापानी लोग समझते थे, उनका सम्राट दैवी अधिकार द्वारा देश पर शासन करता है, वह साक्षात् भगवान् का प्रतिनिधि है। जापानी लोग अन्य जातियों की अपेक्षा ऊँचे व उत्कृष्ट हैं, उन्हें सारे संसार पर शासन करना है। इन विचारों के खिलाफ जबर्दस्त प्रचार किया गया। स्वयं सम्राट् से एक उद्घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें कहा गया था, कि सम्राट् को दैवी मानना या देवता के रूप में उसकी पूजा करना सर्वथा अनुचित है। यह बात भी गलत है, कि जापानी लोग अन्य लोगों की अपेक्षा ऊँचे व उत्कृष्ट हैं, और उन्हें संसार पर शासन करना है। शिक्षणालयों में जो अध्यापक उग्र राष्ट्रीय विचार रखते थे, उन्हें अपने पदों से पृथक् किया गया। ऐसी पाठ्य पुस्तकों को कोर्स से हटाया गया, जो उग्र राष्ट्रभक्ति का प्रतिपादन करती थीं। उन सब सभा-समितियों को गैर कानूनी घोषित किया गया, जिनका उद्देश्य जापान की राष्ट्रीय शक्ति को उन्नत करना था। इन सब बातों का उद्देश्य यही था, कि जापान सैनिक दृष्टि से शक्तिहीन

हो जाय, और वहाँ के लोग फिर कभी पूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागर को अपने आधिपत्य में लाने का प्रयत्न न करें। जापान में कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें उनके उदार राजनैतिक विचारों के कारण पिछली सरकार ने कैद किया था। इन सबको अब छोड़ दिया गया, और इन्होंने जापान में लोकसत्तावादी विचारों को फैलाने में बड़ी सहायता की।

९. पूर्वी यूरोप

विश्व संग्राम के दौरान में पूर्वी यूरोप के विविध देश जर्मन सेनाओं के कब्जे में थे। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि अनेक देश हिटलर की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के शिकार हो गये थे और इन सब में नाजी विचार धारा के अनुसार शासनों की स्थापना की गई थी। जब जर्मनी की घटती कला शुरू ई, तो रशियन सेनाओं ने धीरे धीरे इन्हें जर्मनी की अधीनता से मुक्त कराना प्रारम्भ किया। जर्मनी की घटती कला के समय में इन देशों में ऐसे देशभक्त लोग भी अपना सिर उठाने लगे थे, जो नाजी सिद्धान्तों के खिलाफ थे और जो अपने देश को जर्मन अधीनता से मुक्त करा के वहाँ स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारों को स्थापित करने का स्वप्न देखते थे। कम्युनिस्ट लोग इनमें सर्वप्रधान थे। कम्युनिस्ट व अन्य दलों के नाजी विरोधी देशभक्त लोग गुप्त समितियों तथा स्वयं-सेवक सेनाओं के गुप्त संगठनों द्वारा जर्मनी के खिलाफ संघर्ष में लगे थे। जब रशियन सेनाओं द्वारा इन प्रदेशों को स्वतन्त्र किया गया, तो इन देशों में सामयिक स्वतन्त्र सरकारों का संगठन हुआ। यह स्वाभाविक था, कि ये सरकारें रशिया के प्रभाव में रहें, और उसी की विचारधारा का अनुसरण करें।

पूर्वी यूरोप के इन विविध देशों में विश्व संग्राम की समाप्ति के बाद किस प्रकार नई सरकारें कायम हुई, इस विषय पर हम इस प्रकरण में प्रकाश डालेंगे।

(१) **चेको-स्लोवाकिया**—जर्मनी की अधीनता से चेको-स्लोवाकिया को १९४४ में छुटकारा मिला था। जो चेक देशभक्त युद्ध के समय में अपने देश से भाग कर बाहर चले गये थे, उन्होंने आजाद चेको-स्लोवाकियन सरकार का संगठन किया हुआ था। इसके नेता डा० बेनस थे। अपने देश के स्वाधीन हो जाने पर १० मई, १९४५ को वे प्राग लौट आये और चेको-स्लोवाकिया के शासन को अपने हाथों में ले लिया। २६ मई, १९४६ को नया शासन-विधान तैयार करने के लिए विधान-परिषद् का निर्वाचन किया गया। इसमें कम्युनिस्ट लोग बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। यद्यपि अन्य दलों की सम्मिलित शक्ति के मुकाबले में उनकी संख्या कम थी, पर फिर भी अन्य कोई पार्टी अकेले उनका मुकाबला नहीं कर सकती थी। धीरे धीरे कम्युनिस्ट अपनी शक्ति बढ़ाते गये और २५ फरवरी, १९४८ को वे अपनी सरकार बनाने में समर्थ हुए। कम्युनिस्ट नेता श्री क्लीमैन्ट गाटवाल्ड ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। नये शासन-विधान के अनुसार पार्लियामेण्ट का जो निर्वाचन हुआ, उसमें १४४ कम्युनिस्ट चुनाव में सफल हुए। पार्लियामेण्ट के कुल सदास्यों की संख्या ३०० थी। कुछ अन्य साम्यवादियों (सोशलिस्टों) की सहायता से कम्युनिस्ट लोग सुगमता के साथ अपना काम चला सकते थे।

चेको-स्लोवाकिया का शासन जो इस प्रकार कम्युनिस्टों के हाथ में चला गया, उस से ब्रिटेन, अमेरिका आदि लोकतन्त्रवादी देशों में बहुत असन्तोष फैला। अब यह स्पष्ट था, कि चेको-स्लोवाकिया रशिया के प्रभाव-क्षेत्र में आये बिना नहीं रहेगा। धीरे धीरे कम्युनिस्टों ने न केवल सरकार पर अपना कब्जा कर लिया, अपितु देश के सामाजिक व आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर भी अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। चेको-स्लोवाकिया के मन्त्रिमण्डल में विदेश मन्त्री के पद पर डा० मैसरिक विद्यमान थे। ये स्वतन्त्र चेको-स्लोवाकियन रिपब्लिक के

संस्थापक श्री मैसरिक के पुत्र थे। देश के शासन में कम्युनिस्ट लोगो का अत्यधिक प्रभाव हो जाने से ब्रिटेन, अमेरिका आदि में जो बेचैनी उत्पन्न हुई, उसके कारण चेको-स्लोवाकिया की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सम्बन्ध में अनेक उलझनें पैदा हो गई। उन्हे सुलझा सकना श्री मैसरिक के लिए कठिन था। परेशान होकर १० मार्च, १६४८ को उन्होंने आत्महत्या कर ली। डा० मैसरिक स्वयं कम्युनिस्ट नहीं थे, पर देशहित को दृष्टि में रखकर जो अनेक चेक लोग शासन में कम्युनिस्टो के साथ सहयोग कर रहे थे, वे भी उनमें से एक थे। पर रशिया और अमेरिका के विरोध के कारण जो पेचीदी स्थिति पैदा हो गई थी, उससे वे अत्यधिक परेशान हो गये, और अपनी मानसिक विकलता की दशा में ही उन्होंने आत्मघात करके अपनी परेशानियों का अन्त कर लिया। डा० मैसरिक की मृत्यु के बाद चेको-स्लोवाकिया पूर्णतया रशिया के ब्लाक मे शामिल हो गया। यद्यपि राष्ट्रपति डा० बेनस देश की नई राजनैतिक स्थिति से पूर्णतया संतुष्ट नहीं थे, पर उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र नहीं दिया। उनका कहना था, कि जब देश का लोकमत कम्युनिस्ट पार्टी के साथ है, तो उनकी सरकार का बनना ही उचित है। इसी समय चेको-स्लोवाकिया ने मार्शल योजना के अनुसार अमेरिका से सहायता लेना भी बन्द कर दिया, क्योंकि रशिया के प्रभाव-क्षेत्र में आ चुकने के बाद अमेरिका से किसी भी प्रकार की सहायता प्राप्त करना सर्वथा असंगत था।

३० मई, १६४८ को चेको-स्लोवाकिया मे नया चुनाव हुआ। इस में ८२ फी सदी के लगभग मतदाताओं ने कम्युनिस्टो का साथ दिया। ७ जून, १६४८ को डा० बेनस ने राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया। उनकी जगह पर कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्री गाटवाल्ट राष्ट्रपति नियुक्त हुए। श्री जैपोटोकी ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। इस समय चेको-स्लोवाकिया पूर्णतया कम्युनिस्ट प्रभाव में है।

(२) **युगो-स्लाविया**—जर्मनी के कब्जे से मुक्त होने के बाद २९ नवम्बर, १९४५ को युगो-स्लाविया में रिपब्लिक की स्थापना की गई। विश्व-संग्राम के समय में अनेक देशभक्त जर्मनी के खिलाफ संघर्ष में लगे थे। मार्शल टीटो उनके नेता थे। वे स्वयं कम्युनिस्ट विचारों के थे। नई युगोस्लाव रिपब्लिक के प्रधान मन्त्री मार्शल टीटो बने। युगो-स्लाविया भी रशिया के कम्युनिस्ट ब्लाक में शामिल हो गया। पर कुछ समय बाद रशिया के कम्युनिस्ट नेताओं और मार्शल टीटो में मतभेद हो गया और यह मतभेद अब भी जारी है।

(३) **रूमानिया**—मार्च १९४४ तक रशिया की सेनाओं ने रूमानिया के बड़े भाग पर कब्जा कर लिया था। २३ अगस्त, १९४४ को रूमानिया की सरकार ने रशिया के साथ सन्धि करके युद्ध की समाप्ति कर दी। जर्मनी की अधीनता के समय में रूमानिया की सरकार का प्रधान जनरल एन्टोनिस्कू था। रशिया से पराजित हो जाने के बाद उसके शासन का अन्त हो गया, और वहाँ एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की गई। नई सरकार जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में मित्र राज्यों के साथ शामिल हो गई। विश्व-संग्राम में जर्मनी के परास्त होने के बाद नवम्बर १९४६ में रूमानिया की पार्लियामेंट का नया चुनाव हुआ। इसमें कम्युनिस्ट लोग बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। कम्युनिस्टों के बहुसंख्या में रहते हुए यह सम्भव नहीं था, कि रूमानिया में किसी राजवंश या राजा की सत्ता कायम रह सकती। ३० दिसम्बर, १९४७ को राजा माइकेल ने अपनी राजगद्दी का स्वयमेव परित्याग कर दिया। उसी दिन रूमानियन पार्लियामेंट ने सर्व-सम्मति से यह घोषणा की, कि देश में राजसत्ता का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना की जाय। एप्रिल १९४८ में रूमानिया के लिए नया शासन-विधान बन कर तैयार हुआ। यह विधान कम्युनिज्म के सिद्धान्तों पर आश्रित है। ११ जून, १९४८ को नई पार्लियामेंट ने सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया, कि ७४ व्यवसायों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया

जाय। अब रूमानिया में पूर्णतया कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम हो गई है। आर्थिक उत्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो गया है, और रूमानिया रशियन ब्लाक में शामिल हो गया है।

(४) हंगरी—फरवरी, १६४५ में रशियन सेनाओं ने हंगरी में प्रवेश करके वहाँ से जर्मन शासन का अन्त किया। हंगरी के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि १ जनवरी, १६३८ को उसकी जो सीमाएँ थीं, उन्हें फिर से कायम किया जाय। फरवरी, १६४६ में हंगरी के निवासियों की एक विधान-परिषद् ने यह फैसला किया, कि देश में रिपब्लिकन शासन स्थापित किया जाय। ३१ अगस्त, १६४७ को नये विधान के अनुसार चुनाव हुए। इनमें कम्युनिस्ट व अन्य साम्यवादी दलों को बहुमत प्राप्त हुआ। हंगरी के मन्त्रिमण्डल में कम्युनिस्ट दल की प्रधानता है, और यूरोप की राजनीति में वह रशियन ब्लाक के साथ है।

(५) अल्बेनिया—अक्टूबर, १६४४ में अल्बेनिया जर्मनी के कब्जे से मुक्त हुआ। उसी समय कर्नल होड्जा के नेतृत्व में सामयिक सरकार की स्थापना की गई। जनवरी १६४६ में विधान-परिषद् का निर्माण किया गया और इस परिषद् ने निश्चय किया कि अल्बेनिया में रिपब्लिकन शासन की स्थापना की जाय। पुराने राजवंश को राजगद्दी पर अधिकार नहीं करने दिया गया और जो नई लोकतन्त्र सरकार वहाँ कायम की गई, उसका नेतृत्व श्री होड्जा के ही हाथ में रहा। अल्बेनिया के नये मन्त्रिमण्डल में कम्युनिस्टों का प्रधान हाथ था। यद्यपि अभी वहाँ पूर्णतया कम्युनिस्ट शासन कायम नहीं हुआ है, पर इस साम्यवादी दल का जोर निरन्तर बढ़ रहा है।

(६) आस्ट्रिया—विश्व-संग्राम की समाप्ति पर आस्ट्रिया जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुआ। वहाँ का शासन सूत्र सँभालने के लिए मित्रराष्ट्रों ने उसे एक कमीशन के सुपुर्द कर दिया, जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, रशिया और फ्रांस के प्रतिनिधि विद्यमान थे। इस कमीशन ने आस्ट्रिया

के छोटे से राज्य को चार हिस्सों में विभक्त कर दिया और एक एक हिस्से का शासन क्रमशः अमेरिका, ब्रिटेन, रशिया और फ्रांस ने अपने हाथों में ले लिया। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई कि वीएना पर चारों राज्यों की सेनाओं का कब्जा रहे। मई, १९४५ में आस्ट्रिया का शासन करने के लिए वहीं के लोगों की एक सामयिक सरकार संगठित हुई थी, जिसका नेता कार्ल रेनर था। इस सरकार का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। आस्ट्रिया में भी कम्युनिस्ट दल जोर पर है और उसके शासन में इस दल की प्रधानता है। पूर्वी यूरोप के अन्य देशों के समान आस्ट्रिया को भी रशियन ब्लाक में सम्मिलित माना जाता है।

(७) बल्गेरिया—विश्व-संग्राम में बल्गेरिया जर्मनी के पक्ष में था। पर लड़ाई के समय में ही वहाँ कम्युनिस्टों की शक्ति निरन्तर बढ़ती रही थी, और जब रशियन सेना ने उस पर आक्रमण किया, तो बल्गेरियन कम्युनिस्टों ने उसका साथ दिया। अक्टूबर, १९४४ तक बल्गेरिया रशिया के हाथ में आ चुका था और वहाँ जो नई सरकार कायम की गई थी, उसमें कम्युनिस्टों की प्रधानता थी। इस सरकार ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी थी। विश्व-संग्राम की समाप्ति पर लोकमत द्वारा यह निर्णय किया गया, कि बल्गेरिया से राजसत्ता को सदा के लिए समाप्त कर दिया जाय, और वहाँ रिपब्लिक की स्थापना की जाय। २७ अक्टूबर, १९४६ को नये विधान के अनुसार निर्वाचन हुए। पार्लियामेंट के ४६५ सदस्यों में से ३६४ ऐसे थे, जो साम्यवाद के अनुयायी थे। इनमें से २७७ तो कम्युनिस्ट ही थे। नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण कम्युनिस्ट नेता श्री ज्यार्ज डिमिट्रोव ने किया। धीरे धीरे बल्गेरिया में कम्युनिस्ट लोगों की सत्ता पूरी तरह कायम हो गई है। विरोधी दलों को कुचल दिया गया है। बल्गेरिया में अब पूर्णतया कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम कर दी गई है। १४ दिसम्बर, १९४७ को एक

कानून के अनुसार सब व्यवसाय व कल-कारखाने राज्य के स्वामित्व में ले आये गये हैं।

(८) ग्रीस—जर्मनी की अधीनता से मुक्त होने के बाद दिसम्बर १९४४ में ग्रीस के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि एथन्स के आर्क बिशप को सामायिक रूप से शासन के सब अधिकार दे दिये जावें। ग्रीस का पुराना राजा इस समय लन्दन में था। लड़ाई के समय में जब ग्रीस पर जर्मनी ने कब्जा किया, तो वह भाग कर बृटैन चला आया था। अब प्रश्न यह था, कि क्या ग्रीस में फिर से राजसत्ता कायम की जाय या वहाँ के शासन का स्वरूप रिपब्लिकन हो। इस बात का फैसला लोकमत द्वारा ही किया जा सकता था। १ सितम्बर, १९४६ को इस प्रश्न पर लोकमत लिया गया। बहुमत से यह निर्णय हुआ, कि ग्रीस में राजसत्ता कायम रहनी चाहिए। २३ सितम्बर, १९४६ को ग्रीस का लन्दन स्थित राजा अपने देश को वापस लौट आया। पर दुर्भाग्यवश कुछ महीने बाद १ एप्रिल, १९४७ को उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद राजा पॉल प्रथम ग्रीस के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसका शासन आज भी कायम है। ३१ मार्च, १९४६ को ग्रीक पार्लियामेंट का चुनाव हुआ। इसमें कम्युनिस्ट विरोधी दलों के लोग बहुसंख्या में निर्वाचित हुये। पर कम्युनिस्ट लोगों की संख्या भी ग्रीस में कम नहीं है। विश्व संग्राम के समय में जर्मनी के शासन के खिलाफ कम्युनिस्टों ने संघर्ष को जारी रखा था। उन्होंने एक आजाद ग्रीक सरकार भी कायम करली थी और इसकी आजाद ग्रीक सेना जर्मनी के विरुद्ध निरन्तर लड़ती रही थी। अब संग्राम की समाप्ति पर जब ग्रीस में फिर से राजसत्ता कायम हुई तो यह आजाद कम्युनिस्ट ग्रीक सरकार बहुत असन्तुष्ट हुई। इसने ग्रीस के राजा और मन्त्रिमंडल के खिलाफ विद्रोह कर दिया। २४ सितम्बर, १९४९ को आजाद ग्रीक नेता जनरल मार्कस ने एक पृथक ग्रीक सरकार कायम कर ली। जनरल मार्कस व उसके साथी ग्रीस के राजा व

वर्तमान सरकार को नहीं चाहते। वे अपने देश में साम्यवादी सिद्धान्तों के अनुसार रिपब्लिकन शासन कायम करना चाहते हैं। ग्रीस में अभी संघर्ष जारी है। ब्रिटेन और अमेरिका इस बात के लिये उत्सुक और कटिबद्ध हैं, कि ग्रीस को कम्युनिस्ट प्रभाव में न आने दिया जाय। पर कम्युनिज्म की हवा प्रायः सम्पूर्ण पूर्वी व दक्षिणी यूरोप में फैल चुकी है। ग्रीस देर तक इस हवा से बचा रह सकेगा, यह बात बहुत सन्दिग्ध है।

(९) **पोलैण्ड**—मार्च, १९४५ तक सम्पूर्ण पोलैण्ड रशियन सेनाओं के कब्जे में आ चुका था। युद्ध के समय में पोलैण्ड की तीन सरकारें विविध स्थानों पर कायम थीं। जर्मनी के प्रभाव में एक पोल सरकार देश का शासन करती थी। दूसरी पोल सरकार लन्दन में कायम थी। इसमें वे लोग शामिल थे, जिन्हें परास्त कर जर्मनी ने पोलैण्ड पर अपना कब्जा किया था। तीसरी पोल सरकार रशिया की प्रेरणा और सहायता से कायम हुई थी। इसमें कम्युनिस्ट विचारों के लोग शामिल हुए थे। पोलैण्ड से जर्मन कब्जे का अन्त रशियन सेनाओं द्वारा किया गया था। अतः स्वाभाविक रूप से विश्व संग्राम की समाप्ति के बाद तीसरी (कम्युनिस्ट) पोल सरकार ने वहाँ के शासनसूत्र को हाथ में लिया। जुलाई, १९४४ में ही रशिया ने यह घोषणा कर दी थी, कि पोलैण्ड की न्याय्य और असली सरकार यह तीसरी सरकार है, जो इतिहास में लुबलिन सरकार के नाम से प्रसिद्ध है। १८ जनवरी, १९४५ को इसने वारसा में प्रवेश किया और देश के शासन को संभाल लिया। जनवरी, १९४७ में पोलैण्ड की नई पार्लियामेंट का निर्वाचन हुआ। इसमें कम्युनिस्ट लोग भारी संख्या में चुने गये। श्री बोलस्लो बैरूत को पोल रिपब्लिक का राष्ट्रपति और श्री साइरैन्किविज को प्रधान मन्त्री नियत किया गया। पोलैण्ड में कम्युनिस्ट दल की प्रधानता है, और यह देश भी रशिया के ब्लाक में शामिल है।

विश्वसंग्राम का प्रारम्भ पोलैण्ड की समस्या पर ही हुआ था।

जर्मनी के आक्रमणों से पोलैण्ड को भारी नुकसान उठाना पड़ा था। लड़ाई की समाप्ति पर पोलैण्ड के कलेवर में बहुत वृद्धि कर दी गई है। पूर्वी जर्मनी का बहुत बड़ा भाग, जिसमें प्रशिया और साइलीसिया के बड़े हिस्से अन्तर्गत हैं, पोलैण्ड को दे दिया गया है। इस जर्मन प्रदेश से पचास लाख के लगभग जर्मनों को इस बात के लिए विवश किया गया है, कि वे अपने घरों और मातृभूमि का परित्याग कर चले जावें, ताकि पोल लोगों को अपने विस्तार के लिए पर्याप्त स्थान मिल सके। ये जर्मन लोग पश्चिम की तरफ जर्मनी में जाकर आबाद हुए हैं, और पोलैण्ड ने प्रशिया और साइलीसिया के अनेक प्रदेशों पर अपना कब्जा कर लिया है। अब पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने के लिए किसी गलियारे की आवश्यकता नहीं रही है। उसकी सीमायें समुद्र तट तक पहुँच गई हैं।

(१०) डेनमार्क—जर्मनी के पराजय के बाद मई, १९४५ में डेनमार्क फिर से स्वतन्त्र हुआ। ३० अक्टूबर, १९४५ को वहाँ नया निर्वाचन हुआ और श्री क्रिस्टन्सन के नेतृत्व में नई सरकार का निर्माण किया गया। डेनमार्क में कम्युनिस्टों का जोर नहीं है। वहां अभी लोकतन्त्रवादी दलों की प्रधानता है। ४ नवम्बर, १९४७ को श्री क्रिस्टन्सन के मन्त्रिमंडल का पतन हो गया, और श्री हेदटोफ्ट ने नये मन्त्रिमंडल का निर्माण किया।

(११) नार्वे—सन् १९४४ के अन्त से पूर्व ही नार्वे जर्मनी के कब्जे से मुक्त करा दिया गया था। विश्वसंग्राम के समय में नार्वे के राजा हाकन और उसकी सरकार भाग कर ब्रिटेन चले गये थे। अब वे लौट कर अपने देश में आ गये। १९४५ में वहाँ नया निर्वाचन हुआ, जिसमें मजदूर दल बड़ी संख्या में निर्वाचित हुआ। नार्वे में अभी कम्युनिस्ट दल का जोर बहुत नहीं बढ़ा है। वहाँ लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार शासन कायम है।

(१२) फिनलैण्ड—जर्मनी के पतन के बाद मार्च, १९४५ में

फिनलैण्ड में नया निर्वाचन हुआ। बाल्टिक सागर के तटवर्ती अन्य देश लिथुएनिया, लैटविया और एस्थोनिया अब तक रशिया के कब्जे में आ चुके थे। उन्हें रशियन यूनियन के अन्तर्गत कर दिया गया था। फिनलैण्ड के कम्युनिस्ट भी यह चाहते थे, कि उनका देश रशिया के साथ सम्मिलित हो जाय। पर नये निर्वाचन में ऐसे लोगों का बहुमत रहा, जो फिनलैण्ड की पृथक् सत्ता के पक्षपाती थे। इस कारण फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता कायम रही। पर वहाँ कम्युनिस्टों का जोर निरन्तर बढ़ रहा है, और धीरे धीरे फिनलैण्ड रशिया के प्रभाव में आता जा रहा है।

(१३) यूरोप के अन्य देश—जर्मनी के पतन के बाद बेल्जियम और हालैण्ड फिर से स्वतन्त्र हुए। दोनों देशों में अपनी अपनी पार्लियामेन्टों का नये सिरे से चुनाव हुआ, और एक बार फिर उनमें लोकतन्त्र सरकारों की स्थापना हुई। विश्व-संग्राम में स्पेन तटस्थ रहा था। यद्यपि जनरल फ्रांको की सहानुभूति फैसिस्ट और नाजी पार्टियों के साथ थी, पर अपने देश के हित की दृष्टि से उसने यही उचित समझा था, कि लड़ाई में उदासीन नीति का अनुसरण करे। इसीलिए वहाँ फ्रांको का शासन कायम रहा। फ्रांस और ब्रिटेन पर हम आगे विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

१०. रशिया

विश्व-संग्राम के बाद अनेक नये प्रदेश रशिया के सोवियट यूनियन में सम्मिलित हुए हैं। ये प्रदेश निम्नलिखित हैं—(१) लैटविया (२) लिथुएनिया (३) एस्थोनिया (४) फिनलैण्ड का दक्षिण-पूर्वी प्रदेश और (५) पोलैण्ड और रूमानिया के सीमावर्ती कुछ प्रदेश। इन सब को पृथक् रिपब्लिकों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और उन्हें सोवियट यूनियन में शामिल कर लिया गया। इससे रशिया की आबादी में दो करोड़ के लगभग वृद्धि हो गई और उसके क्षेत्रफल में दस लाख वर्गमील

के लगभग के नये प्रदेश शामिल हो गये। जहाँ इन सब नये प्रदेशों पर रशिया का कम्युनिस्ट शासन स्थापित हुआ, वहाँ पूर्वी यूरोप के अनेक राज्य भी उसके प्रभाव-क्षेत्र में आ गये। ये राज्य निम्नलिखित हैं—पोलैण्ड, चेको-स्लोवाकिया, हंगरी, रूमानिया, बल्गेरिया, युगोस्लाविया, फिनलैण्ड और जर्मनी व आस्ट्रिया के अनेक प्रदेश। इन सबमें कम्युनिस्ट शासन स्थापित हैं, और रशिया के साथ इनका घनिष्ट सम्बन्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ये सब रशिया का साथ देते हैं। यद्यपि युगोस्लाविया में मार्शल टीटो और उसके अनुयायियों का रशिया की कम्युनिस्ट पार्टी से अनेक बातों में मतभेद है, पर इन सब देशों में कम्युनिज्म का प्रसार हो जाने से ये सब रशिया के ब्लाक में शामिल हैं। इससे सोवियट यूनियन की शक्ति बहुत बढ़ गई है।

युद्ध की समाप्ति पर १२ फरवरी, १९४६ को रशिया में नया निर्वाचन हुआ। वोटरों की कुल संख्या १०,१७,१७,६८६ थी। उनमें से १०,१४,५०,९३६ ने निर्वाचन में भाग लिया। ९९.१८ प्रतिशत वोट कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवारों के पक्ष में आये। जिन लोगों ने कम्युनिस्टों के विरोध में वोट दिया, उनकी कुल संख्या ८,१८,६५५ थी। रशियन सोवियट यूनियन के नये राष्ट्रपति श्री श्वेरनिक नियत हुए। पुराने राष्ट्रपति श्री कालिनिन के त्यागपत्र दे देने के बाद १९ मार्च, १९४६ को उनकी नियुक्ति हुई थी। प्रधान मन्त्री के पद पर श्री स्टालिन ही कायम रहे। उनकी शक्ति अभी तक भी रशिया में सर्वोपरि है।

११. कामिनफार्म

२५ अक्टूबर, १९४७ को कामिनफार्म नाम की संस्था रशिया के नेतृत्व में कायम की गई। संसार के विविध राज्यों में जो कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं, उनमें परस्पर सहयोग स्थापित करना, उन्हें अपने प्रयत्नों में सहायता देना और अपने आदर्शों व विचारों का प्रचार करना इस

संस्था का उद्देश्य है। शुरू में नौ राज्यों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ कामिन-फार्म में शामिल हुईं। उनके नाम निम्नलिखित हैं—रशिया, पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, बल्गेरिया, युगो-स्लाविया, फ्रांस, चेको-स्लोवाकिया और इटली। बाद में फिनलैण्ड इसमें शामिल हो गया और युगोस्लाविया इससे पृथक् हो गया। युगोस्लाविया का शासन अब भी कम्युनिस्ट है, पर उसके प्रधान नेता मार्शल टीटो का रशिया से अनेक बातों में मतभेद है। इसीलिए वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी कामिनफार्म से पृथक् हो गई है। पूर्वी यूरोप के प्रायः सभी राज्य कामिनफार्म में शामिल हैं, अतः रशिया का एक शक्तिशाली ब्लाक यूरोप में बन गया है, जिसमें धीरे धीरे एशिया के अनेक देश भी शामिल होते जाते हैं

कामिनफार्म के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी पुनरुज्जीवित हो गई है। स्टालिन और ट्राटस्की का मुख्य मतभेद इसी बात पर था, कि क्या कम्युनिज्म को एक देश की सीमाओं तक सीमित रखा जा सकता है। ट्राटस्की अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट क्रान्ति के पक्षपाती थे। स्टालिन का विचार था, कि पहले अपने सिद्धान्तों को रशिया में ही सफल बनाना चाहिये, और अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति कम्युनिज्म की सफलता के लिए अनिवार्य नहीं है। पर विश्व-संग्राम के बाद संसार के विविध देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। छोटे राज्यों का महत्त्व घट गया है, और संसार का नेतृत्व अमेरिका और रशिया के हाथों में आ गया है। इन दो शक्तिशाली राज्यों में विचारभेद के कारण परस्पर संघर्ष होना अनिवार्य सा प्रतीत होता है। अतः दोनों देश अपने अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार को आवश्यक समझते हैं। मार्शल योजना के कारण पश्चिमी यूरोप के विविध राज्य अमेरिका के प्रभाव में आ गये हैं। कामिनफार्म द्वारा रशिया ने अपना अलग प्रभाव क्षेत्र कायम कर लिया है, और क्योंकि कम्युनिज्म के विचार सर्वत्र विद्यमान हैं, और कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी सब देशों में कायम होती जाती हैं,

अतः कामिनफार्म का कार्य-क्षेत्र और प्रभाव भी निरन्तर-प्रसार करत जाता है।

१२. अन्तर्राष्ट्रीय मुकदमे

विश्व-संग्राम के लिए मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को उत्तरदायी ठहराया था। इसलिए उन्होंने पोट्सडम की कान्फरेन्स में यह फैसला किया था, कि नाजी नेताओं पर मुकदमे चलाये जावें। इसके लिए न्यूरमबर्ग में एक अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय की स्थापना की गई थी, जिसमें अमेरिका ब्रिटेन, रशिया और फ्रांस के प्रतिनिधि न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किये गये थे। विविध नाजी नेताओं पर जो अभियोग लगाये गये, उन्हें चार भागों में बाँटा जा सकता है। (क) युद्ध के लिए साजिस करना, (ख) युद्ध के समय में ऐसे अपराध करना जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के खिलाफ हों, (ग) शान्ति और व्यवस्था के खिलाफ अपराध करना और (घ) मानव-समाज और मनुष्यता के विरुद्ध अपराध करना। जिन लोगों के खिलाफ इन अभियोगों के आधार पर मुकदमे चलाये गये, उनमें गोअरिंग, रिवनट्राप, काइटल, फ्रिक जैसे सर्वोच्च नाजी नेता शामिल थे। अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय ने उनमें से बहुसंख्यक लोगों को मौत की सजा दी। कुछ को आजन्म कारावास का दण्ड दिया गया। कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें निरापराध मान कर छोड़ दिया गया। जर्मनी के अभियुक्तों के खिलाफ ये मुकदमे १ अक्टूबर, १६४६ को समाप्त हुए थे।

इसी प्रकार के मुकदमे इटली और जापान के नेताओं के खिलाफ भी चलाये गये थे। जापान के जिन नेताओं को इस न्यायालय के सन्मुख अभियुक्त के रूप में पेश किया गया था, उनमें जनरल तोजो, जनरल कीमुरा और श्री हीरोता जैसे प्रमुख व्यक्ति भी शामिल थे। अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय ने इनको प्राणदंड दिया। जापान के जो प्रमुख नेता इस प्रकार फाँसी के तख्ते पर लटकाये गये, उनकी संख्या सात थी।

अन्य बहुत से बड़े जापानी सेनापतियों व राजनीतिज्ञों को आजन्म कारावास की सजा दी गई। जापान के अभियुक्तों पर मुकदमा चलाने के लिए जिस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई थी, उसका एक न्यायाधीश भारतीय भी था। इन सज्जन का नाम है, श्री राधा विनोद पाल। इन्होंने अपने निर्णय में यह बात भली भाँति स्पष्ट की थी कि, युद्ध के लिए केवल जापानी अभियुक्तों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने जो कुछ भी किया, वह अपने देश के हित को दृष्टि में रख कर किया। उनका प्रधान अपराध यही है, कि वे परास्त देश के नेता हैं। श्री पाल ने अन्य न्यायाधीशों के निर्णय से अपनी असहमति को भली भाँति स्पष्ट कर दिया था।

इसमें सन्देह नहीं, कि परास्त देशों के नेताओं पर मुकदमा चलाना संसार के इतिहास में एक नई बात है। इससे एक नई परम्परा का प्रारम्भ होता है। पराजित राज्य से बदला लेने की बात इससे प्रगट होती है, और इसका अभिप्राय यही समझा जा सकता है, कि अपने शत्रु का सर्वनाश करने का प्रयत्न किया जाय। यदि विश्वसंग्राम में ब्रिटेन और अमेरिका परास्त होते, तो श्री चर्चिल या राष्ट्रपति रूजवेल्ट पर भी इसी प्रकार के मुकदमे चलाये जा सकते थे। इस समय संसार में असहिष्णुता बहुत बढ़ गई है। विविध राज्यों में अपने से विरोध रखने वाली राजनैतिक पार्टी की सत्ता को लोग सहन नहीं करना चाहते। उन पर देश का विरोधी होने का मुकदमा चलाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। फ्रांस की सरकार ने मार्शल पेताँ पर इसीलिए मुकदमा चलाया। पेताँ ने जो कुछ भी किया था, उनकी सम्मति में समय को देखते हुए ठीक ही था। पर बाद में उसे देशद्रोही माना गया। यही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में है। तोजो गोयरिंग आदि पर चलाये गये मुकदमे इसी असहिष्णुता के परिणाम हैं। पर संसार के लिए इस प्रवृत्ति को हितकर नहीं कहा जा सकता।

१३. मार्शल योजना

विश्व-संग्राम के कारण यूरोप के विविध राज्यों की आर्थिक दशा बहुत ही खराब हो गई थी। उनके पास अपने आर्थिक साधन इतने नहीं थे, कि वे स्वयं अपनी दुर्दशा को ठीक कर सकें। इसके लिए उन्हें किसी देश से सहायता की आवश्यकता थी। केवल अमेरिका इस दशा में था, कि इस संकट के समय में यूरोप के राज्यों की सहायता कर सकता। इस समय में अमेरिकन सरकार के अन्यतम मन्त्री श्री मार्शल ने यह घोषणा की, कि यदि यूरोप के विविध देश अपनी आर्थिक अवस्था को सँभालने के लिए परस्पर मिलकर कोई योजना तैयार करें, तो अमेरिका उन्हें सहायता देने के लिए उद्यत है। इसके अनुसार ब्रिटेन, फ्रांस और रशिया के प्रतिनिधि पेरिस में एकत्र हुए, और उन्होंने परस्पर मिलकर एक योजना तैयार करने का प्रयत्न किया। पर वे आपस में सहमत नहीं हो सके। कारण यह हुआ, कि अमेरिका से सहायता किन शर्तों पर प्राप्त की जाय, इस प्रश्न पर रशिया का ब्रिटेन और फ्रांस से भारी मतभेद था। रशिया समझता था, कि अमेरिका यूरोप के विविध राज्यों को अपने प्रभाव में रखना चाहता है। उन्हें सहायता देने का प्रयोजन यही है, कि वे कम्युनिज्म के असर से बचे रहें और रशिया की शक्ति न बढ़ने पावे। इसलिए रशिया इस बात के लिए उत्सुक था, कि यूरोपियन राज्य अपनी योजना इस प्रकार से तैयार करें, कि अमेरिका उन पर किसी भी प्रकार से अपना राजनैतिक प्रभाव न कायम कर सके। अपने साथियों से सहमत न हो सकने के कारण रशिया उनसे अलग हो गया और ब्रिटेन व फ्रांस ने यूरोप के विविध देशों की एक कान्फरेन्स बुलाने की योजना की। इस कान्फरेन्स में निम्नलिखित राज्य शामिल हुए—ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, बेल्जियम, डेनमार्क, आयर्लैण्ड, ग्रीस, आइसलैण्ड, इटली, लक्समबर्ग, हालैण्ड, नार्वे, पोर्तुगाल,

स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड और टर्की। जो राज्य इस कान्फरेन्स में शामिल नहीं हुए, उनमें से निम्नलिखित के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—अल्बेनिया, चेकोस्लोवाकिया, बल्गेरिया, फिनलैण्ड, हंगरी, पोलैण्ड, रूमानिया और युगोस्लाविया। ये सब राज्य रशिया के ब्लाक में शामिल थे और इनमें कम्युनिस्ट सरकारें कायम थीं। पेरिस की इस कान्फरेन्स में रशिया के शामिल होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था।

१२ जुलाई, १९४७ को यह कान्फरेन्स शुरू हुई। इसमें जो निश्चय किये गये, वे निम्नलिखित हैं—(१) सब राज्यों के प्रतिनिधियों की एक सहकारी समिति बनाई जाय, जो यह तय करे, कि यूरोप के विविध देशों में क्या क्या चीज प्राप्तव्य हैं, और कौन कौन सी चीजें ऐसी हैं, जो उन्हें अमेरिका से प्राप्त करनी हैं। साथ ही, यह समिति यह भी ठीक-ठीक बतावे, कि किस किस देश को किस किस वस्तु की कितनी-कितनी मात्रा अमेरिका से प्राप्त करनी होगी। (२) भोजन-सम्बन्धी वस्तुओं और कृषिसम्बन्धी उपकरणों के बारे में कितनी सहायता किस देश को चाहिए, इसका निश्चय करने के लिए एक विशेष उपसमिति का निर्माण किया जाय। १५ जुलाई, १९४७ को पेरिस कान्फरेन्स का अधिवेशन समाप्त हो गया। उसने जिन समितियों का निर्माण किया था, वे अपनी रिपोर्ट तैयार करने में लग गईं। ये रिपोर्ट सितम्बर, १९४७ तक तैयार हो गईं। इनमें यह योजना पेश की गई, कि यूरोप को अपने आर्थिक पुनः निर्माण के लिए कम से कम ८००० करोड़ रुपये के माल की आवश्यकता होगी, और यह रकम चार साल के अन्दर खर्च करनी होगी।

इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति श्री ट्रूमैन ने एक उपसमिति नियुक्त की। इसके अध्यक्ष श्री हैरीमैन बनाये गये। श्री हैरीमैन अमेरिका की सरकार में व्यापार सचिव थे। हैरीमैन उपसमिति की रिपोर्ट ८ नवम्बर, १९४७ को प्रकाशित हुई। मार्शल योजना का आधार यही रिपोर्ट है। मार्शल योजना का पूरा नाम

है—यूरोप के पुनःनिर्माण की योजना या 'यूरोपियन रिकोवरी प्लान'। इसी से संक्षेप में इसे ई० आर० पी० भी कहा जाता है। इसके अनुसार एप्रिल, १६४८ में यूरोप की सहायता का कार्य शुरू किया गया। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकन कांग्रेस के सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित किया, कि चार साल के लगभग समय में ६,४०० करोड़ रुपया खर्च किया जाय, जिसमें से २,००० करोड़ रुपया पहले १५ महीनों में खर्च हों। जून, १६४८ में यह योजना अमेरिकन कांग्रेस द्वारा स्वीकार हो गई। इस योजना के अनुसार पहले साल में ब्रिटेन को ६० करोड़ रुपये का सामान प्राप्त होना है। फ्रांस, इटली आदि अन्य देशों को कितनी सहायता दी जायगी, यह सब भी इसमें विस्तार के साथ निश्चित कर दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि मार्शल योजना के अनुसार यूरोप के राज्यों को अपनी आर्थिक व्यवस्था सँभालने में बहुत सहायता मिलेगी और वे शीघ्र ही आर्थिक क्षेत्र में अपने पैरों पर खड़े हो सकेंगे।

१४. ब्रिटिश साम्राज्य

विश्व-संग्राम में ब्रिटेन अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ रहा। जर्मनी को परास्त करने में उसके प्रधानमन्त्री श्री चर्चिल का बड़ा हाथ था। ब्रिटेन जो अकेला जर्मनी की विशाल शक्ति के साथ देर तक संघर्ष करता रहा, उसका श्रेय बहुत कुछ श्री चर्चिल को है। पर १६४५ में जब ब्रिटेन में पार्लियामेंट का नया चुनाव हुआ, तो श्री चर्चिल की कन्जर्वेटिव पार्टी सफल नहीं हो सकी। चुनाव में मजदूर दल को भारी सफलता मिली। लड़ाई के बाद संसार के प्रायः सभी देशों में साम्यवाद जोर पकड़ रहा था। ब्रिटेन भी उसके प्रभाव से नहीं बच सका। साम्यवाद की बहुत सी शाखाऐं हैं। ब्रिटेन का मजदूर दल भी साम्यवादी है, यद्यपि उसका साम्यवाद कम्युनिज्म से बहुत भिन्न है। २६ जुलाई, १६४५ को मजदूर दल के नेता श्री एटली ने प्रधानमन्त्री का

पद ग्रहण किया। उनके मन्त्रिमण्डल में १६ सदस्य हैं, पर अब तक श्री एटली का यही मन्त्रिमण्डल ब्रिटेन का शासन कर रहा है।

यद्यपि विश्व-संग्राम में ब्रिटेन स्वयं शत्रु के कब्जे से बचा रहा था, पर उसके साम्राज्य के अनेक प्रदेश शत्रु के हाथ में चले गये थे। प्रशान्त महासागर के विविध द्वीप, चीन के तटवर्ती अनेक नगर व प्रदेश, मलाया, अंडमान, बरमा आदि कितने ही प्रदेश विश्व-संग्राम के समय में ब्रिटेन के हाथ से निकल कर जापान के अधिकार में चले गये थे। ये सब प्रदेश बाद में मित्रराज्यों ने जापान से जीत लिये। पर एक बार ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त हो जाने के बाद इन प्रदेशों में अपनी स्वाधीनता की भावना इतनी प्रबल हो गई थी, कि ब्रिटेन के लिए इन्हें अपने अधीन रख सकना सम्भव नहीं रहा था। इन सब में राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावनाएँ बहुत उग्ररूप धारण कर चुकी थीं। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों ने अब भली भाँति अनुभव कर लिया था, कि पुराने किसम के साम्राज्यवाद का कायम रह सकना अब मुमकिन नहीं हो सकता। अतः उन्होंने यही निश्चय किया, कि बरमा आदि के सम्बन्ध में नई व्यवस्था की जाय और उन्हें स्वयं अपनी खुशी से स्वाधीन कर दिया जाय। इसी के अनुसार बरमा के प्रतिनिधियों को राजनैतिक फैसला कर लेने के लिए लण्डन बुलाया गया। एप्रिल, १९४७ में उनके साथ यह तय हुआ, कि एक विधान परिषद् का चुनाव किया जाय। इसे यह अधिकार हो, कि बरमा का नया शासन विधान तैयार करे। बरमा की विधान परिषद् का अधिवेशन १० जून, १९४७ को शुरू हुआ। २४ सितम्बर, १९४७ तक नया विधान तैयार हो गया और वह सर्वसम्मति से स्वीकृत कर लिया गया। इस समय बरमा के प्रधानमन्त्री यू आंग सान थे। वे यह चाहते थे, कि ब्रिटेन के साथ समझौता कर लिया जाय और आपस के विचार विनिमय से ऐसा निर्णय कर लिया जाय, जिससे देश की सब राजनैतिक आकांक्षायें पूर्ण हो सकें। पर बरमा में एक ऐसा दल भी

था, जो क्रान्तिकारी तरीकों में विश्वास रखता था। इसने एक षड्यन्त्र तैयार किया। मन्त्रिमण्डल की जब बैठक हो रही थी, तो कुछ लोगों ने उस पर हमला कर दिया और यू आंग सान तथा उनके छः साथी गोली के शिकार बने। क्रान्तिकारियों का यह विश्वास था, कि इस हत्या के बाद बरमा में अशान्ति और अव्यवस्था फैल जायगी और वे शक्ति को स्वयं प्राप्त कर लेंगे। पर उन्हें निराश होना पड़ा। उनके सब प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिये गये। यू आंग सान के प्रधान सहायक थाकिन नू ने उनका स्थान ग्रहण किया, और विधान परिषद् के निर्णयों को क्रिया में परिणत किया गया। अब बरमा पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। वह ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर हो गया है।

लंका (सीलान) में स्वतन्त्रता का आन्दोलन देर से चल रहा था। नवम्बर,१९४७ में लंका को भी स्वाधीनता प्राप्त हो गई। यद्यपि वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत है, पर राजनैतिक दृष्टि से उसकी स्थिति कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि उपनिवेशों के सदृश है।

जापान के कब्जे से मलाया को मुक्त कराके ब्रिटेन ने यह प्रयत्न किया, कि वहाँ फिर से अपने शासन की स्थापना करे। पर मलाया के निवासियों में स्वतन्त्रता की भावना बहुत प्रबल थी। उन्होंने अपने स्वातन्त्र्य आन्दोलन को जारी रखा। अन्त में जनवरी, १९४८ में यह फैसला किया गया, कि मलाया प्रायद्वीप के नौ राज्यों को मिला कर एक यूनियन का निर्माण किया जाय, जो संघ के रूप में हो। सिंगापुर को मलाया के यूनियन से पृथक् रखा गया है। इसका परिणाम यह हुआ है, कि मलाया प्रायद्वीप का सबसे महत्त्वपूर्ण नगर अब तक पूरी तरह से ब्रिटेन के कब्जे में है। साथ ही, यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि मलाया का नया यूनियन लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है। उसमें विविध सुलतानों का प्रभुत्व है, जो अपनी शक्ति को कायम रखने के लिए ब्रिटेन की सहायता पर निर्भर रहते हैं। जनता देश की नई

व्यवस्था से संतुष्ट नहीं है। इसी लिए वहाँ कम्युनिस्ट लोग निरन्तर जोर पकड़ते जा रहे हैं।

विशाल ब्रिटिश साम्राज्य के जो बहुत से छोटे बड़े द्वीप जापान ने अपने कब्जे में कर लिए थे, वे सब अब फिर से ब्रिटेन के अधीन हो गये हैं। उनमें अनेक शासन-सुधार किये गये हैं, और यह प्रयत्न किया है, कि जनता का शासन में सहयोग स्थापित हो। पर इन विविध द्वीपों पर ब्रिटेन की सत्ता अभी पूरी तरह से कायम है।

भारत अब ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त होकर स्वराज्य प्राप्त कर चुका है। भारत के स्वराज्य-आन्दोलन का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सन् १९४२ के इस आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा। न केवल श्री० सुभाषचन्द्र-बोस की आजाद हिन्द सरकार ने विदेशों में विद्यमान भारतीयों और भारतीय सेना में स्वाधीनता की अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित कर दी, अपितु भारत की जनता पर भी उसका बहुत प्रभाव पड़ा। भारत में महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय महासभा ने 'भारत छोड़ो' का आन्दोलन शुरू किया। लोग खुले तौर पर विद्रोह के लिए तैयार हो गये। ब्रिटिश शक्ति की जरा भी परवाह न कर उन्होंने स्वतन्त्रता का झण्डा खड़ा कर दिया। विशेषता यह थी, कि गांधीजी का यह आन्दोलन सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर आश्रित था। ब्रिटिश शासकों के सब प्रकार से पाशविक शक्ति का उपयोग करने पर भी भारतीय लोग शान्त रहे और लाखों देशभक्तों ने ऊँचे से ऊँचा त्याग और बलिदान करके ब्रिटिश शासन का प्रतिरोध किया। विश्व-संग्राम की समाप्ति तक भारत के स्व-राज्य-आन्दोलन ने इतना तीव्र रूप धारण कर लिया था, कि ब्रिटिश लोगों ने यह भली भाँति अनुभव कर लिया, कि अब भारत में अपना शासन कायम रख सकना असम्भव है। इस समय भारत के गवर्नर जनरल लार्ड माउण्टबेटन थे। सब परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर उन्होंने यही निश्चय किया, कि भारत को स्वतन्त्र कर देने में ही ब्रिटेन का हित है।

पर दुर्भाग्यवश, भारत में जागृति और राजनैतिक चेतना के उत्पन्न होने के साथ साथ जातिगत और साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना भी बढ़ती गई थी। मुसलिम लीग के नेता श्री० जिन्ना मुसलमानों में यह प्रचार करने में लगे थे, कि हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् जातियाँ हैं, उनके दो पृथक् राष्ट्र बनने चाहिएँ। ब्रिटिश शासक इस विचार को प्रोत्साहन देते थे। अपना पृथक् राज्य होने का विचार सर्वसाधारण मुसलिम जनता ने बहुत पसन्द किया। कांग्रेस के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि मुसलमानों को अपने साथ रख सके। अनेक समझदार राष्ट्रीय मुसलिम नेताओं के होते हुए भी मुसलमान जनता श्री० जिन्ना और उनकी मुसलिम लीग के साथ में थी। अतः यह निर्णय किया गया, कि भारत को दो भागों में बाँट दिया जाय। जिन प्रान्तों व प्रदेशों में मुसलमानों की बहुसंख्या है, उनका एक पृथक् राज्य बनाया जाय, जिसका नाम पाकिस्तान रखा जाय। शेष देश को भारत (इण्डिया) कहा जाय। दोनों राज्यों को स्वराज्य दे दिया जाय और उनकी विधान परिषदें यह निर्णय करें, कि उनके शासन का स्वरूप क्या हो। इसी के अनुसार १५ अगस्त, १९४७ को भारत और पाकिस्तान के पृथक् स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये गये। देश के विभाजन के समय साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना बहुत उग्र रूप धारण कर गई। जगह जगह पर हिन्दू-मुसलिम दंगे हुए। पश्चिमी पाकिस्तान से लाखों की संख्या में हिन्दुओं और सिक्खों को अपने घरबार छोड़कर भारत आना पड़ा। पूर्वी पंजाब और दिल्ली से लाखों मुसलमान भी पाकिस्तान जाने के लिए विवश हुए। इतनी बड़ी संख्या में लोगों का अपने घर-बार को छोड़ कर स्थानभ्रष्ट हो जाना संसार के इतिहास में अद्वितीय बात है। देश के विभाजन से एक करोड़ से भी अधिक आदमी स्थानभ्रष्ट हुए। इस समय जो लोग साम्प्रदायिक दंगों में जान से मारे गये, उनकी संख्या भी लाखों में है। सम्पत्ति का जो नुकसान हुआ, उसका तो

अन्दाज करना भी कठिन है। साम्प्रदायिक विद्वेष ने इस समय इतना उग्र रूप धारण किया, कि महात्मा गांधी जैसे विश्वमान्य महापुरुष भी एक साम्प्रदायिक हिन्दू की गोली के शिकार हुए।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि अब भारत और पाकिस्तान स्वतन्त्र हैं। ब्रिटेन की सत्ता का वहाँ से अन्त हो चुका है। दोनों देशों को अब यह अधिकार है, कि वे चाहें तो ब्रिटिश साम्राज्य से कोई भी सम्बन्ध न रखें और बरमा की तरह से पूर्ण स्वतन्त्र हो जावें।

कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड आदि ब्रिटिश उपनिवेश अभी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत हैं। पर ब्रिटिश राजा की अधीनता स्वीकार करते हुए भी क्रियात्मक दृष्टि से वे स्वतन्त्र हैं। ब्रिटिश लोगों की यह विशेषता है, कि वे समय के साथ साथ अपने को भी परिवर्तित कर लेते हैं। अपने साम्राज्य का स्वेच्छापूर्वक अन्त करके ब्रिटेन ने भारत, पाकिस्तान, लंका आदि विविध देशों की सद्भावना प्राप्त कर ली है। आज भारत ब्रिटेन के लिए एक विकट समस्या न होकर उसका सहयोगी व मित्र बन गया है। अपनी समझदारी की वजह से अब भी ब्रिटेन इस स्थिति में है, कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रशिया और अमेरिका के समान अपना पृथक् प्रभावक्षेत्र बना सके। ब्रिटेन का यह प्रभावक्षेत्र रशिया व अमेरिका के बीच में एक प्रकार का समतुलन कायम कर सकता है, और इससे ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने महत्त्व को अक्षुण्ण रख सकता है।

ईजिप्ट अब तक ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में था, सूडान पर तो उसका सीधा शासन था। ईजिप्ट के लोग चाहते हैं, कि सूडान ब्रिटेन के हाथ से निकल कर उनके साथ में मिल जाय। उनकी यह भी इच्छा है, कि ब्रिटेन की कोई भी सेना स्वेज कैनाल के क्षेत्र में न रहने पावे। धीरे धीरे ब्रिटिश लोग इस समस्या के हल करने का भी प्रयत्न कर रहे हैं। ईराक, पैलेस्टाइन आदि से ब्रिटिश लोग अपनी सत्ता को प्रायः हटा

चुके हैं। आयर्लैंण्ड ने अब ब्रिटिश साम्राज्य से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। विशाल ब्रिटिश साम्राज्य परिस्थितियों के अनुसार अब बहुत कुछ बदल चुका है।

१५. फ्रांस और हालैण्ड के साम्राज्य

अफ्रीका में फ्रांस का विशाल साम्राज्य अभी सुरक्षित है। पर सुदूर पूर्व में फ्रेंच साम्राज्य के विविध प्रदेश पूर्ण स्वाधीनता के लिए संघर्ष में लगे हैं। विश्वसंग्राम के अवसर पर जापान के उत्कर्ष के कारण उनमें यूरोपियन शासकों के खिलाफ विद्रोह की भावना बहुत प्रबल रूप धारण कर चुकी है। फ्रेंच इण्डो-चायना का एक स्वतन्त्र रिपब्लिक के रूप में संगठन किया गया है। फ्रांस के लोग भी इसी कोशिश में हैं, कि ब्रिटेन के समान वे भी उन देशों को, जिनमें स्वतन्त्रता की भावना बहुत प्रबल है, स्वतन्त्रता दे दें और उनके साथ ऐसा सम्बन्ध कायम कर लें, जिससे परस्पर की सद्भावना और सहयोग की प्रवृत्ति कायम रहे। भारत में फ्रांस के जो प्रदेश हैं, वे न केवल स्वराज्य चाहते हैं, अपितु भारत के साथ मिलकर एक हो जाने के लिए भी उत्सुक हैं।

विश्वसंग्राम से पहले सुदूर पूर्व में हालैण्ड का साम्राज्य बड़ा विस्तृत था। जावा, सुमात्रा आदि विविध द्वीप उसके अधीन थे, जो मिलकर इण्डोनीसिया कहाते हैं। युद्ध के समय में इन सब पर जापान का कब्जा हो गया था। जापान के पतन के बाद राष्ट्रीय नेताओं ने वहाँ स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना कर ली, जिसके नेता डा० सोकार्नो थे। उनकी इच्छा यह थी, कि इन्डोनीसिया पूर्णतया स्वतन्त्र रहे और किसी विदेशी शक्ति का उनके राज्य पर किसी प्रकार का भी प्रभुत्व न हो। पर मित्रराष्ट्रों को यह बात पसन्द नहीं थी। विशेषतया, हालैण्ड की सरकार इस बात के लिए उत्सुक थी, कि इन्डोनीसिया के द्वीपों को फिर से अपनी अधीनता में लाया जाय। इन्डोनीसिया की जनता

देश का नाम	१६३६ में कागजी मुद्रा	१६४७ में कागजी मुद्रा
जापान (येन)	३७०·० करोड़	२१६१०·० करोड़
भारत (रुपया)	३४०·० करोड़	१३३७·० करोड़
कनाडा (डालर)	२८·१ करोड़	१११·२ करोड़

कागजी मुद्रा के अधिक मात्रा में प्रचारित होने के कारण विविध देशों में मुद्रा की मात्रा बहुत बढ़ गई। मुद्रा की वृद्धि के साथ साथ यदि आर्थिक उत्पत्ति भी उसी अनुपात से बढ़ती जावे, तब तो कीमतें नहीं बढ़ पातीं। पर यदि मुद्रा की मात्रा पहले की अपेक्षा दस गुना हो जावे और आर्थिक पैदावार में केवल दुगनी वृद्धि हो, तो परिणाम यह होगा, कि कीमतें पहले की अपेक्षा कई गुना (लगभग पाँच गुना) बढ़ जावेंगी। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में कागजी मुद्रा में चार गुना के लगभग वृद्धि हुई। रुपये के नोटों की मात्रा ३४० करोड़ से बढ़कर १३३७ करोड़ तक पहुँच गई। यदि इसी हिसाब से आर्थिक पैदावार में भी वृद्धि हो जाती, तो कीमतें वही रहतीं; जो १६३६ में थीं। पर १६३६ के मुकाबले में उत्पत्ति में बहुत कम वृद्धि हुई। इसी कारण अब भारत में कीमतें लगभग चार गुना हैं। १६३६ में 'कीमतों के मान को यदि १०० समझा जावे; तो अब वह ३८३ है। यदि सरकार अनेक वस्तुओं के मूल्य को नियन्त्रित न करती, तो वर्तमान कीमत का मान (प्राइस-इन्डेक्स) ३८३ से भी अधिक होता। भारत के समान अन्य देशों में भी कीमतों के मान में इसी प्रकार वृद्धि हुई है—

देश का नाम	१६४७ में कीमत का मान
आस्ट्रिया	३१६
बेल्जियम	३३६
चेकोस्लोवाकिया	३२६
फ्रांस	१,२१०
इटली	४,६३०

देश का नाम	१९४७ में कीमत का मान
जापान	४,३९०
ग्रेट ब्रिटेन	१७८
संयुक्त राज्य अमेरिका	१५५
पोलैंड	१५,१००

इस तालिका से यह स्पष्ट है, कि ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका में कीमतों की वृद्धि बहुत कम हुई है। यद्यपि इन देशों में कागजी मुद्रा में २॥ गुना से ४ गुना तक वृद्धि हुई है, पर कीमतों में पौने दो गुना से अधिक वृद्धि नहीं हो पाई। कारण यह है, कि युद्ध के समय में इन देशों की आर्थिक उत्पत्ति भी पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गई। इसके विपरीत फ्रांस, इटली, पोलैण्ड आदि यूरोपियन देशों में कागजी मुद्रा में तो कई गुना की वृद्धि हुई, और आर्थिक उत्पत्ति बढ़ने के स्थान पर घट गई। युद्ध के कारण उनके कारखाने बहुत कुछ नष्ट हो गये और उनकी आर्थिक व्यवस्था अस्त व्यस्त दशा को पहुँच गई। इसी कारण इन देशों में कीमतें मुद्रा के विस्तार की अपेक्षा भी अधिक अनुपात में ऊँची चली गईं।

सरकारी टैक्सों में वृद्धि और कीमतों का ऊँचा उठना युद्ध के काल में बहुत कष्टदायी प्रतीत नहीं होता। कारण यह कि उस समय सब प्रकार की वस्तुओं की माँग बहुत अधिक मात्रा में होती है। सरकार को लड़ाई के लिए आदमी चाहिएँ। उनके लिए अनाज और कपड़ा चाहिए, सब प्रकार की युद्ध सामग्री चाहिए। वर्तमान युग में केवल गोलाबारूद ही युद्ध-सामग्री नहीं है। अनाज, कपड़ा, मकान और कागज तक भी युद्ध-सामग्री के अन्तर्गत हैं। युद्ध के समय में इन सब की माँग अत्यधिक मात्रा में बढ़ जाती है। कारखाने रात-दिन काम करने लगते हैं, मजदूरों की माँग बढ़ जाती है। सरकार को सेना के लिए आदमी चाहिएँ, व्यवसायपतियों और व्यापारियों को आर्थिक

उत्पत्ति के लिए मजदूर चाहिएँ। इससे बेकारी घट जाती है। पुरुष क्या, स्त्रियाँ और बच्चे तक भी कमाने लगते हैं। मजदूरी की दर बढ़ जाती है। इस स्थिति में, यदि कीमतें ऊँची भी उठने लगें, तो सर्वसाधारण जनता में असन्तोष नहीं होता। व्यवसायी और व्यापारी तो इसका स्वागत करते हैं, क्योंकि बढ़ती हुई कीमतों में उन्हें अधिक कमाई का अवसर मिलता है। मध्यश्रेणी के शिक्षित लोग भी युद्ध की इस दशा में उन्नति का मौका प्राप्त करते हैं। सरकार के दफ़्तरों में काम बढ़ जाता है; उनके लिए नए आदमियों की आवश्यकता होती है। पूँजी-पति, किसान, मजदूर व मध्यवर्ग के शिक्षित लोग—युद्ध के अवसर पर सब को आर्थिक दृष्टि से अधिक आमदनी प्राप्त करने का अवसर मिलता है, इसीलिए बढ़ती हुई कीमतें उन्हें बहुत दुखदायी प्रतीत नहीं होतीं।

पर युद्ध की समाप्ति पर ? तब सरकार को सैनिकों व कर्मचारियों की पहले की सी आवश्यकता नहीं रहती; सेनायें बर्खास्त होनी शुरू होती हैं; दफ्तरों के कर्मचारियों को जवाब मिलना शुरू हो जाता है। कार-खानों की पैदावार को पहले सरकार लड़ाई के लिए भारी मात्रा में खरीदती थी, अब वह खरीद एकदम बन्द हो जाती है। कारखानों की पैदावार की माँग एकदम घट जाती है। बहुत से मजदूर बेकार होने लगते हैं। लोगों की आमदनियाँ तो कम हो जाती हैं, पर कीमतें कम नहीं होतीं। कीमतों का आधार तो मुद्रा की मात्रा है। युद्ध काल में प्रचारित कागजी मुद्रा को बाजार से हटा सकना सुगम काम नहीं होता। युद्धकाल के मुकाबले में आर्थिक उत्पत्ति में कमी आ जाने के कारण और मुद्रा की मात्रा लगभग पहले के सदृश ही रहने से अब कीमतों में और अधिक वृद्धि होती है। यह दशा सर्वसाधारण जनता के लिए बहुत ही असह्य और कष्टकर हो जाती है। कारण यह कि अब उनकी आमदनी कम हो गई होती है। आमदनी की कमी की दशा में ऊँची

कीमतों पर माल खरीद कर गुजर कर सकना बहुत कठिन हो जाता है। यही कारण है, कि युद्ध की समाप्ति पर सर्वसाधारण लोगों में एक प्रकार का भारी असन्तोष दृष्टिगोचर होता है। जनता की आमदनी में कमी होने से लोगों के पास रुपये की कमी हो जाती है; देश में क्रयशक्ति घट जाती है। क्रयशक्ति के घट जाने से माल की माँग कम हो जाती है। कारखाने माल तैयार करते हैं, पर वह बिकता नहीं। माल न बिकने से कारखाने बन्द होने लगते हैं, बेकारी बढ़ती है, तब जनता के पास क्रयशक्ति में और कमी हो जाती है। माल की तादाद घटने लगती है, पर मुद्रा की मात्रा पहले के समान ही बनी रहती है। परिणाम यह होता है कि कीमतें और ऊँची उठती हैं। सम्पूर्ण जनता अनुभव करने लगती है कि एक अर्थ-संकट उपस्थित हो गया है। आमदनी तो है नहीं, कीमतें ऊँची हैं। जनता के लिए निर्वाह करना कठिन हो जाता है। व्यापारी और व्यवसायपति यदि नीची कीमत पर, नुकसान उठा कर भी माल बेचना चाहें, तो उन्हें सफलता नहीं मिलती। कारण यह कि जनता के पास क्रयशक्ति का अभाव होता है। नीची कीमतों पर माल खरीदने की भी उनमें क्षमता नहीं होती।

युद्ध की समाप्ति पर यह प्रक्रिया प्रायः सभी देशों में होती है। पर जिन देशों में युद्ध के कारण इमारतों, कल-कारखानों और उत्पत्ति के अन्य साधनों का भारी संख्या में विनाश हो जाता है, उनमें आर्थिक संकट और भी उग्ररूप धारण करता है। उत्पत्ति में कमी और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के कारण वहाँ कीमतें बहुत ऊँची रहती हैं। ऊँची कीमतों के कारण इन देशों में जहाँ जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, वहाँ आर्थिक पुनः निर्माण और व्यवसाय की पुनः स्थापना की समस्या भी बहुत विकट हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इन देशों की मुद्रा की कीमत बहुत गिर जाती है। अतः अपने आर्थिक जीवन का पुनः निर्माण करने के लिए इन देशों के लिए यह भी सुगम

नहीं रहता, कि वे मशीनों व अन्य आवश्यक सामान को दूसरे देशों से खरीद सकें। पर अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से यह उपयोगी होता है कि इन देशों के पुनरुद्धार की व्यवस्था की जाय। विश्वसंग्राम के परिणामस्वरूप यूरोप के विविध देशों को भारी क्षति पहुँची थी। इटली, फ्रांस, बेल्जियम, पोलैंड आदि में न केवल कल-कारखानों का भारी संख्या में विनाश हुआ था, अपितु उनके शहरों व इमारतों की दशा भी बिलकुल अस्तव्यस्त हो गई थी। इन देशों के आर्थिक जीवन को सँभाल सकना तभी सम्भव था, जब कि अमेरिका जैसा समृद्ध देश उनकी सहायता के लिए आगे बढ़े। मार्शल योजना इसी दृष्टि से तैयार की गई है। पर आर्थिक सहायता की बात को राजनैतिक समस्याओं से अलग नहीं रखा जा सकता। संसार के विविध देश इस समय दो गुटों में, दो प्रभावक्षेत्रों में, बटे हुए हैं। इस विभाग का आधार विचारधाराओं की, सामाजिक और आर्थिक आदर्शों की भिन्नता है। रशिया नहीं चाहता, कि उसके प्रभावक्षेत्र के विविध देश, पूर्वी यूरोप के विविध राज्य, अमेरिका से किसी प्रकार की सहायता लें। पश्चिमी यूरोप के फ्रांस, बेल्जियम, इटली आदि देश अभी तक रशिया के प्रभावक्षेत्र में नहीं आए हैं, पर उनमें भी कम्युनिस्ट विचारधारा विद्यमान है। इसीलिए अमेरिका इस बात के लिए उत्सुक है, कि इन देशों का एक संघ बनाकर इन्हें एक ऐसी शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जो न केवल कम्युनिस्ट प्रभाव से बची रहे, पर साथ ही बढ़ती हुई कम्युनिस्ट विचारधारा के मार्ग में एक मजबूत दीवार का काम करे। पश्चिमी यूरोप को मजबूत बनाना अमेरिका के लिए अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। इन देशों के आर्थिक पुनरुद्धार के लिए जो सहायता आवश्यक है, उसे प्रदान करने के उद्देश्य से जहाँ मार्शल योजना बनाई गई है, वहाँ साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि की भी व्यवस्था की गई है। युद्ध के कारण अनेक देशों की मुद्रा की

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कीमत बहुत गिर जाने की वजह से ही इस निधि की आवश्यकता हुई। इस मुद्रानिधि में सम्मिलित देशों के लिए पृथक्-पृथक् कोटा नियत किया गया है। प्रत्येक देश को निश्चित मात्रा में अपना धन इस मुद्रानिधि में जमा करना होता है। इस धन का एक हिस्सा (१० फी सदी से २५ तक) सोने या अमेरिकन डालर के रूप में होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए मुद्रानिधि के सदस्य विविध देश उक्त निधि से कर्ज ले सकते हैं। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई है, कि आर्थिक पुनःनिर्माण में विविध देशों को सहायता करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की जाय। इसका उद्देश्य भी यह है, कि विविध देश इस बैंक की सहायता से अपने आर्थिक जीवन के पुनरुद्धार के लिए आवश्यक पूँजी व सामान प्राप्त कर सकें। वस्तुतः, इस समय संसार के आर्थिक जीवन की कुंजी अमेरिका के हाथ में है। वही एक देश ऐसा है, जो अन्य देशों को मशीनरी व अन्य सामान भारी मात्रा में दे सकता है। पर समस्या यह है, कि इस प्रदान का स्वरूप क्या हो? गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद यूरोप के अनेक देश अमेरिका के कर्जदार थे। अमेरिका के लिए समस्या यह थी, कि इस कर्ज को कैसे वापस लिया जाय? अपने कर्जदारों की कर्ज अदा करने की क्षमता को कायम रखने के लिए उसे कई बार उन्हें नये कर्ज देने पड़े। ये कर्ज अदा भी नहीं हुए, कि दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो गया। आज अमेरिका को यह भी देखना है, कि जो सहायता वह अन्य देशों को पहुँचा रहा है, उसका प्रतिफल भी उसे कभी प्राप्त होगा। साथ ही, माल की गति सदा एकतरफा नहीं रह सकती। यदि अमेरिका अन्य देशों को माल देता है, तो उसे भी बदले में किसी प्रकार का माल उनसे प्राप्त करना चाहिए। अमेरिका जो भी माल कर्ज के भुगतान में या दिये हुए माल की कीमत की अदायगी में प्राप्त करता है, उसका असर यह होता है, कि अमेरिका में कीमतें गिरने लगती हैं। यह बात

वहाँ के व्यवसायपति पसन्द नहीं करते। अन्य देशों के पास अपनी देनदारी को भुगताने के लिए इतना सोना या चाँदी नहीं है, कि उससे वे अमेरिका के ऋण से मुक्त हो सकें। इस दशा का यही परिणाम हो सकता है कि या तो अमेरिका के माल की माँग कम हो, या वह अपने माल के बदले में दूसरे देशों से भी माल लेने को तैयार हो। दोनों अवस्थाएँ ऐसी हैं, जो अमेरिका के आर्थिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। गत महायुद्ध के बाद यही दशा हुई थी। विश्वसंग्राम की समाप्ति पर अब फिर यही दशा होने लगी है। यूरोप और एशिया के देशों में माल की कमी और कागजी मुद्रा की अधिकता के कारण अर्थ-संकट उपस्थित हो रहा है, तो अमेरिका में माल की अधिकता और अन्य देशों की क्रयशक्ति की कमी के कारण अर्थ-संकट के चिह्न प्रगट होने लगे हैं।

इस समय संसार के अधिकांश देशों में आर्थिक जीवन का आधार वैयक्तिक सम्पत्ति और स्वतन्त्र व्यवसाय है। इसी को पूँजीवाद कहते हैं। १९३० में शुरू हुए आर्थिक संकट द्वारा इस आर्थिक व्यवस्था को भारी धक्का लगा था। अब एक बार फिर जो अर्थसंकट शुरू हो रहा है, क्या पूँजीवाद उसमें सफलता के साथ अपनी सत्ता को कायम रख सकने में समर्थ होगा? यह भावी इतिहास ही स्पष्ट कर सकेगा। यूरोप के विविध देश इस आर्थिक संकट का मुकाबला करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन कर रहे हैं, इस पर हम अगले अध्याय में

सातवाँ अध्याय

वर्तमान यूरोप

१. फ्रांस में चतुर्थ रिपब्लिक का शासन

विश्व-संग्राम के समय में जब फ्रांस पर जर्मनी का कब्जा था, तो जनरल द गॉल व उनके साथी आजाद फ्रेंच सरकार का निर्माण कर शत्रु के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थे। पेरिस पर जर्मनों का कब्जा हो जाने के बाद मार्शल पेतां और श्री० लवाल ने नाजियों के साथ समझौता कर लिया, और विशी में जर्मन संरक्षा में फ्रेंच सरकार की स्थापना की। पर जनरल द गाल और उनके साथी इस सरकार को स्वीकृत नहीं करते थे। उन्होंने फ्रांस के स्वातन्त्र्य युद्ध को जारी रखने के लिए 'राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य समिति' का निर्माण किया। जून, १६४४ में इस समिति ने अपने को 'आजाद फ्रेंच रिपब्लिक की सामयिक सरकार' के रूप में परिवर्तित कर लिया। इस सरकार का प्रधान केन्द्र पहले उत्तरी अफ्रीका में रहा, पर जब सितम्बर, १६४४ में पेरिस जर्मनों के कब्जे से मुक्त हुआ, तो यह सरकार अफ्रीका से पेरिस को चली गई। इस सरकार का प्रमुख जनरल द गॉल था। उसे परामर्श देने के लिए एक 'सामयिक परामर्श सभा' का भी संगठन किया गया था। इसके अधिवेशन बाकायदा होते थे। द गॉल के पेरिस चले जाने पर यह परामर्श सभा भी पेरिस चली गई। अगस्त, १६४५ तक इसके अधिवेशन नियमपूर्वक होते रहे। जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुए स्वतन्त्र फ्रांस के नये शासन-विधान का क्या स्वरूप हो, इस पर विचार करने के लिए एक विधान परिषद् की व्यवस्था की गई। अक्टूबर, १६४५ में विधान

परिषद् का चुनाव हुआ। इसके लिए सब बालिग स्त्री-पुरुषों को वोट का अधिकार दिया गया था। यह पहला अवसर था, जब फ्रांस में स्त्रियों को भी वोट देने का अवसर मिला था। विधान परिषद् के कुल ५८६ सदस्य थे। इनमें से ५२२ फ्रांस से और ६४ फ्रेंच साम्राज्य के विविध देशों से निर्वाचित हुए थे। विधान परिषद् के सदस्यों में वाम-पक्ष के प्रतिनिधियों की बहुसंख्या थी। विश्व-संग्राम के समय में फ्रांस में कम्युनिस्टों व सोशलिस्टों का जोर बहुत बढ़ गया था। इसीलिए १९-४५ में निर्वाचित विधान परिषद् में इन दलों के सदस्य बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए थे। प्रमुख दलों के सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी—कम्युनिस्ट १५१, लोकप्रिय रिपब्लिकन दल १५०, सोशलिस्ट १३९। लोकप्रिय रिपब्लिकन दल का फ्रेंच नाम 'मूवमां रिपब्लिकैन पोपुलेअर' है, इसीलिए उसे संक्षेप से एम० आर० पी० भी कहते हैं। यह दल वामपक्षी है, और लोकतन्त्रवाद को कायम रखते हुए सर्वसाधारण जनता की आर्थिक उन्नति और विषमता को दूर करने का समर्थक है।

अक्टूबर, १९४५ में निर्वाचित हुई विधान परिषद् को ये कार्य सुपुर्द किये गये थे, राष्ट्रपति को निर्वाचित करना, उसके द्वारा नियुक्त मन्त्रिमण्डल को स्वीकृत करना, देश के लिए नये शासन-विधान को तैयार करना और शासन के लिए जिन नये कानूनों का निर्माण आवश्यक हो, उन्हें बनाना। यह भी निश्चित कर दिया गया था, कि शासन विधान को बनाने में सात मास से अधिक समय न लगाया जाय। नवम्बर, १९४५ में विधान परिषद् का अधिवेशन शुरू हुआ। जनरल द गाल सामयिक सरकार के प्रधान नियुक्त किये गये। जनवरी, १९४६ में द गाल ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, तब उनकी जगह पर विधान परिषद् ने श्री० फैलिक्स गुआं को निर्वाचित किया। विधान परिषद् का द गाल से मुख्य मतभेद इस बात पर था, कि नये शासन-विधान में राष्ट्रपति की क्या स्थिति हो। द गाल का विचार था, कि

फ्रांस का राष्ट्रपति अमेरिकन राष्ट्रपति के समान शासन का वास्तविक संचालक होना चाहिए। १६४४ से १६४५ तक द गाल स्वयं इसी प्रकार के राष्ट्रपति थे। शासन के सब अधिकार उन्हीं के हाथों में केन्द्रित थे। पर फ्रेंच जनता और विशेषतया वामपक्षी दलों के नेता यह पसन्द नहीं करते थे। उन्हें यह स्मरण था, कि फ्रांस की दूसरी रिपब्लिक के समय में लुई नैपोलियन पहले राष्ट्रपति पद पर ही निर्वाचित हुआ था, पर राष्ट्रपति के रूप में अत्यधिक शक्ति रखने के कारण बाद में वह सम्राट् पद पर पहुँच गया था। १७८६ की पहली फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद नैपोलियन बोनापार्ट ने भी इसी प्रकार से सब शक्ति अपने हाथों में कर ली थी। इसी कारण १८७१ में जब तृतीय फ्रेंच रिपब्लिक की स्थापना हुई, तो देश के नये शासन-विधान में राष्ट्रपति को ब्रिटेन के राजा के समान वास्तविक शासन-शक्ति से वंचित रखा गया था, और शासन सूत्र का असली संचालक प्रधानमन्त्री को बनाया गया था, जो अपने सब कार्यों के लिये पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी रहता है। १६४६ में फ्रेंच विधान परिषद् के सदस्य इसी प्रकार की शासन-प्रणाली के पक्षपाती थे, वे पार्लियामेंट्री शासन प्रणाली या 'गूवर्नमां दासाम्ब्ले' को फ्रांस में स्थापित करना चाहते थे। इसी लिए जनरल द गॉल की उनसे नहीं बनी, और स्वातन्त्र्य संग्राम का यह वीर सेनापति देश को स्वतन्त्र कराने के बाद उसके शासन सूत्र का स्वयं संचालन नहीं कर सका। इस समय उसका प्रयत्न यही था, कि विधान परिषद् जो नया शासन-विधान तैयार कर रही है, उसके विरुद्ध आन्दोलन करे और सर्व साधारण जनता के समक्ष जब वह लोकमत के लिए उपस्थित किया जाय, तो वे उसे स्वीकृत न करें।

विधान परिषद् द्वारा तैयार किये गये शासन विधान को मई, १६४६ में लोकमत के लिये जनता के सम्मुख पेश किया गया। पर लोकमत द्वारा यह स्वीकृत नहीं हो सका। कारण यह, कि जनरल

द गॉल इसका घोर विरोध कर रहा था, और जनता में इस वीर के लिए अभी अपार श्रद्धा थी। साथ ही, यह शासन विधान बहुत कुछ कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुकूल बनाया गया था। इसमें फ्रेञ्च पार्लियामेन्ट में केवल एक सभा रखी गई थी, और मन्त्रिमण्डल को इस सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया था। द गॉल तो इसका विरोधी था ही, फ्रांस के अन्य लोकसत्तावादी दल भी इसके पक्षपाती नहीं थे, क्योंकि वे इसमें और तृतीय रिपब्लिक के शासन विधान में भेद अनुभव करते थे। इस समय फ्रांस का लोकमत ऐसे शासन विधान को चाहता था, जो तृतीय रिपब्लिक (१८७१ से १९४१ तक) के अधिकतम समीप हो। जर्मनी द्वारा फ्रांस के जिस लोक सत्तात्मक शासन को सामयिक रूप से कुचल दिया गया था, जनता के हृदय में उसके प्रति बहुत आदर का भाव था।

अब जून १९४६ में दूसरी विधान परिषद् का चुनाव हुआ। इसमें एम. आर. पी. दल के १६३, कम्युनिस्ट दल के १५० और सोशलिस्ट दल के १२८ सदस्य निर्वाचित हुए। इसने जो नया शासनविधान तैयार किया, उसे अक्टूबर, १९४६ में लोकमत के लिए पेश किया गया। जनरल द गॉल ने इस बार भी शासन विधान का विरोध किया। पर द्वितीय विधान परिषद् द्वारा तैयार किया गया यह शासन विधान तृतीय फ्रेंच रिपब्लिक के शासन-विधान से बहुत कुछ मिलता जुलता था। ५३½ फी सदी वोटों से जनता ने इसे स्वीकृत कर दिया। नये शासन विधान में यह व्यवस्था की गई, कि फ्रांस की पार्लियामेन्ट में दो सभायें हों—(१) राष्ट्रीय सभा, इसे सर्वसाधारण जनता निर्वाचित करे। वोट का अधिकार सब बालिग स्त्री पुरुषों को हो (२) रिपब्लिक की कौंसिल—इसके सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय व म्युनिसिपल कौंसिलों द्वारा किया जाय। राष्ट्रीय सभा और कौंसिल के सदस्य जब मिल कर एक साथ एकत्र हों, तो इस सम्मिलित अधिवेशन (पार्लियामेन्ट) में राष्ट्रपति

का निर्वाचन किया जाय। राष्ट्रपति सात साल तक अपने पद पर रहे। राष्ट्रपति ही उस व्यक्ति को मनोनीत करे, जो अपनी मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करे। किसी व्यक्ति के राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार मनोनीत होने पर उसके लिए यह आवश्यक है, कि वह राष्ट्रीय सभा के सम्मुख अपनी नीति और कार्यक्रम को उपस्थित करे। साथ ही वह यह भी निर्देश करे, कि अपनी मन्त्रिपरिषद् का निर्माण वह किस प्रकार से करना चाहता है। यदि राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों की (केवल उपस्थित सदस्यों की नहीं) बहुसंख्या उसके पक्ष में वोट दे दे, उसके प्रति विश्वास का प्रस्ताव स्वीकार कर दे, तो वह प्रधान मन्त्री के पद पर नियत हो जाय और अपनी मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करे। यदि राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत व्यक्ति इस प्रकार राष्ट्रीय सभा के बहुसंख्यक सदस्यों का विश्वास प्राप्त न कर सके, तो राष्ट्रपति किसी अन्य व्यक्ति को इस कार्य के लिये मनोनीत करे। नये शासन-विधान में यह भी व्यवस्था की गई, कि जब राष्ट्रीय सभा एक बार निर्वाचित हो जाय, तो उसे अठारह मास तक बर्खास्त न किया जा सके। अठारह मास के बाद भी उसे तभी बर्खास्त किया जा सके, जब कि इस बीच में दो बार मन्त्रिपरिषद् इस कारण से भंग हुई हो, कि या तो उस पर अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया हो और या विश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत न होसका हो। यह सब व्यवस्था इसलिए की गई थी, कि राष्ट्रपति व विविध दलों के नेताओं को यह प्रलोभन न रहे, कि वे राष्ट्रीय सभा को बर्खास्त कर नया चुनाव कराने का उद्योग करें। फ्रेंच लोग यह चाहते थे, कि उनके शासन में स्थिरता रहे और इसके लिये बार बार चुनाव का होना उचित व वांछनीय नहीं समझा गया था। नये शासनविधान में राष्ट्रपति को तृतीय रिपब्लिक के राष्ट्रपति की अपेक्षा कुछ अधिक अधिकार दिये गये हैं। वह पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत किसी भी बिल को पुनर्विचार के लिये वापस लौटा सकता है। मन्त्रिपरिषद् के लिये यह भी आवश्यक है, कि

वह राष्ट्रीय सभा को बर्खास्त करने से पूर्व राष्ट्रपति की परामर्श व अनुमति प्राप्त कर ले।

नवम्बर, १९४६ में फ्रांस की चतुर्थ रिपब्लिक की राष्ट्रीय सभा का चुनाव हुआ। अगले मास रिपब्लिक की कौंसिल निर्वाचित हुई। पार्लियमेंट की इन दोनों सभाओं में कम्युनिस्ट लोग अन्य दलों की अपेक्षा अधिक संख्या में निर्वाचित हुए। राष्ट्रीय सभा में कम्युनिस्ट १६८, एम० आर० पी० १६०, सोशलिस्ट १०५ और रेडिकल सोशलिस्ट ४५ की संख्या में निर्वाचित होकर आये। शेष दलों के सदस्यों की संख्या इनसे भी कम थी। कोई दल ऐसी स्थिति में नहीं था, कि स्वयं अपनी मन्त्रि-परिषद् बना सके। राष्ट्रीय सभा के बहुसंख्यक सदस्यों का समर्थन प्राप्त करने के लिए ३०३ सदस्यों का पक्ष में होना आवश्यक था। राष्ट्रीय सभा में सबसे अधिक संख्या कम्युनिस्टों की थी, अतः उनके नेता श्री० थोरे को मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सुपुर्द किया गया। पर वे राष्ट्रीय सभा द्वारा विश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं कर सके। यही दशा एम० आर० पी० दल के नेता श्री० बीदोल की भी हुई। कम्युनिस्टों और एम० आर० पी० के असफल होने पर मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सोशलिस्ट दल के नेता श्री० ब्लम ने अपने हाथ में लिया। उन्हें राष्ट्रीय सभा की बहु-संख्या की सम्मति प्राप्त हो गई। कम्युनिस्ट और एम० आर० पी० दोनों ने ही उनके पक्ष में वोट दिया। कम्युनिस्ट कहते थे, कि श्री० ब्लम श्री० बीदोल से तो अच्छे रहेंगे। इसी प्रकार एम० आर० पी० दल के लोग कहते थे, कि श्री० थोरे की अपेक्षा तो श्री० ब्लम का प्रधानमन्त्री होना ठीक रहेगा। १६ दिसम्बर, १९४६ को सोशलिस्ट नेता श्री० ब्लम ने अपनी मन्त्री-परिषद् का निर्माण कर लिया। इसी तरह फरवरी, १९४७ में सोशलिस्ट दल के उम्मीदवार श्री० विन्सेन्ट औरियल फ्रांस के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित कर लिये गये। श्री० ब्लम की मन्त्री-परिषद् में केवल सोशलिस्ट दल के ही मन्त्री थे। यद्यपि उनके अपने दल के

सदस्यों की संख्या केवल १०५ थी, पर अन्य दल उनका समर्थन कर रहे थे। वे अपने पद पर पाँच सप्ताह के लगभग रहे, और इस बीच में उन्होंने देश की दशा को सुधारने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण काम किये। पर श्री० ब्लम देर तक प्रधानमन्त्री नहीं रह सके। कम्युनिस्टों के विरोध के कारण उन्हें शीघ्र ही अपने पद से पृथक् हो जाना पड़ा।

श्री० ब्लम के बाद श्री० रमादिए ने मन्त्री-परिषद् की रचना की। ये भी सोशलिस्ट दल के सदस्य थे। उनकी मन्त्री-परिषद् में ६ सोशलिस्ट, ५ कम्युनिस्ट, और ५ एम० आर० पी० दल के मन्त्री थे। यह परिषद् २२ जनवरी, १६४७ में बनी और मई, १६४७ में त्याग-पत्र देने को विवश हुई। इसकी असफलता का प्रधान कारण कम्युनिस्टों का विरोध था। यद्यपि वे मन्त्रिपरिषद् में शामिल थे, पर शासनकार्य में उनका अन्य मन्त्रियों से प्रायः विरोध रहता था। मई, १६४७ में ही श्री रमादिए ने अपना दूसरा मन्त्रिमण्डल बनाया। इसमें १२ सोशलिस्ट, ६ एम० आर० पी० दल के, ५ रैडिकल सोशलिस्ट दल के और २ अन्य दलों के मन्त्री थे। श्री रमादिए की यह मन्त्रिपरिषद् नवम्बर, १६४७ तक कायम रही। बाद में एम० आर० पी० के नेता श्री शूमान ने मन्त्रि-परिषद् की रचना की, जिसमें कम्युनिस्टों के अतिरिक्त वामपक्ष के विविध दल तथा केन्द्रवर्ती कुछ दल सम्मिलित हुए। यह प्रक्रिया बाद में भी जारी रही। कोई भी मन्त्रिमण्डल, कुछ सप्ताहों से अधिक अपने पद पर स्थिर नहीं रह सका। विश्व-संग्राम के समाप्त होने के बाद से सितम्बर, १६४८ तक फ्रांस में ग्यारह मन्त्रिमण्डल बने और बिगड़े। फ्रांस की राजनीति की यह विशेषता है, कि वहाँ ब्रिटेन के समान दो या तीन सुसंगठित राजनैतिक दल नहीं है। राजनैतिक विचारों के अनुसार वहाँ बहुत से छोटे छोटे दल हैं, जो आपस में मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाते हैं। यह स्वाभाविक है, कि किसी भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर इनमें मत-भेद हो जाय। इस दशा में मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र दे देता है, और

प्राय: उन्हीं राजनैतिक दलों में किसी एक दो दल को कम करके या किसी नये दल को शामिल करके या पहले दलों के मन्त्रियों में ही थोड़ा बहुत हेर-फेर करके नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हो जाता है। सितम्बर, १६४८ में श्री क्वैय्य ने मन्त्रिमण्डल की रचना की। वे स्वयं रैडिकल सोशलिस्ट दल के हैं। उनका मन्त्रिमण्डल एक साल से अधिक समय तक अक्टूबर, १६४६ के प्रारम्भ तक कायम रहा। तेरह मास के सुदीर्घ समय तक एक मन्त्रिमण्डल जो स्थिर रह सका, इसका कारण यह था, कि इस समय फ्रांस की राजनीति में यह भावना बहुत प्रबल हो गई थी, कि चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक की रक्षा के लिए यह परम आवश्यक है, कि एक तरफ कम्युनिस्टों और दूसरी तरफ द गॉल के अनुयायियों से उनको बचाया जाय। फ्रेंच पार्लियामेंट में कम्युनिस्ट सबसे अधिक संख्या में हैं। वे उग्र वामपन्थी हैं, और पुराने ढंग के लोकतन्त्र शासन को नष्ट कर कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। दूसरी तरफ, जनरल द गॉल यह चाहते हैं, कि फ्रांस को राजनैतिक दलबन्दी की दलदल से निकाल कर एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाया जाय। इसके लिए एक जबर्दस्त सरकार और जबर्दस्त सेना का होना अनिवार्य है। द गॉल के प्रति फ्रेंच लोगों में आदर का भाव है। यही वीर सेनापति फ्रांस को जर्मन नाज़ियों के कब्जे से स्वतन्त्र कराने में समर्थ हुआ था। फ्रेंच लोग अपने देश में लोक-

फ्रांसे) का संगठन हुआ, जिसमें दक्षिणपक्ष के अनेक राजनैतिक नेता शामिल हुए। मई, १६४७ में इस दल ने एक विशाल महासभा की योजना की, और अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ, कि १६४७ के अन्त में जब फ्रांस में म्युनिसिपल चुनाव हुआ, तो इस दल (आर० पी० एफ०) को अच्छी सफलता हुई। पेरिस की म्युनिसिपल कौंसिल में कुल ६० सदस्य निर्वाचित होने थे, इनमें से ५२ स्थान द गॉल के राष्ट्रीय दल ने प्राप्त कर लिए। अन्य भी अनेक बड़े शहरों में इस दल को इसी प्रकार से सफलता मिली। द गॉल व उनके अनुयायी यह विश्वास रखते हैं, कि फ्रेंच पार्लियामेंट के नये चुनाव में उन्हें इसी प्रकार की सफलता मिलेगी।

कम्यूनिस्टों और द गाल के अनुयायियों से चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक की रक्षा करने के लिए एम० आर० पी०, सोशलिस्ट और रेडिकल सोशलिस्ट दलों ने परस्पर मिल कर एक समझौता सा कर लिया है। इस सम्मिलित शक्ति को फ्रांस में 'तृतीय शक्ति' के नाम से कहा जाता है। इन दलों के नेता यह विश्वास रखते हैं, कि फ्रांस का कल्याण वहाँ लोकतन्त्रवाद की सफलता में ही है, और लोकतन्त्रवाद का वही रूप ठीक है, जो तृतीय फ्रेंच रिपब्लिक के रूप में १८७१ में कायम हुआ था, और जिसका पुनरुद्धार १६४६ में चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक के रूप में किया गया था। जनरल द गाल जिस प्रकार शासन-शक्ति को राष्ट्रपति में केन्द्रित कर देना चाहते हैं, ये फ्रेंच लोग उसे लोकसत्तावाद के लिए विघातक मानते हैं। श्री क्वैय्य के नेतृत्व में जो मन्त्रिमण्डल एक साल से भी अधिक समय तक कायम रहा, उसने इसी प्रकार के लोकतन्त्रवाद की सफलता के लिए प्रयत्न किया। श्री क्वैय्य के मन्त्रिमण्डल की समाप्ति के बाद अक्टूबर, १६४६ में श्री बिडौल के नेतृत्व में जिस नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ, उसका प्रयत्न भी यही है। श्री क्वैय्य इस मन्त्रिमण्डल में भी उपप्रधानमन्त्री के पद पर विद्यमान हैं।

'तृतीय शक्ति' का उद्देश्य यह है, कि फ्रांस में लोकतन्त्रवाद की रक्षा के लिए दोनों मोर्चों पर डट कर लड़ाई की जाय। एक मोर्चा उन कम्युनिस्टों के खिलाफ है, जो एक पार्टी की डिक्टेटरशिप कायम करना चाहते हैं। दूसरा मोर्चा एक व्यक्ति (जनरल द गाल) की डिक्टेटरशिप के खिलाफ संघर्ष के लिए है। उसे वाम और दक्षिण—दोनों पक्षों का मुकाबला करना है। इसीलिए फ्रांस की राजनीति में उसे 'मध्यमार्ग' के नाम से भी कहा जाता है। यदि फ्रांस के 'मध्यमार्ग' के अनुयायी विविध दल मिल कर साथ काम करते रहें, तो वे अवश्य ही अपने देश में लोकतन्त्रवाद की रक्षा करने में सफल हो सकते हैं। पर उनकी सफलता तभी सम्भव है, जब वे उन जटिल समस्याओं को ठीक तरह से हल कर सकें, जो विश्व-संग्राम के बाद फ्रांस में उत्पन्न हो गई हैं।

विश्व-संग्राम के दौरान में चार साल के लगभग फ्रांस पर जर्मनी का कब्जा रहा। इस बीच में फ्रांस को भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। लाखों फ्रेंच नागरिक नाजी विरोधी होने के अपराध में कैद किये गये। लाखों को इस प्रयोजन से जबर्दस्ती जर्मनी ले जाया गया, कि वे वहाँ कारखानों में काम करें। फ्रांस के अपने कल कारखाने या तो युद्ध के कारण नष्ट हो गये थे, और या उनमें सब कार्य जर्मनी को आवश्यक युद्ध-सामग्री प्रदान करने के उद्देश्य से किया जाता था। फ्रांस का आर्थिक व व्यावसायिक जीवन बहुत कुछ अस्तव्यस्त हो गया था। विश्व-संग्राम की समाप्ति पर फ्रांस जो कुछ भी आर्थिक सहायता अमेरिका से प्राप्त कर सका, वह सब फ्रेंच नागरिकों को आवश्यक भोजन, वस्त्र व ईंधन मुहय्या करने के लिए भी पर्याप्त नहीं थी। अपनी आर्थिक उत्पत्ति का पुनः संगठन करने का तो प्रश्न ही अभी उत्पन्न नहीं होता था। इसके अतिरिक्त, फ्रांस में वस्तुओं की कीमतें निरन्तर बढ़ रही थीं। जर्मनी ने फ्रांस पर कब्जा करके शासन

करने के लिए जो भी धनराशि खर्च की, वह सब फ्रांस से ही वसूल की। युद्ध के समय में लाखों जर्मन सैनिक फ्रांस के अन्न से पलते रहे। इसके लिये पत्र-मुद्रा जारी करने में भी संकोच नहीं किया गया। फ्रांस में पत्र-मुद्रा की मात्रा बहुत बढ़ गई, और कीमतें निरन्तर बढ़ने लगीं। स्वतन्त्र फ्रेंच सरकार ने कीमतों को नियन्त्रित करने के लिए बहुत यत्न किये, पर कृत्रिम उपायों से कीमतों को नीचा रख सकना सम्भव नहीं था। चोर-बाजार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, और जनता के लिए अपना निर्वाह करना कठिन हो गया। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि सर्वसाधारण मजदूर जनता में बेचैनी उत्पन्न हो। उन्होंने वेतन-वृद्धि के लिए आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया, और कम्युनिस्ट लोग मजदूरों की मांगों को स्वीकार कराने के लिए आम हड़ताल की तैयारी करने लगे। नवम्बर, १९४७ में हड़तालों की प्रक्रिया शुरू हुई। फ्रांस में श्रमियों के संघ पर कम्युनिस्ट लोगों का प्रभाव था। वस्तुतः, उसका संचालन उन्हीं के हाथों में था। श्रमीसंघ (कन्फिदराशियों जनराल दु त्रावाय्य) द्वारा हड़ताल का एलान कर दिया गया। कुछ देर के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा, कि फ्रांस का आर्थिक व व्यावसायिक जीवन पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो जायगा। पर कम्युनिस्टों द्वारा शुरू की गई यह आम हड़ताल सफल नहीं हो सकी। देशभक्त फ्रेंच जनता भली भांति अनुभव करती थी, कि देश की वर्तमान दशा में हड़ताल करना राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक है। बहुत से मजदूरों का भी यही ख्याल था। परिणाम यह हुआ, कि कम्युनिस्ट लोग अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सके। यही समय था, जब जनरल द गॉल के राष्ट्रीय दल ने विशेष रूप से जोर पकड़ा। लोग समझते थे, कि कम्युनिस्टों से देश को बचाने का उपाय द गॉल द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करना ही है।

नवम्बर, १९४८ में कम्युनिस्टों ने एक बार फिर आम हड़ताल की कोशिश की। पर श्री क्वैय्य की सरकार ने उन्हें काबू में रखने में

असाधारण सफलता प्राप्त की। देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए एक स्पेशल पुलिस का संगठन किया गया, जो सब प्रकार के नवीन हथियारों व अन्य साधनों से सुसज्जित थी। साथ ही, यह भी प्रयत्न किया गया, कि जो मजदूर कम्युनिस्ट विचारों के नहीं हैं, उनका पृथक रूप से संगठन किया जाय। श्रमियों के इस नये संघ के सदस्यों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी, और कम्युनिस्ट श्रमी संघ की शक्ति लगातार कम होती गई।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि फ्रांस में श्रमियों में असन्तोष व बेचैनी को तभी पूरी तरह दूर किया जा सकता है, जब कि वहां की आर्थिक दशा सुव्यवस्थित हो जाय। फ्रांस की मध्यमार्ग का अनुसरण करनेवाली सरकारें इस दिशा में श्लाघनीय प्रयत्न कर रही हैं। मार्शल योजना द्वारा जो आर्थिक सहायता फ्रांस को प्राप्त हुई है, उसका भली-भांति उपयोग करके फ्रांस अपनी आर्थिक उत्पत्ति को निरन्तर बढ़ा रहा है। १६४७ के मुकाबले में १६४८ में फ्रांस की पैदावार में इस प्रकार वृद्धि हुई है। गेहूँ—५० फी सदी, आलू—४० फी सदी, चुकन्दर—५० फी सदी, तिलहन—८५ फी सदी। खेती के क्षेत्र में इस वृद्धि का परिणाम यह हुआ है, कि फ्रांस अब अनाज व खाद्य पदार्थों की दृष्टि से बहुत कुछ आत्मनिर्भर हो गया है। व्यावसायिक क्षेत्र में भी अब फ्रांस काफी उन्नति कर रहा है। विश्व-संग्राम के कारण उसके जो कल-कारखाने नष्ट व अस्त-व्यस्त हो गये थे, वे अब फिर आर्थिक उत्पत्ति करने लगे हैं। पर फ्रांस की आर्थिक व्यवस्था को सही दशा में आने में अभी पर्याप्त समय लगेगा। अमेरिका के मुकाबले में अपने माल को अन्य देशों में सस्ता बेच सकने व अपने माल के लिए अमेरिका में ही बाजार पैदा करने के उद्देश्य से जब १६४६ के मध्य में डालर के मुकाबले में फ्रांस की कीमत को कुछ और गिराया गया, तो मजदूरों में एक बार फिर अशान्ति की अग्नि भड़क उठी। फ्रांक की कीमत गिरने का यह स्वाभा-

विक परिणाम होना था, कि फ्रांस के अन्दर वस्तुओं की कीमतें ऊँची उठें। इसलिए मजदूरों ने वेतन की दर में वृद्धि के लिए आन्दोलन शुरू कर किया। इसी समस्या को लेकर श्री क्वैय्य के मध्यमार्गी मन्त्रि-मण्डल में सम्मिलित विविध दलों में मतभेद हो गया, और अक्टूबर, १६४६ में इस मन्त्रिमण्डल को अपने पद से पृथक् होना पड़ा। फ्रांस की 'तृतीय शक्ति' का भविष्य इसी बात पर निर्भर है, कि वह देश की आर्थिक समस्या को किस हद तक सन्तोषजनक रीति से हल कर सकेगा।

२. ग्रेट ब्रिटेन की प्रगति

यूरोप में विश्व-संग्राम के समाप्त होने के कुछ सप्ताह बाद ही जुलाई, १६४५ में ग्रेट ब्रिटेन की पार्लियामेन्ट का नया निर्वाचन हुआ। युद्ध में विजय का मुख्य श्रेय श्री चर्चिल के कर्तृत्व को था, ब्रिटेन की जनता इस वीर नेता को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखती थी। पर युद्ध के बाद ब्रिटेन की प्रधान समस्या देश की आन्तरिक व्यवस्था की थी। इसके लिए कन्जर्वेटिव पार्टी के पास न कोई अच्छा कार्यक्रम था, और न कोई नीति। इसके विपरीत मजदूर दल के पास निश्चित कार्यक्रम था। युद्ध के समय में सर्वसाधारण मजदूरों व सैनिकों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। ब्रिटेन के ये मजदूर श्रमी-संघों में संगठित थे। १६३६ में इन श्रमीसंघों के सदस्यों की कुल संख्या ५२,६५,००० थी। १६४४ में वह बढ़ कर ८०,२४,००० पहुँच गई थी। युद्ध के समय में इन श्रमियों ने जर्मनी के पराजय के लिए जी जान से कोशिश की थी। ब्रिटेन के मजदूर नेता यह अधिकार के साथ कह सकते थे, कि युद्ध में विजय का प्रधान श्रेय मजदूरों को मिलना चाहिए, और अब देश की व्यवस्था करते हुए उनके हितों को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। परिणाम यह हुआ, कि १६४५ के चुनाव में मजदूर दल की विजय हुई, और उसके नेता

श्री० एटली प्रधानमन्त्री के पद पर नियत हुए। ब्रिटिश हाउस आफ कामन्स के कुल सदस्यों की संख्या ६४० थी। इसमें से ४०० स्थान मजदूर दल ने प्राप्त किये। इतनी बड़ी संख्या में मजदूर दल पहले कभी अपने सदस्यों को पार्लियामैन्ट में निर्वाचित कराने में सफल नहीं हुआ था। अब उसकी इतनी अधिक बहुसंख्या थी, कि वह किसी अन्य पार्टी की सहायता पर निर्भर न रहता हुआ सरकार का संचालन कर सकता था। विश्वसंग्राम के बाद यूरोप के सभी देशों में वामपक्षी राजनैतिक दल प्रबल हो गये थे। ब्रिटेन में भी वामपक्षी लोग ही विजयी हुए। कम्युनिस्ट दल को वहाँ सफलता नहीं मिली, उनके केवल दो सदस्य ही पार्लियामेन्ट में निर्वाचित हो सके। ब्रिटेन का मजदूर दल फ्रांस की 'तृतीय शक्ति' के समान वामपक्षी होता हुआ भी मध्यमार्ग का अनुयायी है। जुलाई, १९४५ में मजदूर दल की जो सरकार श्री० एटली के नेतृत्व में कायम हुई, वह अब तक (नवम्बर, १९४९) भी कायम है। फ्रांस के समान ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डलों में जल्दी जल्दी परिवर्तन नहीं होते, क्योंकि वहाँ अनेक राजनैतिक दल न हो कर केवल दो या तीन ही राजनैतिक दल रहते हैं। वहाँ का पार्टी सिस्टम फ्रांस से बिलकुल भिन्न है।

श्री० एटली की सरकार को अनेक जटिल समस्याओं का मुकाबला करना था। जर्मनी द्वारा हवाई आक्रमणों से जो भारी नुकसान लण्डन व अन्य व्यावसायिक केन्द्रों को पहुँचाया गया था, उसे शीघ्र ही ठीक करने की आवश्यकता थी। लण्डन व अन्य बड़े नगरों की बहुसंख्यक इमारतें या तो सर्वथा नष्ट हो गई थीं, या बहुत कुछ टूट-फूट गई थीं। निवास के योग्य मकानों की ब्रिटेन में बहुत कमी हो गई थी। लड़ाई के समय में ब्रिटेन के सब कल कारखाने युद्ध-सामग्री को तैयार करने में लगे थे। विदेशी व्यापार बहुत कम रह गया था। अब जरूरत इस बात की थी, कि इन कल-कारखानों में उन पदार्थों को तैयार

किया जाय, जिनकी सर्वसाधारण जनता को जरूरत होती है, और जिन्हें दुनिया के बाजारों में बेचकर ब्रिटेन समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। युद्ध के कारण ब्रिटेन का आर्थिक जीवन बिलकुल अस्त-व्यस्त हो गया था। उसे व्यवस्थित करना नई मजदूर सरकार का सर्वप्रधान कार्य था। मार्च, १९४७ में ब्रिटेन में भयंकर तूफान आये। इस साल वहाँ सर्दी बहुत अधिक पड़ी थी। उस पर घोर बरसात और तूफान ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी, कि सत्तर लाख एकड़ के लगभग कृषि योग्य भूमि बाढ़ के पानी के नीचे आ गई, चालीस लाख के करीब भेड़ बकरियाँ व पचास हजार के करीब गाय बैल बाढ़ में नष्ट हो गये। युद्ध के कारण ब्रिटेन का आर्थिक जीवन पहले ही अव्यवस्थित दशा में था। इस प्राकृतिक विपत्ति ने स्थिति की गम्भीरता को और भी अधिक बढ़ा दिया।

श्री० एटली की सरकार ने ब्रिटेन के आर्थिक जीवन को सँभालने के लिए जिन उपायों का अवलम्बन किया, उन पर संक्षेप से प्रकाश डालना बहुत उपयोगी है—

(१) व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण की नीति का अवलम्बन किया गया। यह व्यवस्था की गई, कि जो व्यवसाय देश के आर्थिक जीवन के लिए व सार्वजनिक हित की दृष्टि से परम उपयोगी हैं, उन पर राज्य का स्वामित्व व नियन्त्रण स्थापित कर दिया जाय। सबसे पहले बैंक आफ इँगलैंड को राज्य की सम्पत्ति बना दिया गया। यह बैंक ब्रिटेन के आर्थिक जीवन का आधार है। फरवरी, १९४६ में यह राज्य की सम्पत्ति हो गया। बैंक के हिस्सेदारों को उनके हिस्से के बदले में सरकारी कागज (गवर्नमेन्ट सिक्युरिटी) दे दिये गये। यह व्यवस्था की गई, कि इन कागजों पर निश्चित सूद मिलता रहे। पिछले बीस सालों में बैंक आफ इँगलैंड के हिस्सेदारों को अपने हिस्सों पर जो मुनाफा मिलता रहा था, उसकी सालाना औसत निकाल कर इस सूद की दर नियत

की गई। बैंक के कर्मचारियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। पर डाइरेक्टरों की नियुक्ति सरकार की ओर से की जाने लगी। बैंक आफ इँगलैंण्ड का स्वामित्व प्राप्त करके सरकार ने देश के सारे आर्थिक जीवन को अपने नियन्त्रण में कर लिया। १९४६ में ही कोयले के व्यवसाय को राज्य के स्वामित्व में लाने के लिए एक कानून स्वीकृत किया गया। इस कानून द्वारा न केवल पत्थर के कोयले की खानें अपितु उनकी सब मशीनरी व अन्य सामग्री भी राज्य की सम्पत्ति बना दी गई। खानों के मालिकों को जो रकम मुआवजे के तौर पर दी गई, उसकी मात्रा २०० करोड़ रुपये से भी ऊपर थी। यह रकम भी सरकारी कागजों (गवर्नमेंट सिक्युरिटी) द्वारा अदा की गई। एक जनवरी, १९४७ को कोयले की सब खानों पर राज्य का अधिकार स्थापित कर लिया गया। जो सम्पत्ति इस समय ब्रिटिश सरकार के हाथ में आई, उसमें दस लाख एकड़ के लगभग ऐसी भूमि थी, जिसमें कोयले की खानें थीं। साथ ही, बहुत सी इमारतें, हजारों रेलवे वैगन व अन्य सामान कोयले की खानों के साथ राज्य को प्राप्त हुआ। इन सब का प्रबन्ध करने के लिए एक नेशनल कोल बोर्ड की स्थापना की गई, जिसके अधीन सात लाख के लगभग मजदूर व बीस हजार के लगभग अन्य कर्मचारी काम करते थे। कोल बोर्ड ने मजदूरों की दशा को सुधारने के लिए अनेक उपाय किये। मजदूर चाहते थे, कि वे खानों में प्रति सप्ताह पाँच दिन से अधिक काम न करें, पर उन्हें वेतन छः दिन का दिया जाय। उनकी यह माँग भी स्वीकार कर ली गई।

१९४६ में ही हवाई जहाज, टेली-कम्युनिकेशन, रेडियो, मोटर बस सर्विस व बिजली के व्यवसायों को राज्य के स्वामित्व में लाया गया। प्रत्येक व्यवसाय के प्रबन्ध व संचालन के लिए पृथक् पृथक् बोर्ड की रचना कर दी गई। व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया इस समय ब्रिटेन में इस सीमा तक आगे बढ़ चुकी है, कि देश में कुल मिला कर

जितने स्त्री-पुरुष इस समय नौकरी व मजदूरी से गुजर करते हैं, उनका एक चौथाई भाग राज्य की नौकरी में है। ब्रिटेन की मजदूर सरकार की नीति यही है, कि धीरे धीरे बड़े पैमाने के सब व्यवसायों को राज्य के स्वामित्व में ले आया जाय।

(२) १९४६ में नेशनल इन्शुरेन्स एक्ट स्वीकृत किया गया। इसका उद्देश्य यह था, कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त प्रत्येक व्यक्ति को जिन खतरों का मुकाबला करना पड़ता है, उनका बीमा कर दिया जाय। इस कानून के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का बीमा कराना आवश्यक कर दिया गया है। बीमे के लिए आवश्यक किस्तें सामूहिक रूप से दी जाती हैं। इन किस्तों का एक तिहाई भाग व्यक्ति स्वयं देता है, एक तिहाई भाग उसको नौकरी में रखनेवाले (चाहे वह राज्य क्यों न हो) देते हैं, और एक तिहाई भाग राज्य की तरफ से प्रदान किया जाता है। जिन खतरों के लिए बीमा कराया जाता है, वे ये हैं—(१) नौकरी व मजदूरी करने वाले के लिए बेकार हो जाना, (२) बीमारी, (३) जब स्त्री को बच्चा होना हो, तो उन दिनों का वेतन व खर्च (४) स्त्री का विधवा हो जाना, (५) किसी बच्चे के लिए अनाथ हो जाना (६) बुढ़ापा, और (७) मौत। इसमें सन्देह नहीं, कि इन सात प्रकार के खतरों का बीमा करा लेने से प्रत्येक व्यक्ति व उसका परिवार अनेक संकटों से बच जाता है। राज्य की तरफ से ब्रिटेन में अब यह आवश्यक कर दिया गया है, कि कोई व्यक्ति बीमा कराये बिना न रहे, ताकि विविध विपत्तियों के समय धन के अभाव से जो कष्ट होते हैं, लोग उनसे बचे रहें। जो लोग कल-कारखानों में काम करते हैं, उनके लिए यह भी व्यवस्था की गई है, कि यदि उन्हें चोट लग जाये, और उसके कारण वे कुछ समय के लिए व सदा के लिए काम करने में असमर्थ हो जावें तो उन्हें खर्च के लिए रुपया मिलता रहे। इस बीमे के लिए कुछ अतिरिक्त किस्त वसूल की जाने की व्यवस्था 'नेशनल इन्शुरेन्स ऐक्ट' द्वारा ही की गई थी।

१९४६ में ही एक अन्य कानून पास किया गया, जिसे नेशनल हेल्थ सर्विस ऐक्ट कहते हैं। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि प्रत्येक व्यक्ति को मुफ्त में चिकित्सा व औषधि प्राप्त करने का अवसर हो। सब लोगों के लिए यह जरूरी हो, कि वे चिकित्सा के निमित्त साप्ताहिक किस्त राज्य को प्रदान करें। इन किस्तों से जो धन प्राप्त हो, उसका उपयोग सरकार जनता को मुफ्त डक्टरी सहायता व औषधि प्रदान करने में करें। यह इन्तजाम किया गया, कि चिकित्सकों को कुछ निश्चित वेतन दिया जाय, और वे जितने बीमारों का इलाज करें, उनके लिये पृथक् भत्ता प्राप्त करें। यह वेतन और भत्ता सरकार की तरफ से दिया जाय, जनता का दायित्व केवल वह साप्ताहिक किस्त हो, जो अपनी आमदनी के अनुसार उन्हें सरकार को प्रदान करनी है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार हो, कि वह अपना डाक्टर स्वयं चुन सके।

(३) ब्रिटेन में बाधित शिक्षा की प्रथा पहले ही विद्यमान थी। ५ से १४ वर्ष की आयु के प्रत्येक बालक व बालिका के लिए स्कूल में दाखिल होकर शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। पर एप्रिल, १९४७ से बाधित शिक्षा की आयु को ५ से १५ वर्ष तक कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ, कि १५ वें वर्ष को पूर्ण करने से पहले किसी बालक के लिए स्कूल छोड़ कर मजदूरी आदि कर सकना सम्भव नहीं रहा। साथ ही, यह भी निश्चय किया गया, कि एप्रिल १९५० तक ब्रिटेन की प्रत्येक काउन्टी (ताल्लुका) में कालिजों की स्थापना कर दी जाय, और ५ से १८ वर्ष की आयु के प्रत्येक बालक व बालिका के लिए यह आवश्यक हो, कि वे इन काउन्टी कालिजों में शिक्षा प्राप्त करें। चाहे वे कुछ घण्टों के लिए ही इन कालिजो में पढ़ें, पूरा समय शिक्षा में न लगा कर कमाई में भी समय लगावें, पर कोई व्यक्ति ऐसा न रहे, जो १८ वर्ष की आयु तक अपना कुछ समय उच्च शिक्षा के ग्रहण करने में न लगाता हो।

मजदूर दल की सरकार ने यह भी व्यवस्था की, कि जिन किन्हीं प्रदेशों में मातृमन्दिरों (नर्सरी स्कूलों) की माँग हो, वहाँ शिक्षा विभाग द्वारा उन्हें स्थापित किया जाय, ताकि पाँच साल से कम आयु के बच्चे भी उनमें दाखिल होकर उपयोगी बातें सीख सकें।

(४) फैमिली एलाउन्स एक्ट (१९४५) द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि जिस परिवार में एक से अधिक ऐसे बच्चे हों, जिनकी आयु सोलह साल से कम हो, उसे अतिरिक्त बच्चों के लिए ५ शिलिंग (१३ शिलिंग = एक रुपया) प्रति बच्चा प्रति सप्ताह के हिसाब से सरकार की ओर से भत्ता दिया जाय। इस कानून के कारण गरीब परिवारों पर बच्चों के पालन का बोझ बहुत कुछ कम हो गया और उनके लिए यह सम्भव हो गया, कि वे उन्हें शिक्षा के लिए स्कूलों में दाखिल करा सकें।

(५) एक अन्य कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि ब्रिटेन के जो प्रदेश व्यावसायिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, उनमें कल-कारखानों का विकास किया जाय, ताकि वहाँ के निवासी भी आर्थिक दृष्टि से समृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ सकें।

(६) १९४७ में एक अन्य कानून पास किया गया। जिसके अनुसार सरकार ने यह अधिकार प्राप्त किया, कि वह कल-कारखानों में काम करनेवाले श्रमियों व विशेषज्ञों पर नियन्त्रण रख सके। इस कानून के अनुसार १८ से ५० वर्ष की आयु का कोई भी पुरुष मजदूर व १८ से ४० वर्ष की आयु का कोई भी स्त्री मजदूर किसी कारखाने की नौकरी को तब तक नहीं छोड़ सकता, जब तक कि वह सरकार के श्रम-विभाग से अनुमति न प्राप्त कर ले। इस कानून का प्रयोजन यही है, कि कल-कारखानों में काम करने योग्य श्रमी लोग खाली न बैठें, व एक नौकरी छोड़ कर दूसरी जगह काम तलाश करने में अपने समय को नष्ट न करें। देश की आर्थिक समृद्धि व व्यावसायिक उन्नति के

मूल श्रमी लोग ही हैं। वे काम में लगे रहें, इसी पर देश की उन्नति निर्भर है।

(७) १९४७ में ब्रिटेन में बाधित सैनिक शिक्षा का कानून भी पास किया गया। अब प्रत्येक ब्रिटिश युवक के लिए यह आवश्यक है, कि वह पूरे बारह मास तक सैनिक शिक्षा प्राप्त करे। विश्वसंग्राम से पहले ऐसे कानून केवल यूरोप के विविध देशों में प्रचलित थे। ब्रिटेन के निवासी बाधित सैनिक शिक्षा व सेवा से मुक्त थे। पर अब युद्धों की सम्भावना इतनी अधिक हो गई थी, कि ब्रिटेन को भी अपनी पुरानी परम्परा का परित्याग कर फ्रांस, जर्मनी आदि का अनुसरण करना पड़ा।

(८) सन् १९२७ में ब्रिटेन में एक कानून पास हुआ था, जिसके अनुसार श्रमी संघों को यह अधिकार नहीं था, कि वे आम हड़ताल कर सकें या कारखानों पर धरना दे सकें। विश्वसंग्राम के बाद ब्रिटेन में श्रमी संघ बहुत शक्तिशाली थे। वे इस कानून के बहुत खिलाफ थे। अब १९४६ में श्री० एटली की मजदूर सरकार ने १९२७ के इस कानून को रद्द कर दिया। श्रमी संघ इससे बहुत संतुष्ट हुए।

मजदूर सरकार ने सर्वसाधारण जनता के हित व कल्याण के लिए अन्य भी अनेक कानून बनाये। यह प्रक्रिया अभी जारी है। श्री० एटली की सरकार का प्रयत्न यही है, कि साम्यवादी नीति व सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए ब्रिटेन में एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी जाय, जिसमें कि सर्वसाधारण लोग सुख, चैन और सम्मान के साथ जीवन व्यतीत कर सकें। इसके लिए वे कम्युनिज्म की विचारधारा का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं समझते।

विश्वसंग्राम के कारण जो भारी नुकसान लण्डन व अन्य नगरों की इमारतों का पहुँचा था, उसे ठीक करने के लिए भी श्री एटली की सरकार ने प्रयत्न किया। नई इमारतों को तैयार करने के कार्य को

विशेष महत्त्व दिया गया। लोगों के निवास के लिए जहाँ सामयिक रूप से कच्चे मकान बनाये गये, वहाँ स्थिर इमारतों को तैयार करने में भी तत्परता प्रदर्शित की गई। सन् १९४७ में बारह हजार नई पक्की इमारतें बना कर पूरी की गईं। १९४८ में यह संख्या और भी बढ़ गई। यद्यपि ब्रिटेन में निवास योग्य मकानों की समस्या अभी पूरी तरह से हल नहीं हुई है, पर मकानों की कमी का कष्ट अब बहुत कुछ दूर हो गया है। अनाज, दूध, अन्य खाद्य पदार्थ और वस्त्रों की कमी के कारण ब्रिटेन में राशन की पद्धति का प्रारम्भ किया गया और बहुत सी वस्तुओं की कीमतें नियन्त्रित की गईं।

जो व्यवसाय अभी सरकार ने अपने हाथों में नहीं कर लिए थे, उनके भी नियन्त्रण व समुचित रूप से संचालन के लिए १९४७ में अनेक बोर्डों व सभा समितियों का संगठन किया गया। इनमें कल-कारखानों के मालिकों, श्रमियों व जनता के प्रतिनिधि सदस्य रूप से नियत किये गये। ये बोर्ड विविध व्यवसायों की समस्याओं पर विचार करते थे, तथा उनकी उन्नति के लिए अनेकविध योजनायें बना कर क्रियात्मक परामर्श देते थे। इन सब उपायों से मजदूर सरकार ने अपने देश की आर्थिक समस्या को हल करने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की।

पर मजदूरों को लाभ पहुँचाने के लिए जो कुछ भी प्रयत्न श्री एटली के मन्त्रिमण्डल ने किये, उनके कारण सरकारी खर्च बहुत अधिक बढ़ गया। श्रमियों के बीमे तथा चिकित्सा के लिए जो व्यवस्था सरकार ने की थी, उसके कारण राज्य को बहुत बड़ी रकम अपनी ओर से खर्च करनी पड़ती थी। यह रकम कहाँ से प्राप्त होती? ब्रिटेन की आर्थिक दशा पहले ही विश्वसंग्राम के कारण बहुत अस्त व्यस्त थी। अब सरकार पर खर्च का असाधारण रूप से बोझ बढ़ जाने से इस समस्या ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया। फ्रांस व अन्य यूरोपियन राज्यों के समान ब्रिटेन में भी आर्थिक संकट विकसित होना शुरू

हुआ। इस संकट के कारणों व स्वरूप पर यहाँ संक्षेप से प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है।

(१) युद्ध के कारण नष्ट हुई इमारतों व कल-कारखानों को ठीक करने व फिर से बनवाने के लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता थी।

(२) मजदूरों की भलाई के लिए जो व्यवस्थायें की गई थीं, उनके लिए भी प्रतिवर्ष एक भारी रकम खर्च करना अनिवार्य था।

(३) विश्वसंग्राम के समय में ब्रिटेन को न केवल अपने देश की रक्षा के लिए युद्ध करने की आवश्यकता हुई थी, अपितु अपने सुविशाल साम्राज्य की जापान से रक्षा करने के लिए उसे भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा था। सिंगापुर, मलाया, बरमा आदि अनेक प्रदेश ब्रिटेन के हाथ से निकल गये थे। भारत पर जापानी आक्रमण का भय बना हुआ था। इस दशा में ब्रिटेन ने अपनी सेनायें इन देशों में युद्ध के लिए भेजीं। पर वहाँ इन सेनाओं के लिए भोजन, वस्त्र व अन्य सामग्री प्राप्त करने के लिए भी खर्च की आवश्यकता थी। यह सब सामग्री उन देशों से ही प्राप्त कर ली गई। इस सामग्री की कीमत ब्रिटेन ने स्टर्लिंग (पौंड) के नोटों में अदा की। भारत से ब्रिटेन ने सैकड़ों करोड़ों पौण्ड का माल खरीदा। भारत सरकार रुपये के नोट जारी करके यह माल ब्रिटेन के खाते में खरीदती गई। भारतीय सरकार के इन नोटों के पीछे कोई सोना, चाँदी व अन्य बहुमूल्य वस्तु नहीं थी। इनका आधार केवल ब्रिटेन की देनदारी, ब्रिटेन के सरकारी कागज (स्टर्लिंग सिक्युरिटी) थे। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन करोड़ों पौण्डों के लिए भारत का देनदार हो गया। इसी प्रकार की देनदारी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों के प्रति भी हो गई। विश्वसंग्राम के अन्त में ब्रिटेन सैकड़ों करोड़ पौण्डों के लिए अन्य देशों का कर्जदार हो गया। इस कर्ज को अदा करना भारी समस्या थी।

(४) विश्व-संग्राम के दौरान में ब्रिटेन ने बहुत सी युद्ध-सामग्री

अमेरिका से प्राप्त की थी। युद्ध की समाप्ति के बाद भी अपने नष्टप्राय कल-कारखानों के पुनः निर्माण के लिए ब्रिटेन ने बहुत सा माल अमेरिका से प्राप्त किया। इस प्रकार का माल और भी अधिक मात्रा में अभी ब्रिटेन को अमेरिका से प्राप्त करना है। ब्रिटेन अपने व्यवसायों को तभी उन्नत कर सकता है, जब वह नई मशीनों व अन्य सामग्री को पर्याप्त मात्रा में अमेरिका से प्राप्त कर सके। पर यह सब सामान मुफ्त नहीं लिया जा सकता। इसकी कीमत अमेरिका के सिक्के में अदा की जानी आवश्यक है। डालर को प्राप्त करने के दो ही उपाय हैं, या तो सोना बदले में दिया जाय और या अमेरिकन माल के बदले में ब्रिटेन कोई माल अमेरिका को या ऐसे अन्य देशों को बेच सके, जहाँ का सिक्का डालर पर आश्रित है। पर ब्रिटेन के कारखानों में जो माल तैयार होता है, उसका उत्पत्ति व्यय बहुत अधिक होता है। वहाँ मजदूरों को जो विविध सुविधाएँ श्री एटली की सरकार ने प्रदान की है, उनके कारण कारखानों का खर्च बहुत बढ़ गया है। संसार के बाजारों में अमेरिकन माल के मुकाबले में ब्रिटेन का माल सुगमता से नहीं बिक सकता। इस दशा में यह आसान नहीं है, कि अपना कोई माल बेच कर ब्रिटेन उस सब सामग्री को प्राप्त कर सके, जिसकी उसे अपनी व्यावसायिक उन्नति के लिए आवश्यकता है। अपनी देनदारियों को अदा करने का सवाल तो बाद में ही पैदा होता है।

(५) भारत, पाकिस्तान आदि साम्राज्यान्तर्गत देशों के प्रति ब्रिटेन की जो भारी देनदारी थी, उसे आंशिक रूप में इस प्रकार अदा किया गया, कि इन देशों में विद्यमान बहुत से अँगरेजी कल-कारखाने व अन्य कारोबार बेच दिये गये, ब्रिटिश कम्पनियों द्वारा संचालित रेलवे भी इन देशों की सरकारों ने खरीद लीं, और अँगरेज अफसरों को पेंशन आदि के रूप में जो रकमें इन देशों की सरकारों को प्रदान करनी थीं, उन सब के बदले में एकमुश्त रकम ब्रिटेन को दे दी गई। दूसरे शब्दों में यूँ

कहा जा सकता है, कि उस रकम के बराबर ब्रिटेन की इन देशों के प्रति देनदारी कम कर दी गई। पर इन सब उपायों से भी ब्रिटेन की देनदारी अभी बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान है। साम्राज्यान्तर्गत देशों के सिक्के ब्रिटेन के पौंड पर ही आश्रित हैं, अतः जब इन देशों को कोई माल अमेरिका से खरीदना हो, तो उसके लिए वे बहुत कुछ ब्रिटेन पर ही निर्भर रहते हैं। ब्रिटेन इस समय स्वयं आर्थिक संकट में है, अतः इन देशों के लिये अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण कर सकना और भी कठिन हो जाता है।

इस दशा में सुधार करने के उपायों पर विचार करने के लिए जुलाई, १९४९ में ब्रिटिश कामनवेल्थ के अर्थमन्त्रियों की एक कान्फरेन्स लण्डन में हुई थी। इसमें यह निश्चय किया गया था, कि कामनवेल्थ के विविध देश अपने ऐसे आयात को कम करने का प्रयत्न करें, जो वे अमेरिका व डालर क्षेत्र के अन्य देशों से प्राप्त करते हैं। कामनवेल्थ के विविध देश यदि अपनी आवश्यकताओं को एक दूसरे से ही प्राप्त करते रहें, तो उन्हें डालरों की विशेष जरूरत नहीं रहेगी, और इस प्रकार वे उस अर्थ संकट को आंशिक रूप से दूर कर सकेंगे, जो उनके सम्मुख है। पर डालरों को प्राप्त किये बिना व अमेरिका से विविध प्रकार का माल प्राप्त किये बिना ब्रिटिश कामनवेल्थ के देशों का गुजर चल सकना सम्भव नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि सितम्बर, १९४९ में अमेरिका, ब्रिटेन और कनाडा के अर्थमन्त्री वाशिंगटन में एकत्र हुए। इस कान्फरेन्स का उद्देश्य भी यही था, कि ब्रिटेन के अर्थ-संकट को दूर करने के उपायों पर विचार किया जाय। वाशिंगटन कान्फरेन्स में इस समस्या पर खूब अच्छी तरह से विचार हुआ। इसी समय यह सुझाव ब्रिटेन के सम्मुख आया, कि अगर डालर और पौंड की आपसी कीमत में फर्क करके पौंड की कीमत को गिरा दिया जाय, तो ब्रिटेन के लिए अपने माल को अन्य देशों में बेच सकना सुगम हो जायगा। इस समय

एक पौंड ४'०३ डालर के बराबर था। अगर पौंड की कीमत गिरा दी जाय, तो ब्रिटिश माल को खरीदने के लिए अमेरिका व डालर क्षेत्र के अन्य देशों को कम डालर देने होंगे। इस कारण ब्रिटिश माल बाजार में सस्ता पड़ेगा। इसी प्रकार अमेरिकन यात्री भारी संख्या में ब्रिटेन में यात्रा के लिए आने को प्रोत्साहित होंगे। बहुत कम डालर खर्च करके वे ब्रिटेन की यात्रा कर सकेंगे। इससे ब्रिटेन की आमदनी बहुत बढ़ जावेगी, और उसके लिए डालर प्राप्त कर सकना सुगम हो जायगा। ब्रिटेन के अर्थ-मन्त्री श्री क्रिप्स इस विचार के समर्थक थे। उन्होंने १६ सितम्बर, १६४६ को पौंड की कीमत घटाये जाने का ऐलान कर दिया। पौंड का मूल्य ४'०३ डालर से घटाकर २'८० डालर नियत कर दिया गया। ब्रिटेन के पौंड का मूल्य घटा देने का परिणाम यह हुआ, कि अन्य अनेक देशों ने, जिनके सिक्कों की कीमतें पौंड के साथ सम्बद्ध थीं, ब्रिटेन का अनुसरण कर अपने सिक्कों की कीमत को गिरा दिया। भारत का रुपया पहले ३०'२२५ अमेरिकन सेंट (एक डालर = १०० सेन्ट) के बराबर था। अब उसका मूल्य घटाकर २१ सेन्ट के बराबर कर दिया गया। सीलोन, बरमा, आस्ट्रेलिया आदि अन्य अनेक देशों ने भी यही किया। पर पाकिस्तान ने अपने रुपये की कीमत नहीं गिराई। अमेरिकन सिक्के में उसकी कीमत ३०'२२५ सेन्ट ही रही। परिणाम यह हुआ, कि पाकिस्तानी रुपया अब ब्रिटिश सिक्के में २५ पेन्स के बराबर हो गया, पहले भारतीय रुपये के समान पाकिस्तानी रुपया भी १८ पेन्स के बराबर था।

पौंड का मूल्य गिराने से ब्रिटेन को बहुत लाभ हुआ है। यदि वह अपने सिक्के की कीमत को न गिराता, तो ब्रिटेन में मजदूरों को जो विविध सहूलियतें व सुविधाएँ दी गई थीं, उन्हें कम करना होता। इससे सर्वसाधारण जनता में असन्तोष बहुत बढ़ जाता। अब पौंड स्टर्लिंग क्षेत्र के विविध देशों में अमेरिकन माल के मुकाबले में ब्रिटेन

माल बहुत सस्ता बिक सकता है। भारत, बरमा आदि देशों को जो मशीनरी, इंजन, मोटर आदि विदेशों से मँगानी पड़ती हैं, वे अब अमेरिका के मुकाबले में ब्रिटेन से सस्ती मँगाई जा सकेंगी। इससे ब्रिटेन के निर्यात माल को प्रोत्साहन मिलेगा, और उसके कल-कारखानों से उत्पन्न माल बाजार में सुविधापूर्वक बिक सकेगा। अमेरिका के बाजारों में भी ब्रिटेन का अनेक प्रकार का माल सुगमता से बिक सकना सम्भव हो जायगा और इससे उसे डालर कमाने का अवसर मिलेगा।

इसमें सन्देह नहीं, कि श्री एटली का मन्त्रिमण्डल ब्रिटेन को उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है। बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार अपनी साम्राज्य-सम्बन्धी नीति को भी परिवर्तित कर उसने ब्रिटेन का एक नया प्रभाव-क्षेत्र कायम कर लिया है, जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आन्तरिक राजनीति में यह मन्त्रिमण्डल कम्युनिज्म के प्रभाव से देश को बचाने में अच्छी सफलता प्राप्त कर रहा है। मध्यमार्गी साम्यवाद का एक क्रियात्मक रूप इसने संसार के सम्मुख उपस्थित किया है।

३. रशिया

विश्वसंग्राम की समाप्ति पर रशिया में कोई राजनैतिक परिवर्तन नहीं हुआ। कम्युनिस्ट पार्टी ने युद्ध के समय में असाधारण कार्यक्षमता और योग्यता प्रदर्शित की थी। जर्मनी द्वारा देश के अच्छे बड़े भाग पर कब्जा कर लेने के बावजूद भी रशिया में कोई ऐसा राजनैतिक दल उत्पन्न नहीं हुआ था, जो कम्युनिज्म का विरोधी हो या जर्मनी के राष्ट्रीय साम्यवाद का समर्थक हो। रशिया के जिन प्रदेशों पर जर्मनी ने कब्जा कर लिया था, उनमें भी उसे कोई ऐसे रशियन लोग नहीं मिले थे, जो उसके साथ सहयोग कर देशद्रोह के लिए उद्यत हों। निस्सन्देह, यह कम्युनिस्ट दल की बड़ी भारी सफलता थी। इसी लिए युद्ध की

समाप्ति पर रशियन लोगों ने यह दावा करना प्रारम्भ कर दिया था, कि कम्युनिज्म अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं की अपेक्षा बहुत उत्कृष्ट है। युद्ध के समय में रशियन लोगों ने जिस प्रकार मिलकर शत्रु का मुकाबला किया था, उसे दृष्टि में रखते हुए उन्हें यह दावा करने का अधिकार भी था।

१९४४ में सोवियट रशिया के शासन-विधान में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये थे। इनके अनुसार रशिया के सोवियट संघ में सम्मिलित विविध राज्यों को यह अधिकार दिया गया, कि वे अन्य देशों के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सकें और अपनी सेनाएँ भी पृथक् स्वतन्त्र रूप से रख सकें। अब सोवियट संघ में सम्मिलित राज्य अन्य देशों में अपने राजदूत भेज सकते थे और उनसे पृथक् रूप से सन्धियाँ व समझौते भी कर सकते थे। विदेशी राजनीति मे उन्हें स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त हो गई थी। इसी से लाभ उठा कर युक्रेन और ह्वाइट रशिया ने संयुक्त राज्यसंघ का स्वतन्त्र रूप से सदस्य होने के लिए आवेदन पत्र भेजा, जो स्वीकृत हो गया। ये दोनों राज्य तब से संयुक्त राज्यसंघ के सदस्य हैं, और वहाँ रशिया का समर्थन करते हैं। शासन-विधान में जो परिवर्तन किये गये, उनके अनुसार रशियन मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ा दी गई। १९४८ में इस परिषद् के सदस्यों की संख्या ७५ थी। श्री स्टालिन प्रधान मन्त्री के पद पर विद्यमान है। राष्ट्रपति के पद पर सन् १९४६ में श्री निकोलेई मिखैलोविच श्वेर्निक निर्वाचित हुए थे, जो अब तक अपने पद पर प्रतिष्ठित हैं। विश्वसंग्राम के कारण रशिया को धन और जन का बड़ा भारी नुकसान उठाना पड़ा था। उसके कल-कारखाने व व्यवसाय बहुत कुछ नष्ट हो गये थे। जर्मन-आक्रमणों से विवश होकर रशियन लोग जिन प्रदेशों को खाली करते थे, उन्हें पूर्ण तरह उजाड़ देते थे। इस नीति के कारण रशिया की सम्पत्ति का बहुत बुरी तरह विनाश हुआ था। अब श्री स्टालिन

की सरकार के सम्मुख प्रधान कार्य यही था, कि रशिया में किस प्रकार ऐसी व्यवस्था कायम की जाय, जिससे देश फिर आर्थिक समृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ सके। इसके लिए उन्होंने जिन उपायों का अवलम्बन किया, उन पर संक्षेप से प्रकाश डालना आवश्यक है—

(१) देश के व्यावसायिक व आर्थिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए एक नई पञ्चवार्षिक योजना (१९४६-५०) तैयार की गई। इसमें निम्नलिखित बातों को विशेष स्थान दिया गया था—क-स्थानभ्रष्ट लोगों को फिर से बसाना। ख-आर्थिक उत्पत्ति को इस हद तक बढ़ाना, कि विश्व-संग्राम से पहले प्रतिवर्ष जितनी अधिकतम उत्पत्ति होती थी, अब उससे भी अधिक होने लग जाय। ग-लोगों के जीवन को अधिक समृद्ध तथा सुखी बनाया जाय। पहली पञ्चवार्षिक योजनाओं के समान इस बार भी रशिया की सारी शक्ति को एक लक्ष्य को दृष्टि में रखकर प्रयुक्त किया गया।

(२) विश्व-संग्राम में बहुत से रशियन नागरिक मारे गये थे। रशिया का कुल क्षेत्रफल ८५ लाख वर्गमील है, १९४७ में उसकी आबादी केवल २० करोड़ थी। एक वर्गमील में २४ के लगभग आदमी निवास करते थे। यह जनसंख्या बहुत कम थी। कम्युनिस्ट सरकार का यह खयाल था, कि रशिया की उन्नति के लिए उसकी आबादी में वृद्धि होनी चाहिए। इसलिए यह व्यवस्था की गई, कि जिन परिवारों में बच्चों की संख्या अधिक हो, उन्हें बोनस दिया जाय और जो लोग अविवाहित या सन्तानहीन रहें, उन पर टैक्स की मात्रा बढ़ा दी जाय, और जिस दम्पति के केवल दो या एक सन्तान हो, उस पर भी अधिक टैक्स लगाया जाय।

(३) विश्व-संग्राम से पूर्व कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य सुगमता से नहीं बनाये जाते थे। १९३९ में उसके सदस्यों की संख्या केवल २५ लाख थी। युद्ध के समय में यह अनुभव किया गया, कि जनता में

कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति अधिक भक्ति होना उपयोगी है। अतः इस दल का सदस्य होना सुगम कर दिया गया। सितम्बर, १९४७ में रशिया की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों की संख्या ६३ लाख के लगभग थी। कम्युनिस्ट, दल के कलेवर के बढ़ जाने से रशियन सरकार के लिए अपना कार्य कर सकना अधिक सुगम हो गया था।

जनता की सहानुभूति व सहयोग को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही विश्वसंग्राम के बाद धर्म के प्रति अधिक उदार नीति का अनुसरण किया गया। विश्व-संग्राम से पूर्व ही धार्मिक संस्थाओं व चर्च को अपना कार्य करने की अनुमति प्राप्त हो गई थी। पर अब चर्च को अपने कार्य के लिए और अधिक सुविधाएँ दी गईं। बोल्शेविक क्रान्ति के समय से रशिया में चर्च का कोई एक सर्वप्रधान महन्त (पेट्रिआर्क) नहीं रहा था। पर अब रशियन चर्च ने अपना भली भाँति संगठन कर पेट्रिआर्क की फिर से नियुक्ति की। इस नियुक्ति के समय बड़ी धूमधाम के साथ उत्सव मनाया गया, और देश के सब हिस्सों के धर्म-प्रेमी लोग एकत्र हुए। इसका परिणाम यह हुआ, कि जो लोग कम्युनिस्टों को धर्म व चर्च का विरोधी समझ कर उनसे विद्वेष रखते थे, वे भी संतुष्ट हो गये। कम्युनिस्ट लोग स्वयं अब भी चर्च व धर्म के विरोधी हैं। उनके विरुद्ध प्रचार करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। पर जो रशियन लोग ईसाइयत व किसी अन्य धर्म के अनुयायी हों, उनके मार्ग में अब कोई विशेष बाधा नहीं रह गई है।

रशिया की बोल्शेविक सरकार जहाँ देश की आन्तरिक व्यवस्था व आर्थिक उन्नति में भी लगी है, वहाँ विदेशी राजनीति में अपना प्रभाव व शक्ति बढ़ाने में वह विशेष रूप से तत्पर है। रशिया की आन्तरिक राजनीति में भी कोई ऐसी समस्या नहीं है, जिससे वहाँ की सरकार को परेशान होने की आवश्यकता हो। अतः वह अपने विशाल देश की सब शक्ति को विदेशों में अपने प्रभाव का विस्तार करने में लगा सकती

है। इसी लिए पूर्वी यूरोप के विविध देशों को उसने प्रभाव में कर लिया है। एशिया में अपने प्रभाव का विस्तार करने में भी उसे असाधारण सफलता हुई है। चीन के बहुत बड़े भाग पर कम्युनिस्ट दल का कब्जा हो गया है। बरमा, भारत आदि अन्य एशियाई देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ विद्यमान हैं। कामिन्फार्म के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के पुनः संगठित हो जाने के कारण रशिया को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना असर बढ़ाने का अपूर्व अवसर हाथ लग गया है।

अमेरिका द्वारा प्रस्तुत की गई मार्शल योजना की सर्वथा उपेक्षा कर रशिया ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि उसे व उसकी विचारधारा का अनुसरण करनेवाले देशों को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए किसी विदेश का मुँह देखने की आवश्यकता नहीं। सम्पत्ति के उत्पादन के दो ही मुख्य साधन हैं, प्रकृति और श्रम। ये दोनों किसी विदेश से प्राप्त नहीं किये जा सकते। जिसे सिक्का कहते हैं, वह सम्पत्ति को मापने मात्र का साधन है। अतः कोई देश अपने साधनों का ठीक प्रकार से उपयोग करके अपनी आर्थिक उन्नति कर सकता है। पूजंवादी देशों को सिक्के व रुपये के कारण और सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वत्व होने के कारण जिन समस्याओं का मुकाबला करना पड़ता है, कम्युनिस्ट व्यवस्था में वे उत्पन्न नहीं होती। इसी कारण रशिया व उसके साथी अपने आर्थिक व व्यावसायिक विकास के लिए अमेरिका से कर्ज लेने व सहायता प्राप्त करने की विशेष अपेक्षा नहीं रखते।

रशिया ने एटम बम्ब का भी आविष्कार कर लिया है। अमेरिका के अतिरिक्त रशिया ही एक ऐसा देश है, जिसने परमाणु शक्ति का उपयोग भली भाँति जान लिया है। इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी शक्ति व स्थिति और भी अधिक बढ़ गई है।

४. रशिया का प्रभाव-क्षेत्र

यूरोप में निम्नलिखित देश रशिया के प्रभाव-क्षेत्र में हैं—पोलैण्ड, चेको-स्लोवाकिया, हंगरी, रूमानिया, युगोस्लाविया, अल्बेनिया, बल्गेरिया, फिनलैण्ड और जर्मनी व आस्ट्रिया के रशियन क्षेत्र के प्रदेश। इन सब देशों का शासन व आर्थिक व्यवस्था कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुसार की जा रही है। इनके सम्बन्ध में केवल वे समाचार ही हमें ज्ञात हैं, जो सरकारी तरीके से बाहर की दुनिया के पास जा सकते हैं। इसी लिए अनेक राजनीतिज्ञ यह कहते हैं, कि इन सब देशों पर लोहे का एक भारी परदा पड़ा हुआ है। इस 'आयर्न कर्टेन' के पीछे क्या कुछ हो रहा है, यह सर्व-साधारण के लिए जान सकना सुगम नहीं है। ये देश किस प्रकार रशिया के प्रभाव में आ गये और वहाँ किस प्रकार कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हुई, इस सम्बन्ध में हम गत अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ हम इन देशों के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का स्थूल रूप से उल्लेख करेंगे।

(१) बल्गेरिया—इस देश की कम्युनिस्ट सरकार का मुख्य प्रयत्न इस बात के लिए रहा है, कि खेती और व्यवसायों को सरकार के अधीन कर वहाँ रशिया के ढंग की आर्थिक व्यवस्था कायम की जाय। बल्गेरिया कृषि-प्रधान देश है, वहाँ की ८० फी सदी जनता अपने निर्वाह के लिए कृषि पर आश्रित थी। पर अधिकांश भूमि जमींदारों की सम्पत्ति थी, और वे उसका उपयोग अपने हितों को दृष्टि में रख कर करते थे। मार्च, १९४६ में बल्गेरिया में जमींदारी प्रथा को उड़ा दिया गया। खेती के लिए जमीन को किसानों में बाँट दिया गया। एक किसान के पास अधिक से अधिक कितनी जमीन खेती के लिए रह सकती है, यह भी तय कर दिया गया। किसानों की सब पुरानी देनदारियाँ खत्म कर दी गईं। यह यत्न किया गया, कि विविध किसान मिलकर अपनी सहकारी

समितियाँ बना लें, और बड़े पैमाने पर खेती करें। सन् १६४४ में ऐसे बड़े खेत, जिनमें यान्त्रिक शक्ति की सहायता से खेती हो सकती थी, केवल ४४ थे। १६४८ में ऐसे खेतों की संख्या बढ़कर १००० के लगभग पहुँच गई थी। बल्गेरिया की सरकार यान्त्रिक शक्ति से खेती करने व खेतों की पैदावार को बढ़ाने की बात को बहुत महत्त्व देती है। इसी लिए हजारों ट्रैक्टर व अन्य यान्त्रिक उपकरण वहाँ खरीदे गये हैं। परिणाम यह हुआ है, कि बल्गेरिया में खेती की पैदावार बहुत बढ़ गई है, और खाद्य पदार्थों की कीमतें काफी नीचे गिर गई हैं।

जनवरी, १६४७ में कल-कारखानों और बड़े व्यवसायों को भी बल्गेरिया में राज्य की सम्पत्ति बना दिया। अब ८० प्रतिशत के लगभग उद्योग-धन्धों पर बल्गेरिया में राज्य का स्वामित्व स्थापित हो गया है। इससे वहाँ व्यावसायिक उन्नति में बहुत सहायता मिली है। १६४८ के अन्त तक यह स्थिति हो गई थी, कि ३० फी सदी बल्गेरियन जनता अपने निर्वाह के लिए व्यवसायों पर आश्रित हो गई थी। दो सालों के छोटे से अरसे में ही १० फी सदी के लगभग नये बल्गेरियन नागरिक कृषि पर आश्रित रहने के स्थान पर विभिन्न व्यवसायों में आ गये थे। १६४८ में बल्गेरिया ने भी एक पंचवार्षिक योजना तैयार की है। इसका उद्देश्य यह है, कि देश में खेती व व्यवसायों में और अधिक उन्नति हो। बल्गेरियन सरकार चाहती है, कि कृषि पर निर्भर रहने वाले लोगों की संख्या ५५ फी सदी से अधिक न रहे। शेष सब लोग व्यवसायों में लगें, और इस प्रकार जनता के रहन-सहन को ऊँचा उठाने में मदद मिले।

कम्युनिस्ट लोग अपनी नीति व कार्यक्रम को बिना विरोध के आगे बढ़ाने में सफल नहीं हुए। उन्हें अन्य राजनैतिक दलों के विरोध का सामना करना पड़ा। कम्युनिस्टों के अतिरिक्त वहाँ तीन अन्य राजनैतिक दल थे—देहाती दल, सोशलिस्ट दल और रिपब्लिकन लोकतन्त्रवादी

दल। पहले कम्युनिस्टों ने यह कोशिश की, कि इन पार्टियों के साथ मिली-जुली सरकार बनाकर काम करें। पर अन्य दलों के लोग कम्युनिस्ट आर्थिक व्यवस्था से सहमत नहीं थे। परिणाम यह हुआ, कि कम्युनिस्ट नेता श्री डिमिट्रोव ने अन्य दलों का उग्र रूप से विरोध करना शुरू किया। देहाती दल के नेता श्री पेठकोव को गिरफ्तार किया गया। उन पर मुकदमा चलाकर उन्हें प्राणदण्ड दिया गया। यही बरताव विरोधी दलों के अन्य नेताओं के साथ किया गया। १९४७ के मध्य तक बल्गेरिया में यह स्थिति आ गई थी, कि कम्युनिस्ट दल का अबाधित शासन (डिक्टेटरशिप) वहाँ कायम हो गया था।

(२) **युगोस्लाविया**—विश्व-संग्राम में जर्मनी की घटती कला के शुरू होने पर रशियन सहायता से किस प्रकार युगोस्लाविया स्वतन्त्र हुआ, और मार्शल टीटो के नेतृत्व में वहाँ कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना हुई, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पर कम्युनिस्टों के अतिरिक्त अन्य भी ऐसे दल थे, जिन्होंने युगोस्लाविया की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया था। इनमें सर्वप्रधान वे देशभक्त थे, जिन्होंने श्री मिहैलोविप के नेतृत्व में जर्मनी के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा किया था। इन्होंने अपनी सेना का बाकायदा संगठन किया था और शुरू में मित्रराष्ट्रों की सहानुभूति व सहायता भी इन्हें प्राप्त थी। पर जब रशिया की सहायता से मार्शल टीटो ने युगोस्लाविया में अपनी सरकार की स्थापना का यत्न शुरू किया, तो मिहैलोविप के अनुयायियों के साथ उसका विरोध होना स्वाभाविक था। टीटो ने इन पर यह आक्षेप किया, कि मिहैलोविप के अनुयायी फैसिस्ट हैं, और इन्होंने यह भी यत्न किया था, कि जर्मनी की सहायता से कम्युनिस्टों का विरोध करें। जून, १९४६ में मिहैलोविप और उसके २३ प्रमुख साथियों को गिरफ्तार कर लिया गया। उन पर मुकदमे चलाये गये और सबको प्राणदण्ड दिया गया। यही बर्ताव कम्युनिस्ट विरोधी अन्य दलों के साथ

किया गया, और शीघ्र ही मार्शल टीटो युगोस्लाविया का एकमात्र नेता रह गया।

मार्शल टीटो ने अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित की। देश के शासन-विधान का निर्माण करते हुए रशिया का अनुकरण किया गया। युगोस्लाविया के निवासी जातिगत दृष्टि से अनेक भागों में विभक्त हैं। इन विभागों को नजर में रखकर उसे छः स्वतन्त्र सोवियट रिपब्लिकों में बाँटा गया। इन रिपब्लिकों के नाम ये हैं—(१) बोस्निया—हरजोगोविना, (२) क्रोटिया, (३) मैसिडोनिया, (४) मान्टिनिग्रो, (५) सर्बिया और (६) स्लावोनिया। इन छः स्वतन्त्र रिपब्लिकन राज्यों के अतिरिक्त दो अन्य ऐसे प्रदेशों में पृथक् राज्य कायम किये गये, जिनकी आबादी मिली-जुली है। वायवोडिना में स्लाव और हंगेरियन लोग साथ साथ बसते हैं। इसी प्रकार कोसोवो-मेतेहिजा के प्रदेश में सर्व और अल्बेनियन लोगों का एक साथ निवास है। इन दोनों प्रदेशों को अन्य रिपब्लिकों से पृथक् रखकर इनमें पृथक् स्वतन्त्र सरकारों की स्थापना की गई। कम्युनिस्टों की इस व्यवस्था से विभिन्न जातियों में परस्पर संघर्ष व ईर्षा नहीं होने पाती, और सबको एक आर्थिक व्यवस्था का अनुसरण करते हुए अपने पृथक् व स्वतन्त्र विकास का मौका मिलता है। सब रिपब्लिकों व प्रदेशों की पृथक् सरकारों के ऊपर केन्द्रीय सोवियट सरकार की रचना की गई, जिसका अधिपति मार्शल टीटो स्वयं बना। युगोस्लाविया की केन्द्रीय पार्लियामेंट में दो सभाएँ हैं—(१) राष्ट्रीय सभा—इसमें सारे देश को एक राष्ट्र मान कर प्रतिनिधियों का चुनाव होता है। (२) जातियों की सभा—इसमें देश में निवास करने वाली विविध जातियों व लोगों के प्रतिनिधि पृथक् रूप से चुन कर आते हैं। वास्तविक शासनशक्ति कम्युनिस्ट दल के हाथ में है। अन्य पार्टियों को पूरी तरह से दबा दिया गया है। यही कारण है, कि जब ११ नवम्बर, १९४५ को युगोस्लाविया की पार्लियामेंट का निर्वा-

चन हुआ, तो मार्शल टीटो की तरफ से उम्मीदवारों की एक सूची तैयार कर ली गई। इस सूचि के अन्तर्गत किसी उम्मीदवार का विरोध करने का साहस किसी दल में नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि इस सूचि के सब उम्मीदवार निर्वाचित हो गये। इसमें सन्देह नहीं, कि मार्शल टीटो द्वारा प्रस्तुत इस सूचि में कुछ ऐसे लोग भी थे, जो कम्युनिस्ट नहीं थे। उनकी योग्यता व देश-सेवा को दृष्टि में रखकर कम्युनिस्टों ने उन्हें भी सूचि में शामिल कर लिया था। पर ये लोग पार्लियामेंट में बैठकर टीटो व उसकी नीति का विरोध करें, यह कम्युनिस्टों को सह्य नहीं था। इसी लिए जुलाई, १६४६ में श्री जोवानोविक (देहाती दल के नेता) ने जब कम्युनिस्ट सरकार की नीति की आलोचना की, तो उन्हें पार्लियामेंट की सदस्यता से पृथक् हो जाने के लिए विवश किया गया। उन्हें गिरफ्तार किया गया और मुकदमा चलाकर उन्हें ६ साल जेल की सजा दी गई। उन पर यह अभियोग लगाया गया था, कि वे अन्य देशों के एजेन्ट हैं, और युगोस्लाविया का अहित करने के लिए उद्यत रहे हैं। श्री जोवानोविक मार्शल टीटो द्वारा तैयार की गई उम्मीदवारों की सूचि में थे, इसी लिए वे पार्लियामेंट में निर्वाचित हो सके थे। पर उनके विचार कम्युनिस्टों से नहीं मिलते थे, और उनका राजनैतिक दल 'देहाती दल' के नाम प्रसिद्ध था। इसी प्रकार का व्यवहार अन्य अनेक नेताओं के साथ भी किया गया। मार्शल टीटो अपने देश में कम्युनिस्ट पार्टी की 'डिक्टेटरशिप' को भली भाँति स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे, और यह इसी नीति से सम्भव हो सकता था।

कम्युनिस्ट पार्टी के शासन को पूरी तरह स्थापित करके मार्शल टीटो ने अपनी शक्ति को युगोस्लाविया में रशिया के ढंग की व्यवस्था कायम करने में लगा दिया। इसके लिए जो उपाय उन्होंने किये, वे निम्नलिखित हैं—

(१) ५ दिसम्बर, १९४६ को सब कल-कारखानों, व्यवसायों और कृषि पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया गया। इससे आर्थिक उत्पत्ति की वृद्धि में बहुत मदद मिली। रशिया के समान युगोस्लाविया में भी पंचवार्षिक योजना तैयार की गई।

(२) ईसाई चर्च कम्युनिज्म का विरोधी था। अनेक लोग धर्म का आश्रय लेकर कम्युनिस्ट व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार करते थे। इनको बुरी तरह कुचला गया। युगोस्लाविया के प्रधान महन्त (आर्क बिशप) श्री स्टेपिनक को गिरफ्तार कर लिया गया। उन पर यह अभियोग लगाया गया, कि उन्होंने जर्मनी के साथ सहयोग किया था। न्यायालय ने उन्हें दोषी पाया, और सोलह साल कैद की सजा दी।

(३) विविध देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों में सहयोग स्थापित करने के लिए जिस कॉमिन्फार्म की रचना की गई थी, उसका प्रधान केन्द्र युगोस्लाविया की राजधानी बेल्ग्रेड में रखा गया। मार्शल टीटो की यह महत्त्वाकांक्षा थी, कि यूरोप में कम्युनिज्म के प्रसार में युगोस्लाविया को विशेष तत्परता प्रदर्शित करनी चाहिए।

पर मार्शल टीटो और मार्शल स्टालिन में देर तक मैत्री व सौहार्द कायम नहीं रह सका। विश्वसंग्राम के बाद बालकन प्रायद्वीप के विविध राज्यों में युगोस्लाविया सबसे अधिक शक्तिशाली था। वहाँ के लोग अपने इस राष्ट्रीय उत्कर्ष से बहुत संतुष्ट थे। कम्युनिज्म के प्रचार के बावजूद भी बालकन राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबल थी। शक्तिशाली युगोस्लाविया का वीर नेता मार्शल टीटो यह नहीं सह सकता था, कि वह किसी अन्य राज्य की अधीनता व प्रभाव में रहे। कामिन्फार्म का प्रधान केन्द्र बेशक बेल्ग्रेड में था, पर इस अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संस्था में रशिया का बोलबाला था। श्री स्टालिन व उसके साथी अन्य रशियन नेताओं को यह पसन्द नहीं था, कि अन्य देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के नेता रशियन नेताओं के साथ में समता का भाव रखें। वे

उन्हें पूरी तरह अपने असर में रखना चाहते थे। टीटो का रुख उन्हें पसन्द नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि जुलाई, १९४८ में कामिन्फार्म ने यह फैसला किया, कि टीटो की कम्युनिस्ट पार्टी कार्ल मार्क्स के सत्य सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं कर रही है, उसकी प्रवृत्ति अत्यधिक राष्ट्रीय है, और वह अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के प्रति द्रोह कर रही है। इस निर्णय से टीटो और स्टालिन में विरोध-भावना बहुत अधिक बढ़ गई। टीटो ने यह प्रयत्न भी किया, कि बालकन प्रायद्वीप के विविध राज्यों की कम्युनिस्ट सरकारों को संगठित कर एक स्वतन्त्र कम्युनिस्ट ब्लाक का निर्माण किया जाय। टीटो और स्टालिन का यह संघर्ष अभी जारी है, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी इसके चिह्न अनेक बार प्रगट हो जाते हैं। अमेरिका, ब्रिटेन आदि लोकतन्त्रवादी देश इस संघर्ष से प्रसन्न हैं। उनका खयाल है, कि इस संघर्ष का यह परिणाम अवश्यम्भावी है, कि कम्युनिस्ट विचारधारा व शक्ति कमजोर पड़ जाय। इसीलिए १९४९ में जब संयुक्त राज्यसंघ के नये सदस्यों का चुनाव हुआ, तो रशिया के विरोध करने पर भी युगोस्लाविया को संघ का सदस्य निर्वाचित कर लिया गया।

(३) बल्गेरिया और युगोस्लाविया के समान रूमानिया में भी कम्युनिस्ट व्यवस्था भली भाँति स्थापित की जा चुकी है। अगस्त, १९४४ में रूमानिया जर्मनी के कब्जे से स्वतन्त्र हुआ था। वहाँ पुराने राजवंश का फिर से उद्धार हुआ, और राजा माइकेल ने शासन-सूत्र को अपने हाथों में सँभाल लिया। उसकी पहली सरकार प्रधानतया सैनिक थी, पर प्रमुख राजनैतिक दलों का भी एक एक प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल में ले लिया गया था। ये दल निम्नलिखित थे—लिबरल, देहाती दल, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट। विश्व-संग्राम की समाप्ति पर सैनिक सरकार का अन्त किया गया, और रूमानिया में वैध राजसत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। शासन के लिए जो मन्त्रिमण्डल बने, उनमें सब

प्रमुख राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि अन्तर्गत किये गये थे। विश्व-संग्राम से पूर्व रूमानिया में देहाती दल का बहुत जोर था, अतः अब जो मन्त्रिमण्डल बना, उसमें भी इस दल की मुख्यता थी। पर कम्युनिस्ट लोग इससे सन्तुष्ट नहीं थे। उनका यत्न यह था, कि रूमानिया में पूर्णतया कम्युनिस्ट व्यवस्था को कायम किया जाय। रशिया इस प्रयत्न में उनका सहायक था। उन्होंने उग्र रूप से आन्दोलन शुरू किया। नवम्बर, १९४६ में रूमानिया की पार्लियामेंट का निर्वाचन हुआ। इस अवसर पर कम्युनिस्ट पार्टी ने जबर्दस्ती और हिंसा के उपायों का अवलम्बन किया। कम्युनिस्टों के आतंक के कारण आम जनता स्वेच्छापूर्वक वोट नहीं दे सकी। पार्लियामेंट में कम्युनिस्ट उम्मीदवार बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। सरकार में उनका जोर बढ़ गया। अभी रूमानिया में अन्य राजनैतिक दल विद्यमान थे। मन्त्रिमण्डल में भी उनको प्रतिनिधित्व प्राप्त था। पर कम्युनिस्ट लोग उन पर अनेक प्रकार के आक्षेप कर रहे थे, और उन पर देशद्रोह का अभियोग चलाना चाहते थे। अनेक राजनैतिक नेताओं को गिरफ्तार किया गया। जब अन्य पार्टियों के लोगों ने अमेरिका, ब्रिटेन आदि से हस्तक्षेप करने की अपील की, तो उन्हें गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। देहाती दल और लिबरल दल इस नीति के शिकार बने। देहाती दल के नेता डा० मनीउ को गिरफ्तार कर उन पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया गया। रूमानिया के कानून के अनुसार प्राणदण्ड निषिद्ध था। अतः डा० मनीउ को आजन्म कारावास की सजा प्रदान की गई। धीरे धीरे रूमानिया का अमेरिका और ब्रिटेन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। वह पूर्णतया रशिया के प्रभाव में चला गया और वहाँ की सरकार पूरी तरह कम्युनिस्टों के कब्जे में आ गई।

पर राजा माइकेल अब तक भी रूमानिया के राजसिंहासन पर विद्यमान था। ७ नवम्बर, १९४७ को अन्ना पाउकर नाम की एक

महिला को विदेश सचिव के पद पर नियत किया गया। यह महिला कम्युनिस्ट दल की अत्यन्त उग्र पोषिका थी। यह सर्वसाधारण गरीब जनता में से थी, और रूमानिया के "गौरवशाली" वंश के राजा के लिए ऐसे मंत्रियों के साथ शासन कर सकना सम्भव नहीं था। कुछ सप्ताह बाद राजा माइकेल ने स्वयमेव राजसिंहासन का परित्याग कर दिया, और रूमानिया में भी सोवियट प्रणाली के अनुसार रिपब्लिक की स्थापना कर दी गई। १९४८ के प्रारम्भ में नया शासन विधान वहाँ प्रचलित किया गया।

रूमानिया में भी कम्युनिस्ट सरकार ने रशिया के सदृश व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया। मुख्य मुख्य व्यवसायों को राज्य के अधीन कर दिया गया। दिसम्बर, १९४८ में रूमानियन नेशनल बैंक पर भी राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया गया। कृषि भी राज्य के अधिकार व नियन्त्रण में ले आई गई।

पर रूमानिया की आर्थिक समस्या बहुत गम्भीर थी। विश्व-संग्राम की अनेक बड़ी लड़ाइयाँ वहाँ लड़ी गई थीं। जर्मनी और रशिया—दोनों की सेनाओं का वह देर तक युद्ध-क्षेत्र रहा था। इससे उसका आर्थिक व व्यावसायिक जीवन बिलकुल अस्त-व्यस्त हो गया था। उसके अनेक प्रदेश रशिया और बल्गेरिया को प्रदान कर दिये गये थे। उस पर हरजाने की भी भारी मात्रा लादी गई थी, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि उसके सिक्के की कीमत बहुत गिर गई। १९४६ में एक रुपये के बदले में ३०,००० के लगभग रूमानियन सिक्के खरीदे जा सकते थे! पर रूमानिया की कम्युनिस्ट सरकार ने इस आर्थिक संकट का वीरता के साथ मुकाबला किया, और समाजवादी सिद्धान्तों का अनुसरण कर स्थिति को बहुत कुछ सँभाल लिया।

पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, अल्बेनिया आदि पूर्वी यूरोप

के अन्य देशों में किस प्रकार कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम हुई, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। इन सब देशों का राजनैतिक जीवन अभी अनिश्चित दशा में है। इनमें एक तरफ जहाँ कम्युनिस्ट लोग अन्य सब राजनैतिक दलों को दबाने व कुचलने में लगे हैं, वहाँ साथ ही कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुसार देश की आर्थिक व व्यावसायिक उन्नति के लिए वे विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं। उनकी शक्ति और प्रभाव का प्रधान आधार यही है, कि वे सर्वसाधारण जनता की आर्थिक व सामाजिक उन्नति करने में समर्थ हुए हैं। देश में विद्यमान सब साधनों—प्रकृति और श्रम—को सार्वजनिक हित की दृष्टि से प्रयुक्त करने का परिणाम यह होता है, कि आर्थिक उत्पत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, और विविध व्यक्तियों व श्रेणियों में नफा कमाने के लिए जो एक प्रकार की स्पर्धा व 'मात्स्य-न्याय' पूँजीवादी देशों में रहता है, वह कम्युनिस्ट व्यवस्था में प्रगट नहीं होता। यही कारण है, कि कम्युनिस्ट विचारधारा निरन्तर बल पकड़ती जाती है।

५. चीन में कम्युनिस्ट प्रभाव

विश्वसंग्राम के समय में जापान ने यह प्रयत्न किया था, कि चीन को जीत कर अपने अधिकार में कर ले। उत्तर और पूर्व की तरफ चीन के अनेक प्रदेशों में जापान ने अपना कब्जा भी स्थापित कर लिया था। इसी कारण चीनी सरकार ने अपनी राजधानी नानकिंग से हटा कर चुनकिंग में बना ली थी। चीनी सरकार के अधिपति श्री च्यांग केई शेक थे जो वहाँ के राष्ट्रीय दल कुओ मिन टांग के नेता थे। यह दल कम्युनिस्टों का विरोधी था, और दक्षिण पक्ष के साथ सम्बन्ध रखता था। पर कुओ मिन टांग के अतिरिक्त अन्य राजनैतिक दल भी चीन में विद्यमान थे। ये दल कम्युनिस्ट और लिबरल थे। वामपक्षी कम्युनिस्टों

के नेता श्री माओत्से तुंग थे। ये चियांग केई शेक के राष्ट्रीय दल की सरकार को पदच्युत करके उसके स्थान पर कम्युनिस्ट शासन स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इन्होंने केवल वैध उपायों का ही अवलम्बन नहीं किया था, अपितु अपनी सेना का संगठन कर सरकार से बाकायदा संघर्ष भी प्रारम्भ कर दिया था। विश्वसंग्राम के प्रारम्भ होने से कई साल पूर्व १९३६ में उत्तर पश्चिमी चीन के कुछ प्रदेशों पर इनका कब्जा भी हो गया था। इन प्रदेशों के निवासियों की संख्या १५ लाख के लगभग थी। चीन और जापान की लड़ाई शुरू होने पर कम्युनिस्टों को अपनी शक्ति के विस्तार का अच्छा अवसर हाथ लग गया। यद्यपि जापान के साथ लड़ाई में कम्युनिस्ट लोग भी राष्ट्रीय सरकार का साथ दे रहे थे, पर अपनी सेनाओं द्वारा वे जहाँ जापान का मुकाबला करते थे, वहां चीन के विभिन्न प्रदेशों पर भी अपना कब्जा जमाते जाते थे। इसी का परिणाम था, कि १९४६ में उत्तरी और पूर्वी चीन के अनेक प्रदेश उनके अधिकार में आ गये थे, और इन प्रदेशों की कुल आबादी १३ करोड़ के लगभग थी। चीन के लिबरल दल में प्रायः शिक्षित मध्यश्रेणी के लोग सम्मिलित थे। इस दल का प्रयत्न यह था, कि चीन में लोकसत्तावाद के सिद्धान्तों के अनुसार सरकार की स्थापना की जाय। चियांग केई शेक की राष्ट्रीय सरकार से इन्हें यह शिकायत थी, कि उसमें एक पार्टी व एक नेता को आवश्यकता से अधिक अधिकार प्राप्त हैं, और सर्वसाधारण जनता की सम्मति को समुचित महत्त्व नहीं दिया जाता।

चीन और जापान के युद्ध के समय अमेरिका ने चीन की खोल कर सहायता की। अमेरिका का विचार था, कि जापान को परास्त करने के लिये चीन को आधार के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। साथ ही चीन की विशाल आबादी और प्राकृतिक साधनों का उपयोग जापान की पराजय के लिये किया जाना सम्भव है। अमेरिकन सरकार यह भी

समझती थी, कि एशिया में यदि रशिया अपने प्रभावक्षेत्र को बढ़ाना चाहे, तो चीन की शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार उसके मार्ग में दीवार का काम दे सकती है। इसी लिये उसने चियांग केई शेक को भरपूर सहायता दी। १९४२ में इस सहायता की मात्रा २० करोड रुपया प्रति वर्ष के लगभग थी। १९४७ में आर्थिक सहायता की यह रकम बढ़कर १०० करोड रुपया प्रतिवर्ष तक पहुँच गई। साथ ही अमेरिका ने यह भी प्रयत्न किया, कि चीन की सेनाओं को शिक्षित व साधन सम्पन्न करने के लिये विशेषज्ञों को वहाँ भेजे। अमेरिका की यह भी कोशिश थी, कि चीन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त हो। इसी लिये अमेरिका और ब्रिटेन ने चीन के साथ ऐसी सन्धियाँ कीं, जिनके द्वारा इन देशों ने उन अनेक विशेष अधिकारों का स्वयमेव परित्याग कर दिया, जो उन्नीसवीं सदी में उन्होंने चीन में प्राप्त किये थे। चीन को संसार के सर्वप्रधान चार या पाँच (फ्रांस को गिनकर) राज्यों में गिना जाने लगा। जब संयुक्तराज्य संघ का संगठन किया गया, तो उसकी सुरक्षा परिषद् में चीन को स्थिर रूप से सदस्यता प्रदान की गई, और उसे भी यह अधिकार दिया गया, कि वह संयुक्त राज्य संघ के किसी भी निर्णय को वीटो कर सके।

अमेरिका ने यह यत्न भी किया, कि चीन की राष्ट्रीय सरकार को वहाँ के लिबरल दल का सहयोग प्राप्त हो, चियांग केई शेक की सरकार लोकसत्तावाद के सिद्धान्तों पर आश्रित रहे। इसी लिए नवम्बर, १९४६ में वहाँ एक विधान परिषद् का संगठन किया गया, जिसे देश के नये शासन विधान को तैयार करने का कार्य सुपुर्द किया गया। विधान परिषद् ने शीघ्र ही अपना कार्य सम्पन्न कर लिया। १९४७ के शुरू तक चीन का नया शासन विधान बन कर तैयार हो गया। इसमें जनता के आधारभूत अधिकारों को प्रमुख स्थान दिया गया। पार्लियामेन्ट के सदस्यों की संख्या ३००० नियत की गई। यह व्यवस्था की गई, कि

चीन को विविध निर्वाचक मण्डलों में विभक्त करके इनसे प्रतिनिधियों का निर्वाचन छः साल के लिए किया जाय। पार्लियामेन्ट को ही यह कार्य भी सुपुर्द किया गया, कि वह चीन के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति को चुनाव करे। नये शासन विधान को क्रिया में परिणत कर दिया गया, और एप्रिल १६४८ में चीन की नई पार्लियामेन्ट ने बहुसम्मति से श्री० चियांग केई शेक को राष्ट्रपति निर्वाचित किया।

अमेरिका ने सब प्रकार से यह प्रयत्न किया, कि चीन में एक मजबूत और शक्तिशाली सरकार की स्थापना हो, और चीन एशिया का सर्वप्रधान राज्य बन जाय। उसमें लोकतन्त्र शासन रहे और वह रशिया से शुरू हुई कम्युनिज्म की बाढ़ को एशिया में आगे बढ़ने से रोक सके। पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हुई। जापान के साथ युद्ध और कम्युनिस्टों के साथ गृह-कलह ने चीन के आर्थिक जीवन को बिलकुल अस्त-व्यस्त कर दिया था। रशिया की सहायता प्राप्त करके कम्युनिस्ट लोग निरन्तर प्रबल होते जाते थे। चियांग केई शेक की सरकार की सारी शक्ति कम्युनिस्टों के साथ युद्ध में ही लगी हुई थी। देश की आर्थिक व व्यावसायिक उन्नति पर वह समुचित ध्यान नहीं दे सकती थी। युद्धों और आन्तरिक अव्यवस्थाओं के कारण आर्थिक दृष्टि से चीन की कितनी दुर्दशा हो गई थी, इसका अनुमान उसकी मुद्रा की दयनीय दशा द्वारा किया जा सकता है। अगस्त, १६४७ में एक अमेरिकन डालर के बदले में ५६,००० चीनी डालर खरीदे जा सकते थे। चीन के सिक्के की इस हद तक दुर्दशा हो गई थी। पर इसके बाद भी चीनी डालर की कीमत गिरती गई। आगे चल कर वह और भी गिरा, और उसकी कीमत इस प्रकार घट गई—

जनवरी, १६४८ एक अमेरिकन डालर, = १५०,००० चीनी डालर
मार्च, १६४८ एक अमेरिकन डालर, = ४६०,००० चीनी डालर
जुलाई, १६४८ एक अमेरिकन डालर, = ६००,००० चीनी डालर

अनुमान किया गया है, कि मई,१९४८ में चीन में पत्र-मुद्रा की मात्रा सौ लाख करोड़ डालर से भी अधिक थी। मुद्रा पद्धति की इस दुर्दशा से चीन का आर्थिक जीवन सर्वथा अस्त-व्यस्त हो गया था। जनता को इसके कारण जिन कष्टों का मुकाबला करना पड़ रहा था, उनकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है।

इस बीच में कम्युनिस्ट सेनायें निरन्तर आगे बढ़ती जाती थीं। उत्तरी और मध्य चीन पहले ही उनके कब्जे में था। अब उन्होंने और आगे बढ़ना शुरू किया। अब अमेरिकन सरकार ने भी भली भाँति अनुभव कर लिया, कि चीन की राष्ट्रीय सरकार को और अधिक सहायता देना व्यर्थ है। धीरे धीरे उसने चीन से हाथ खेंचना शुरू कर दिया। इससे कम्युनिस्टों की हिम्मत और भी अधिक बढ़ गई। वे मुकदन को जीत कर नानकिंग तक पहुँच गये। जनवरी, १९४९ में चियांग केई शेक ने राष्ट्रपति के पद से विराम ले लिया। फरवरी, १९४९ में कम्युनिस्टों और राष्ट्रीय सरकार में सन्धि की बातचीत चलाई गई। एप्रिल तक यह सन्धिचर्चा जारी रही, पर सफल नहीं हो सकी। २३ एप्रिल, १९४९ को चीन की राजधानी नानकिंग पर कम्युनिस्टों का कब्जा हो गया और उसके एक मास के भीतर ही शंघाई भी उनके अधिकार में चला गया। इसके बाद कम्युनिस्ट लोग चीन में निरन्तर आगे बढ़ते गये। उन्होंने अपनी सरकार का भी बाकायदा संगठन कर लिया और अब संसार के विविध राज्यों के सम्मुख यह प्रश्न विद्यमान है, कि वे चीन की कम्युनिस्ट सरकार को ही देश की वास्तविक सरकार के रूप में स्वीकृत करें, और संयुक्त राज्य संघ में भी कम्युनिस्ट चीनी सरकार का ही प्रतिनिधि रहे। यदि यह हो गया, तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कम्युनिस्टों का प्रभाव बहुत बढ़ जायगा। चीन में कम्युनिस्टों की सफलता के कारण एशिया में रशिया का प्रभाव-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है।

६. नई गुटबन्दियाँ

यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, कि इस समय संसार की राजनीति में रशिया और अमेरिका सर्वप्रधान हैं। ये दो शक्तिशाली राज्य दो विभिन्न विचारधाराओं के प्रतिनिधि हैं, और इनके नेतृत्व में संसार के अधिकांश राज्य दो गुटों में विभक्त हैं। पूर्वी यूरोप के विविध देशों में कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम हो गई थी, और वे रशिया के गुट में शामिल हो गये थे। यह बात पश्चिमी यूरोप के लिये बहुत अधिक खतरे की थी। फ्रांस, इटली आदि पश्चिमी यूरोप के देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ विद्यमान थीं। इस दशा में यह आशंका सर्वथा स्वाभाविक थी, कि रशिया पश्चिमी यूरोप में भी अपने प्रभाव को विस्तीर्ण करने का प्रयत्न करेगा। कम्युनिस्टों के खतरे से आत्मरक्षा करने के लिए पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों में यह विचार उत्पन्न हुआ, कि उन्हें परस्पर मिलकर एक गुट का निर्माण करना चाहिए। इस विचार का प्रतिपादन करते हुए २२ जनवरी, १९४८ को ब्रिटेन के परराष्ट्रसचिव श्री० बेविन ने ब्रिटिश पालियामैन्ट में कहा था—"अब वह समय आ गया है, कि पश्चिमी यूरोप में ठोस एकता की स्थापना करने के लिए सब राज्य प्रतिज्ञाबद्ध हो जावें, ताकि सब राज्य एक दूसरे की सहायता का भरोसा रख सकें। पहले हम पड़ोसी राज्यों को अपने साथ मिलावें, और फिर इस योजना के क्षेत्र में अन्य राज्यों को भी शामिल कर लिया जाय।

१७ मार्च, १९४८ को फ्रांस, बेल्जियम, ब्रिटेन, हालैण्ड और लुक्समबुर्ग के प्रतिनिधि बेल्जियम की राजधानी ब्रुसल्स में एकत्र हुए। वहाँ उन्होंने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार पश्चिमी यूरोप के इन पाँच राज्यों का एक यूनियन कायम किया गया। इसी को यूरोप का 'पश्चिमी गुट' कहते हैं। राष्ट्रपति ट्रुमैन ने इस गुट को

आशीर्वाद देते हुए घोषणा की, कि अब अमेरिका यूरोप की सहायता के लिए पूरी तरह से उद्यत है। यूरोप के देशों को आर्थिक सहायता देते हुए अमेरिका स्वाभाविक रूप से यह चाहता था, कि वहाँ के लोग कम्युनिस्ट प्रभाव से बचे रहने का पूरा-पूरा इन्तजाम कर लें। 'पश्चिमी गुट' के निर्माण से अमेरिका को यह आशा हो गई थी, कि अब पश्चिमी यूरोप के देश रशिया के प्रभावक्षेत्र में आने से बचे रहेंगे।

पश्चिमी गुट के इन देशों ने आपस में मिलकर एक परामर्श परिषद् की, जिसके अधिवेशन १६ जुलाई, १६४८ को हेग में शुरू हुए। इनका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर विचार करना, ब्रुसल्स के समझौते को व्यावहारिक रूप देना, परस्पर सहयोग को बढ़ाना और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उपायों को सोचना था। इन्हीं परामर्शों का परिणाम हुआ, कि सितम्बर, १६४८ के अन्त में पश्चिमी गुट के राज्यों के प्रतिनिधि पेरिस में एकत्र हुए। उन्होंने निश्चय किया, कि पश्चिमी गुट की ओर से एक स्थायी सैनिक समिति स्थापित की जाय। ब्रिटेन के मार्शल मान्टगोमरी को इस समिति का प्रधान बनाया गया, और अन्य विविध पदाधिकारियों व सेनापतियों की नियुक्ति भी कर दी गई। ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड और लुक्सम्बुर्ग अब एक दूसरे के बहुत समीप आ गये, और उन्होंने आत्म-रक्षा के लिए अपने को एक सुदृढ़ गुट में संगठित कर लिया। इसी समय यह विचार भी उत्पन्न हुआ, कि पश्चिमी गुट के दायरे को अधिक विस्तृत करना चाहिए, और उत्तरी अटलान्टिक महासागर के तटवर्ती विविध देशों को परस्पर मिल कर एक ऐसा समझौता करना चाहिए, जिससे वे एक दूसरे की सुरक्षा की गारण्टी दे सकें।

इन्हीं विचारों का यह परिणाम हुआ, कि पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के अटलान्टिक तटवर्ती बारह राज्यों ने मिल कर एक दूसरे

की सहायता के लिये एक समझौता तैयार किया, जिसे अटलान्टिक पैक्ट कहते हैं। यह पैक्ट ४ एप्रिल, १६४६ को वाशिंगटन में किया गया था। इसमें निम्नलिखित बारह राज्य शामिल हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, हालैण्ड, डेनमार्क, पोर्तुगाल, बेल्जियम, लुक्समबुर्ग, नार्वे और आइसलैण्ड। यह पैक्ट इस उद्देश्य से बनाया गया है, कि अटलान्टिक सागर के पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तट पर विद्यमान विविध देश अपने खिलाफ किये गये आक्रमण का परस्पर मुकाबला करें। यह शत्रु रशिया के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। अटलान्टिक पैक्ट का प्रयोजन यही है, कि यदि रशिया अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाता हुआ पश्चिमी यूरोप के राज्यों पर आक्रमण करे या उसके किसी कार्य व नीति से पश्चिमी यूरोप में लड़ाई छिड़ जाय, तो इस पैक्ट में शामिल सब राज्य परस्पर मिल कर कार्य करें और कम्युनिस्ट शक्ति का एक साथ होकर मुकाबला करें।

५ मई, १६४६ को पश्चिमी यूरोप के विविध देशों ने यह फैसला भी कर लिया, कि उन्हें मिल कर एक "कौंसिल आफ यूरोप" की स्थापना करनी चाहिये। इस कौंसिल के दो भाग रहें—मन्त्रियों की कमेटी और परामर्श सभा। इस सब का प्रयोजन भी यह है, कि रशिया के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर के विविध राज्य एक दूसरे के अधिक-अधिक समीप आते जावें, ताकि कम्युनिस्टों के खिलाफ वे अपना सुदृढ़ गुट व संगठन बना सकें।

पश्चिमी गुट, अटलान्टिक पैक्ट और कौंसिल आफ यूरोप द्वारा दो बातें बिलकुल स्पष्ट हो गई हैं—(१) संसार के विविध राज्य अब प्रगट रूप से दो गुटों में संगठित हो गये हैं, अटलान्टिक राज्य, जिनका नेता अमेरिका है, और कम्युनिस्ट राज्य, जिनका नेता रशिया है। (२) संयुक्त राज्यसंघ को अब संसार में शान्ति व व्यवस्था स्थापित रखने के कार्य में समर्थ नहीं समझा जाता। राष्ट्रसंघ को निर्बल व असहाय पाकर

गत महायुद्ध (१६१४-१८) के बाद यूरोप के विविध राज्य आपस में गुटबन्दियाँ बनाने और सैनिक-सन्धियाँ करने में तत्पर हो गये थे। यही दशा अब फिर आ गई है। संसार के विविध राज्य अनुभव करते हैं, कि अकेला संयुक्त राज्यसंघ युद्ध से उनकी रक्षा करने में असमर्थ व असहाय है। अतः वे आवश्यकता समझते हैं, कि आपस में गुटबन्दी व सैनिक-सन्धि करके आत्मरक्षा का प्रयत्न करें।

७. वर्तमान जर्मनी

विश्वसंग्राम की समाप्ति पर मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी व बर्लिन को किस प्रकार चार प्रभाव-क्षेत्रों में विभक्त कर दिया था, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। रशिया, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस—इन चार देशों के प्रभाव क्षेत्रों में विद्यमान जर्मनी के चारों खण्डों का शासन पृथक् पृथक् था। रशिया की राजनीति अन्य देशों की नीति से किस प्रकार भिन्न होती जाती थी, इसका भी उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह स्वाभाविक था, कि उसका प्रभाव जर्मनी के शासन पर भी पड़े। इसी कारण रशिया के क्षेत्र में विद्यमान जर्मनी शेष जर्मनी से सर्वथा पृथक् हो गया। उसकी शासन-पद्धति, मुद्रा-पद्धति व आर्थिक व्यवस्था पश्चिमी जर्मनी से भिन्न होती गई। वह कम्युनिज्म के प्रभाव में आता गया, और फ्रांस, अमेरिका व ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्रों में विद्यमान जर्मनी में यह कोशिश की गई, कि वहाँ लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार शासन व आर्थिक व्यवस्था का विकास किया जाय। 'रशियन' जर्मनी में कम्युनिस्ट दल का जोर बढ़ गया, और शेष जर्मनी में ऐसे दलों का विकास हुआ, जो लोकसत्तावादी सोशलिस्ट हैं।

जर्मनी के सम्बन्ध में स्थिर रूप से क्या व्यवस्था की जाय, इस विषय में भी रशिया का अन्य देशों के साथ मतभेद है। एप्रिल, १६४८ में लण्डन में एक कान्फरेन्स शुरू हुई, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका,

ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम और लुक्समबुर्ग के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस कान्फरेन्स में जर्मनी के सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया, कि फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका के क्षेत्र में जर्मनी के जो भाग हैं, उन्हें मिला कर एक सुदृढ़ संगठन कायम किया जाय। इस संघराज्य का शासन विधान तैयार करने के लिए विधानपरिषद् का संगठन हो। लण्डन कान्फरेन्स के इस निर्णय से रशिया व पूर्वी यूरोप के उसके साथी राज्य बहुत चिन्तित हुए। २३ जून, १९४८ को उनके प्रतिनिधियों की एक कान्फरेन्स वारसा में हुई। इसमें रशिया, पोलैण्ड, चेको-स्लोवाकिया, युगोस्लाविया, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी और अल्बेनिया के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। वारसा कान्फरेन्स ने लण्डन कान्फरेन्स के निर्णय का विरोध करते हुए यह घोषणा की, कि अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस जर्मनी को स्थिर रूप से दो भागों में विभक्त करना चाहते हैं। यह बात पोट्सडम कान्फरेन्स के निर्णयों के सर्वथा विरुद्ध है। वारसा कान्फरेन्स ने जर्मनी के सम्बन्ध में एक नई योजना तैयार की, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया, कि सम्पूर्ण जर्मनी को एक सुदृढ़ राज्य के रूप में परिणत करना चाहिए। उसको दो भागों में विभक्त करना समुचित नहीं है।

जर्मनी के सम्बन्ध में रशिया व अन्य मित्र राज्यों का नीति-विरोध इस हद तक बढ़ता जाता था, कि जुलाई, १९४८ के प्रारम्भ में बर्लिन के अमेरिकन कमाण्डर के व्यवहार पर असन्तोष प्रगट करने के लिए रशियन कमाण्डर ने बर्लिन की सम्मिलित कौंसिल के अधिवेशन में आना बन्द कर दिया। बर्लिन पर चारों प्रमुख मित्र राज्यों का सम्मिलित शासन था, पर बर्लिन के चारों ओर का प्रदेश रशिया के क्षेत्र के अन्तर्गत था। अतः बर्लिन पहुँचने लिए रशियन-क्षेत्र से होकर गुजरना अनिवार्य था। बर्लिन में रशिया का अन्य मित्र राज्यों के साथ विरोध इस हद तक बढ़ गया था, कि उसने पश्चिम की तरफ से बर्लिन आने वाले सब मार्गों को बन्द कर दिया। अब अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन के लिए यह

सम्भव नहीं रहा, कि वे बर्लिन नगरी के अपने अपने क्षेत्र में कोई भी माल बाहर से ला सकें। इन क्षेत्रों के निवासियों के सम्मुख एक विकट समस्या उपस्थित हो गई, और उनके शासकों के लिए आवश्यक सामग्री को प्राप्त कर सकना कठिन हो गया। पर वे इससे घबराये नहीं। बर्लिन पर जो घेरा रशिया ने डाल दिया था, उसे तोड़ने के लिए अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने आकाश मार्ग का आश्रय लिया और यह यत्न किया कि हवाई जहाजों द्वारा ढो कर सब सामग्री बर्लिन पहुँचाई जाय। जुलाई, १९४८ से मई १९४९ तक मित्र राज्यों ने हवाई जहाजों से सब मिला कर १५,१०,४६६ टन सामान ढोया। आकाश मार्ग से माल ढुलाई का काम कितने बड़े पैमाने पर किया जा सकता है, यह इसका उत्तम उदाहरण है। बर्लिन के घेरे के मामले को संयुक्त राज्य-संघ की सुरक्षा परिषद् के सम्मुख भी उपस्थित किया गया, पर रशिया ने वहाँ उस पर विचार करने से इन्कार कर दिया।

२६ एप्रिल, १९४९ को रशिया ने सूचना दी, कि वह बर्लिन का घेरा उठा लेने को तैयार है। ४ मई को न्यूयार्क में रशिया, अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन में बात-चीत प्रारम्भ हुई। सब बातों पर फैसला हो गया और यह निश्चय हुआ, कि १२ मई को घेरा उठा लिया जाय। बर्लिन का घेरा तो उठा लिया गया है, पर जर्मनी के सम्बन्ध में रशिया व अन्य मित्रराज्यों में अभी तक कोई फैसला नहीं हो सका है।

अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन इस कोशिश में लगे हैं, कि अपने प्रभाव-क्षेत्रों को सम्मिलित कर पश्चिमी जर्मनी को एक पृथक् राज्य बना दिया जाय। यह राज्य कम्युनिज्म के प्रभाव से पृथक् रहे, और वहाँ लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार सरकार की स्थापना की जाय। धीरे-धीरे पश्चिमी जर्मनी के इस राज्य को पश्चिमी यूरोप के गुट और अटलान्टिक समझौते के दायरे में भी ले लिया जाय और रशिया का इस राज्य से कोई सम्बन्ध न रहे। इस राज्य का शासन-

विधान तैयार करने के लिए जो विधान परिषद् बनाई गई थी, उसने बान को अपना केन्द्र बना कर कार्य शुरू कर दिया। नया शासन-विधान तैयार कर लिया गया और इसे जर्मन जनता ने स्वीकृत भी कर लिया है। पश्चिमी जर्मनी की राजधानी बान को बनाया गया है। ब्रिटेन और अमेरिका की नीति यह है, कि पश्चिमी जर्मनी को एक ऐसे शक्तिशाली राज्य के रूप में परिवर्तित किया जाय, जो रशियन कम्युनिज्म की बाढ़ के खिलाफ चट्टान का काम दे। जर्मन लोग वीर हैं, वैज्ञानिक हैं, और राष्ट्रीयता की भावना भी उन में बहुत प्रबल है। शक्तिशाली जर्मनी को रशिया के खिलाफ प्रयुक्त किया जा सकता है, ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस बात में विश्वास रखते हैं। पर फ्रांस इस नीति से सहमत नहीं है। चिर काल से फ्रांस की यह नीति रही है, कि जर्मनी को शक्तिशाली न होने दिया जाय। यूरोप में उसे अपना सबसे प्रबल शत्रु जर्मनी ही नजर आता है। १८७०-७१, १९१४-१८ और १९३९-४५ के युद्धों में फ्रांस को जर्मनी से जो भारी नुकसान उठाना पड़ता रहा है, उसे फ्रांस कभी भूल नहीं सकता।

दूसरी तरफ रशिया ने भी अपने जर्मन क्षेत्र में नई सरकार का संगठन कर लिया है। पीपल्स कांग्रेस द्वारा नया विधान तैयार करा के वहाँ नये चुनाव भी करा दिये गये हैं। नई सरकार में कम्युनिस्ट लोगों की प्रधानता है, और पूर्वी जर्मनी की यह कम्युनिस्ट सरकार अपने क्षेत्र में कम्युनिस्ट व्यवस्था को कायम करने में लगी हुई है।

इस स्थिति में यह सुगम नहीं है, कि जर्मनी के सम्बन्ध में कोई ऐसी संतोषजनक व्यवस्था विकसित की जा सके, जिसमें रशिया, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस चारों की सहमति हो। फिर भी इसके लिए प्रयत्न जारी हैं। मई, १९४९ में चारों देशों के प्रतिनिधि पेरिस में एकत्र हुए थे। वहाँ उन्होंने इस बात का यत्न किया, कि जर्मनी के सम्बन्ध में कोई समझौता कर सकें। पर वे इस उद्देश्य में सफल नहीं

हुए। मित्रराज्यों ने जर्मनी की समस्या को अभी हल करना है। पर यह तभी सम्भव है, जब उन दोनों गुटों में कोई स्थिर समझौता हो जाय, जो रशिया और अमेरिका के नेतृत्व में संसार के प्रमुख राज्यों को दो भागों में विभक्त करते जा रहे हैं।

८. अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का नया क्षेत्र

पृथिवी के दक्षिणी ध्रुव के चारों ओर के क्षेत्र में एक विशाल महाद्वीप विद्यमान है, यह बात सोलहवीं सदी में ही ज्ञात हो गई थी। पर यह महाद्वीप बरफ की मोटी सतह से ढका हुआ है, और इसमें किसी भी मनुष्य का निवास नहीं था। इसलिए इसे बसाने या इसके साथ व्यापार आदि द्वारा सम्बन्ध स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। पर उन्नीसवीं सदी में फ्रांस, ब्रिटेन आदि देशों के साहसी व्यक्तियों ने इस भूखण्ड में आना-जाना शुरू किया। यद्यपि इसमें किसी आबादी को बसा सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता था, पर फिर भी शक्तिशाली राज्य इस बात के लिए उत्सुक थे, कि इसके विविध क्षेत्रों को अपनी अधीनता व कब्जे में ले आया जाय। बीसवीं सदी में यह प्रवृत्ति और भी प्रबल हो गई। पिछले सालों में विज्ञान ने जो असाधारण उन्नति की है, उसके कारण अनेक ऐसी धातुओं व अन्य वस्तुओं की कीमत बहुत बढ़ गई है, जिन्हें मनुष्य पहले किसी भी काम का नहीं समझता था। ये पदार्थ पृथिवी के विविध दुर्गम प्रदेशों में मिलते हैं। दक्षिणी ध्रुव के विशाल महाद्वीप की भूमि में क्या कुछ उपलब्ध हो सकता है, इसकी खोज जारी है। इस भूखण्ड का नवीन वैज्ञानिक युग में बहुत कुछ उपयोग है, इस बात से सब देश सहमत हैं। इसी कारण इसके विविध प्रदेशों पर कब्जा करने के लिए उनमें संघर्ष भी शुरू हो गया है। फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका के समान रशिया भी इस मैदान में आ गया है, और दक्षिणी ध्रुव का मामला भी कई बार संयुक्त राज्य-संघ में पेश हुआ है।

९. संयुक्त राज्यसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याये'

विविध राज्यों में परस्पर सहयोग स्थापित करने और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं व झगड़ों को बातचीत व समझौते से सुलझाने के उद्देश्य से जिस संयुक्त राज्य-संघ की स्थापना की गई थी, उसके संगठन पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। विविध अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए जो अनेक प्रयत्न अब तक संघ ने किये हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख करना उपयोगी है—

(१) ईरान—संयुक्तराज्य-संघ के जनवरी, १९४६ के अधिवेशन में ईरान (पर्शिया) के प्रतिनिधि ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया, कि उत्तरी ईरान में रशिया की जो सेनाएँ हैं, उन्हें वापस लौटा लिया जाय। इन सेनाओं के ईरान में रहने से देश की स्वतन्त्रता और सर्वोपरि सत्ता में बाधा पड़ती है। ब्रिटेन और अमेरिका इस प्रस्ताव के पक्ष में थे। रशिया के प्रतिनिधि के प्रस्ताव का विरोध करते हुए यह कहा, कि विश्व-संग्राम के अवसर पर सैनिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए ये सेनायें ईरान में स्थापित की गई थीं, और उपयुक्त अवसर आते ही इन्हें वापस लौटा लिया जायगा। मई, १९४६ तक ये रशियन सेनाएँ ईरान से वापस बुला ली गईं, और संयुक्त राज्य-संघ को इस विषय में कोई कदम उठाने की आवश्यकता नहीं हुई।

(२) सीरिया—फरवरी, १९४६ में सीरिया और लेबनान के प्रतिनिधियों ने राज्यसंघ के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा, कि उनके देशों में ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाओं की सत्ता उचित नहीं है। ये दोनों राज्य अब स्वतन्त्र रिपब्लिक हैं, और उन पर किसी भी विदेशी राज्य का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण सहन नहीं किया जा सकता। मई, १९४६ तक ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी सेनाएँ इन देशों से वापस बुला लीं, और यह समस्या भी सुगमता से हल हो गई।

(३) स्पेन—एप्रिल, १९४६ में पोलैण्ड के प्रतिनिधि ने यह प्रस्ताव किया, कि स्पेन में श्री फ्रांको का शासन फैसिस्ट विचारधारा के अनुकूल है। इस प्रकार के शासन की सत्ता यूरोप व संसार की शान्ति के लिए अत्यन्त खतरनाक है। अतः संयुक्त राज्यसंघ के प्रत्येक सदस्य-राज्य से यह अनुरोध किया जाता है, कि वे स्पेन से किसी भी प्रकार का राजनैतिक सम्बन्ध न रखें। इस समस्या पर विचार करने के लिए एक उपसमिति नियुक्त कर दी गई। इसने यह रिपोर्ट दी, कि यद्यपि श्री फ्रांको का शासन फैसिस्ट है, पर उनकी सरकार किसी उग्र नीति का अनुसरण नहीं कर रही है, और यूरोप व संसार की शान्ति के लिए अभी वह खतरा नहीं है। पर फिर भी इस मामले को संघ की जनरल असेम्बली के सम्मुख पेश किया जाय, ताकि वह इस बात पर विचार कर सके, कि स्पेन में नागरिकों की स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिए किन उपायों का अवलम्बन उपयोगी है, और यदि श्री फ्रांको की सरकार कभी शान्ति के लिए खतरे के कारण बनने लगे, तो उसे ऐसा करने से रोका जा सके।

१९४६ के अन्त में संघ की जनरल एसेम्बली में स्पेन के प्रश्न पर विचार हुआ, और यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया, कि संयुक्त राज्यसंघ की ओर से जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन व अन्य सभाएँ हों, उनमें फ्रांको की सरकार को हिस्सा न लेने दिया जाय, संघ के सब सदस्य-राज्य अपने राजदूतों को मैड्रिड (स्पेन की राजधानी) से वापस बुला लें, और संघ की सुरक्षा परिषद् उन उपायों पर विचार करें, जिनसे कि स्पेन में लोकसत्तावाद के सिद्धान्तों के अनुकूल शासन स्थापित करने का उद्योग किया जा सकता है। इस प्रस्ताव के अनुसार धीरे-धीरे संघ के प्रायः सभी सदस्य-राज्यों ने अपने राजदूत स्पेन से वापस बुला लिए और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से फ्रांको की सरकार अकेली पड़ गई। पर फ्रांको ने संघ की इस कार्रवाई पर कोई ध्यान नहीं दिया। १९४७ में स्पेन में एक नया कानून

पास किया गया, जिसके अनुसार फ्रांको को जन्म भर के लिए अपने पद पर नियुक्त कर दिया गया। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई, कि फ्रांको को यह अधिकार हो, कि वह एक ऐसी कौंसिल को मनोनीत करे, जो उसके अपाहिज हो जाने व मर जाने की दशा में किसी ऐसे व्यक्ति को स्पेन की राजगद्दी पर बिठा सके, जो फ्रांको की पसन्द का हो। इस कानून को जुलाई, १६४७ में स्पेन के नागरिकों के सम्मुख लोकमत के लिए भी पेश किया गया, और उन्होंने उसे बहुत बड़े बहुमत से स्वीकृत कर दिया। इस प्रकार, स्पेन में श्री फ्रांको का फैसिस्ट शासन और भी अधिक दृढ़ हो गया और संयुक्त राज्यसंघ उसे किसी भी प्रकार से क्षति नहीं पहुँचा सका।

(४) ग्रीस—१६४५ में ग्रीस जर्मन सेनाओं के कब्जे से मुक्त हुआ था। उसकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जो ग्रीक देशभक्त संघर्ष कर रहे थे, वे दो प्रकार के थे—साम्यवादी और राजसत्ता के पक्षपाती। विश्व-संग्राम के दौरान में जब जर्मनी ने ग्रीस पर कब्जा किया, तो वहाँ का राजा ज्यार्ज लण्डन चला आया था। उसके बहुत से दरबारी, मन्त्री व अन्य अफसर भी उसके साथ ही ब्रिटेन आ गये थे। वे इसी प्रतीक्षा में थे, कि जर्मनी की पराजय के बाद वे अपने देश को लौट जावेंगे। अतः जर्मन सेनाओं के खिलाफ संघर्ष जारी रखने का कार्य प्रधानतया उन देशभक्तों ने किया, जो साम्यवादी व कम्युनिस्ट विचारों के थे। पर ऐसे देशभक्त भी ग्रीस में विद्यमान थे, जो राजा के शासन का पुनरुद्धार करने के पक्षपाती थे। ग्रीस में जर्मन सेनाओं के परास्त करने का कार्य प्रधानतया ब्रिटिश सेनाओं ने किया। इसीलिए वहाँ राज-सत्ता के पक्षपातियों ने स्वतन्त्र ग्रीक सरकार की स्थापना कर ली। इस सरकार का प्रधान आर्क बिशप डमास्किनस था, और उसके अनुयायी 'पोपुलिस्ट' कहाते थे। डमास्किनस की सरकार ने वामपक्षी नेताओं की माँगों पर कोई भी ध्यान नहीं दिया, सरकार से उन्हें पृथक् रखा गया

और उन्हें दबाने के लिए सब प्रकार के उपायों को प्रयोग में लाया गया। ग्रीस के ये वामपक्षी लोग ई० ए० एम० के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने पोपुलिस्ट सरकार के खिलाफ उसी प्रकार संघर्ष शुरू कर दिया, जैसे कि वे पहले जर्मन सेनाओं के खिलाफ कर रहे थे।

३१ मार्च, १९४६ को ग्रीस की पार्लियामेण्ट का चुनाव हुआ। ई० ए० एम० ग्रुप में सम्मिलित दलों ने इस चुनाव का बहिष्कार किया। चुनाव में पोपुलिस्ट दल की विजय हुई। श्री कान्स्टेन्टाइन साल्दरिस प्रधान मन्त्री पद पर नियुक्त हुए। सितम्बर, १९४६ में ग्रीस के नागरिकों का लोकमत इस प्रश्न पर लिया गया, कि वे अपने देश में पुराने राजवंश का शासन फिर से स्थापित करना चाहते हैं या नहीं। ई० ए० एम० दलों ने फिर इसका बहिष्कार किया। बहुमत द्वारा यह निर्णय हो गया, कि राजसत्ता का पुनरुद्धार किया जाय। ग्रीस के भूतपूर्व राजा ज्यार्ज अपने देश को वापस लौट आये, और ग्रीस में वैध राजसत्ता की स्थापना हो गई।

पर ई० ए० एम० ग्रुप के वामपक्षी दल इस बीच में शान्त नहीं बैठे थे। वे निरन्तर संघर्ष कर रहे थे, और विद्रोह व हिंसात्मक उपायों का अनुसरण करते हुए ग्रीक सरकार को परेशान कर रहे थे। श्री साल्दरिस का मन्त्रिमण्डल जो इन वामपक्षी दलों से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो रहा था, उसका एकमात्र कारण ब्रिटिश सेनाओं की ग्रीस में विद्यमानता थी। ये ब्रिटिश सेनाएँ सब प्रकार के वामपक्षी विद्रोह को कुचलने में ग्रीक सरकार की सहायता कर रही थीं।

अगस्त, १९४६ में युक्रेन के प्रतिनिधि ने संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया, कि ग्रीस की स्थिति बालकन प्रायद्वीप में अशान्ति और युद्ध की अग्नि को भड़काने के लिए बिलकुल तैयार है। ग्रीक सरकार अन्य राजनैतिक दलों को दबाने के लिए भिरतोड़ कोशिश कर रही है। ब्रिटिश सेनाओं का ग्रीस में रहना किसी भी प्रकार समुचित नहीं है। रशिया ने युक्रेन के इस प्रस्ताव का समर्थन

किया। ग्रीक सरकार ने प्रस्ताव का घोर विरोध किया, और रशिया तथा उसके प्रभावक्षेत्र के अन्य देशों पर यह आक्षेप किया, कि ग्रीस की अशान्ति और अव्यवस्था की जिम्मेवारी इन्हीं देशों पर है। ग्रीस के सवाल पर संयुक्त राज्यसंघ में बहुत बहस हुई, पर कोई निश्चित परिणाम नहीं निकला। इस बीच में पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों ने ग्रीस के ई० ए० एम० दलों को सहायता देना प्रारम्भ कर दिया था, और इसी कारण ग्रीस की उत्तरी सीमा पर परिस्थिति अधिक विकट हो गई थी। दिसम्बर, १९४६ में ग्रीक सरकार ने संयुक्त राज्यसंघ के समक्ष यह शिकायत पेश की, कि अल्बेनिया, युगोस्लाविया और बल्गेरिया ने उसकी सीमा पर भारी उत्पात मचा रखा है, और इस विषय में संघ को हस्तक्षेप करना चाहिए। बहुत वाद-विवाद के बाद संघ ने ग्रीस की समस्या पर विचार करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति कर दी। जनवरी, १९४७ में इस कमीशन ने एथन्स (ग्रीस की राजधानी) में अपना कार्य प्रारम्भ किया। जून, १९४७ में कमीशन ने अपना कार्य समाप्त कर लिया और ७६७ पृष्ठों की एक भारी रिपोर्ट संघ के सम्मुख पेश की। कमीशन के बहुसंख्यक सदस्यों (आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, ब्राजील, चीन, कोलम्बिया, सीरिया, ब्रिटेन और अमेरिका) की रिपोर्ट से रशिया और पोलैण्ड के सदस्य असहमत थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट पृथक् रूप से पेश की। कमीशन के बहुसंख्यक सदस्यों ने अपनी जाँच का यह परिणाम निकाला, कि युगोस्लाविया, बल्गेरिया और अल्बेनिया ने गुरीला युद्ध में ग्रीक सरकार के विरोधियों को सहायता प्रदान की है। उन्होंने न केवल विद्रोहियों को अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री प्रदान की है, अपितु उनके सैनिकों को बाकायदा सैनिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था की है। ग्रीस के कम्युनिस्टों को उचित तो यह था, कि वे चुनाव में भाग लेकर जनता के वोट प्राप्त करने का प्रयत्न करते, और इस प्रकार वैध उपायों से सरकार पर अपना असर कायम करते। इसके

विपरीत, उन्होंने हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन कर गुरीला युद्ध शुरू किया है, जो सर्वथा अनुचित है। रशिया और पोलैण्ड के प्रतिनिधियों की रिपोर्ट इससे सर्वथा भिन्न थी। उन्होंने ग्रीस की सब अव्यवस्था और गृहकलह के लिए वहाँ की पोपुलिस्ट सरकार को उत्तरदायी ठहराया था। उनकी सम्मति में श्री साल्दरिस की सरकार ने जान बूझ कर कम्युनिस्टों का बहिष्कार किया हुआ था। ग्रीस में ब्रिटिश सेनाओं की सत्ता के कारण पोपुलिस्टों की हिम्मत बहुत बढ़ी हुई थी और वे मनमानी पर उतरे हुए थे।

संयुक्त राज्यसंघ के ग्रीक कमीशन ने यह भी सिफारिश की, कि ग्रीस की सीमा का निर्णय करने के लिए एक बोर्ड की स्थापना कर देनी चाहिए, जो निम्नलिखित कार्य करे—(१) यदि ग्रीस की सीमा का कोई पड़ोसी राज्य उल्लंघन करे, तो उसका फैसला करे। (२) जो नये झगड़े खड़े हों, उनको निबटावे। (३) अल्पसंख्यक जातियों की समस्याओं को हल करे, और (४) ग्रीस के मामले में सुरक्षा-परिषद् के सम्मुख सुझाव पेश करता रहे।

रशिया इस बोर्ड की स्थापना के खिलाफ था। सुरक्षा-परिषद् के सम्मुख ग्रीस की समस्या को हल करने के लिए जो भी प्रस्ताव पेश किये गये, रशिया ने उन सबको वीटो कर दिया। सुरक्षा-परिषद् में कोई भी फैसला सर्वसम्मति के बिना नहीं किया जा सकता। रशिया ने अपनी असम्मति के कारण सुरक्षा-परिषद् को कोई भी निर्णय नहीं करने दिया। परिणाम यह हुआ, कि ग्रीस का मामला संयुक्त राज्यसंघ की जनरल असेम्बली के सम्मुख पेश हुआ। वहाँ एक मास तक उस पर बहस होती रही। अन्त में असेम्बली ने यह फैसला किया, कि ग्रीस व उसके पड़ोसी राज्यों के सारे मामले पर विचार करने के लिए एक स्पेशल बाल्कन कमेटी की नियुक्ति की जाय। आस्ट्रेलिया, ब्राजील, चीन, फ्रांस, मैक्सिको, हालैण्ड, पाकिस्तान, ब्रिटेन और अमेरिका के प्रतिनिधि इस कमेटी में

रहें। पोलैण्ड और रशिया भी जब चाहें, इसमें अपने प्रतिनिधि भेज सकें। इस प्रस्ताव के पक्ष में ४० और विरोध में ६ वोट आये। ११ सदस्य तटस्थ रहे। स्पेशल बाल्कन कमेटी ने दिसम्बर, १९४७ में अपना काम शुरू कर दिया। पर अल्बेनिया, युगोस्लाविया और बल्गेरिया के सहयोग के बिना यह कमेटी कोई काम नहीं कर सकती थी। ये देश कमेटी के साथ असहयोग कर रहे थे।

इसी बीच में अल्बेनिया के समुद्र-तट पर सामुद्रिक सुरंगों के कारण दो ब्रिटिश जंगी जहाजों को नुकसान पहुँच गया। इससे ब्रिटेन में बहुत बेचैनी फैल गई। यह मामला भी संयुक्त राज्य के सम्मुख पेश हुआ। इसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सुपुर्द कर दिया गया। अल्बेनिया ने सोच-विचार कर यही उचित समझा, कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को स्वीकार कर लिया जाय। विश्व संग्राम के बाद जो नया अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कायम हुआ था, उसके सम्मुख यह पहला मुकदमा था।

ग्रीस की समस्या अभी तक भली भाँति हल नहीं हुई है। वहाँ जो संघर्ष चल रहा है, उसकी जड़ में दो विचार-धाराओं का पारस्परिक विरोध है। रशिया यह चाहता है, कि पूर्वी व दक्षिणी यूरोप के अन्य विविध देशों के समान ग्रीस में भी कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम हो जाय और यह देश भी उसके प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत हो जाय। ब्रिटिश लोग यह नहीं चाहते, कि भूमध्य सागर में स्थित यह देश रशिया के प्रभाव में आये। इसी कारण वे वहाँ वैध राजसत्ता को कायम रखने के लिए यत्न कर रहे हैं।

(५) टर्की—रशिया जिस प्रकार भूमध्य सागर के तट पर स्थित ग्रीस को अपने प्रभाव में लाना चाहता था, वैसे ही टर्की को भी अपने प्रभाव में लाने की उसकी इच्छा थी। टर्की के सम्बन्ध में उसकी माँगें निम्नलिखित थीं—(१) डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य में रशिया को

अपने सैनिक अड्डे कायम करने की अनुमति दी जाय। (२) यदि पहली बात सम्भव न समझी जाय, तो डार्डेनल्स पर टर्की और रशिया का सम्मिलित नियन्त्रण कायम किया जाय। रशिया की इस माँग से टर्की सहमत नहीं था। उसका कहना था, कि डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य पर टर्की के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश का नियन्त्रण स्वीकृत नहीं किया जा सकता। गत महायुद्ध (१६१४-१८) के बाद मोन्त्रो में इस सम्बन्ध में सब बातों का भली भाँति फैसला हो चुका है, और पोट्सडम कान्फरेन्स में स्वयं रशिया इस बात को स्वीकार कर चुका है, कि यदि मोन्त्रो के फैसले में कोई भी संशोधन करना हो, तो सब मित्रराष्ट्रों से इस बारे में सलाह ली जाय। इस समय अमेरिका टर्की को भारी मात्रा में आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा था। अमेरिका के विशेषज्ञ न केवल कल-कारखानों के विकास व उन्नति के लिए उसे परामर्श दे रहे थे, अपितु सैनिक उन्नति के सम्बन्ध में भी अमेरिकन सहायता टर्की को प्राप्त थी। अमेरिकन लोग यह समझते थे, कि यदि टर्की रशिया के प्रभाव से बचा रहे, तो भूमध्य सागर में उनकी स्थिति सुरक्षित रहेगी। ब्रिटेन और फ्रांस का भी यही खयाल था।

ईरान से रशियन सेनाएं हटा लेने का मामला जब संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख उपस्थित हुआ, तो टर्की के मामले पर भी कई बार वहां विचार हुआ। डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य और काला सागर के दक्षिणी प्रदेशों पर रशिया का प्रभाव कायम न हो सके, इस उद्देश्य से अनेक प्रयत्न संघ के अधिवेशनों में भी किये गये। पर बाद में रशिया ने टर्की की तरफ अपने प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत करने का विशेष उद्योग नहीं किया, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस मामले ने कोई विशेष जटिल रूप धारण नहीं किया।

(३) इण्डोनीसिया—विश्वसंग्राम के समय में इण्डोनीसिया के प्रदेश हालैण्ड की अधीनता से मुक्त होकर जापान के कब्जे में चले गये थे।

जापानी लोग यह कहते थे, कि वे एशिया को यूरोपियन साम्राज्यवाद से मुक्त कराने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इसीलिए जब इण्डोनीसिया डच लोगों के हाथ से मुक्त हुआ, तो जापान ने वहाँ स्वराज्य की स्थापना की। आजाद इण्डोनीसियन सरकार के नेता श्री सोकार्नो बने। यह सरकार जापान की अधीनता में थी, और मित्रराज्यों के खिलाफ जापानियों की सहायता कर रही थी। १९४५ में जब जापान की घटती कला शुरू हुई, तो पूर्वी एशिया के विविध राज्यों को पूर्ण स्वाधीनता दे दी गई। ११ अगस्त, १९४५ को इण्डोनीसिया भी पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया, और एक सप्ताह बाद वहाँ स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना कर दी गई। जब मित्रराज्यों की तरफ से लार्ड मान्टबेटन की ब्रिटिश सेनाओं ने इण्डोनीसिया पर कब्जा करने का प्रयत्न किया, तो श्री सोकार्नो की सरकार ने उनका डट कर मुकाबला किया। १९४५-४६ में अँग्रेजों और इण्डोनीसियन लोगों का यह संघर्ष उग्र रूप में जारी रहा। फरवरी, १९४६ में डच सरकार ने यह घोषणा की, कि हालैण्ड के सुविशाल साम्राज्य को 'कामन-वेल्थ' के रूप में परिवर्तित कर दिया जायगा और इण्डोनीसियन लोगों को यह मौका होगा, कि वे कामनवेल्थ के एक 'स्वतन्त्र' अंग के रूप में अपनी सत्ता रख सकें। पर इण्डोनीसियन लोग इससे संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने अपने संघर्ष को जारी रखा। १९४६ के मध्य में अपने भूतपूर्व साम्राज्य को विजय करने व सँभालने का कार्य डच सेनाओं ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया था। अब श्री सोकार्नो की इण्डोनीसियन रिपब्लिक के साथ डच सेनाओं का संघर्ष शुरू हुआ। कई महीनों तक दोनों पक्षों में उत्कट लड़ाई जारी रही। आखिर, १४ अक्टूबर, १९४६ को स्वतन्त्र इण्डोनीसियन रिपब्लिक और डच सरकार में समझौता हो गया। वे युद्ध को बन्द करके परस्पर बातचीत द्वारा समझौता करने के लिए उद्यत हो गये। २५ मार्च, १९४७ को यह समझौता तैयार हो गया, जो लिंगजाति समझौते के

नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया, कि (१) इन्डोनीसिया के जिन प्रदेशों पर श्री सोकार्नो की सरकार का कब्जा है, उन्हें स्वतन्त्र इण्डोनीसियन रिपब्लिक के रूप में स्वीकार किया जाय। ये प्रदेश जावा, सुमात्रा और मदुरा थे। (२) पूर्वी एशिया में डच सरकार की अधीनता में जो अन्य प्रदेश हैं, (यथा बोर्नियो और ग्रेट ईस्ट), उनको और स्वतन्त्र इण्डोनीसियन रिपब्लिक को साथ मिला कर 'इण्डोनीसिया का संयुक्त राज्य संघ' बनाया जाय। इस संघ राज्य के अन्तर्गत इन विविध राज्यों को अपने आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता रहे, पर संघ शासन के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर संघ सरकार का नियन्त्रण रहे। (३) इण्डोनीसियन संयुक्त राज्य संघ और हालैण्ड को मिलाकर एक 'यूनियन' कायम किया जाय। विदेशी राजनीति, सेना आदि विषय इस यूनियन के अधीन रहें।

अनेक इण्डोनीसियन देशभक्त इस लिंगजाति समझौते से पूरी तरह संतुष्ट नहीं थे। वे अनुभव करते थे, कि इससे उन्हें जो स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, वह वास्तविक नहीं है। परिणाम यह हुआ, कि जुलाई, १९४७ में हालैण्ड और इण्डोनीसियन रिपब्लिक में फिर संघर्ष शुरू हो गया। भारत ने इसी समय संयुक्त राज्य संघ के सम्मुख इण्डोनीसिया

भी व्यवस्था की गई, कि इण्डोनीसिया के सारे प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमेटी बनाई जाय, जिसके तीन सदस्य हों। एक सदस्य हालैण्ड मनोनीत करे, दूसरे को इण्डोनीशियन रिपब्लिक मनोनीत करे, और वे दोनों सदस्य मिलकर एक तीसरे सदस्य को निर्वाचित करें। इसके अनुसार हालैण्ड ने बेल्जियम को, इण्डोनीसियन रिपब्लिक ने आस्ट्रेलिया को और उन दोनों ने मिलकर अमेरिका को कमेटी का सदस्य चुना। इस कमेटी ने सबसे पहले लड़ाई को बन्द कराया, और यह व्यवस्था की, कि दोनों पक्ष युद्ध को बन्द कर शान्ति स्थापित रखें। उसके बाद जनवरी, १६४८ में कमेटी ने इण्डोनीसिया की समस्या को स्थिर रूप से सुलझाने का उद्योग शुरू किया।

तीनों देशों के प्रतिनिधियों ने हालैण्ड और इण्डोनीसियन रिपब्लिक में जो समझौता कराया, उसका आधार ये बातें थीं—(१) इण्डोनीसिया में एक राज्य संघ कायम किया जाय। जावा, सुमात्रा और मदुरा (श्री सोकार्नो की सरकार के प्रदेश) पृथक् पृथक् रूप से या संयुक्त रूप से इस राज्यसंघ में सम्मिलित हों (२) इण्डोनीसियन राज्यसंघ और हालैण्ड को मिला कर यूनियन बनाया जाय, जो विदेशी राजनीति, सेना आदि का नियन्त्रण करे।

पर यह समझौता भी देर तक कायम नहीं रह सका। डच सरकार का प्रयत्न यह था, कि विविध जातियों व प्रदेशों को इण्डोनीसियन रिपब्लिक के खिलाफ़ उभाड़ दें। वह इण्डोनीसियन लोगों में फूट डाल कर उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचल देने के प्रयत्न में थी। इसी लिए डच सरकार ने इण्डोनीसिया के अनेक क्षेत्रों में ऐसी सरकारें कायम करने का प्रयत्न किया, जो हालैण्ड के पक्ष में और श्री सोकार्नो की रिपब्लिक के विरोध में थीं। इससे इण्डोनीसिया की समस्या और भी विकट हो गई। वहाँ न केवल डच सरकार से संघर्ष जारी रहा, अपितु विविध प्रदेशों में आपस की गृहकलह भी शुरू हो गई। इस

स्थिति में दिसम्बर, १९४८ में डच सेनाओं ने बाकायदा इण्डोनीसिया पर चढ़ाई की। जोग जाकार्ता (इण्डोनीसिया की राजधानी) पर उन्होंने कब्जा कर लिया, और रिपब्लिक के अनेक नेताओं को गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिया। पर इससे भी इण्डोनीसिया के देशभक्तों ने अपने संघर्ष को बन्द नहीं किया। संसार के लोकमत की सहानुभूति इण्डोनीसियन लोगों के साथ थी। संयुक्त राज्यसंघ की सुरक्षा परिषद् ने हालैण्ड को आदेश दिया, कि रिपब्लिक के नेताओं को रिहा कर दिया जाय और डच सरकार जो सैनिक कार्रवाई इण्डोनीसिया में कर रही है, उसे बन्द कर दे। पर हालैण्ड ने इस आदेश की कोई परवाह नहीं की। इस पर संयुक्त राज्यसंघ ने एक बार फिर इण्डोनीसियन समस्या का हल करने के लिए एक समझौता कमीशन की नियुक्ति की। बहुत वादविवाद और विचार के बाद अब यह हुआ है, कि डच सेनायें जोगजाकार्ता से हट गई हैं, और इण्डोनीसियन रिपब्लिक का शासनसूत्र फिर से उसके नेताओं के हाथ में दे दिया गया है। हालैण्ड के पूर्वी एशिया में स्थित इस साम्राज्य का स्थिर रूप से निबटारा करने के लिए हेग (हालैण्ड की राजधानी) में एक कान्फरेन्स की योजना की गई है, जो वहाँ के विविध प्रदेशों में स्वतन्त्र शासन स्थापित कर उनका एक केन्द्रीय संघ (फिडरेशन) बनाने की व्यवस्था करेगी। ब्रिटिश कामनवेल्थ के समान डच कामनवेल्थ के विचार को आदर्श रूप में रखा जा रहा है, और इण्डोनीसियन नेताओं को भी यह विचार क्रियात्मक प्रतीत होता है।

जनवरी, १९४९ में भारतीय सरकार ने दिल्ली में एक एशियाई कान्फरेन्स की आयोजना की, जिसमें एशिया के १७ देशों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इण्डोनीसिया की समस्या पर इसमें विस्तार से विचार किया गया। इस कान्फरेन्स ने जो सुझाव पेश किया, संयुक्त राज्यसंघ ने उन्हें क्रियात्मक व उचित माना। संयुक्त राज्य संघ की सुरक्षा-परिषद् ने दिल्ली कान्फरेन्स द्वारा स्वीकृत किये गये प्रस्तावों के अनुसार ही

इण्डोनीसिया की समस्या को सुलझाने में सफलता प्राप्त की। एशियाई राज्यों की कान्फरेन्स का आयोजन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से बहुत महत्त्व की बात थी। इससे यह भावना बल पकड़ने लगी, कि एशिया के विविध राज्यों को परस्पर मिल कर संगठित होना चाहिए, और अपने दृष्टिकोण को संसार की राजनीति में पेश करना चाहिए। दिल्ली की एशियाई कान्फरेन्स की योजना भारत के प्रधानमन्त्री व परराष्ट्रसचिव श्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने तैयार की थी।

अब इन्डोनीसिया की समस्या भी भली भाँति हल हो गई है। हालैण्ड के पूर्वी एशिया में स्थित साम्राज्य के विविध प्रदेशों को मिलाकर एक संयुक्तराज्य की स्थापना कर दी गई है, जिसका स्वरूप रिपब्लिकन है। इसके राष्ट्रपति श्री सोकार्नो निर्वाचित हुए हैं।

(७) पैलेस्टाइन—गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद पैलेस्टाइन का प्रदेश ब्रिटिश सरकार के शासन में दिया गया था। यहाँ यहूदी बड़ी संख्या में बसाये गये थे। और ब्रिटिश सरकार की यह नीति थी, कि यहूदियों के लिए यह प्रदेश 'मातृभूमि' व 'स्वदेश' बन जाय। विश्व-संग्राम के समय में यहूदियों ने बहुत बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन आना शुरू किया। पर अरब लोग यह बात बिलकुल भी पसन्द नहीं करते थे। उनका खयाल था, कि पैलेस्टाइन अरब का एक हिस्सा है। उसमें यहूदियों के बहुसंख्या में बस जाने का परिणाम यह होगा, कि यह प्रदेश अरबों के हाथ से निकल जायगा। पैलेस्टाइन के ब्रिटिश शासक अरबों की इस बात को सहानुभूति की दृष्टि से देखते थे। उस प्रदेश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने का उन्हें यही उपाय समझ आता था, कि यहूदियों को वहाँ बड़ी संख्या में न बसने दिया जाय। संसार के प्रायः सभी देशों में यहूदी लोगों का निवास है। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि उन्नत देशों में बहुत से सम्पन्न यहूदी परिवार सदियों से बसे हुए हैं। सुदीर्घ काल से इन देशों में रहते हुए भी ये इस बात को नहीं भूले

हैं, कि हम यहूदी हैं, और दुनिया भर के यहूदी हमारे बन्धु हैं। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की नीति का विरोध शुरू कर दिया। पैलेस्टाइन में यहूदियों को किस हद तक बसने दिया जाय, इस सवाल को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक तूफान सा आ गया। अरबों के विविध राज्यों ने परस्पर मिलकर यह आन्दोलन शुरू किया, कि पैलेस्टाइन में यहूदियों के प्रवेश पर रोक लगाई जाय। दूसरी तरफ संसार भर के यहूदी संगठित हो कर यह कोशिश करने लगे, कि यूरोप के स्थान-भ्रष्ट यहूदियों को पैलेस्टाइन में बसाकर एक समृद्ध व शक्तिशाली यहूदी राज्य की नींव डाली जाय।

१६४६ के शुरू में ब्रिटेन और अमेरिका ने एक उपसमिति नियुक्त की, जिसे यहूदियों की इस समस्या पर विचार करने का कार्य सुपुर्द किया गया। २६ मार्च, १६४६ को इस उपसमिति ने अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली। इसने यह सिफारिश की, कि (१) नाजी अत्याचारों के शिकार होने के कारण जो यहूदी स्थान-भ्रष्ट हैं, उनमें से एक लाख को तुरन्त पैलेस्टाइन में बसाया जाय। (२) ब्रिटेन का पैलेस्टाइन पर अधिकार अभी जारी रहे। (३) अभी यह समय नहीं आया है, कि पैलेस्टाइन में स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना की जा सके। ऐंग्लो-अमेरिकन उपसमिति की इस रिपोर्ट से अरब और यहूदी दोनों पूरी तरह से असंतुष्ट थे। यहूदियों को यह शिकायत थी, कि इसमें उनके स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का विरोध किया गया है। अरब लोग यह मानने को कभी तैयार नहीं थे, कि एक लाख नये यहूदी उनके देश में लाकर बसा दिये जावें। मिस्र के राजा फारूक के नेतृत्व में कैरो में एक अखिल अरब कांग्रेस का आयोजन किया गया। इसमें विविध अरब राज्यों के शासक एकत्र हुए। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया, कि यदि ऐंग्लो-अमेरिकन उपसमिति की सिफारिशों को क्रिया-रूप में परिणत करने का उद्योग किया गया, तो वे डटकर उसका मुकाबला

करेंगे। दूसरी तरफ, यहूदी लोगों ने घोषणा की, कि स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना के बिना वे कभी संतुष्ट नहीं होंगे। दोनों पक्षों में लड़ाई शुरू हो गई। अरब और यहूदी दोनों आतंक के मार्ग का अनुसरण करने लगे। २२ जुलाई, १९४६ को जेरूसलम के किंग डेविड होटल को यहूदियों ने बारूद से उड़ा दिया। इस होटल में ब्रिटिश सरकार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यालय स्थित थे। ९१ ब्रिटिश नागरिक मारे गये और ४५ बुरी तरह घायल हुए। यहूदी आतंकवादियों ने हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन कर ब्रिटिश शासकों व नागरिकों पर हमले शुरू कर दिये। उन्हें ब्रिटिश सरकार से यही शिकायत थी, कि उनकी सत्ता यहूदियों के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना में बाधक है। अरब लोग भी यहूदियों पर हमला करने और सब प्रकार के आतंकमय उपायों से उन्हें नुकसान पहुँचाने में व्याप्त थे। इसी समय यहूदियों ने बड़ी संख्या में जबर्दस्ती पैलेस्टाइन पहुँचने का यत्न शुरू किया। अँगरेजी सरकार इन नये आने वाले यहूदियों को साइप्रस टापू में भेजने लगी। अरबों के विरोध के कारण इन्हें पैलेस्टाइन में बसने देना उचित नहीं समझा गया। यहूदी इससे और भी असंतुष्ट हुए।

१ जुलाई, १९४६ को ब्रिटिश सरकार ने पैलेस्टाइन की समस्या को हल करने के लिए यह योजना पेश की, कि (१) पैलेस्टाइन को दो हिस्सों में विभक्त किया जाय—जेरूसलम और नजेब। जेरूसलम में यहूदियों का राज्य रहे, और नजेब में अरबों का। (२) ये दोनों राज्य अपने आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र रहें। (३) इन दोनों राज्यों का नियन्त्रण ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर के हाथ में रहे, जो विदेशी राजनीति, सेना, आयात-कर, निर्यात-कर आदि विषयों को भी अपने अधिकार में रखे। (४) जेरूसलेम के प्रदेश में आबाद होने के लिए एक लाख यहूदियों को तुरन्त ही अनुमति प्रदान की जाय। इस योजना से भी यहूदी और अरब दोनों असंतुष्ट थे। दोनों ने इसे स्वीकार करने से

इनकार कर दिया। परिणाम यह हुआ, कि पैलेस्टाइन की समस्या पर फिर नये सिरे से विचार शुरू किया गया। कई महीनों तक लन्डन में यहूदी और अरब प्रतिनिधियों के साथ बातचीत होती रही। अब ब्रिटिश सरकार ने एक नई योजना तैयार की, जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि (१) पैलेस्टाइन को दो भागों में विभक्त कर उनमें पृथक् पृथक् यहूदी और अरब राज्यों की स्थापना की जाय। (२) ये राज्य अपने आप में स्वतन्त्र हों, पर दोनों पर ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण कायम रहे। (३) प्रति दो साल बाद एक लाख यहूदियों को जेरूसलम के यहूदी राज्य में बसने की अनुमति दी जाय। (४) पाँच वर्ष तक इस योजना को सफल बनाने का प्रयत्न किया जाय। यदि इस अरसे में यह योजना सफल न हो, तो पैलेस्टाइन की सारी समस्या को संयुक्त राज्यसंघ के सुपुर्द कर दिया जाय। पर इस नई योजना से भी समस्या का हल नहीं हुआ। अरब और यहूदी दोनों ही इसे संतोषजनक नहीं समझते थे।

परेशान होकर अन्त में ब्रिटेन ने यह निश्चय किया, कि पैलेस्टाइन की समस्या को संयुक्त राज्यसंघ के सुपुर्द कर देने में ही लाभ है। १३ एप्रिल, १९४७ को संघ के प्रधानमंत्री (सेक्रेटरी जनरल) ने पैलेस्टाइन पर विचार करने के लिए संयुक्त राज्य संघ के सब सदस्यों को निमन्त्रित किया। जनरल असेम्बली में इस समस्या पर खूब वाद-विवाद हुआ। अन्त में, एक स्पेशल कमेटी की नियुक्ति की गई, जिसे पैलेस्टाइन जाकर सारे सवाल की जाँच कर अपनी सिफारिशें पेश करने का कार्य सुपुर्द किया गया। इस बीच में अरब और यहूदी आपस में लड़ने में लगे हुए थे। दोनों तरफ से आतंक के उपायों का आश्रय लिया जा रहा था। पर संयुक्त राज्य संघ द्वारा नियुक्त स्पेशल कमेटी अपना कार्य करती रही, और ३१ अगस्त १९४७ को उसने अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली। इसके अनुसार ये सिफारिशें की गईं, कि (१)

पैलेस्टाइन पर ब्रिटेन का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण व अधिकार न रहे। (२) पैलेस्टाइन को दो स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त किया जाय, यहूदी राज्य और अरब राज्य। दोनों राज्य अपने अपने क्षेत्र में पूर्णतया स्वतन्त्र रहें। २६ नवम्बर, १६४७ को संयुक्त राज्यसंघ की जनरल असेम्बली ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार ब्रिटेन ने पैलेस्टाइन पर से अपने नियन्त्रण व अधिकार को हटा लिया। वहाँ जो ब्रिटिश सेनाएँ व शासक विद्यमान थे, उन सबको वापस बुला लिया गया।

संयुक्त राज्यसंघ के निर्णय से यहूदी लोग बहुत संतुष्ट थे। उन्हें अनुभव होता था, कि स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना का उनका स्वप्न इससे पूर्ण होता है। पर अरब लोग इस निर्णय से बहुत ही असंतुष्ट थे। अपने एक राज्य का अंग-भंग और खास अरब में एक विदेशी व विधर्मी राज्य की स्थापना उन्हें जरा भी पसन्द नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने युद्ध प्रारम्भ कर दिया। यह युद्ध निरन्तर अधिक अधिक भयंकर रूप धारण करता गया। पर ब्रिटेन ने इसकी जरा भी परवाह न कर मई, १६४८ तक अपनी सेनाएँ व अफसर पैलेस्टाइन से वापस बुला लिये। इस स्थिति से फायदा उठकर यहूदियों ने तेल अवीव को केन्द्र बनाकर पृथक् स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। नये यहूदी राज्य का नाम इजराईल रखा गया। अरब लोग (जिसमें विविध अरब राज्य संगठित थे) ने इस नये राज्य के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। दोनों पक्षों में बाकायदा लड़ाई शुरू हो गई।

इस स्थिति में संयुक्त राज्यसंघ ने फिर एक बार हस्तक्षेप किया। उसने दोनों पक्षों में समझौता कराने व लड़ाई को बन्द कराने के लिए काउण्ट बर्नेडाट को मध्यस्थ के रूप में निश्चित किया। काउण्ट ने सब प्रश्नों पर विचार कर समझौते के लिए यह योजना पेश की- (१) यहूदी और अरबों के पैलेस्टाइन में पृथक् पृथक राज्य बनाये जावें।

(२) पर उनके सामान्य मामलों (सेना, विदेशी नीति आदि) का संचालन व नियन्त्रण करने के लिए एक यूनियन की स्थापना की जावे। इस यूनियन की एक सम्मिलित कौंसिल हो, जिसमें अरब और यहूदी दोनों राज्यों के प्रतिनिधि रहें। (३) अरब और यहूदी राज्यों की सीमा का निर्धारण करने के लिए बातचीत शुरू की जाय। (४) दोनों राज्यों में अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा के लिए समुचित व्यवस्था की जाय। काउण्ट बर्नेडाट के इस सुझाव से भी यहूदी और अरब दोनों ही असंतुष्ट थे। यहूदियों को तो ऐसा अनुभव होता था, कि इससे उनके नये स्थापित हुए राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता कायम नहीं रहने पाती। उनका विरोध इस हद तक बढ़ा, कि ११ सितम्बर, १९४८ को एक यहूदी युवक ने काउण्ट बर्नेडाट को कतल कर दिया।

इस बीच में अनेक राज्यों ने इजराईल की सत्ता को स्वीकार कर लिया था। इजराईल की सेनाएँ अरबों के साथ बाकायदा युद्ध कर रही थीं। अनेक स्थानों पर अरब लोग उनसे बुरी तरह परास्त भी हुए थे। परिणाम यह हुआ, कि धीरे धीरे इजराईल की स्थिति बहुत मजबूत होती गई। अरब लोगों ने भी अनुभव कर लिया, कि वे नई यहूदी शक्ति को सुगमता के साथ परास्त नहीं कर सकते। संयुक्त राष्ट्रसंघ काउण्ट बर्नेडाट की हत्या के बाद भी अब शान्ति और समझौते के अपने प्रयत्न में लगा हुआ था। अन्त में, अरब लीग और इजराईल में अस्थायी रूप से शान्ति की स्थापना हो गई। अब संयुक्त राज्यसंघ इस कोशिश में है, कि इस अस्थायी शान्ति को चिरस्थायी कर दिया जाय।

(८) एटम शक्ति—विश्व-संग्राम के अवसर पर अमेरिका ने एटम बम्ब का उपयोग किया था। एटम शक्ति संसार के लिए अत्यन्त भयंकर और नाशक सिद्ध हो सकती है, अतः सभी राज्य इस बात के लिए उत्सुक थे, कि इस शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रखा जाय। यह मामला

संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख उपस्थित किया गया। एक कमीशन की भी नियुक्ति की गई, जो समस्या के सब पहलुओं पर विचार करके अपनी रिपोर्ट दे। पर एटम शक्ति-सम्बन्धी कमीशन किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सका। उसने यही सिफारिश की, कि अभी इस मामले को स्थगित कर दिया जाय। रशिया ने इस बात का जबर्दस्त विरोध किया। जब संघ की सुरक्षा-परिषद् ने कमीशन की इस सिफारिश को स्वीकृत करना चाहा, तो रशिया ने वीटो के अधिकार का उपयोग कर उसे रद्द कर दिया। अक्टूबर, १९४८ में संयुक्त राज्यसंघ की जनरल असेम्बली के सम्मुख एटम शक्ति का विषय पेश हुआ। वहाँ यह सिद्धान्त तो तय हो गया, कि एटम शक्ति का उपयोग विनाशक कार्यों के लिए न करके रचनात्मक और शान्तिमय कार्यों के लिए करना चाहिए। पर एटम बम्ब के रूप में जो घोर विनाशकारी शस्त्र मनुष्य जाति के हाथ में आ गया है, उसके उपयोग पर कैसे नियन्त्रण किया जाय, इस विषय में संघ किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सका।

(६) निःशस्त्रीकरण की समस्या—संसार में शान्ति स्थापित रखने के लिए संयुक्त राज्यसंघ इस बात को परम आवश्यक समझता था, कि विविध राज्य अपने अस्त्र-शस्त्रों व सेनाओं में कमी करें। इसी लिए उसने ये सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे—(१) सब राज्य निःशस्त्रीकरण की योजना में शरीक हों। (२) जब कभी सुरक्षा-परिषद् को आवश्यकता हो, विविध राज्य अपनी सेनाएँ उसके सुपुर्द कर देने के लिए उद्यत हों। (३) केवल उतने अस्त्र-शस्त्र राज्यों के पास रहने पावें, जो उनकी रक्षा के लिए आवश्यक हैं। (४) किसी राज्य के आन्तरिक मामलों में अन्य राज्य हस्तक्षेप न करें। रशिया के प्रतिनिधियों को इस योजना से सहमति नहीं थी। वे इस बात पर जोर देते थे, कि एटम बम्ब के जो भी संग्रह जिस किसी देश के पास हों, उन सब को नष्ट कर दिया जाय। रशिया का खयाल था, कि निःशस्त्रीकरण की किसी भी योजना

से पहले एटम शक्ति की समस्या को हल कर लेना आवश्यक है। निःशस्त्रीकरण की समस्या अभी संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख विद्यमान है, पर उसके सम्बन्ध में कोई संतोषजनक दल अभी तक किया नहीं जा सका है।

(१०) काश्मीर—भारत के विभाजन के बाद काश्मीर ने यह तय किया था, कि वह भारत के अन्तर्गत रहे। पर पाकिस्तान इस बात को नहीं सह सका। उसने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। काश्मीर के पश्चिमी प्रदेशों में 'आजाद काश्मीर सरकार' की स्थापना की गई, जो पाकिस्तान की सहायना पर आश्रित थी। पाकिस्तान की सहायता से 'आजाद काश्मीर सरकार की सेनाएँ' काश्मीर पर निरन्तर हमले कर रही थीं। भारत ने इस मामले को संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख पेश किया। संघ के हस्तक्षेप द्वारा काश्मीर की लड़ाई बन्द हो गई, और संघ द्वारा नियुक्त कमीशन ने इस बात का यत्न किया, कि लोकमत द्वारा इस बात का फैसला किया जाय, कि काश्मीर किस देश के साथ रहे। अभी संयुक्त राज्यसंघ काश्मीर के मामले का निर्णय नहीं कर सका है, यद्यपि इसके लिए प्रयत्न जारी है।

संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख अन्य भी बहुत से मामले पेश हुए हैं। उन सबका उल्लेख कर सकना यहाँ सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि अनेक विवाद-ग्रस्त विषयों का सन्तोषजनक रूप से फैसला करने में संघ को अच्छी सफलता मिली है। पर संसार के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो अधिक गम्भीर व जटिल समस्याएँ हैं, उनका समाधान कर सकने में संयुक्त राज्यसंघ समर्थ नहीं हो सका है। रशिया और अमेरिका के विरोध और संघर्ष के कारण संसार जिन दो गुटों में विभक्त हो रहा है, भावी अशान्ति और युद्ध का वही मूल है। इस मूलभूत समस्या को हल कर सकने का कोई उपाय अभी संघ के पास नहीं है।

१०. उपसंहार

हमने यूरोप के इस आधुनिक इतिहास का प्रारम्भ उस समय किया था, जब यूरोप में सूत कातने के लिए तकुवे और चरखे काम में आते थे, कपड़ा करघों व खड्डियों पर बुना जाता था। घोड़े या बैल से चलनेवाली लकड़ी की गाड़ियाँ सवारी के काम आती थीं। समुद्र में जहाज चलते थे, पर बिजली या भाप से नहीं, अपितु पाल व चप्पुओं से। रेल, मोटर, तार, हवाई जहाज आदि का नाम तक भी उस समय कोई नहीं जानता था। कल-कारखानों का विकास उस समय नहीं हुआ था। सब देशों में एकतन्त्र, स्वेच्छाचारी, निरंकुश राजा राज्य करते थे। शासन का मुख्य सिद्धान्त था—"राजा पृथिवी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी इच्छा ही कानून है।" समाज में ऊँच-नीच का भेद विद्यमान था। जन्म के कारण कुछ लोग छोटे माने जाते थे, कुछ लोग बड़े। स्त्रियों को स्वाधीनता नहीं मिली थी। धर्म के मामले में लोग बड़े संकीर्ण और असहिष्णु थे।

पर अब क्या दशा है? रेल, तार, हवाई जहाज और रेडियो ने देश और काल पर अद्‌भुत विजय प्राप्त कर ली है। बड़े बड़े कारखानों में विद्युत्गति से काम होता है, उनमें हजारों मजदूर काम करते हैं। एटम (परमाणु) की शक्ति के ज्ञान से मनुष्य के हाथ में न केवल एक प्रलयकारी अस्त्र आ गया है, पर वह यह भी स्वप्न लेने लगा है, कि इस शक्ति के उपयोग से वह आर्थिक उत्पत्ति में सहस्रगुण वृद्धि कर सकता है। प्रायः सभी देशों में स्वेच्छाचारी राजाओं का अन्त होकर जनता का शासन स्थापित हो गया है। राजाओं के "दैवी अधिकार" अब स्वप्न की बात हो गये हैं। मनुष्य अब केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता से ही संतुष्ट नहीं है, वह आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में भी स्वतन्त्रता व समानता चाहता है। समाज से ऊँच-नीच का भेद मिट गया है। स्त्रियों

को पूरी स्वाधीनता मिल गई है। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों की बराबरी कर रही हैं। धर्म के मामले में सब लोग आजाद हैं, सबको अपने विश्वासों के अनुसार कार्य करने का हक है।

यह आश्चर्यजनक परिवर्तन केवल १६० वर्ष में आया है। हमने इस इतिहास का प्रारम्भ सन् १७८९ से किया था, अब १९४९ में यूरोप उन्नति के मार्ग पर इतना अधिक आगे बढ़ गया है। यह उन्नति मुख्यतया निम्नलिखित क्षेत्रों में हुई है—

(१) विज्ञान—पिछली डेढ़ सदी में मनुष्य ने विज्ञान के क्षेत्र में असाधारण उन्नति की है। प्रकृति की विविध शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य ने उनका उपयोग आर्थिक उत्पत्ति के लिए किया है। भाप, वायु, बिजली और परमाणु शक्ति—ये विविध प्राकृतिक शक्तियाँ संसार में सदा से विद्यमान थीं। पर इन्हें किस प्रकार अधीन किया जाय और किस प्रकार इनका उपयोग विविध प्रयोजनों के लिए किया जाय—यह मनुष्य को ज्ञात नहीं था। अब इन शक्तियों पर मनुष्य के दिमाग ने विजय पा ली है। इसी का यह परिणाम है, कि हम आज दिल्ली बैठकर लन्डन या पेरिस से बातचीत कर सकते हैं। क्षण भर में मनुष्य अपना सन्देश संसार के किसी भी कोने में पहुँचा सकता है। टेलीविजन के आविष्कार से यह भी सम्भव हो गया है, कि हम परोक्ष की वस्तु, घटना आदि को अपनी आँखों से देख सकें। हवाई जहाज द्वारा कुछ ही दिनों में सारे संसार का चक्कर लगाया जा सकता है। ऐसे यान बन गये हैं, जो शब्द से भी अधिक तेज गति से चल सकते हैं। मनुष्य यह भी प्रयत्न कर रहा है, कि वह पृथिवी से उड़कर चन्द्रमा व अन्य ग्रहों तक पहुँच सके। मनुष्य का दिमाग जब एक बार अन्धविश्वासों से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से खोज के लिए चल पड़ता है, तो उन्नति के मार्ग में कोई बाधा नहीं रहती। मध्यकाल में मनुष्य अपने सब ज्ञान-विज्ञान के लिए प्राचीन शास्त्रों व धर्म-ग्रन्थों पर निर्भर रहता था। आधुनिक

युग में उसने खोज, परीक्षण और आविष्कार द्वारा प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना शुरू किया। इसी का यह परिणाम है, कि विज्ञान के क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति कर उसने न केवल प्रकृति की शक्तियों पर, अपितु देश और काल पर भी अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है। संसार के विविध देश व निवासी अब एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। उनकी दूरी बहुत कुछ नष्ट हो गई है।

विज्ञान की यह उन्नति केवल भौतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, वनस्पति विज्ञान, शरीर-रचना-शास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। मनुष्य ने प्रकृति के विविध छिपे हुए तत्त्वों व रहस्यों को बहुत कुछ जान लिया है। विविध रोगों के इलाज के लिए उसने ऐसी औषधियों का आविष्कार किया है, जिनसे महामारियाँ और रोग बहुत कुछ काबू आ गये हैं।

(२) अस्त्र-शस्त्र—विज्ञान की उन्नति के कारण मनुष्य ने युद्ध के तरीकों व अस्त्र-शस्त्रों में भी बहुत उन्नति की है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय १७८९ में मनुष्य के पास बन्दूक व तोप से बढ़कर कोई हथियार नहीं था। पर अब उसके पास ऐसे प्रलयकारी हथियार विद्यमान हैं, जिनसे बड़े बड़े शहरों को एक क्षण में नष्ट किया जा सकता है। इन हथियारों की घातक शक्ति से मनुष्य स्वयं भय खाने लगा है। वह अनुभव करता है, कि उसके हाथ में प्रकृति की इतनी घातक शक्ति आ गई है, कि वह अपनी सत्ता को अपने हाथों से ही नष्ट कर सकता है। अब युद्ध केवल सैनिक योद्धाओं तक ही सीमित नहीं रह सकता। वह सुवर्णीय युग अब समाप्त हो गया है, जब कि यूनानी यात्री मैगस्थनीज ने लिखा था, कि इधर सैनिक लोग आपस में लड़ रहे होते हैं, और उधर पड़ोस में ही किसान लोग निश्चिन्त रूप से हल चलाते रहते हैं। अब तो युद्ध में सैनिकों की अपेक्षा सर्वसाधारण नागरिकों को अधिक भय रहता

है। आज के अस्त्र-शस्त्र इतने भयंकर हैं, कि लड़ाई में किसी भी मनुष्य का जीवन सुरक्षित नहीं समझा जा सकता।

(३) समाज-शास्त्र—पिछली डेढ़ सदी में मनुष्य ने केवल भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में ही उन्नति नहीं की है, अपितु समाज-शास्त्रों में भी बहुत प्रगति हुई है। समाज क्या है, समाज में रहनेवाले मनुष्यों में परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए; आर्थिक, राजनैतिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में मनुष्य को एक दूसरे के साथ किस प्रकार बरतना चाहिए—इन सब समस्याओं पर मनुष्य ने अपने विचारों को अब बहुत कुछ परिष्कृत कर लिया है। मनुष्य का हित व कल्याण केवल भौतिक उन्नति पर ही निर्भर नहीं है। जब तक उनके आपस के सम्बन्ध समुचित नहीं होंगे, उनका कल्याण सम्भव नहीं है। अर्थ-शास्त्र, राज-शास्त्र, नीति-शास्त्र आदि विविध समाज-विज्ञान इसी बात का प्रयत्न कर रहे हैं, कि मनुष्यों के सामूहिक सम्बन्धों में उन्नति हो और वे सुख-पूर्वक साथ मिलकर रह सकें।

(४) राजनैतिक स्वाधीनता—राजाओं के स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन का अन्त होकर अब जनता का शासन सर्वत्र स्थापित हो गया है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की जिन प्रवृत्तियों को जन्म दिया था, वे अब प्रायः सम्पूर्ण यूरोप में फली-भूत हो गई हैं।

(५) आर्थिक स्वाधीनता व समानता—जनता केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता से ही संतुष्ट नहीं है, वह यह यत्न भी कर रही है, कि आर्थिक दृष्टि से भी सब लोग स्वतन्त्र व समान हों। केवल वोट का अधिकार मिल जाने से लोगों की समस्या हल नहीं होती। जब तक सब लोगों को भर पेट भोजन, रहने को मकान और पहनने को कपड़े सन्तोषजनक रीति से न मिलें, तब तक लोग संतुष्ट नहीं हो सकते। इसके लिए समाज की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता है। इसी लिए साम्य-

वाद के आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ है, जिससे यह प्रयत्न किया जा रहा है, कि कोई धनी व्यक्ति श्रमियों का शोषण न कर सके। श्रमी अपने श्रम की पूरी पूरी कीमत प्राप्त करें। किसी को यह अवसर न हो, कि वह बिना कुछ किये खाली बैठ कर आमदनी पा सके।

मनुष्य ने पिछले दिनों इन सब क्षेत्रों में बड़ी भारी उन्नति की हैं, पर अभी तक वह ऐसा कोई उपाय नहीं ढूँढ सका है, जिससे संसार के विविध मनुष्य व राष्ट्र परस्पर मिलकर शान्ति के साथ जीवन बिता सकें। संतुष्ट, शान्तिमय और सुखी जीवन के लिए मनुष्य की पहली आवश्यकता यह है, कि वह लड़ाई, युद्ध व झगड़े के भय से मुक्त हो। यूरोप की आधुनिक उन्नति के काल में यह भय घटने के बजाय बढ़ा ही है। १९१४ से १९४५ तक के काल में मानव-समाज ने दो भयंकर प्रलयकारी युद्धों का सामना किया है। तीस साल के छोटे से समय में इतने बड़े दो युद्ध संसार के इतिहास में शायद पहले कभी नहीं हुए। विश्व-संग्राम अभी समाप्त भी नहीं हुआ, कि तीसरे महायुद्ध की तैयारी शुरू हो गई है। देशों के राजनीतिज्ञ नेता अभी से लड़ाई की बात सोचने लगे हैं। वे इस बात के लिए तैयारी करने लगे हैं, कि अकस्मात् युद्ध के शुरू हो जाने पर कहीं वे अचेत न रह जावें। न केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, अपितु राज्यों के आन्तरिक क्षेत्र में भी अशान्ति, बेचैनी और संघर्ष सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। जमींदार और किसान, पूँजीपति और मजदूर, शासक और जनता—सबमें संघर्ष और असन्तोष विद्यमान है। सब जगह मनुष्य बेचैन सा नजर आता है। राजनैतिक दलबन्दियों के कारण एक देश की जनता ही आपस में एक दूसरे के साथ झगड़े में फँसी है। धर्म का उद्देश्य अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति है। पर धर्म के प्रश्न को लेकर भी मनुष्य एक दूसरे के साथ झगड़े में लगा है। ऐसा प्रतीत होता है, कि संसार में एक बार फिर सर्वत्र "मात्स्य न्याय" के चिह्न प्रकट होने लगे हैं।

इस स्थिति का अन्त कैसे किया जाय ? क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे विविध मनुष्य और विभिन्न राष्ट्र सुख-शान्ति से रहकर परस्पर सहयोग से अपनी उन्नति कर सकें ? सम्भवतः, यूरोप के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। रशिया के कम्युनिस्ट और अमेरिका के लोक-तन्त्रवादी इस समस्या का हल कर सकने में असमर्थ हैं। राष्ट्रसंघ और संयुक्त राज्यसंघ की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई थी, कि संसार में शान्ति स्थापित हो और मनुष्य युद्ध के भय से मुक्त हों। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिल सकी। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का जो भी प्रयत्न संसार में अब तक हुआ है, वह असफल ही रहा है।

इसका कारण क्या है ? पहली बात तो यह है, कि इतनी अधिक वैज्ञानिक, भौतिक व सामाजिक उन्नति करके भी मनुष्य ने अब तक "मानव" रूप में जरा भी उन्नति नहीं की। मनुष्य रेडियो को इस्तेमाल करता है, हवाई जहाज पर यात्रा करता है, बिजली की शक्ति को अपने पास बाँध कर रखता है, पर मनुष्य के रूप में वह अब भी वही है, जो उस समय था, जब कि उसके पास पत्थर के मोटे, भद्दे औजारों से बढ़ कर कोई उपकरण नहीं था। उसने दिमागी उन्नति बहुत कर ली, पर उसके हृदय और आत्मा ने जरा भी आगे कदम नहीं बढ़ाया। वे अभी तक वहीं हैं, जहाँ कि वे प्रस्तर काल (स्टोन एज) में थे। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य संसार का मानव आगे बढ़ने के स्थान पर शायद कुछ पीछे ही हटा है। यही कारण है, कि अभी उसकी समस्याओं का समाधान नहीं होता। मानव समाज की अशान्ति और बेचैनी का दूसरा कारण यह है, कि मनुष्यों में अभी अमीर और गरीब का भेद विकट रूप से विद्यमान है। समाज से ऊँच-नीच का भेद अवश्य दूर हो गया है, किसी को जन्म के कारण छोटा या बड़ा अब नहीं माना जाता। पर अभी एक तरफ तो ऐसे धनी पूँजीपति विद्यमान हैं, जो अपनी सम्पत्ति का अपव्यय करते हैं, उन्हें यह भी नहीं समझ पड़ता, कि वे अपने धन का कैसे

उपयोग करें। दूसरी तरफ ऐसे लोग करोड़ों की संख्या में हैं, जिनके पास न खाने को काफी अनाज है, और न तन ढकने को कपड़े ही पर्याप्त मात्रा में हैं। पहले लोग अपनी इस दुर्दशा का कारण भगवान् की इच्छा या कर्मों का फल मानकर सन्तोष कर लेते थे। धर्म के प्रचारकों ने उन्हें एक प्रकार की सन्तोष की मदिरा सी पिलाई हुई थी। वे इस जन्म में सब प्रकार के कष्ट भोगते हुए भी यह आशा करते थे, कि अपने सन्तोष और धर्मपरायणता के कारण वे अगले जन्म में सुख भोगेंगे या जगत्पिता की गोद में पहुँचकर उसकी कृपा व अनुकम्पा से उनके सब कष्ट दूर हो जावेंगे। पर आधुनिक युग में मनुष्य की यह भावना दूर हो गई है। शिक्षा ने उसकी आँखें खोल दी हैं। वह चाहता है, कि इसी जन्म में उसे सुख प्राप्त हो। अपनी गरीबी और दूसरे की समृद्धि उसे निरन्तर परेशान करती रहती है। जो दशा राज्य में विविध मनुष्यों की है, वही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्यों की है। कुछ राज्य अमीर हैं, उनके अपने साम्राज्य हैं, उनके तैयार माल की खरीद के लिए अनेक बाजार सुरक्षित हैं, उनके अपने आर्थिक साधन भी खूब उन्नत हैं। दूसरी तरफ, ऐसे भी राज्य हैं, जिनके पास समृद्धि का सर्वथा अभाव है, जो गरीब हैं। जब तक मानव-समाज में शोषण की प्रवृत्ति कायम रहेगी, गरीब और अमीर का भेदभाव दूर नहीं होगा, उसे शान्ति प्राप्त होना सम्भव नहीं प्रतीत होता है।

तो इस समस्या का हल क्या है? ऐसा प्रतीत होता है, कि यूरोप के पास इस समस्या का कोई हल नहीं है। वह तेजी के साथ युद्ध की ओर कदम बढ़ा रहा है। उसके वैज्ञानिकों और विद्वानों ने अब तक जो कुछ उन्नति की है, वह इस बार के युद्ध में सुरक्षित नहीं रहने पावेगी। पाश्चात्य सभ्यता की सत्ता ही अब खतरे में पड़ती जा रही है। मनुष्य ने प्रकृति की जिन शक्तियों को अपने काबू में किया है, वे ही उसका नाश कर देंगी।

पर इस घोर अन्धकार में भी आशा की एक किरण है। यह किरण पूर्व दिशा की ओर से उदित हो रही है। ब्रिटिश साम्राज्य के शासन से मुक्त हो कर भारत अब स्वतन्त्र हो गया है। वह अब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना समुचित स्थान भी प्राप्त करने लगा है। भारत ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन नहीं किया, उसे स्वराज्य प्राप्ति के लिए किसी सशस्त्र क्रान्ति की आवश्यकता नहीं हुई। महात्मा गांधी ने उसे सत्य और अहिंसा का मार्ग प्रदर्शित किया था। वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक भारत के ऋषि, महात्मा और सन्त इसी मार्ग का प्रतिपादन करते रहे। आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने कहा था—'अक्रोध से क्रोध पर विजय प्राप्त करो, साधुता से असाधु पर विजय प्राप्त करो।' महात्मा गांधी भी यही कहते थे—सत्य और अहिंसा ऐसे अस्त्र हैं, जिनसे संसार की बड़ी से बड़ी ताकत को परास्त किया जा सकता है। क्या इन उदात्त सिद्धान्तों का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नहीं किया जा सकता? क्या संसार के विविध राज्य अपने झगड़ों का निर्णय सत्याग्रह और अहिंसा के उपायों से नहीं कर सकते?

समाज की नई व्यवस्था कायम करने के लिए भारत के ही एक ऋषि ने कुछ नये विचार उन्नीसवीं सदी में प्रतिपादित किये थे। कार्ल मार्क्स के साम्यवाद से कोई भी परिचय न रखते हुए दयानन्द ने समाज संगठन का एक नया रूप अपने देशवासियों के सम्मुख प्रकट किया था, जिसके मुख्य सिद्धान्त ये हैं—(१) शासन और कानून निर्माण करने का कार्य उन लोगों के हाथ में होना चाहिए, जिन्होंने त्याग और गरीबी का व्रत लिया हो, जो धन संचय और सम्पत्ति क अर्जन करना हीन बात समझते हों। (२) समाज में प्रतिष्ठा व श धनियों की न हो। प्रतिष्ठा और शक्ति उनके पास हो, जिन्होंने जान-बूझ कर त्याग और गरीबी का व्रत लिया हुआ हो। (३) सम्पत्ति पर जिन लोगों का अधिकार हो, वे अपने को उस सम्पत्ति का स्वामी न समझ

कर ट्रस्टी मात्र समझें। यदि राज्य की दृष्टि में वे सम्पत्ति का उप
अपने स्वार्थ के लिए करते हों, व उसका सदुपयोग करने के योग
हों, तो उनसे सम्पत्ति छीन कर ऐसे लोगों को दे दी जाय, जो उस
उपयोग समाज के हित के लिए कर सकते हों। (४) यह राज्य-नियम ह
कि जब कोई लड़का या लड़की सात साल की आयु की हो, तो वे शिक्ष
प्राप्त करने के लिए शिक्षणालयों में चले जावें। वहाँ उन सबके साथ
एक समान व्यवहार किया जाय। चाहे कोई राजा या धनी की सन्तान
हो और चाहे कोई गरीब या रंक की सन्तान हो, शिक्षणालय में सबको
एक समान भोजन, वस्त्र, शय्या व रहन सहन मिले। सब विद्यार्थी गुरु
के पास रहें। माता-पिता के साथ उनका कोई सम्बन्ध न रहे। शिक्षकों
को ही वे अपने माता-पिता समझें। जब उनकी शिक्षा पूर्ण हो जाय,
तो गुरुजन ही यह निर्णय करें, कि कौन व्यक्ति किस कार्य के लिए योग्य
है। जो जिस कार्य के लिए योग्य हो, उसे वही कार्य दिया जाय। (५)
सम्पत्ति या विरासत का अधिकार सामाजिक भलाई की दृष्टि से नियमित
किया जाय। किसी धनी पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका
अपना पुत्र तभी हो सके, जब गुरुजनों की दृष्टि मे वह पुत्र इस योग्य
हो, कि अपनी सम्पत्ति का उपयोग वह सामूहिक हित को दृष्टि में
रख कर कर सके।

समाज का यह रूप दयानन्द ने संसार के सम्मुख लगभग उसी
समय रखा था, जब कार्ल मार्क्स ने श्रेणीसंघर्ष पर आश्रित साम्यवाद का
प्रतिपादन दिया था। क्या यह सम्भव नहीं है, कि भारत के इन आदर्शों
के अनुसार रशिया के कम्युनिज्म और पाश्चात्य जगत के लोकतन्त्रवाद
में एक प्रकार का समन्वय किया जा सके। संसार की सबसे बड़ी समस्या
इस समय यह है, कि इन दो विचारधाराओं में किस प्रकार सामंजस्य
कायम किया जाय? मानव समाज के लिए यह भी आवश्यक है, कि
प्रत्येक मनुष्य अपने आप में स्वतन्त्र हो। उसकी स्थिति एक भारी

मशीन में पुर्जे के सदृश ही न रहे। पर साथ ही, यह भी जरूरी है, कि कोई किसी का शोषण न कर सके। सबको उन्नति का समान रूप से अवसर हो और कोई व्यक्ति जीवन की आवश्यक वस्तुओं से वंचित न रहे। लोकतन्त्रवाद और समाजवाद (कम्युनिज्म) में जब तक समन्वय नहीं होगा, मनुष्य की कठिनाइयाँ दूर नहीं हो सकेगी। पर क्या यह समन्वय संग्राम के बिना स्थापित नहीं किया जा सकता? इसका उत्तर संसार के वे राजनीतिज्ञ ही दे सकते हैं, जिनके हाथ में आज मानवसमाज का भाग्य है। यदि वे त्याग, तपस्या और अहिंसा को अपना आदर्श मानें, जान बूझ कर स्वयं गरीबी और त्याग का व्रत लें, प्रतिष्ठा और शक्ति को धन सम्पत्ति से पृथक् कर दें, तो मानव-समाज भावी प्रलयकारी महायुद्ध से बच कर शान्ति, व्यवस्था और समृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। अब से बहुत पहले, प्राचीन काल में भारत के विचारकों ने 'महायन्त्र प्रवर्तन' को निषिद्ध ठहराया था, क्योंकि उससे वे मानव समाज का अहित समझते थे। उन्होंने त्यागी ब्राह्मणों को समाज में सर्वोपरि स्थान दिया था। अशोक जैसे सम्राटों ने शस्त्र विजय के स्थान पर धर्म द्वारा संसार के विजय को अपना आदर्श बनाया था। क्या आज भी यह सम्भव नहीं है? अब भी यह सब कुछ सम्भव है, पर इसके लिए पहले संसार के नेताओं को अपने विचारों और आदर्शों को परिवर्तित करना पड़ेगा। भारत इस विषय में मार्ग प्रदर्शन कर सकता है। पूर्व से उदित होनेवाली यही आशा की किरण है, जो इस समय अन्तर्राष्ट्रीय ...के सर्वत्र प्रकाश फैला सकती है।

अं